यात्रा-साहित्य
का
उद्भव और विकास

[आलोचनात्मक अध्ययन

लेखक
डा० सुरेन्द्र माथुर
एम. ए., पी-एच. डी.
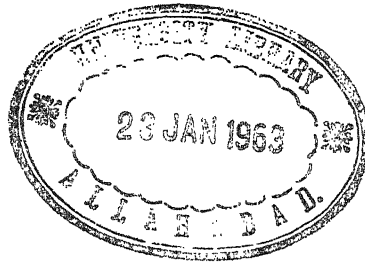
१९६२
साहित्य-प्रकाशन
मालीवाड़ा, दिल्ली

प्रकाशक :
साहित्य प्रकाशन,
मालीवाड़ा,
दिल्ली ।

मूल्य : रु० १२·५०
बारह रुपये पचास न० पै०

मुद्रक
रसिक प्रिंटर्स,
५, सन्त नगर, करौलबाग,
नई दिल्ली-५

प्राक्कथन

सन् १९५७ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त मेरी इच्छा शोध-कार्य करने की हुई। इस ओर विचार करने पर मेरे मस्तिष्क में कई विषय आए। एक विषय 'यात्रा-साहित्य का अध्ययन' भी था। अपनी सैलानी रुचि-अनुकूल मेरा मन इस पर बहुत जमा, यद्यपि मुझे स्वयं सन्देह था कि मैं इसे कार्यरूप में परिणत कर सकूँगा अथवा नहीं, इसी ऊहापोह में पड़ा हुआ मैं, हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डाक्टर दीनदयालुजी गुप्त के सम्मुख उपस्थित हुआ और उन्हें अपना विचार बतलाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस विषय का उन्होंने पूर्ण अनुमोदन किया। एक तो यह विषय अभी तक अछूता था और दूसरे मेरी रुचि तथा उत्साह भी इस ओर विशेष था। मुझे इनका समर्थन प्राप्त करके अतीव प्रसन्नता हुई और मैंने कार्य आरम्भ किया।

मुझे उक्त विषय की सामग्री के सम्बन्ध में यद्यपि कुछ सन्देह था किन्तु जब मैंने खोज-ढूँढ प्रारम्भ की तो ऐसा प्रतीत हुआ कि सामग्री इतनी प्रचुर है कि मैं उसे इस छोटी-सी कृति में कैसे समाविष्ट कर पाऊँगा। वास्तव में यात्रा-साहित्य के सूत्र हमें वेदों से ही उपलब्ध होते हैं, उन वेदों में जो आर्यों की यात्राओं के मध्य में ही रचे गए थे।

हिन्दी में यात्रा-साहित्य लिखने की चेतना के साथ 'यात्रा-साहित्य' का निर्माण नहीं हो सका था। पाश्चात्य संसार के सम्पर्क, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास, भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और उसके फलस्वरूप विदेशियों का भारत-भ्रमण, स्वतन्त्र भारत की नीति तथा जीवन में परिवर्तन, नवीन स्थानों की खोज आदि ने हिन्दी यात्रा-साहित्य को विकसित कर इसमें आधुनिकता का सूत्रपात किया। हिन्दी यात्रा-साहित्य का आधुनिक तथा वर्तमान प्रगतिशील रूप केवल बीसवीं शताब्दी की देन है, इसके पूर्व जो कुछ भी साहित्य है वह जीवन में की गई यात्राओं की अस्पष्ट घटनाओं का केवल उल्लेख मात्र है, जिनमें रचयिताओं की श्रद्धा-भक्ति, धार्मिकता और स्थानों की प्रशंसात्मकता से पूर्ण भावनाओं की चर्चा मुख्य रूप से थी। आज की भाँति तब न उनमें वर्णनात्मक प्रणाली के दर्शन होते थे, न वैज्ञानिक विश्लेषण के।

हिन्दी यात्रा-साहित्य की ओर आलोचकों की उदासीनता ही रही है। क्योंकि अभी तक किसीने भी 'यात्रा-साहित्य' का एक साथ गवेषणात्मक अध्ययन नहीं किया है।

लेखक को यात्रा-साहित्य सम्बन्धी विविध प्रकार की प्रचुर सामग्री के एकत्रित करने में विभिन्न स्थानों की यात्राएँ भी करनी पड़ी हैं। सामग्री के लिए विविध संग्रहालयों, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; विधान सभा पुस्तकालय; गंगाप्रसाद मेमोरियल पुस्तकालय; अमरुद्दौला पुस्तकालय; टैगोर पुस्तकालय (लखनऊ); हिन्दी सभा, सीतापुर आदि से लेखक को सहायता मिली है। इसके साथ ही लेखक को यात्रा-साहित्य के मूल लेखकों से व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने पर बहुत-कुछ मौलिक सामग्री प्राप्त हो सकी है। अनेकों ग्रंथ जो अब अप्राप्य-से हैं, लेखक को इन्हीं लोगों की कृपा से प्राप्त हो सके हैं। जीवनी-अंश मूलरूप से यात्रा-साहित्य के लेखकों की कृपा का फल है।

प्रस्तुत प्रवन्ध में हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों, उनकी रचनाओं, जीवनियों एवं उनके साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है। प्रवन्ध में सभी प्रकार का परिचय दिया गया है, यह तो उसके अवलोकन से ही मालूम होगा और इसे दुस्साहस कहा जा सकता है, क्योंकि सभी देने पर सभी बातें अपूर्ण रहती हैं।

हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत में जितमें भी महत्त्वपूर्ण यात्रा-ग्रंथ सुलभ थे, मैंने उनसे मधु-संचय करने का यहाँ प्रयत्न किया है और 'क्वचिदन्यतोपि' कहने की तो आवश्यकता ही नहीं।

आज स्वतन्त्र भारत के उन्मुक्त वातावरण में और हिन्दी के राष्ट्र-भाषा स्वीकार हो जाने से हिन्दी यात्रा-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल प्रकाश का आभास देता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में यात्रा के स्वरूप, अर्थ तथा क्षेत्र पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में यात्रा-परम्परा का विवेचन किया गया है। इसमें वैदिक काल से लेकर, पौराणिक, रामायण, महाभारत तथा ऐतिहासिक युग तक पाई जाने वाली यात्रा-परम्परा को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही इसमें प्राचीन ग्रंथों में पाये जानेवाले यात्रा-प्रसंगों को भी प्रमाण-सहित उद्धृत किया गया है।

तीसरे अध्याय को तीन खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड में यात्रा-साहित्य की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है जिनमें ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन के साथ ही यातायात के साधन, प्रमुख यात्रा-मार्ग एवं यात्रा-उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। दूसरे खण्ड में यात्रा-साहित्य का काल-क्रम के अनुसार विभाजन किया गया है। तीसरे खण्ड में विषय के अनुसार यात्रा-साहित्य का वर्गीकरण किया गया है।

चौथे अध्याय में यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी तथा उनकी कृतियों का परिचयात्मक विवरण दिया गया है।

पाँचवाँ अध्याय मूलरूप से तीन खण्डों में विभाजित है। इस अध्याय में समस्त हिन्दी यात्रा-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। इसके प्रथम खण्ड में—स्वदेश-विदेश की यात्राएँ ली गई हैं। दूसरे खण्ड में—वर्णन-शैली के बाह्य रूपों का मूल्यांकन किया गया है। इसमें विभिन्न रूपों में पाए जानेवाले यात्रा-साहित्य (जैसे—काव्य के रूप में, वर्णनात्मक निबन्धों के रूप में, पत्रों के रूप में, डायरी के रूप में) का साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है। तीसरे खण्ड में—वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन, वहिर्दर्शन एवं भाषा पर विचार किया गया है।

अन्त में उपसंहार के साथ ही प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में प्राचीन हस्तलिखित यात्रा-ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण भी दिया गया है।

इस ग्रंथ के प्रणयन में मेरे योग्य निर्देशक—गुरुवर डाक्टर ब्रजकिशोरजी मिश्र का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। उन्होंने अपने सुलझे हुए विचारों से मुझे महत्त्व-पूर्ण सुझाव दिए हैं और आलोचना की दिशा में मुझे स्वच्छ दृष्टि प्रदान की है। साथ ही डाक्टर दीनदयालुजी गुप्त ने समय-सयय पर मुझे अमूल्य सुझाओं के साथ सदैव प्रोत्साहन दिया है, इन दोनों गुरुवरों की कृपा के कारण ही यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका।

—लेखक

विषय-सूची

: १ :

यात्रा का स्वरूप, अर्थ तथा क्षेत्र

यात्रा-अन्तर्दर्शन—'यात्रा' शब्द की व्युत्पत्ति या+ष्ट्रन शब्द से हुई है। व्याकरण[1] के अनुसार यह स्त्रीलिंग शब्द है। इस शब्द के विभिन्न विद्वानों ने अनेक अर्थ दिए हैं। इनमें से कुछ विद्वानों के अर्थों को यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

पण्डित गणेशदत्त शास्त्री के मतानुसार यात्रा शब्द का अर्थ : "जीतने की इच्छा से राजाओं का जाना, धावा करना या देवता के उद्देश्य से एक प्रकार का उत्सव" माना गया है।[2]

परन्तु चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्माजी इसका अर्थ : "सफर, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया (यथा—यात्रा चैवहि लौकिकी) से लगाते हैं।[3]

शर्माजी का यह अर्थ कहीं तक सही सिद्ध होता है। परन्तु हिन्दी विश्व-कोषकार श्री नगेन्द्रनाथ बसु के मत का इस अर्थ से साम्य नहीं बैठता। वह हिन्दी विश्वकोष में इसका अर्थ निम्न प्रकार से देते हैं :—

> **(सं० स्त्री) या हुयामाशुभ्रसिम्यस्त्रन्। उण् ४।१६७) इति ऋन्-टाप्। विजय की इच्छा से कहीं जाना, चढ़ाई पर्याय व्रज्या, अभिनिर्याण, प्रस्थान, गमन, गम, प्रस्थिति। दर्शनार्थ देवस्थानों को जाना, तीर्थाटन। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की क्रिया आदि।**[4]

वास्तव में यह अर्थ उपर्युक्त सभी अर्थों से अधिक वैज्ञानिक और ठोस है। इसी प्रकार का अर्थ अंग्रेजी साहित्य का विद्वान् मेकडोनल भी देता है।[5] परन्तु बेनजे

---

१. पद्मचन्द्र कोष—पृ० ४०२, तृतीय संस्करण, १९२५ ई०

२. वहीं

३. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ—पृ० ९८९-९०, प्रथम संस्करण १९२८ ई०

४. हिन्दी विश्वकोष—१८वाँ भाग—पृ० ६३०, सं० १९२९ कलकत्ता

५. Going, departure, journey, march, military expedition, festive trains, procession, pilgrimage (to the shrine of a deity), festivity, livelihood, maintenance, kind of dramatic entertainment, selling forth on a journey or march—" A practical Sanskrit Dictionary.
—Dr. Arthur Anthony Mecdonell, M. A., Ph. D., LL. D., Page 244, Oxford Press—1924.

अपने कोप मे इस शब्द का अर्थ कुछ और ही देता है।[1] उपर्युक्त सभी अर्थो के आधार पर हम यह कह सकते है कि यात्रा का वास्तविक अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया ही अधिक न्यायसगत और उपयुक्त है। उपयुक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हे कि यात्रा का प्रमुख लक्षण है सचरणशीलता—एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना, निरन्तर स्थान परिवर्तन करना। ससार ही इस यात्रा का क्षेत्र हे।

संसार-मूलाधार—पण्डित गणेशदत्त शास्त्री के मतानुसार ससार शब्द का अर्थ "देह को आरम्भ करने हारा अदृष्ट-विशेष—आधारे घुज् विश्व दुनिआ, भावे घुज्" सगति से है।[2] विश्वकोपकार[3] इसका अर्थ—"ससख्यसमादिति ससृगतौ घुज् से लगाता है, जिसका अर्थ है मिथ्याज्ञान की वासना। मिथ्याज्ञान का जो सस्कार है उसका नाम ससार है। स्वादृष्टोपनिबद्ध शरीर परिग्रह को भी सस्कार कहते है। बौद्ध के मन से जन्म-मरण परिग्रह रूप गति का नाम ही ससार माना गया है। तभी कहा भी गया है —

ससरण ससार:, जन्ममरण परस्परेत्यर्थ ।
अथवा संसरन्त्यस्मिन् सत्वाइति ससार. ॥

ससार तथा यात्रा—यात्रा से ससार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव अपने-अपने अदृष्ट द्वारा जो शरीर धारण करता है उसीका नाम ससार है, अर्थात् महाअदृष्टानुसार जन्म ग्रहण करने को ही ससार कहते है। प्राणीमात्र को ससार का मिथ्याज्ञान जन्म-वासना द्वारा होता है। अतएव मिथ्याज्ञान-जन्य सस्कार ही इसका कारण है। इसी कारण निवृत्ति होने से सस्कारो की निवृत्ति भी हो जाती है। जब तक सस्कार विनष्ट नही होता, तब तक प्राणी की जीवन-यात्रा के लिए समार अवश्यम्भावी है, क्योकि प्राणीमात्र से ससार का मूल सम्वन्ध है। वह इम सम्वन्ध से अलग भी नही हो सकता। क्योकि मिथ्याज्ञान से वह मुक्त नही हो सकता है। यह मिथ्याज्ञान, ज्ञान द्वारा ही निवृत्त होता है, अतएव जब तक ज्ञान नही होता, तब तक प्राणी की सासारिक यात्रा से निवृत्ति नही होती। प्राणी की जीवन-यात्रा मे नाना प्रकार के दुख है जिनमे वह सदैव बद्ध रहता है। इसका मूल कारण ससार ही है। जब तक जीव का ससरण अर्थात् यातायात या जन्म-मरण का आवागमन रहता है, तब तक वह अपनी जीवन-यात्रा मे दु ख से छुटकारा नही पा सकता। इस कारण जब तक ससार रहता है, तब तक दु ख रहता है, ससार की निवृत्ति होने से प्राणीमात्र के दु ख की भी निवृत्ति होती है। वास्तव मे इसका यही कारण है कि ससार का मूल ही अज्ञान

१ "The march of an assailing force, the procession of ideals passing away time"

—Sanskrit English Dictionary—Theodore Benjey, Page 741, London 1866.

२. पद्मचन्द्र कोष—प० गणेशदत्त शास्त्री, पृ० ५०४

३. हिन्दी विश्वकोष—नगेन्द्रनाथ वसु, त्रयोविंश भाग, पृ० ४३४—१९३० ई०

है। इस जीवन-चक्र में आकर प्राणीमात्र संसार की नाना योनियों में बद्ध हो जाता है और नाना योनियों में भ्रमण करता है। इस प्रकार वह संसार से भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए हुए है और इस आवागमन की यात्रा-परम्परा को भी प्रश्रय दे रहा है।

संसार की संचरणशीलता—संसार गतिमान है, यह सर्वविदित है; पर संचरण एवं गति है क्या, यह देखना चाहिए। संचरण-गति के अनुभव में तीन उपादान होते हैं—देश, काल तथा द्रव्य का अनुभव। वास्तव में मन में कुछ सम्बद्ध अवस्थाओं के पारम्पर्य्य की अनुभूति को गति या संचरणशीलता कहते हैं। संसार की संचरणशीलता की अनुभूति बलों के विशेष पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। संसारी जीव के शरीर में अंशों के परस्पर के सम्बन्ध से जो गतियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हींकी अनुभूति जीवधारी में सबसे पहले उत्पन्न होती है। इस प्रकार से उत्पन्न संचरणशीलता कभी ध्वंस नहीं हो सकती वरन् वह केवल संसार में रूपान्तरित होती रहती है। संसार की यह संचरणशीलता कभी एक वस्तु से दूसरी में संचरित होती है, कभी एक आकार से दूसरे आकार में परिवर्तित होती है और कभी एक आत्मा से दूसरी आत्मा में गतिमान हो जाती है।

दार्शनिक तथा भौतिक दृष्टि—दर्शन जीवन की आलोचना है। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्मता है, उसीमें पलता-पनपता है और अंत में उसीमें अपनी संसारी जीवन-यात्रा समाप्त करता हुआ लीन हो जाता है। वास्तव में यह मानवी जीवन के स्वरूप, तात्पर्य, प्रयोजन, प्रारम्भ तथा अंत के प्रश्नों में प्रविष्ट होता है। यह संसारी जीवन उसके मूल्य तथा उसके तात्पर्य की व्याख्या है। उसके उद्गम तथा लाभ से दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संचरणशील होने के कारण प्रत्येक प्राणी संसार में भ्रमण करता है। उसी गतिशील प्राणी के चरम आदर्शों का मूल्यांकन और अन्वेषण ही दर्शन है।

जीवों में संचरण-शक्ति जन्मजात रहती है। भले ही वह शक्ति पेड़-पौधों की जड़ों अथवा लज्जावती की शाखा की तरह सीमित हो, अथवा जानवरों, पशु-पक्षियों की तरह व्यापक। इस संचरण-शक्ति के फलस्वरूप संसारी जीव उत्तेजनशील, संचरणशील और प्रतिक्रियाशील होते हैं तथा अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेते हैं। एक जीव से दूसरा जीव जन्म लेता है, अतएव जीवन में सतत धारावाहिकता गतिशीलता उत्पन्न होती है। सौ वर्ष पूर्व मानव का विश्वास था और आज भी बहुत-से लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने या प्रकृति ने उसको ऐसा ही बनाया है। हिन्दू-मत के अनुसार विष्णु भगवान् की नाभि से एक कमल-नाल की उत्पत्ति हुई जिसके दूसरे सिरे पर ब्रह्मा बैठे थे। फिर ब्रह्माजी ने सृष्टि-रचना की। अर्थात् सब ही जीव अनादि काल से ब्रह्मा की सृष्टि के फलस्वरूप संसार में संचरण कर रहे हैं। ईसाई और मुसलमान-ग्रंथ भी ईश्वर की सृष्टि से जीवों की उत्पत्ति और संचरणशीलता का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक और भौतिक दोनों ही

दृष्टियों से यह स्पष्ट है कि संसार संचरणशील है और उसमें संसारी व्यक्ति सदैव गतिमान रहता है।

विकासवाद : शरीर-विकास की अद्भुत यात्रा—साधारणतः लोगों का विश्वास है कि ईश्वर ने सारे संसार के जानवरों, कीड़ों और पेड़ों की सृष्टि एक ही समय में की है, परन्तु विचारवान् विद्वानों का कथन है कि संसार के सभी प्राणियों की उत्पत्ति एक ही पदार्थ, एक छोटे-से कोष से हुई है। व्यक्ति के विकास का सिद्धांत बड़ा सरल है। हमारी पृथ्वी तथा उस पर रहनेवाले सभी जीवों का जीवन प्रारम्भ से ही परिवर्तनशील रहा है। व्यक्ति के विकास में यह परिवर्तन आज भी हो रहा है। संसार के सभी जीव और पदार्थ एक ही वस्तु से बने हुए हैं, और निकटवर्ती भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण इनमें तारतम्य देख पड़ता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का सभी लोगों पर सभी समयों में प्रभाव पड़ता है। अतएव अवस्था, काल और क्रमिक विकास के कारण ही एक छोटा-सा कोष मनुष्य का आकार ग्रहण कर सकता है और इसीसे व्यक्ति का विकास हो रहा है।

विकासवाद के सभी प्रमाणों को एकत्रित कर सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करनेवाले विद्वान् चार्ल्स डारविन थे। ए० आर० वालेस भी डारविन की ही भाँति जीवों का विकास प्राकृतिक निर्वाचनवाद से मानते हैं। डारविन तथा वालेस के प्राकृतिक निर्वाचनवाद की नींव तीन तथ्यों और उनसे निकले हुए दो परिणामों में है :—

प्रथम तथ्य : जीव में सन्तानोत्पत्ति की बृहत् शक्ति, अर्थात् जीव में एक से दो, दो से चार और इसी प्रकार बढ़ते रहने की शक्ति।

दूसरा तथ्य : जीवों की जन्म-संख्या की स्थिरता, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की बृहत् शक्ति होने पर भी जीवों की संख्या का लगभग उतना ही रहना।

डारविन के विकासवादी सिद्धान्त में निम्नलिखित तीन बातें आती हैं :—

(१) **आकस्मिक अथवा स्वतः परिवर्तन**—शरीर के कोष्ठों में आकस्मिक अथवा स्वतः होनेवाले परिवर्तन लगातार होते रहते हैं, जो प्रौढ़ शरीर में भी परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। कुछ परिवर्तन अनुकूल और कुछ प्रतिकूल होते हैं। यदि अनुकूल परिवर्तन अधिक होते हैं तो वह जाति जीवन-संघर्ष में विजयी होकर जीवित रहती है।

(२) **वंश-परम्परा द्वारा आकस्मिक परिवर्तनों से अगली पीढ़ी में परिवर्तन।**

(३) **प्राकृतिक चुनाव व योग्यतम अवशेष**—प्राकृतिक साधनों के पर्याप्त न होने से उनमें भोजन के लिए संघर्ष होता है। इस संघर्षमय जीवन में प्रकृति योग्यतम अथवा बलिष्ठ का ही चुनाव करती है। जीवन-संघर्ष में बलवान या योग्यतम का

अवशिष्ट रहना ही अलंकारमयी भाषा में प्राकृतिक चुनाव कहलाता है। परिणाम यह होता है कि प्रतिकूल परिवर्तनों के आधिक्यवाला नष्ट हो जाता है।[1]

प्रकृति विकास के कार्यों को किस प्रकार धीरे-धीरे कर रही है? किस प्रकार एक जीव दूसरे जीव का आकार ग्रहण कर लेता है? किस प्रकार समुद्र के एक छोटे-से कीड़े से मानव की उत्पत्ति हुई? आदि प्रश्नों का उत्तर १६वीं शताब्दी के मध्य में वैज्ञानिक अन्वेषण और अध्ययन के बाद डारविन ही देने में सफल हो सके थे। उनके कथानानुसार कोई भी एक ही जाति के दो पशु या पौधे एक प्रकार के नहीं होते; थोड़ा-सा प्रभेद दो मनुष्यों को भिन्न-भिन्न प्रकार का बना देता है। जीवन-होड़ में वही प्राणी जीवित रह सकते हैं, जो सब प्रकार से योग्य हैं। अयोग्यों की अकाल मृत्यु हो जाती है। जो जीवित रहते हैं वे अपने गुण अपनी आगे आनेवाली संतानों को दे जाते हैं। यही क्रम जारी रहता है। क्रमिक-विकास का प्रत्येक काल हमें यात्रा-वृत्ति से प्रेरित ही दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण जीव और वातावरण की परिवर्तनशीलता है।

सरल आकृति के जीवों से जटिल आकृति के विकसित जीवों की उत्पत्ति हुई और क्रम से जीवों का आविर्भाव होता गया। यात्रा-वृत्ति से प्रेरित मानव का क्रमिक विकास ठीक उसी भाँति हुआ जिस प्रकार वृक्ष के तने से शाखाएँ और उनसे उपशाखाएँ निकलती रहती हैं। प्राणी के इस क्रमिक-विकास-क्रम में अनेक परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों के साथ-साथ यात्रा-वृत्ति भी परिवर्तित होती गई। क्रमिक-विकास के साथ कैनोज़ाइक काल में पृथ्वी के धरातल और वातावरण में बहुत बड़े परिवर्तन भी हुए। इन्हीं परिवर्तनों के द्वारा हिमालय, एल्पस आदि ऊँचे-ऊँचे पर्वत बने हैं। कैनोज़ाइक की अंतिम हिम-युग की सर्दी से आधुनिक काल उष्णता की ओर गया और धीरे-धीरे प्राणी से मानव का क्रमिक-विकास पूर्ण विकसित रूप में आगया। मानव के इस विकास-क्रम के साथ-साथ अन्य स्तनपोषी जीव भी विकसित हुए। परन्तु इस युग के सभी जीवों में मानव सबसे अधिक विकसित जीव है। दयानन्द पंतजी इस सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"मानव, वानर, कपि आदि किसी भी आधुनिक समय में विद्यमान जन्तु से विकसित नहीं हुआ। मानव, वानर, कपि आदि का पूर्वज एक ही था जो विलुप्त है।"[2]

प्राणी से क्रमशः मानव रूप में विकसित हो जाने पर मानव का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास भी हुआ। धीरे-धीरे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और उन पूर्तियों के लिए उसे नई-नई परिस्थितियों का

---

१. इण्ट्रोडक्शन टू फिलासफी—जी० टी० डब्लू पेट्रिक, पृ० १३१
२. विकासवाद—दयानन्द पंत, पृ० ४८

सामना करना पड़ा, जिससे उसके जीवन में शिल्प, कला और विज्ञान का विकास हुआ। इसके साथ ही मनुष्य में भाषण-गुणों की, सादृश्य एवं सामान्य अनुमान की शक्ति भी समाहित होती गई। इन गुणों द्वारा वह अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाता रहा है। मानव का यह गुण हमें दूसरे जीवों में नहीं मिल सकता है। प्राणी से मानव का इस अवस्था तक यात्रा का क्रमिक-विकास संस्कृति से पूर्ण है, क्योंकि संस्कृति मनुष्य की उपज है, जो अपना प्रभाव बहुत दूर तक डालती है। यदि उसमें संस्कृति का अभाव हो तो वह बुद्धिहीन पशु के समान है। कुछ विद्वान् प्राणी से मानव के इस क्रमिक विकास में धार्मिक स्वरूप को अमान्य एवं अवैज्ञानिक घोषित करते हैं। आगस्टे कामटे ही एक ऐसा प्रथम दार्शनिक विद्वान् था जिसने सर्वप्रथम इस विचार-धारा को घोषित किया कि, "वे सभी अवस्थाएँ जिनमें से मानवीय समाज अपना विकास करता चला आया है, अब भी पृथ्वी के सभी सजीव प्राणियों में दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ तक क्रमिक-विकास के साथ ऐतिहासिक परिवर्तनों का सम्बन्ध है, मानव जाति में अनेक परिवर्तन हुए, परन्तु सांस्कृतिक विकास के मार्ग में भूत और वर्तमान का तारतम्य एक समान रहा है।[1] मानव की जीवन-यात्रा के इस क्रमिक विकास का प्रश्न शताब्दियों से वैज्ञानिकों की खोज का विषय रहा है और उन्होंने अपने विभिन्न मत इस सम्बन्ध में प्रकट किए हैं। कई विकासवादियों के अनुसार तो मानव-विकास का प्रारम्भ पशु-जगत् से ही माना जाता है। उनके कथनानुसार मानव प्रारम्भ में लंगूर की शक्ल में था, परन्तु विकासवाद के इस सिद्धान्तानुसार उसके रूप में परिष्कृत परिवर्तन होते गए और कालान्तर के बाद वह इस रूप में आ सका। अतएव इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मानव का विकास-क्रम हमें पृथ्वी और चट्टानों के बीच में से उपलब्ध होनेवाले निरवातक (Fossils) की पूरी जानकारी कर लेने से भली-भाँति प्राप्त हो सकता है। प्राणिशास्त्र के विकास द्वारा भी यह पता चलता है कि मनुष्य का क्रमिक-विकास लंगूर से जोड़ना हास्यास्पद है। कोई भी वैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता कि वर्तमान काल का मनुष्य गोरिल्ला और गिब्बन की सन्तान रहा होगा।

निष्कर्षतः मानव-जीवन का विकास-क्रम हमें उस अनादि काल से चली आती हुई यात्रा-परम्परा का परिचय देता है जो उसके जीवन में बद्धमूल है।

व्यक्ति का मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास : अन्तर-यात्रा—अपनी जीवन-शिला पर स्थिर हो जाने के पश्चात् मानव ने अपने मन पर भी बल दिया और उसने मानसिक चिन्तन प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यही मानसिक चिन्तन उसके मानसिक विकास में सहायक सिद्ध हुआ। अपने इसी विकास के कारण आज वह वायुयान द्वारा ब्रह्मलोक की यात्रा भी कर आता है। वेदकालीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मानव की बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक विकास का, जिस पर

---

१. विश्वभारती—सीतलाप्रसाद सक्सेना का लेख—पृ० ६९-७० सं० १९९६

भक्ति-मार्ग के अचल शिलाधार की मूल-भित्ति खड़ी है, उसका अस्तित्व बहुत प्राचीन है। वह कर्मकाण्ड का युग था, जबकि आर्य प्रत्येक प्राकृतिक घटना या वस्तु में किसी-न-किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में यज्ञ आदि कर्मों का अनुष्ठान करते रहते थे। व्यक्ति के जीवन के विकास-काल में प्रार्थना या विनय के द्वारा वे अपने दैनिक जीवन को आनन्द के साथ व्यतीत करने की ही इच्छा व्यक्त किया करते थे। उसका प्रधान उद्देश्य ऐहिक सुखों तक ही सीमित था और उसका ध्यान अन्तःकरण की साधनाओं की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ही ओर अधिक आकृष्ट रहा करता था। उस समय मानव जितना महत्व मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण एवं विधियों के निर्वाह को देता था, उतनी चिन्ता अपने हृदय की शुद्धि अथवा बाह्य मनोविकारों के परिष्कार की नहीं रखता था। हाँ, अपने आन्तरिक विकास के प्रयत्न में वह शुभ कृत्यों के परिणामों एवं उनकी सफलता पर निर्भर रहता था और इस दृष्टि से यदि हम चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि प्रारम्भिक विकास-युग में उनके कर्मकाण्ड भी मूलतः उनकी श्रद्धा द्वारा ही प्रेरित हुआ करते थे। इसीलिए भागवतकुमार गोस्वामीजी ने कहा भी है—

"बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई भी अर्थ नहीं। श्रद्धा ही वास्तव में यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी है और श्रद्धा एवं यज्ञ में कुछ भी अन्तर नहीं है।"[1]

इसी कारण मानव के विकास-काल में भक्ति की भावना स्वभावतः अनेक की अपेक्षा किसी एक की ओर अग्रसर होती है।

मानव के क्रमिक-विकास-काल में ही जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का भी उदय हुआ। जीवात्मा के कर्म एवं जन्मान्तर की कल्पना के आधार पर आर्यों के हृदय में इस बात की भी उत्कंठा जगी कि कर्मवर्धन के अनवरत चक्कर से उसे उन्मुक्त करने के लिए अधिक-से-अधिक महत्वपूर्ण साधन काम में लाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति एवं बौद्धिक विकास के लिए उन्होंने सांसारिक कर्म-जाल से पृथक् रहकर परमात्मचिंतन में संलग्न होने की एक ऐसी साधना आरम्भ की जिसके अभ्यास-क्रम की दीर्घव्यापिनी क्रिया तप व तपस्या के रूप में परिणत हुई।" तब तक वैष्णव धर्म के किसी भी अंग की कदाचित ही रचना तो पाई थी और स्वयं भक्ति शब्द भी उस काल में श्रद्धात्मक प्रेम की अपेक्षा प्रेम-मात्र के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ करता था।[2] धीरे-धीरे मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ और भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव आर्यों के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों में पीछे अधिक गम्भीरता आने पर हुआ और तभी वह प्रारम्भिक श्रद्धा व उपासना से विकसित होती हुई क्रमशः उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य व मूलतत्व में भाग लेना व्यक्त करनेवाले

---

१. दि भक्ति कल्ट इन ऐंशेण्ट इण्डिया—भागवतकुमार गोस्वामी, पृ० ६

२. वैष्णविज़्म-शैविज़्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स—भंडारकर, पृ० ४१

अधिक व्यापक भाव में परिणत हुई।[1] इसी प्रकार संहिताकाल में विष्णु सर्व-प्रथम एक साधारण देवता के रूप में दिखाई पड़ते हैं; पर ऋग्वेद के कई स्थलों पर वे एक आदित्य-मात्र समझे जाते हैं और दिनभर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण आर्य उन्हें महत्व देते हैं और उनका यशोगान करते हैं। उनकी बौद्धिक महत्ता बड़े-बड़े डगों द्वारा आकाशमंडल वा सारे ब्रह्माण्ड को माप देने पर ही निर्भर है। जैसे अविनश्वर गोपा विष्णु ने केवल तीन पगों द्वारा ही सम्पूर्ण विश्व लाँघ दिया।[2] इसी प्रकार विष्णु ने भी तीन पग किए और वे इस ब्रह्माण्ड को लाँघ गए।[3] इन तीन पगों में से केवल पहले दो (पृथ्वी और अन्तरिक्ष) को मनुष्य देख व प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे तक कोई नहीं पहुँच पाता, वह चिड़ियों की उड़ान से भी ऊपर है। ऋग्वेद में ऐसी कल्पना की गई है।[4] इन पदों में तृतीय पद ही विष्णु का परमपद है। उसे विद्वज्जन आकाश की ओर सदा ऊँची दृष्टि लगाकर देखा करते हैं।[5]

इस प्रकार इन पग-यात्राओं द्वारा भी व्यक्ति का धीरे-धीरे मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास प्राचीन युग से होता आया है। इस विकास-क्रम को यदि हम मनुष्य के अन्तर्लोक की यात्रा की संज्ञा प्रदान करें तो क्या अनुचित होगा ?

मनुष्य, मनुष्यत्व एवं ईश्वरत्व

मनुष्य—परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, जो स्वरूप एक होते हुए भी नाना प्रकार से निखिल प्राणियों का विस्तार करता है, जो माया के सम्बन्ध से रहित होते हुए भी माया से मुक्त-सा प्रतीत होता है, उसीको मनुष्य कहते हैं। इसी मनुष्य की संचरण-शक्ति से विभिन्न अवतारों की अभिव्यक्ति होती है। यह केवल मनुष्य के आध्यात्मिक संकल्पमात्र से कार्यों का संवादन करते हैं। इसलिए प्रकृति एवं प्रकृतिजन्य पदार्थों में प्रविष्ट होते हुए भी अचिंत्य शक्ति के द्वारा उनसे तनिक भी स्पर्श नहीं होता। भागवत का स्पष्ट कथन है कि आदिदेव नारायण मानव-विकास काल में प्रकृति में अधिष्ठित होकर पंचभूतों की सृष्टि करते हैं तथा उनके द्वारा ब्रह्माण्ड नामक विराटपुरी अथवा देह की रचना करते हैं। तत्पश्चात् उसमें अपने अंश के द्वारा प्रवेश करते हैं और उसमें गतिशीलता या संचरण की शक्ति प्रदान करते हैं। इस

---

१. कल्याण कल्पतरु—कीथ, पृ० ५५४ (गोरखपुर, अगस्त १९३६)
२. त्रीणिपदानि चक्रमें विष्णुर्गोपा अदाभ्यः—ऋग्वेद १।२२।१८
३. इदंविष्णु विचक्रमें त्रेधा निदधे पदम्—ऋग्वेद १।२२।१७
४. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोभिख्याय मर्त्यौ भुरण्यति।
   तृतीयमस्यनकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ऋग्वेद १।१५५।५
५. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
   दिवीव चक्षुराततम—ऋग्वेद १।२२।२०

प्रकार विराटपुरी में जीव कला के द्वारा प्रवेश करने पर नारायण ही पुरुष शब्द के द्वारा अभिहित किए जाते हैं—

भूतैर्यदा पंचभिरात्म-सृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान्—
मवाप नारायण आदि देवः ॥[1]

मनुष्यत्व—काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु साधारण हैं । उन शत्रुओं को प्रबल न होने देना ही यथार्थ मनुष्यत्व है । हिन्दू-साहित्य और समाज में ऐसे ही मनुष्यत्व का प्रकाश फैला हुआ है । जैसे मानव-प्रकृति पाशव-प्रकृति का आधार है, वैसे ही देव-प्रवृत्ति की भी लीलाभूमि है । मनुष्यों में जितना ही देवभाव आएगा, उतना ही पाशव-भाव का अन्तर्धान होगा । धर्मव्याध ने कहा था कि जैसे सूर्य का उदय होने से अन्धकार का नाश हो जाता है, वैसे ही पुण्य कर्म के उदय होने से पाप नष्ट हो जाता है । यह तो निर्विवाद ही है कि जितना अधिक पुण्य होगा, उतना ही पाप आप-ही-आप अलग होगा । पुण्य और देवत्व का उच्च आदर्श खड़ा करके पाप को दूर करने के लिए आर्यों ने साहित्य में बड़ी निपुणता दिखाई है । इस उच्चादर्श में अपने हृदय को संलग्न करना ही मनुष्यत्व है ।

ईश्वरत्व—पशुत्व और मानवत्व की भावना से ऊपर उठकर श्रद्धा जब मानव को ईश्वर के निकट ले जाती है, तो उस अवस्था पर पहुँचकर मानव को अपने उपास्यदेव के बीच कुछ भेद नहीं दीख पड़ता है । दोनों मिलकर एक रूप हो जाते हैं । अपने भीतर का विश्वात्मा अथवा परमात्मा अहं के साथ मिल जाता है । यहाँ पर पहुँचकर सब कुछ ब्रह्ममय होकर ईश्वरत्व का रूप धारण कर लेता है । यही ईश्वरत्व पंच भूतों की सृष्टि करता है, यही सृष्टि के समस्त शुभ का भी निर्माता है । यही सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान माना जाता है । समस्त विश्व का अस्तित्व, सारे गुणों की खान इसीमें अन्तर्निहित है । यही विश्व का पालक, चालक एवं सर्वेसर्वा है । ईश्वरत्व ही शक्तिशाली है, नित्य है, सत्य है, स्वयंभू है और है अपनी सृष्टि से भिन्न । मानव में अनेक दुर्गुण, दुर्बलताएँ होती हैं, पर यह उनसे परे है ।

ईश्वर और जीव में मौलिक अन्तर है । ईश्वर स्वयं आविर्भाव और तिरोभाव की शक्ति से सम्पन्न है । जीव अणु-मात्र है जो गन्ध की भाँति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है, उसका चैतन्य गुण सर्वशरीरव्यापी है । जीव असंख्य, नित्य और सनातन है । जीव अंश है और ईश्वर अंशी । जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार अंशी से असंख्य जीव निकले । इसीलिए कहा भी गया है—

ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

---

१. भागवत—११।४।३

(इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है, त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मन सहित छः इन्द्रियों को आकर्षण करता है। अंशी ब्रह्मसत्य (जीव) अंश भी सत्य (अंशांशी भाव) अद्वैत संसारबद्ध जीव (अविद्यामाया युक्त) का ईश्वरैक्य नहीं।)

ईश्वर की प्रतीति जगत् में ही हो सकती है, दृश्यमान जगत् से परे ईश्वर नहीं। यह अजन्मा है, अविनाशी है। जीव सीमित है, ईश्वर असीम। जीव निर्बल है, ईश्वर सर्वशक्तिमान।

अतः ईश्वरत्व, जीव की आध्यात्मिक यात्रा का आगे बढ़ा हुआ क्षेत्र है।

निष्कर्ष

यात्रा का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। जीवनगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह सदैव से ही बड़े-बड़े पर्वत, घनघोर जंगल और जलते हुए रेगिस्तानों की यात्रा करता आया है। बिना यात्रा किए उसका जीवन-निर्वाह दूभर था, उसके पास अन्य कोई साधन भी न थे। धीरे-धीरे भ्रमण द्वारा मानव यात्रा-क्षेत्र में प्रगति करने लगा। उसने अपना क्षेत्र व्यापक बनाया और दूर-दूर के स्थानों का भ्रमण प्रारम्भ किया। उसे नवीन बातों की जानकारी प्राप्त हुई और उसके जीवन का बौद्धिक विकास हुआ, साथ ही उसकी विचारधारा भी विकसित हुई और वह जीवन में प्रगति के पथ पर अग्रसर होने लगा।

यह प्रगतिशीलता हम संसार के प्रत्येक प्राणी में पाते हैं। यहाँ तक कि पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी इससे वंचित नहीं दिखाई देते हैं। प्रारम्भ से ही सुन्दर यात्राओं, नेतृत्व और संगठन द्वारा पशु-पक्षी भी प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इनका भी यात्रा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुधा यह भी देखा गया है कि चीटियों के समूह युद्ध की आकांक्षा करनेवाली सेना लेकर बन्दियों को पकड़ने के लिए जाते थे। इसी प्रकार भेड़ियों के झुण्ड भी आपस में मिलकर अच्छा शिकार कर लेते और अपने से ही अधिक बली तथा बड़े जानवरों को भी परास्त कर देते थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करनेवाले पक्षियों के जीवन में भी उनकी नियमित ऋतु-सम्बन्धी सुदूर यात्राओं में पारस्परिक सहयोग, नेतृत्व तथा संगठन का अच्छा परिचय मिलता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणी-मात्र ने प्रारम्भ से ही अपनी क्षुधा शांत तथा जीवनानन्द के लिए विभिन्न स्थानों का भ्रमण आरम्भ किया था। धीरे-धीरे यात्रा प्रगति की ओर अग्रसर हुई और उसके फलस्वरूप इसका विकास भी हुआ। यात्रा के विकास का यह रूप हमें मानव से लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा अनेक जीवधारियों में भी दृष्टिगोचर हुआ। कुछ विशेष प्रकार के पक्षी जैसे कोयल, कुक्कुट आदि हमें किन्हीं निश्चित ऋतुओं में ही दिखाई पड़ते हैं, जिससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि विभिन्न ऋतुओं में वे विभिन्न प्रदेशों की यात्राएँ किया

१. विश्वभारती—सीतलाप्रसाद सक्सेना का लेख, पृ० ६९-७०, सं० १९९६ वि०

करते हैं, और इस प्रकार वे यात्रा की प्रगति को बनाए हुए है। अपनी यात्रा शीलता के कारण ही उन्हे यात्री-पक्षी (Migratory birds) कहते है। प्रारम्भ मे यात्राओ के उद्देश्य सीमित थे और आज के युग मे वे व्यापक हो गए है। प्रारम्भ मे मानव तथा पशु-पक्षी इधर-उधर भटककर अपनी क्षुधा-शाति का उपाय करना ही अपना प्रमुख उद्देश्य बनाए हुए थे। मध्य-युग मे यात्रा का स्वरूप व्यापारिक विजयाकाक्षा तथा ज्ञानपिपासा की तुष्टि का साधन था। आज के युग की इस प्रगतिशील स्थिति मे यात्रा कई उद्देश्यो को लेकर की जाती है। कुछ व्यक्ति केवल तीर्थ-दर्शन, सौन्दर्य-लिप्सा आदि के हेतु यात्रा करते हे, कुछ पर्वतीय दृश्यो मे प्रकृति के रहस्य एवं वैराग्य और धर्म-साधना की दृष्टि से यात्रा करते है तथा कुछ मन-बहलाने मात्र के लिए यात्रा करते है। जीवन के बहुमुखी विकास के साथ-साथ इसके उद्देश्य भी समय के अनुसार बदलते तथा व्यापक होते जा रहे है। यह सब बाते हमे सकेत करती है कि यात्रा का प्राणीमात्र से सम्बन्ध आज का नही है, वरन् वह सृष्टि के आरम्भ-काल का है, अनादि काल से यह सम्बन्ध आज भी उसी रूप मे है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि प्राणीमात्र का यात्रा से अविच्छिन्न सम्बन्ध सदैव रहा है और भविष्य मे भी रहेगा।

: २ :

साहित्य में यात्रा-परम्परा

पूर्वकथन——प्रागैतिहासिक युग से हमारे यहाँ यात्राओं का बड़ा महत्व रहा है। वैदिक युग में व्यापारिक यात्राओं का प्राधान्य था। व्यापार के अतिरिक्त धर्म-यात्राएँ होती थीं, अन्य प्रकार की यात्राएँ गौण थीं। सभ्यता के इस युग में भी लोग प्रायः यात्राएँ किया करते थे। जल और स्थल दोनों प्रकार की यात्राएँ होती थीं, विभिन्न देशों से आवागमन होता रहता था। लोगों के पास नावें थीं, जहाज़ थे। वे दुनिया का भौगोलिक वृत्तान्त भी बहुत कुछ जानते थे। वे सभ्य, शिक्षित, साहसी, उदार, व्यापार-कुशल, शिल्पकला निपुण, वीर और अध्यवसायी थे। भारतवासियों का कितने ही सभ्य और अर्द्धसभ्य देशों से सम्बन्ध था। हमारे साहित्य के ग्रन्थ इस काल की इन यात्राओं के वर्णनों से भरे पड़े हैं। इन वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में इनके अनेक उल्लेख देखे जा सकते हैं।

युग-विभाजन तथा यात्रा-निर्देशक ग्रन्थ—भारतीय यात्रा-साहित्य को हम कई युगों में विभाजित कर सकते हैं। स्थूल रूप से यह विभाजन तीन रूपों में हो सकता है—

१. **वैदिक युग** (**१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक**)
२ **प्रागैतिहासिक युग** (**१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक**)
३. **ऐतिहासिक युग** (**६०० ई० पू० से १२०० ई० तक**)

यह युग-विभाजन ही हमारे यहाँ अधिक काल से चला आ रहा है और अधिकतर मान्य है। अब आगे हम उपर्युक्त प्रमुख युगों के यात्रा-ग्रन्थों का निर्देशन करेंगे।

१. वैदिक युग (१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)—वैदिक युग हमारे साहित्य में सबसे प्राचीन युग माना जाता है। इस युग का काल १५०० से २०० ई० पू० विद्वानों द्वारा मान्य है।[1] यात्रा-साहित्य का प्रारम्भ हमें इसी युग से मिलने लगता है, जिसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ आगे आनेवाले सभी युगों में बढ़ती रहीं और यात्रा-साहित्य आगे भी पनपता रहा। इसे ही यदि साहित्य का जन्म-युग मानें तो

---

१. इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका, भाग १९, पृ० ९५७, लन्दन १९४६ ई०

कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग के यात्रा-निर्देशक ग्रन्थों में वेद (१२०० ई० पू० से १००० ई० पू०)[१] और ब्राह्मण ग्रन्थ (८०० ई० पू० से ६०० ई० पू०) प्रमुख हैं।[२]

२. **प्रागैतिहासिक युग (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)**—इस युग का साहित्य में बहुत बड़ा स्थान है। सांस्कृतिक साहित्य को पनपने का अवसर इस युग में ही मिला। इस युग में नवीन साहित्य की वृद्धि हुई और उसके विभिन्न रूप विकसित हुए। इस युग में यात्रा-निर्देशक ग्रन्थों की भरमार रही है जिसमें यात्राओं के उदाहरण भरे पड़े हैं। प्रमुख रूप से इस युग के यात्रा-निर्देशक ग्रंथों में पुराण, रामायण, महाभारत का उच्च स्थान है। यह ग्रंथ इतने महान् हैं कि यदि इनको ही युग का आधार माना जाय तो अनुचित न होगा। इन ग्रंथों के आधार पर हम—

१. पौराणिक युग

२. रामायण युग

३. महाभारत युग—भी मान सकते हैं।

देश की संस्कृति का चरम विकास उपर्युक्त युगों में हुआ। समाज की चरमोन्नति के साथ-साथ मानव के जीवन-साधनों का भी विकास हुआ। उसने अपना कार्य-क्षेत्र भी बढ़ाया। अतः उसे यात्राएँ करनी पड़ीं। अनेक प्रकार की यात्राओं के रोचक, कवित्वपूर्ण विवरण तथा सूक्ष्म विवरण उक्त ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं।

३. **ऐतिहासिक युग (६०० ई० पू० से १२०० ई० पू० तक)**—गौतम बुद्ध का आविर्भाव भारतीय इतिहास का आरम्भ है। इस समय से क्रमबद्ध भारतीय इतिहास उपलब्ध होता है। तत्कालीन विद्वानों, कवियों, नाटककारों के ग्रंथ भारतीय साहित्य के गौरव हैं। इन ग्रंथों में उपलब्ध यात्रा-विवरण बड़े ही रोचक तथा व्यापक हैं। इस युग के अन्तर्गत भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ विद्वानों की कृतियों से यात्रा-संदर्भ दिए गए हैं।

वैदिक युग (१५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)—संसार में ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ के अध्ययन से पता चलता है कि इस युग में भी यात्राएँ हुआ करती थीं। यात्री भले ही दूर की यात्रा न किया करते हों, पर करते अवश्य थे। ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न पाँच मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि इस युग के आर्य व्यापार आदि के लिए ही यात्रा किया करते थे। इस प्रकार की यात्राएँ वे अधिकतर समुद्र की राह से करते थे। अन्य स्थानों व देशों का भ्रमण भी वे सागर द्वारा ही किया करते थे। इसी प्रकार का यात्रा-विवरण करते हुए ऋग्वेद में लिखा गया है

---

१. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री, भाग १—अध्याय ४, डॉ० कीथ, पृ० १००, १९५५ संस्करण दिल्ली

२. वही—पृ० १००

कि "समुद्र में जिस रास्ते जहाज़ चलते हैं उसका पूर्ण ज्ञान वरुण को है।"[१] इस प्रकार के विवरण इस बात के द्योतक हैं कि यह लोग यात्रा-मार्गों के सम्बन्ध में भी ठीक तरह से जानते थे, और उस काल में भी वरुण देवता माने जाते थे। उस समय के यात्रा-विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि इन यात्रियों की यात्रा किन वाहनों के द्वारा हुआ करती थी। जहाज़ द्वारा विदेश-यात्रा के विवरण का संकेत है। ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है जहाँ पर यह लिखा है कि "यात्रा आदि में लोभ के वशीभूत होकर व्यापारी लोग अपने जहाज़ विदेशों को ले जाते हैं।[२] विदेशों की यात्रा उस वैदिक युग में भी प्रधान थी। उस समय के यात्रियों की कर्मशीलता का भी उल्लेख हमें ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है। वहाँ लिखा है कि "व्यापारी बड़े ही कर्मशील हैं, वे अपने लाभ के लिए सब जगह जाते हैं, समुद्र का ऐसा कोई भी भाग नहीं जहाँ वे न गए हों।[३] इससे यह स्पष्ट है कि यात्रा के लिए लोग सभी जगह भ्रमण करते थे, यद्यपि उनका उद्देश्य अर्थ-लाभ ही होता था। वे अपनी इन यात्राओं के लिए जहाज़ों को बनाने में स्वयं सिद्धहस्त थे। जहाज़ की इस प्रकार की यात्राओं में लोगों को बड़ा आनन्द आता था। उनका मनोरंजन भी इन सागरीय यात्राओं द्वारा होता था। इस प्रकार का विवरण भी हमें ऋग्वेद के एक स्थल पर मिलता है। उसमें लिखा है कि—एक जहाज़ के बनाने में बड़ी कारीगरी की गई थी। उस पर सवार होकर वशिष्ठ और वरुण समुद्र-यात्रा करने गए। उन्हें उसके हिलने से बड़ा आनन्द आया था।[४] मनोरंजन के अतिरिक्त इस युग में राजनैतिक दृष्टियों के लिए भी जहाज़-यात्रा अनिवार्य-सी थी। राजनियमों के अनुसार युद्ध करने लोग जहाज़ों से जाया करते थे। सागर में तूफान आते थे और जहाज़ के यात्री डूब जाते थे। इसी प्रकार का एक विवरण ऋग्वेद में भी मिलता है। उसमें लिखा है कि राजर्षि तुमने सुदूर द्वीप-निवासी अपने कुछ शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए अपने पुत्र भुज्यु को

---

१. देखिये, ऋग्वेद (१-२५-७)।
वेदो यो वीना यदमन्तरिक्षेण यतताम्। वेद नावः समुद्रियः ॥

२. उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।
ये अस्या आदरणेषु दधिरेन श्रवस्य वः ॥ (१-४८-३) ऋग्वेद

३. तं गूर्तयो नेमन्निषः परीणस :
समुद्रं न संचरणे सनिष्यव :।
पतिं दक्षस्य दिदमस्य नू सहो
गिरिं न वेना अधिरोह तेज सा ॥ (३-५६-२) ऋग्वेद

४. आ यदुहाव वरुणश्च नावं,
प्रमत समुद्रमीरयाव मध्यमम् ॥
अधिय दयां स्नुभिश्चराव। प्रपेखं ईखंयाव हे शुभेकम् ॥
वशिष्ट ह वरुणो ना व्याधा दर्षिं चकार स्वयामहोमिः।
स्तोतारंविप्रः सुदिनत्वे अन्हां षान्नु द्यावस्त तनन्यादुषासः ॥
(७-८८-३, ४) ऋग्वेद

जल-सेना के साथ भेजा। रास्ते में तूफान ग्रा जाने से जहाज़ टूट गया। इस कारण भुज्यु ग्रपने साथियों समेत समुद्र में ऊब-डब करने लगा। वहाँ उस समय उसे उस विपत्ति से बचानेवाला कोई न था। परन्तु दैवयोग से ग्राश्विन नाम के दो जोड़िया यात्री-भाइयों ने ग्राकर उनकी रक्षा की ग्रौर वह डूबने से बच गया।[१] लगभग ५वीं शती ई० पू० के वैदिक साहित्य में यात्राग्रों के विषय में बहुत प्रकार की जानकारी मिलने लगती है। इस साहित्य में 'नौ' सम्बन्धी शब्दों की बहुतायत से, सामुद्रिक यातायात का विशेष निर्देश मिलता है 'वेद नावः सामुद्रियः।' वैदिक साहित्य से इस बात का भी पता चलता है कि ग्रार्य प्रागैतिहासिक युग से चलनेवाले छोटे-मोटे जंगली रास्तों, ग्राम-पन्थों ग्रौर किसी तरह के कारवाँ-पन्थों से बहुत दिनों तक संतुष्ट नहीं रहे। ऋग्वेद ग्रौर बाद की संहिताग्रों में भी हमें लम्बी सड़कों (प्रपथों) का उल्लेख मिलता है।[२] डा० सरकार के कथनानुसार इन लम्बी सड़कों पर रथ चल सकते थे।[३] वैदिक युग के यात्रियों में केवल व्यापारीवर्ग ही नहीं होता था, वरन् यात्रा करनेवालों में साधु-संन्यासी, तीर्थ-यात्री, फेरी लगानेवाले, घोड़ों के व्यापारी, तरह-तरह के खेल-तमाशेवाले, पढ़नेवाले छात्र एवं पढ़कर देश-दर्शन के लिए निकलनेवाले चरक नामक विद्वान्—सभी तरह के लोग थे। यात्री यात्रा के समय खाने का सामान ग्रपने साथ लेकर चला करते थे, क्योंकि यात्रा-मार्ग में उन्हें खाद्य-सामग्री प्राप्त नहीं हो पाती थी। इस प्रकार यात्रा में खाने के लिए जो सामान यात्री ग्रपने साथ ले जाते थे उसे 'ग्राकर्स' कहते थे।[४] वैदिक युग में लम्बी यात्राएँ व्यापारी लोगों द्वारा ही होती थीं, जिसका प्रमुख उद्देश्य ऋग्वेद ग्रौर ग्रथर्ववेद के ग्रनुसार तरह-तरह से पैसा पैदा करना[५], लाभ के लिए पूँजी लगाना[६] ग्रौर लाभ के लिए दूर देशों में माल भेजना था।[७] इस प्रकार के ग्रनेक उदाहरण हमें वेदों में प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि इस युग की यात्राएँ धन-लाभ के लिए विशेषतः की जाती थीं ग्रौर उन यात्रियों का यही प्रमुख उद्देश्य था जिसके लिए वे दूर-दूर के देशों का भ्रमण किया करते थे। उस समय के सागरीय जहाज़ बहुत छोटे ही नहीं

---

१. तुग्रोह भुज्युमश्विनोदमेघ
   रयिं न कश्चिन्ममृवां ग्रवाहाः।
   तमूहथु नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्ष
   प्रुद्भिर पोदकाभिः॥ (१-११६-३) ऋग्वेद

२. ऋग्वेद १०।१७।४-६, ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५, काठक संहिता ३७।१४, ग्रथर्ववेद ८।८।२२—परिरथ्या।

३. सम ग्रासपेक्ट ग्रॉफ़ दि ग्रर्लियर सोशल लॉइफ ग्रॉफ़ इण्डिया
   —डा० सुविमलचन्द्र सरकार, पृ० १४, लन्दन १९२८

४. शतपथ ब्राह्मण २।६।२।१७

५. ऋग्वेद ३।११८।३

६. ग्रथर्ववेद ३।१५।६

७. वही—३।१५।४

वरन् बहुत बड़े-बड़े भी होते थे जिनमें सौ डाँड तक लगते थे।[१] इतने बड़े-बड़े जहाज़ों पर यात्रियों की भीड़ विदेश-यात्रा के लिए जाया करती थी। कभी-कभी यह जहाज़ राह में टूट जाते थे और यात्रियों की मृत्यु भी हो जाती थी। इस प्रकार सागर-यात्रा में जहाज़ के टूटने का संकेत भी हमें बुडलर द्वारा मिलता है। बूहलर के अनुसार इस प्रकार की घटना हिन्द महासागर में भुज्यु की किसी यात्रा की ओर संकेत करती है, जिसमें उसका जहाज़ टूट गया।[२] इस युग के सागर में यात्रा करनेवाले अपने साथ पक्षियों को भी ले जाया करते थे और उनसे सागर के तट का ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार का उदाहरण भी हमें वेदों में प्राप्त होता है। भुज्यु के जहाज के सागर में टूटने पर जब वह इस दुर्घटना में पड़ा तो उसने किनारे का पता लगाने के लिए कुछ पक्षियों को छोड़ दिया।[३] यह पक्षी कहाँ गए, इसका कुछ भी उल्लेख हमें नहीं मिलता है; पर अधिकतर जब किनारा निकट होता है, तो यह पक्षी उसी ओर उड़कर चले जाते हैं और पुनः नहीं लौटते। और यदि किनारा दूर होता है, तो यह पक्षी सागर के ऊपर मँडराते रहते हैं और फिर जहाज़ पर ही शरण लेते हैं। इन पक्षियों से जहाज के यात्री स्थल की स्थिति का सहज में पता लगा लेते थे। उनके पास अन्य कोई ऐसे साधन नहीं थे जिनसे वे तट-स्थानों का पता लगा सकते। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी प्रागैतिहासिक युग में वैदिक आर्य, समुद्र की तथा थल की यात्राएँ बहुतायत से किया करते थे। यद्यपि वैदिक-युग में समुद्र की यात्रा विहित मानी जाती थी; पर सूत्र काल में शायद जाति-पाँति और छूआछूत के विचार से सागरीय यात्रा का निषेध हुआ। परन्तु उस समय भी उत्तर के ब्राह्मण लोग समुद्र-यात्रा किया करते थे। बौधायन सूत्र के अनुसार इस प्रकार से समुद्र की यात्रा करने-वाले ब्राह्मण, शास्त्र-विहित न होने से जात-बाहर माने जाते थे।[४] यद्यपि इस युग में सभी प्रकार के लोग यात्रा किया करते थे और यात्रा करना एक साधारण बात हो गई थी। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से यही पता चलता है कि समुद्र-यात्रा एक साधारण-सी बात थी जिसे सभी कर सकते थे; पर मनुस्मृति के अनुसार यही ज्ञात होता है कि मनु भी सम्भवतः समुद्र-यात्रा के पक्षपाती नहीं थे[५]; पर उपर्युक्त निषेध शायद ब्राह्मणों तक ही सीमित था।

यात्रियों को यात्रा-मार्ग में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। तरह-तरह के चोर-डाकू यात्रियों के मार्ग में लगते थे जो पांथ-घातक या परिपंथिन् कहे

---

१. ऋग्वेद १।११६।५

२. वैदिक इण्डेक्स २, १०७-१०८

३. ऋग्वेद ६।६२।२

४. बौधायन धर्म सूत्र १।१।२४

५. मनुस्मृतिः २।१।२२

जाते थे।[1] रास्ते में यात्रियों को मार डालने, लूटने आदि का कार्य इन डाकुओं द्वारा हुआ करता था। अथर्ववेद[2] भी यात्रियों के रास्ते में लगनेवाले डाकुओं को नहीं भूलता। इसी वेद में एक स्थान पर जंगली जानवरों और डाकुओं से यात्री की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना भी की गई है।[3] राह की अनेक बाधाओं में यात्री ईश्वर से विनती किया करते थे और कभी-कभी इन बाधाओं का मुकाबला भी करते थे। ऐतरेय ब्राह्मण[4] का "चरैवेति मंत्र" आध्यात्मिक आधिभौतिक उन्नति के लिए गतिशीलता और यात्रा पर बहुत ज़ोर देता है। इसी ग्रंथ में एक स्थान पर यात्रियों के मार्ग की बाधाओं के सम्बन्ध में डाकुओं और भेड़ियों का उल्लेख भी किया गया है और यह भी बताया गया है कि सड़कों पर चलनेवाले यात्रियों पर निषाद और दूसरे डाकू (सेलग) यात्री-व्यापारियों को पकड़ लेते थे और उन्हें लूटने के बाद गढ़ों में फेंक देते थे।[5] एक ओर इस प्रकार की बाधाएँ यात्रा में आती थीं, दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि के अनुसार यात्रियों का लोग स्वागत करते थे। उन्हें खूब खिलाते-पिलाते थे। यात्री जहाँ-कहीं भी जाता था, उसकी खूब आवभगत होती थी। ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार का संकेत भी हमें मिलता है। उन्हीं दिनों जहाँ-कहीं यात्री जाते थे, उनकी बड़ी खातिर होती थी। जैसे ही यात्री अपनी गाड़ी से बैल खोलता था, आतिथेय उसके लिए पानी लाता था।[6] इस प्रकार इस वैदिक युग में यात्राएँ सीमित थीं और इनके उल्लेख भी सीमित रूप से मिलते हैं।

३—(२) प्रागैतिहासिक युग (१२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक)

(अ) **पौराणिक युग**—वैदिक युग के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक युग में सबसे पहले हमें पुराणों में यात्रा के विवरण प्राप्त होते हैं। इस युग के यात्रा-विवरणों में यात्राओं के साथ-ही-साथ यात्री-व्यापारियों के विवरण भी मिलते हैं जो थल और स्थल दोनों मार्गों से यात्राएँ किया करते थे। इस प्रकार के यात्रा-उल्लेखों से हमारे पुराण भरे पड़े हैं। इस काल में यात्रा का क्षेत्र वैदिक-युग की भाँति सीमित नहीं था, वह विस्तृत रूप धारण कर चुका था। यात्रा करने की एक परम्परा भी चल निकली थी, जिसने अन्य लोगों को भी इस दिशा में प्रोत्साहन दिया। यात्री इस युग में भी समुद्र के मार्ग से अधिक यात्रा किया करते थे, स्थल से कम। स्थलमार्गीय यात्राएँ या तो वे पैदल किया करते थे या बैलगाड़ी और घोड़ों आदि पर। समुद्र-यात्रा के लिए उनके पास जहाज़ आदि थे। इन जहाज़ों का उपयोग प्रधानतः व्यापार का

१. पाणिनि सूत्र ४।४।३६ (परिपन्थ च तिष्ठति)

२. अथर्ववेद १२।१।४७

३. वही—३।५, ४।७

४. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१४

५. वही—८।११

६. शतपथ ब्राह्मण ३।४।१।५

सामान लेकर विभिन्न देशो को आने-जाने मे किया जाता था। इन यात्राओ मे प्राय॰ प्राण-भय रहता था। इस प्रकार के सकेत हमे वाराहपुराण मे मिलते है। वाराहपुराण मे गोकर्ण नामक एक नि मन्तान व्यापारी का उल्लेख है। वह समुद्र-पार व्यापार करने गया था, परन्तु तूफान आ जाने से वह समुद्र मे डूब गया। इसी पुराण मे एक स्थान पर लिखा है कि एक व्यापारी ने कुछ रत्न-परीक्षको के साथ मोतियो की तलाश मे समुद्र-यात्रा की थी।[१] हीरा, मोती की खोज मे भी यात्री विभिन्न देशो की यात्रा किया करते थे और वहाँ की सस्कृति आदि का ज्ञानार्जन करते थे। अपनी इस प्रकार की यात्राओ मे वे अनेक बाधाओ को झेलते थे और धन-लाभ के साथ-साथ मनोरजन भी करते थे। वाराहपुराण के अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण[२] मे भी यात्रा का उल्लेख मिलता है। यह वर्णन उस समय का है जब श्रीकृष्णजी मथुरा की यात्रा करते है। इसके साथ तीर्थ-यात्रा, तीर्थ-भ्रमण के अन्य उल्लेख भी हमे इसी पुराण मे प्राप्त होते है।[३] उस समय राजे-महाराजे तीर्थो की यात्राओ के निमित्त भी यात्रा किया करते थे। यह यात्राएँ रथो पर हुआ करती थी। वाराहपुराण मे इस प्रकार की यात्रा के लिए राजा सुमतिनाम का उल्लेख हुआ है, जो तीर्थ-यात्रा के लिए

---

१. पुनस्त त्रैव गमने वणिग्भावे मतिर्गता। समुद्रयाने रत्नानि महास्थौल्यानि साधुभि ।
रत्नपरीक्षकै॰ सार्द्धमानयिष्ये बहूनि च। एव निश्चित्य मनसा महासार्थपुर सर ।।
समुद्रयामिभिलोकै सविद सूच्य निर्गत । शुकेन सह सम्प्राप्तो महान्त लवणार्णवम् ।
पोतारूढास्तत सर्वे पोतवाहैरुपोष्दिता ।।

—वाराहपुराण, अध्याय १६६

२. श्रीकृष्णो मथुरा गत्वा कि कि कर्म चकार स ।
स्वर्गारोहण पर्य्यन्त तद् भवान वक्रमर्हति ।।
× × × ×
श्रीकृष्णश्च गृहीत्वा च स्वगण मथुरा गत ।
कृष्ण श्री मथुरा गत्वा जघान नृपति मुने ।।
× × × ×
गत्वा समुद्र निकट निर्माय द्वारका पुरीम ।
जहार रुक्मिणीदेवी जित्वा नृपति सघकम ।।
× × × ×
योगे च वसुदेवस्य तीर्थयात्रा प्रसगत॰ प्राणाधिष्ठातृदेवीन्च ददर्शतत्र राधिकाम् ।।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय ५४

३. तीर्थयात्रा प्रसगेन गणेशपूजन तथा। दर्शन राधिकासार्थ कृष्णस्य परमा मन ।।
राधाया दर्शन देव्या राधातेज प्रकाशनम्। राधाया रमण तीर्थेभ्रमण रहसि स्मृतम् ।।

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १३०

ही विभिन्न स्थानों को गया था।[1] इन तीर्थयात्राओं का उद्देश्य पुण्य-लाभ ही हुआ करता था। वाराहपुराण में ऐसी यात्राओं के कई जगह उल्लेख मिलते हैं। कहीं-कहीं पर यात्रा-विवरण के अतिरिक्त तीर्थयात्रा की महिमा एवं उसके महत्व का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। वामन पुराण में भी तीर्थ यात्रा का वर्णन मिलता है। प्रहलाद-तीर्थयात्रा का प्रसंग इसका ही एक अंश है।[2] इसी तीर्थयात्रा का फल वामन पुराण के ७८वें अध्याय में बताया गया है।[3] इस पौराणिक युग में हमें यात्रा का विस्तार होना दृष्टिगत होता है। इस युग में यात्रा का उद्देश्य भी बदल गया है और लोग मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक, धार्मिक दृष्टियों से यात्रा करने लगे हैं।

मार्कण्डेय पुराण में हमें बलदेवजी की ब्रह्महत्या-जनित पाप-प्रक्षालनार्थ की गई तीर्थयात्रा का कारण-वर्णन मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि उस युग में लोग पाप-कर्मों से मुक्ति पाने के लिए भी तीर्थयात्राएँ किया करते थे, वह वर्णन निम्न प्रकार से हैं :—

"बलरामजी ने यह विचार किया कि जब तक कौरव-पांडवों का ध्वंस न हो, तब तक आप-ही-आप विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करके आत्मा को पवित्र करूँ। मन में इस प्रकार की भावना को स्थिर कर हृषीकेश पार्थ और दुर्योधन को आमन्त्रित करते हुए अपनी सेना से वेष्ठित हो द्वारिका की यात्रा को चले गए। शौर्य

---

१. सुमतिर्नाम राजा सोद्धार्म्मिको लोकाविश्रुतः। तीर्थयात्रा निमित्तेन स्वर्गलोकं गतःपुरा ॥
× × × × ×
मन्त्रिणश्च ततो ज्ञात्वा पितुर्मरण मेव च। तीर्थयात्रा निमित्तश्च तस्मै राज्ञेन्यवेदयत् ॥
हिताय सर्व्व तीर्थानां हनिष्यामि महारिपुम्। तत्रतीर्थ नियोगेनआगतो मथुरापुरीम् ॥
× × × × ×
तीर्थे वाराह संज्ञे तु मथुरायां व्यवस्थिताः। सुदृढ़ाः सुस्पर्शः सुभूर्यः पश्यति समुच्यते ॥
—वाराहपुराण, अध्याय १६६

२. गते च तीर्थ यात्रायां प्रहलादे दानवेश्वरे।
कुरुक्षेत्रं समभ्यागाद्द्रष्टु वैरोचनोमुने ॥
कोटि तीर्थे रुद्र कोटिर्ददर्श वृषभध्वजम्।
नैमिषेया द्विजवरा मागधेयाः ससैंधवा ॥
—वामनपुराण, अध्याय ८४

३. नारद उवाच— कानितीर्थानिविप्रेन्द्र प्रहलादोनुजगामह।
प्रहलाद तीर्थयात्रां मे सम्य गरिण्यातुमर्हसि ॥
पुलस्त्य उवाच— श्रणुत्वकं कथमिष्यामि पापपंक प्रणाशिनीम्।
प्रहलाद तीर्थयात्रा ते सर्व पाप प्रणाशिनीम् ॥
—वही, अध्याय ७८

बलरामजी ने हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरी द्वारावती नगरी में जाकर तीर्थयात्रा करने का विचार किया[1]।

श्रीमद्भागवत महापुराण में बलरामजी की तीर्थयात्रा का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। मुनीश्वरों से विदा हो श्री बलरामजी ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी के तीर पर आए। वहाँ स्नान कर वे उस सरोवर पर यात्रा करते हुए गए जहाँ से सरयू नदी निकली है। फिर सरयू के किनारे वे प्रयाग में पहुँचे और वहाँ स्नानादि तथा देवादि तर्पण कर पुलहाश्रम को गए। वहाँ से गोमती, गंडकी और विपाशा नदी में स्नान करते हुए आगे जाकर शोण नदी में स्नान किया। फिर गया में पहुँचे और वहाँ पितृ-पूजन आदि कर गंगासागर में जाकर स्नान किया। तदनतर महेन्द्र पर्वत पर परुपरामजी के दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और वहाँ से क्रमशः सप्त गोदावरी, वेणा, पम्पा और भीमस्थी आदि में स्नान करते हुए स्वामिकार्तिकेयजी के दर्शन किए। फिर महादेवजी के निवास-स्थान श्रीपर्वत पर भी यात्रा करते हुए गए। वहाँ भ्रमण कर द्रविड़ देश में अत्यन्त पवित्र वैंकट पर्वत का दर्शन करते हुए प्रभु बलभद्रजी कामकोषणी नदी में स्नान कर काञ्चीपुरी में पहुँचे। फिर नदियों में श्रेष्ठ कावेरी में स्नान कर जहाँ श्रीहरि निरन्तर विराजमान रहते हैं, उस महापवित्र रंगक्षेत्र की यात्रा करने गए। वहाँ से हरि के क्षेत्र ऋषिभाद्रि दक्षिण मथुरा और महान् पापों को नष्ट करनेवाले सेतुबन्धु रामेश्वर को गए। वहाँ श्री हलधर ने ब्राह्मणों को दश सहस्र गौएँ दान कीं। वहाँ सेकृतमाला और ताम्रपर्णा में स्नान करते हुए कुलाचल मलयपर्वत पर पहुँचे। वहाँ विराजमान अगस्तजी को नमस्कार और अभिवादन कर उनका आशीर्वाद पाया और फिर उनसे आज्ञा ले दक्षिण समुद्र की यात्रा कर कन्या नामवली दुर्गादेवी का दर्शन किया। फिर भगवान् बलभद्रजी केरल और त्रिगर्त देशों में होते हुए गोकर्ण नामक शिवक्षेत्र में पहुँचे जहाँ भगवान् शंकर सर्वदा विराजमान रहते हैं। वहाँ से द्वीप में रहनेवाली आयादेवी का दर्शन कर शूपरिक क्षेत्र की यात्रा करने गए। फिर तापी, पयोषणी और निर्विन्ध्या नदी में स्नान करते हुए उन्होंने दण्डकारण्य में प्रवेश किया। तदनतर नर्मदा नदी पर पहुँचकर मनतीर्थ में स्नान

---

१. तीर्थेष्वाप्लावमिष्यामितावदात्मान मात्मना। कुरुणा पाण्डवानां च यावदन्ताय कल्पते।
इत्यात्मन्त्रयहृषीकेशं पार्थ दुर्योधनावपि:। जगाम द्वारकां शौरिः स्वसैन्य परिवारितः।
गत्वा द्वारवतीं रामोतहृष्टपुष्ट जनाकुलाम्। श्रोगन्तयेपुतीर्थेषु पपौपानं हलायुधः॥
पत्पानौ जगामाथ रेवतोद्यानभृद्धिमत्। हस्ते गृहीत्वा समंदारेवतीम अप्सरोपमाम्॥
सर्वर्तु फल पुष्पादयं शाखामृग गणांकुलाम्। पुण्यं पद्मव नोपेत सपल्वलमहावनम्॥
सश्रृण्यन्प्रीतिजननान्वहून्मदकलान्शुभान्। श्रोतरम्यान्सुमधुराञ्शब्दान्खग मुखेरितान्॥
—मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ६

किया तथा प्रभास क्षेत्र में लौट आए। फिर बलरामजी ने कुरुक्षेत्र की यात्रा भी की।[1]

बलरामजी द्वारा की गई तीर्थयात्रा का उल्लेख हमें मार्कण्डेयपुराण में भी मिलता है। उसमें लिखा है : "मैं जो इस तीर्थयात्रा का उद्योग कर रहा हूँ, इस यात्रा में ही प्रतिलोमा सरस्वती में जाऊँगा।" यह कह कर वह यदुकुल-धुरन्धर बलरामजी प्रतिलोमा सरस्वती में चले गए।[2] नारद पुराण में भी हम तीर्थयात्रा का वर्णन ही प्रधान रूप से पाते हैं। इसमें केवल यात्रा का वर्णन ही नहीं किया गया है, वरन् विशेष रूप से तीर्थों की यात्रा के काल का भी विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। नाना क्षेत्रों की यात्राओं की विधियों के साथ-साथ यात्रा करने का फल भी विभिन्न स्थलों पर वर्णित कर दिया गया है।[3] इसके अतिरिक्त स्कन्दपुराण में तो यात्रा-वृत्तान्त बहुत ही अधिक है। द्वितीय वैष्णव खण्ड में रथ-यात्रा, स्नान-यात्रा, ब्रह्म खण्ड में सेतु-यात्रा, विन्ध्य-नारद-सम्वाद के चौथे खण्ड में यात्रा-परिक्रमा, पाँचवें अवन्ती खण्ड में पिशाचिकादि यात्रा, महाकालेश्वर यात्रा, कुशस्थली प्रदक्षिणा एवं जयंतिका कुठारेश्वर यात्रा तथा सातवें प्रभास खण्ड में पार्थेश्वर यात्रा एवं मुद्गल यात्रा का वर्णन मिलता है।

---

१. अथतैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः। स्नात्वा सरोवर मगाद्यतः सरयूरास्रवत् ॥
अनुस्रोतेन सरयूं प्रयाग मुपगम्यसः। स्नात्वा सन्तर्प्य देवादींन्वजगाम पुलहाश्रमम् ॥
गोमतीं, गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोण आप्लुतः। गयां गत्वा पितृनिष्ट्वा गंगासागर संगमे ॥
उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च। सप्तगोदावरी वेणां पम्पा भीमरथींततः।
स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलंगिरिशालयम्। द्रविडेषु महापुण्यं द्रवाद्रि वेंकट प्रभुः ॥
कामकोपर्णी पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम्। श्रीरंगाख्यं महापुण्यं यत्र सन्निहितो हरिः ॥
ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा। सामुद्रं सेतुमगमत्महापातक नाशनम् ॥
तत्रायुत महाद्धेनूब्राह्मणेभ्यो हलायुधः। कृतमालांताम्रपर्णी मलयं च कुलाचलम् ॥
तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च। योजित स्तेन चाशीर्भिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ॥
दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥
ततोऽभिव्रिज्य भगवान केरलांस्तु त्रिगतकाम्। गोकर्णाख्यं शिवक्षेत्रं सान्निध्यं यत्र धूर्जटेः।
आर्यां द्वैपायनीं दृष्ट्वाशूर्पारकम गाद्बलः। तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याय दण्डकम् ॥
प्रविश्य रेवामनमद्यत्र माहिष्मती पुरीं। मनुतीर्थ मुवस्पृश्य प्रभासं पुनरागमेत् ॥
—श्रीमदभागवत महापुराण, अध्याय १९

२. अथयेय समारब्धा तीर्थयात्रा मयाधुना। एतामेव प्रयास्यामि प्रतिलोमा सरस्वतीम् ॥
अत्रोजगाम रामोऽसौ प्रतिलोमा सरस्वतीम् ॥
—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ६

३. तीर्थयात्रा वरारोहे कथिता पापनाशिनी।
येन चैषा कृतादृष्टा सोऽपि वै मुक्तिभाग्भवेत् ॥
अविमुक्तं तु सुश्रोणि मध्यमावरणं शुभम्।
एतत्तु कंटकं नाम मृत्युकालेऽमृतप्रदम् ॥
—नारद महापुराण, अध्याय ४९, श्लोक ७३-७४

इस प्रकार की तीर्थयात्राओं का वर्णन उपर्युक्त पुराणों में ही नहीं वरन् महर्षि वेदव्यास पुनीत श्रीमद्भागवत महापुराण के कई अन्य स्थलों पर भी मिलता है। अक्रूर की व्रजयात्रा का वर्णन करते हुए श्री शुकदेवजी कहते हैं—

"हे राजन्, कंस की आज्ञा पाने पर महामति अक्रूरजी उस रात्रि को मथुरापुरी में ही रहे, दूसरे दिन सवेरे ही रथ पर चढ़कर नन्दजी के व्रज को चल दिए। मार्ग में जाते-जाते महाभाग अक्रूरजी के हृदय में भगवान् कमलनयन की परमभक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और इस प्रकार यात्रा करते हुए भावों के लोक में विचरने लगे।"[1]

अक्रूरजी की इस यात्रा के अतिरिक्त उद्धवजी की व्रजयात्रा का भी वर्णन हमें श्रीमद्भागवत में मिलता है। इस यात्रा में उद्धवजी कृष्ण की आज्ञा पाकर गोपियों को उपदेश देने के लिए व्रज की ओर जाते हैं। स्वामी कृष्ण की आज्ञा को शिरोधार्य कर अब उद्धवजी अपनी यात्रा के लिए जाते हैं, तब वे नाना प्रकार के पथों का भ्रमण करते हैं और तब (नन्दजी के गोकुल नंदगाँव) पहुँचते हैं।[2] कौरव-पाण्डव के युद्धीय वातावरण के समय भी बलरामजी को यात्रा करनी पड़ी थी, उसका वर्णन भी इस महापुराण में दिया गया है। कहते हैं, एक बार बलरामजी कौरवों की पाण्डवों के साथ युद्ध-यात्रा की तैयारी सुनकर कोई पक्ष न लेने के विचार से तीर्थयात्रा के बहाने द्वारिका चले गए। द्वारिका से चलकर उन्होंने प्रभास-क्षेत्र में स्नान किया और वहाँ देवता, ऋषि, पितृगण और मनुष्यों को तृप्त कर विप्रमंडली के साथ प्रवाहाविमुख हो सरस्वती के किनारे यात्रा करने लगे। वहाँ से पृथूदक, बिन्दुसार, त्रियकूप, सुदर्शन, विशाल, ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ और पूर्ववाहिनी सरस्वती आदि तीर्थों में यात्रा करते हुए गए। तत्पश्चात् यमुना और गंगाजी के आस-पास के तीर्थों की यात्रा करते हुए नैमिषारण्य में गए जहाँ ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे।[3]

---

१. अक्रूरोऽपि च तां रात्रिं मधुपुर्यां महामतिः।
उषित्वा रथमास्थाय प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥
गच्छन्पथि महाभागो भगवत्यम्बुजेक्षणे।
भक्तिं परामुपगत स्वमेतद चिन्तयत् ॥
—श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध, अध्याय ३८

२. इत्युक्त उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुराहतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥
—वही, अध्याय ७८

३. श्रुत्वा युद्धोधर्म रामः कुरूणां सह पाण्डवै। तीर्थाभिषेक व्याजेन मध्यस्थः प्रययौकिले।
स्नात्वा प्रभासे सन्तर्प्य देवर्षि पितृमानवान्। सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मण संवृतः।
पृथूदक बिन्दुसारस्त्रितकूपं सुदर्शनम्। विशाल ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम्।
यमुना मनु यान्येव गंगामनु च भारत। जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासते ॥
—श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध, अध्याय ७९

इस प्रकार हम देखते हैं कि पौराणिक युग में यात्रा का वर्णन विस्तार रूप से सभी प्रमुख पुराण-ग्रंथों में मिलता है। इसके अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि इस युग में यात्रा के प्रति विशेष रुचि थी। इस युग के यात्री अधिकतर पौराणिक ही रहे हैं, जिन्हें यात्राओं में वहुत कम बाधाओं का सामना करना पड़ा है। इनके यात्रा-वाहन रथ आदि ही रहे हैं तथा वे जहाज़ों में भी यात्रा किया करते थे। लोगों में धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वे धर्म को अधिक महत्व देते थे। इसी कारण यात्राओं का प्रमुख उद्देश्य तीर्थों का भ्रमण था जिसमें धार्मिक भावना का विशेष महत्व दृष्टिगत होता है। धर्म-लाभ में ही वे अपना मनोरंजन भी समझते थे। अन्य प्रकार की यात्राएँ गौण थीं, ऐसा इस युग के यात्रा-विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है।

(३) **रामायण-युग:**—रामायण-युग में भी हमें यात्रा-सम्बन्धी अनेक स्थल मिलते हैं। अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख हैं जिनसे प्रकट होता है कि भारतवासी सागर की राह एवं स्थल की राह अन्यान्य देशों का भ्रमण किया करते थे। जब वानरेन्द्र सुग्रीव बड़े-बड़े वानरों को सीता का पता लगाने के लिए भेजने लगे, तब उन्होंने उन स्थलों के भी नाम बताए जहाँ सीता के मिलने की सम्भावना थी। इन संभावित स्थलों की वानरों ने पूर्णरूप से यात्रा की और सीता को खोज निकालने का प्रयत्न किया। सुग्रीव ने विनत नामक सेनापति को समझाते हुए कहा: "हे वानरश्रेष्ठ, चन्द्र-सूर्य के समान वानरों के साथ देश-काल और नीति जाननेवाले सौ हज़ार वेगवान वानरों के साथ तुम पूर्व दिशा की ओर जाओ। कर्त्तव्य निश्चय करने में तुम स्वयं बुद्धिमान हो, वहाँ पर्वत, वन, कानन आदि में सीता को और रावण के घर को ढ़ूँढ़ना। दो पर्वतों को, जो वन, पर्वत से शोभित हैं, ढ़ूँढ़ना। ब्रह्ममाला, विदेह मालव, काशी और कौशल को भी ढ़ूँढ़ना। बड़े-बड़े गाँववाले मगध, पुण्ड तथा आंगदेश एवं रेशम तथा चाँदी उत्पन्न करनेवाली भूमि का भी भ्रमण करना। जो पर्वत और नगर समुद्र में घुस गए हैं अथवा जो मन्दिर पर्वत के शिखर पर बसे हुए हैं, वहाँ भी ढ़ूँढ़ना। सात राज्यों से युक्त यत्नपूर्वक यवद्वीप में भी तुम जाओ। सुवर्णद्वीप और रुण्यक द्वीप में भी जाओ, जहाँ सोना बनानेवाले रहते हैं।"[1] इसमें समुद्र के द्वीपों, पहाड़ों, नगरों एवं कोषकारों

१. देखिए—किष्किन्धाकाण्डम् वाल्मीकीय रामायण—४०वाँ सर्ग,

श्लोक: १७, १८, १९, २०, २२, २३, २५, ३०; पृ० १२४-१२५

शैलाभं मेघानिर्घोषमूर्जितं प्लवगेश्वरम्। सोमसूर्यनिभैःसार्धं वानरैर्वानरोत्तम ॥१७॥
देशकालनयैर्युक्तौ विज्ञः कार्यविनिश्चये। वृत्तःशतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥१८॥
अधिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम्। तत्र सीतां च वैदेहीं निलयं रावणस्य च ॥१९॥
मार्गध्वं गिरिदुर्गेषु धनेषु च नदीषु च। भागीरथीं रम्यां सरयूं कौशिकीं तथा ॥२०॥
महीं कालमहीं चापि शैलकानन शोभिताम्। ब्रह्ममालान्विदेहाश्चं मालवान्काशिकोसलान् ॥२२॥
मागधांश्च महाग्रामान्पुंड्रास्त्वंगास्तथैव च। भूमिं च कोशकाराणां भूमिं च रजताकराम् ॥२३॥
समद्रमवगाढांश्च पर्वतान्पत्तनानि च। मन्दरस्य च ये कोटिं संश्रिताः केचिदालयाः ॥२५॥
यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्। सुवर्णरुप्यकद्वीपं सुवर्णकरमिण्डतम् ॥३०॥
—टीकाकार साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, वाराणसी—सं० १९८८

की भूमि का उल्लेख किया गया है। कोषकारों की भूमि से तात्पर्य वर्तमान चीन से है। यवद्वीप और सुवर्णद्वीप का नाम भी आया है, जिन्हें आजकल जावा और सुमात्रा टापू कहते हैं। रक्तसागर का उल्लेख है, जो वर्तमान लाल समुद्र है। इस प्रकार इन स्थलों का भ्रमण किया गया और सीता का पता लगाने का कार्य यात्रा द्वारा हुआ।

यात्राओं के मार्ग में अनेक लोगों के बीच भी युद्ध हो जाया करते थे। कभी-कभी वे युद्ध राजनैतिक कारणों से हुआ करते थे और कभी व्यापार आदि के सम्बन्ध में। रामायण के अयोध्याकाण्ड में एक श्लोक से जल-युद्ध की तैयारी का संकेत मिलता है—"पाँच सौ नावों पर प्रत्येक पर सौ जवान मल्लाह युद्ध के लिए तैयार होकर रहें।"[1] इससे ज्ञात होता है कि उस समय के लोग यात्रा करने तथा युद्ध-यात्रा करने के लिए जंगी जहाज़ बनाना और समुद्र में भी युद्ध करना अच्छी तरह जानते थे। इसके अतिरिक्त रामायण में यात्री व्यापारियों का भी उल्लेख है जो सागर पार के देशों में जाकर व्यापार करते और वहाँ से अपने राजा को भेंट करने के लिए अच्छी-अच्छी चीज़ें लाते थे। इन चीज़ों के द्वारा वे व्यापार में धन-लाभ करते थे।

विश्वामित्र के साथ रामचन्द्रजी मिथिलापुरी की यात्रा करते हैं। इसका वर्णन बालकाण्ड में इस प्रकार दिया हुआ है: "धनुष की विलक्षणता बतलाते हुए, मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने ऋषियों और राम, लक्ष्मण के साथ वन-देवताओं से आज्ञा लेकर मिथिलापुरी की यात्रा को प्रस्थान किया।"[2] इसी काण्ड में राम की जनकपुर की यात्रा का भी प्रसंग आता है: "जनकपुर की यात्रा में राम और लक्ष्मण, विश्वामित्रजी के साथ उत्तर की ओर यात्रा करते हुए चले जाते हैं, और धीरे-धीरे सभी जनकपुर के यज्ञ-मण्डप में पहुँचते हैं।"[3] उनकी इस यात्रा का वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। रामचन्द्रजी की वन-यात्रा भी बड़ी महत्वपूर्ण है जो रामायण की कथा की मूल-भित्ति है: "अवशिष्ट रात्रि में पिता की आज्ञा को स्मरण करते हुए राम वन से चले जा रहे थे। यात्रा में चलते-चलते कल्याणमयी रात्रि भी बीत गई। प्रातःकाल संध्या करके वे आगे दूसरे देश की ओर बढ़ गए।"[4] इसके पश्चात् हमें भगवान् रामचन्द्रजी की शृङ्गवेरपुर की यात्रा मिलती है। जब धीरे-धीरे यात्रा करते हुए रामचन्द्रजी

---

१. नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतम्। संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥
—अयोध्याकाण्डम् सर्ग ८४, श्लोक—८, पृ० २७५

२. देखिए—बालकाण्ड—सर्ग ३१, पृ० ८७
"एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत्तदा। सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः।

३. ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह। विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागतम्॥
—बालकाण्ड, सर्ग ५०, पृ० १२८

४. रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्। जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन्॥
तथैवगच्छतस्य व्यापायाद्रजनी शिवा। उपास्य तु शिवां संध्यां विषयान्तत्यगाहत॥
—अयोध्याकाण्ड, सर्ग ४६, पृ० १७०

शृङ्गवेरपुर में जा पहुँचते हैं।[1] अपनी इस यात्रा में कौशलेश्वर रामचन्द्र ने पर्वतों को पारकर मैथिली सीता को सुन्दर जलवाली मन्दाकिनी नदी का दर्शन कराया और उनसे कहने लगे : "इसके तट कितने सुन्दर हैं। हंस और सारस यहाँ वर्तमान हैं, यह नदी पुष्पों से युक्त है। तीर के अनेक फल-फूलवाले वृक्षों से घिरी हुई है। यात्रा में यह कुवेर के कमल के समान शोभित हो रही है।"[2]

इसके बाद रामचन्द्रजी की पंचवटी-यात्रा का विवरण मिलता है, जब वे महर्षि के बतलाए हुए मार्ग से पंचवटी की यात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं : "दानों ही राजकुमार धनुष लेकर वाणों से भरा तरकस पाकर सावधान होकर पंचवटी की ओर चले।"[3] अपनी इस यात्रा में पंचवटी की सौन्दर्यपूर्ण प्रकृति का दृश्य राम को बहुत ही सुन्दर लगा। वहाँ की उस अद्वितीय शोभा को देखकर उनसे न रहा गया और यात्रा-मार्ग में ही वे पंचवटी की सुन्दर वनस्थली का सीता से वर्णन करने लगे। वे कहते हैं : "यहाँ हंस और जलमुर्ग भरे हुए हैं, चक्रवाक इसकी शोभा को और भी द्विगुणित कर रहे हैं। जल पीने के लिए मृगों का समूह इसमें बैठा हुआ है। मयूर वोल रहे हैं, रमणीय और ऊँचे पर्वत हैं, जिनमें अनेक कन्दराएँ हैं, जो विकसित पुष्पों से ढकी हुई हैं।"[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण-युग में यात्राओं में प्रकृति-सौन्दर्य के वर्णन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। साहित्यिकता का पूर्ण समावेश हो गया था। पद-यात्रा का इसमें प्राधान्य है। रथ के द्वारा भी यात्राएँ हुई हैं और वायुयान के समान आकाशमार्गीय यात्राओं का भी इस युग में संकेत मिलता है; पर राम की यात्रा में प्रकृति का सौन्दर्य अधिक सूक्ष्म तथा मनोरम रूप में वर्णित हुआ है।

रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में हमें वाली की युद्ध-यात्रा का विवरण प्राप्त होता है।[5] इस प्रकार की युद्ध-यात्राओं में राजनैतिक दृष्टि की प्रधानता ही दिखाई

१. आससाद महावाहुः शृंगवेरपुरं प्रति ॥

—अयोध्याकाण्ड, सर्ग ५०, पृ० १७४

२. अथशैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कौशलेश्वरः। अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम्।
विचित्र पुलिनां रम्यां हंस सारस सेविताम्। कुसुमैरूप संपन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम्॥
नाना विधैस्तीर रुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः। राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः॥

—वहीं, सर्ग ६५, पृ० ३०४

३. तौतु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ। तमाश्रमं पंचवटीं जग्मतुः सहसीतया।
गृहीतचापौ ते नराधिपात्मजो विषक्ततूणी समरेष्वकातरौ।
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा प्रजग्मतुः पंचवटीं समाहितौ॥

—अरण्यकाण्ड, सर्ग १३, पृ० ३७

४. हंस कारण्डवाकीर्णां चक्रवाकोयशोभिता। नातिदूरे न चासन्ने मृगयूथनिपीडता।
मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो बहुकंदराः। दृश्यन्ते गिरयः सौम्याः फुल्लैस्तरुभिरावृताः॥

—अरण्यकाण्ड, सर्ग १५, पृ० ४१

५. किष्किन्धाकाण्डम—सर्ग १५

देती है। इसी काण्ड में आगे चलकर वानरों की यात्रा का भी विस्तृत वर्णन मिलता है : "वानरों की एक लम्बी सेना युद्ध के लिए यात्रा करती है और बानर-सम्राट् सुग्रीव की आज्ञा पाते ही सारी सेना टिड्डी दल के समान समस्त पृथ्वी पर फैल जाती है।"[1]

रामायण के सुन्दरकाण्ड में हमें कपि हनुमान की आकाश-यात्रा का वर्णन मिलता है, जब वे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर संजीवनी की खोज में यात्रा करते हैं। उस समय वे महावेग से पर्वत, गुफा, नदी, नालों को लाँघते हुए उड़ते चले जाते हैं और संजीवनी की खोज करते हैं।"[2]

युद्ध-काण्ड युद्ध-सम्बन्धी यात्राओं से भरा हुआ है। इसमें युद्ध-यात्रा का ही प्राधान्य है। इसके बाद रामायण के उत्तरकाण्ड में हमें रावण की एक यात्रा मिलती है। इस यात्रा में रावण मधु को मारने के लिए जाता है और स्वयं कहता है : "मेरा रथ शीघ्र तैयार हो, वीरगण तैयार हो जायँ, आज रावण से न डरनेवाले मधु को युद्ध में मारकर, युद्ध करने के लिए मित्रों के साथ देवलोक में जाऊँगा।" रावण के इतना कहते ही चार हज़ार अक्षौहिणी युद्ध चाहनेवाले राक्षसों की प्रधान सेना अनेक प्रकार के अस्त्रों को लेकर युद्ध-यात्रा के लिए चली। सैनिकों को एकत्र करके इन्द्रजित सेना के आगे चला।[3] रावण की यह यात्रा बड़े ओजपूर्ण शब्दों में वर्णित है। यह यात्रा यहीं पर समाप्त नहीं होती, मधु को परास्त करके और उसके घर पूजा पाकर वह और भी आगे की यात्रा करता है। कुवेर के निवास-स्थान कैलाश-पर्वत की भी उसने यात्रा की।[4] यह यात्राएँ विशेषकर युद्ध के लिए ही की गई हैं। इसी काण्ड

---

१. सर्वांश्चहूय सुग्रीवःप्लवगान्प्लवगर्षभः समस्तांश्चब्रवीद्राजा रामकार्यार्थ सिद्धये।
एवमेतद्धि चेतरयं भवद्भिर्वानरोत्तमैः। तदुग्रशासनं भर्तुर्विज्ञाय हरिपुंगवाः॥
शलभा इव संच्छाद्य मेदिनी संप्रतस्थिरे। रामः प्रस्रवणे तस्मिन्न्यवसत्सहलक्ष्मणः॥
प्रतीक्षमाणस्तं मांस सीताधिगमने कृतः। उत्तरां तुदिशं रम्यां गिरिराजसमावृताम्॥
प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतवलिस्तदा। पूर्वां दिशं प्रतिययौविनतौ हरियूथयः॥
तारांगदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः। अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथयः॥
पश्चिमा च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः। प्रतस्थे हरिशार्दूलौ दिशं वरुणपालिताम्॥
—वही, सर्ग ४५, पृ० १४१-१४२

२. आप्लुत्यच महावेगः पक्षवानिव पर्वतः॥
—सुन्दरकाण्डम्, सर्ग ५७, पृ० १७९

३. वाहनान्यधिरोहन्तु नाना प्रहरणायुधाः। अद्य तं समरे हत्वामधुं रावणनिर्भयम्।
सुरलोकं गमिष्यामि युद्धकांक्षी सुहृदवृत्त। अक्षौहिणी सहस्राणिचत्वार्याणि रक्षसाम्॥
नाना प्रहारणान्याशु निर्य्ययुद्धकांक्षिणाम्। इन्द्र जित्वग्रतः सैन्यात्सैनिकान्परिगृह्य च।
—उत्तरकाण्डम्, सर्ग २५, पृ० ८२

४. प्राप्य पूजां दशग्रीवो मधुवेश्मनि वीर्यवान्। तत्र चैका निशामुष्य गमनायोपचक्रमे॥
ततः कैलाशमासाद्य शै ̇ वैश्रवणालयम्।
—वही, सर्ग २५, पृ० ८३

में हमें लवण को मारने के लिए सेना-सहित शत्रुघ्न की यात्रा का भी वर्णन मिलता है।[1] उत्तरकाण्ड में ही शत्रुघ्न का अपने पुत्रों का राज्याभिषेक करके अयोध्या की यात्रा करना भी वर्णित है।[2] इस प्रकार रामायण-युग में की गई यात्राओं में यदि प्रारम्भिक अंश में वन, तीर्थ आदि की यात्राओं का प्राधान्य रहा है, तो अन्तिम अंशों में युद्ध-यात्रा का। इन सभी यात्राओं में उस युग का सार समाहित है। उस समय की संस्कृति, युद्ध-यात्रा के प्राधान्य का पुट हमें मिल जाता है। रामायण की इन प्राचीनकालीन यात्राओं से हमें आर्य-सभ्यता के विषय में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इन यात्राओं से हम प्राचीनकालीन भारत की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था को अच्छी तरह जान सकते हैं। इसके साथ ही हमें तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। इन वर्णनों में साहित्यिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत बड़े ही सूक्ष्म तथा हृदयग्राही दृश्य अंकित किए गए हैं। मानव-प्रकृति के चित्र भी सूक्ष्मता से उतारे गए हैं। कलात्मकता तथा सौन्दर्य के सुष्ठु दृश्य हमारे सम्मुख आते हैं। वास्तव में रामायण-युगीन यात्रा-वर्णन अपने में पूर्ण तथा गौरवशाली हैं।

३—(४) **महाभारत-युग**—रामायण की भाँति ही महाभारत में भी यात्रा के प्रसंगों की प्रचुरता है। यद्यपि महाभारत रामायण के समान सर्वप्रिय ग्रंथ नहीं है, तथापि इसका महत्त्व रामायण से किसी प्रकार कम नहीं है। इसका ऐतिहासिक पक्ष महायुद्ध तथा कौरवों और पाण्डवों के विस्तृत इतिवृत्त का वर्णन करता है। विभिन्न यात्राओं के वर्णन मिलते हैं, जिनके द्वारा हमें तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का भी पता चलता है और आर्यों की तत्कालीन सभ्यता पर भी प्रकाश पड़ता है। महाभारत के बहुत-से श्लोक भारतवर्ष तथा अन्य देशों के परस्पर-सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। इन प्रसंगों को एक-दूसरे के भ्रमण-सूचक चिह्न भी कहा जा सकता है। अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा में और राजसूय यज्ञ के प्रसंग में ऐसे कितने ही देशों के नाम आए हैं, जो भारतवर्ष से बहुत दूर पर स्थित हैं। उस समय इन देशों से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध था और एक-दूसरे के निवासी यात्रा के हेतु आया-जाया करते थे, अथवा उन्हें पाण्डवों ने जीत लिया था। सभापर्व में इस प्रकार का वर्णन करते हुए लिखा गया है :—

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीनलेच्छयोनिजान् ॥
निषादान्पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥

---

१. रामं प्रदक्षिणीकृत्य शिरसाभिप्रणम्य च । लक्ष्मणं भरतं चैव प्रणिपत्य कृतांजलिः ।
पुरोहितं वसिष्ठं च शत्रुघ्नः प्रयतात्मवान् । रामेण चाभ्यनुज्ञातः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ॥
—उत्तरकाण्डम्, सर्ग ६४, पृ० १८०

२. सुबाहु मधुरायां च वैदिशे शत्रुघातिनम् । ययौ स्थाप्य तदायोध्यां रथेनैकेन राघवः ॥
—वही, सर्ग १०८, पृ० २५६

द्वीप ताम्राह्वं चैव पर्वत रामकं तथा ।
तिमिंगिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।।[1]

इससे सिद्ध होता है कि महामति सहदेव ने सागरद्वीप-वासी मलेच्छ नरेशों और निषाद तथा कर्ण जाति के लोगों को युद्ध-यात्रा के द्वारा परास्त और वशीभूत किया था । इनमें ताम्रदीप का राजा भी सम्मिलित था ।

महाभारत का एक पर्व ही तीर्थयात्रा पर्व के नाम से अभिहित है । इस पर्व में हमें अनेक तीर्थ-यात्राओं का विवरण मिलता है ।[2] यद्यपि ये वर्णन हमें महाभारत के प्रायः सभी पर्वों में थोड़े-बहुत अवश्य मिल जाते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत के सभी पर्वों में यात्रा-वर्णन मिलता है ।[3] पाण्डवों की पांचाल देश-यात्रा का वर्णन हमें आदिपर्व में विस्तृत रूप से मिल जाता है ।[4] इस यात्रा में पाण्डव अपनी माता के साथ यात्रा करते हैं । अपने आश्रयदाता ब्राह्मण से अनुमति लेकर और उसे प्रणाम कर वे गंगातट के सौमाश्रपायण तीर्थ पर पहुँचे । उनकी इस यात्रा में अर्जुन आगे-आगे मशाल द्वारा पथ-प्रदर्शन कर रहे थे ।

आदिपर्व में पाण्डवों की यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा गया है : "समय आने पर पाण्डवों ने भी यात्रा के लिए शीघ्रगामी तथा श्रेष्ठ घोड़ों को रथ में जुड़वाया । उन लोगों ने दीनभाव से बड़े-बूढ़ों के चरणों का स्पर्श किया, छोटों का

---

१. महाभारत—सभापर्व, अध्याय ३३, पृ० ५४, पूना—१९२९

२. देखिए—तीर्थयात्रां पुरस्कृत्य कुरुक्षेत्रं गताः पुरा ।
ततः कुब्जः सरस्वत्याः कृतो भरतसत्तम् ।।
—महाभारत, तीर्थयात्रा पर्व, अध्याय ८३, पृ० १३५

३. इदं च तदनुप्राप्तम अर्वावद्युधिष्ठरः ।
पुरा व्यूढेष्वनीकेषु दृष्ट्वोत्पातान् सुदारुणान् ।।
इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत् ।
आज्ञा पयामास तदा तीर्थयात्रा मरिन्दमः ।।
अघोपयन्त पुरुषास्तत्र केशव शासनात ।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभा ।।
—महाभारत, वनपर्व १६, अध्याय २, पृ० ३, प्रथम संस्करण—१९३३

४. चिररात्रोषिताः स्मेहब्राह्मणस्य निवेशने । रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः ।।
यानीह रमणीयानि वनान्यु पवनानि च । सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनःपुनररिंदम ।।
पुनर्दृष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा । भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ।।
ते वयं साधु पंचालान्गच्छाम यदि मन्यसे । अपूर्व दर्शनं वीररमणीयं भविष्यति ।।
सुभिक्षाश्चैव पंचालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन । यज्ञसेनश्च राजा सौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम ।।
एकत्र चिर वासश्च क्षमोन च मतो मम । ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्रमन्यसे ।।

× × × ×

तत आमंत्रय तं विप्रं कुन्ती राजन्सुतैः सह । प्रतस्थे नगरी रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ।।
—महाभारत, चैत्ररथ (आदिपर्व) अध्याय १६८, पृ० २८०

आलिंगन किया और पुनः यात्रा आरम्भ की।"[1] इस प्रकार के यात्रियों के यात्रा-मार्ग महाभारत काल में जल और स्थल दोनों ही होते थे। वे जंगल, मैदान—सभी स्थानों का भ्रमण किया करते थे। भ्रमण के साधनों में उनके पास घोड़ों की ही प्रधानता थी, जिनके द्वारा युद्ध भी हुआ करते थे और यात्राएँ भी। यात्राओं से वे अपना मनोरंजन भी किया करते थे। राह में अनेक बाधाएँ भी पड़ती थीं, पर वे उन पर विजय प्राप्त करते थे।

आदिपर्व में ही हमें अर्जुन की तीर्थ-यात्रा का उल्लेख मिलता है।[2] इस यात्रा के साथ श्रीकृष्ण की द्वारिका-यात्रा भी वर्णित की गई है, जिसमें लिखा है : "भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वारिका की यात्रा के समय किए जानेवाले कर्म आरम्भ किए। उन्होंने स्नानादि से निवृत्त होकर आभूषण धारण किए और पुष्पमाला, गन्ध, नमस्कार आदि से देवता एवं ब्राह्मणों की पूजा की। जब सब कार्य समाप्त हो चुका, तब वे बाहर की ड्योढ़ी पर आए। ब्राह्मणों ने स्वस्तिवाचन किया और उन्होंने दधि, अक्षत, फल, पात्र एवं द्रव्य आदि के द्वारा उनकी पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा की और अपने सोने के रथ पर सवार हुए। इस प्रकार कृष्ण ने द्वारिका-यात्रा प्रारम्भ की।[3] इन यात्राओं से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय यात्रा करने का मुख्य साधन रथ ही था।

यात्रारंभ के अवसर पर यात्री अनेक मांगलिक कार्य करके ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त कर तथा वस्त्राभूषण से अलंकृत होकर यात्रा करता था।

सभापर्व में हमें श्रीकृष्ण, भीम एवं अर्जुन की मगध-देश यात्रा का विवरण मिलता है, जो इस प्रकार वर्णित है :—

---

१. संक्षिप्त महाभारतांक—आदिपर्व, वर्ष १७, अंक १, प्रथम खण्ड, पृ० १२३—गीताप्रेस, गोरखपुर

२. देखिए—सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ॥
—महाभारत, आदिपर्व, पृ० ३३८, अध्याय २१३

३. यात्रा कालस्य योग्यानि कर्माणि गरुड़ध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान्समलंकृतः ॥
अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुंगवः।
माल्य जाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥
स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो वाह्य कक्षाद्विनिर्गतः ॥
स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान्दधिपात्र फलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथा करोत् ॥
कांचन रथमास्थाय तार्क्ष्य केतन माशुगम्।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाधैरा युधैरावृत शुभम् ॥
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३, पृ० ३

"युधिष्ठिर की अनुमति प्राप्त करके श्रीकृष्ण, भीमसैन और अर्जुन तीनों भाई मगध की यात्रा के लिए चल पड़े। पद्मसर, कालकूट, गण्डकी, महाशोण, सदानीरा, गंगा, चर्मण्वती आदि पर्वत और नदी, नालों को पार करते हुए वे मगध देश में जा पहुँचे। उस समय वे लोग वल्कल वस्त्र धारण किए हुए थे। कुछ ही समय में वे श्रेष्ठ पर्वत गोरथ पर पहुँच गए। उस पर बहुत सुन्दर-सुन्दर वृक्ष एवं जलाशय थे। गौओं के लिए तो वह मुख्य क्षेत्र था। वहाँ से मगधराज की राजधानी स्पष्ट दीख रही थी। वहाँ पहुँचते ही उन लोगों ने सबसे पहले राजधानी की पुरानी बुर्ज नष्ट-भ्रष्ट कर दी, तदनन्तर मगधपुरी में प्रवेश कर उन्होंने अपनी यात्रा को समाप्त किया।[1] उपर्युक्त यात्रा-विवरण से स्पष्ट है कि लेखक भौगोलिक तथा प्राकृतिक वर्णनों को महत्त्व प्रदान करता है। साथ ही यात्रा-क्षेत्र के दृश्यों को अपना पैनी तथा सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हुए चित्रित करते थे।

महाभारत के वनपर्व में अनेक यात्राओं के विवरण हैं। उन यात्राओं में से राजा ऋतुपर्ण की विदर्भ-यात्रा बड़े महत्त्व की है। राजा ऋतुपर्ण ने यह यात्रा दमयन्ती-स्वयंवर मे जाने के लिए की थी। वनपर्व में लिखा है : "राजा ऋतुपर्ण ने सुदेव ब्राह्मण की बात सुनकर बाहुक को बुलाया और मधुरवाणी से समझाकर कहा कि बाहुक, कल दमयन्ती का स्वयंवर है। मैं एक ही दिन में विदर्भ देश की यात्रा

---

१. एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरौ विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैराभि नन्दिताः ॥
अमर्षादभितप्तानां ज्ञातमर्थमुख्यतेजसाम्।
रवि सोमाग्निवपुषां दीप्त मासीत्तदा वसः ॥
हतं मेने जरासंध दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ।
एक कार्यं समुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥
ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ।
धर्मकामार्थ लोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥
कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजांगलम्।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटतमतीत्य च।
गण्डकीं च महाशोण सदानीरां तथैव च।
एक पर्वत के नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥
उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कौसलान्।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां माला चर्मण्वतीं नदीम् ॥
अतीत्य गंगा शोण च त्रयस्ते प्राङ् मुखास्तदा।
कुशचीरच्छादा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥
ते शंश्वद्गोधना कीर्णमिम्बुमन्तं शुभद्रमम्।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥

—महाभारत, सभापर्व, अध्याय २०, पृ० ३९-४०

करना चाहता हूँ। ऋतुपर्ण की इच्छा पूरी करने में नल ने अपना भी स्वार्थ देखा और वाहुक के रूप में हाथ जोड़कर कहा : "मैं आपके कथानुसार काम करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।" बाहुक अश्वशाला में जाकर श्रेष्ठ घोड़ों की परीक्षा करने लगा। नल ने अच्छी जाति के चार शीघ्रगामी घोड़े रथ में जोत लिए। राजा ऋतुपर्ण रथ पर सवार हो गए। जैसे-जैसे आकाशचारी पक्षी आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही बाहुक का रथ थोड़े ही समय में नदी, पर्वत और वनों को लाँघने लगा।......उन्होंने अपने रथ को जोर से हाँका और सायंकाल होते-होते वे विदर्भ देश में जा पहुँचे।[1] उक्त वर्णन में यात्रा की तीव्रता, सारथी-कर्म की पटुता तथा वाहनों की विशेषता का संकेत स्पष्ट रूप से मिलता है।

पाण्डवों की तीर्थयात्रा का भी वर्णन वनपर्व में यत्र-तत्र मिलता है, जिसमें उनके सजीव शब्द-चित्र अंकित हो उठे हैं : "तीन रात तक काम्यक वन में निवास करने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर ने तीर्थयात्रा की तैयारी की......मार्गशीर्ष पूर्णिमा के अनन्तर पुष्य नक्षत्र में पुरोहित धौम्य एवं वनवासी ब्राह्मणों के साथ ब्राह्मणों ने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। उन सबके हाथ में डंडे थे, शरीर पर फटे वस्त्र तथा मृगचर्म थे, मस्तक पर जटाएँ थीं, शरीर अभेद्य कवचों से ढके हुए थे। हाथ के आयुध, कमर में तलवार और कंधे पर बाण-भर तरकस रखे हुए थे तथा इन्द्रसेन आदि सेवक यात्रा में पीछे-पीछे चल रहे थे।"[2]

---

१. श्रुत्वा वचः सुदेवस्य ऋतुपर्णो नराधिपः। सान्त्वयञ्चश्लक्ष्णया वाचा वाहुक प्रत्यभाषत ।।
विदर्भान्यातुमिच्छामि दमयन्त्याः स्वयंवरम्। एकाह्नाहयतत्त्वज्ञ मन्यसे यदि बाहुक ।।
× × × ×
इति निश्चित्य मनसा वाहुको दीनमानसः। कृताञ्जलिरुवाचेदऋतुपर्णं जनाधिपम् ।।
प्रतिजानामि ते वाक्यं गमिष्यामि नराधिप। एकाह्नापुरुषव्याघ्र विदर्भनगरीं नृप ।।
ततः परीक्षामश्वानां चक्रे राजन्स वाहुकः। अश्वशालामुपागम्य भांगसुरिंनृपाज्ञया ।।
स त्वर्यं माणो वहुश ऋतुपर्णेन बाहुकः। अश्वाञ्जिज्ञासमानो वै विचार्य च पुनः पुनः ।।
—महाभारत वनपर्व, अध्याय ७१, पृ० ११५

२. युधिष्ठिर यमौ भीम मनसा कुरुतार्जवम्।
मनसा कृतशौचा वै शुद्धास्तीर्थानि यास्यथ ।।
शरीर नियमं प्राहुर्ब्राह्मणा मानुषं व्रतम्।
मनोविशुद्धां बुद्धिं च दैपमाहुर्व्रतं द्विजाः ।।
मनो ह्यदुष्टं शौचाय पर्याप्तं वै नराधिप।
मैत्रीं बुद्धिं समास्थाय शुद्धास्तीर्थानि गच्छत ।।
× × × ×
कठिनानि समादाय चीराजिनजटाधराः।
अभेद्यैः कवचैर्युक्तास्तीर्थान्यन्वचरंस्तत: ।।
इन्द्र सेनादिभिर्भृत्यै रथैः परिचतुर्दशैः।
महान सव्यापृतैश्च तथाऽन्यैः परिचारकैः ।।
महाभारत, वनपर्व, अध्याय ९१, पृ० १५७-५८
—सम्पादक—टी० आर० कृष्णाचार्य एवं व्यासाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई—१९०८

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि महाभारत-युग के यात्रा-विवरण अत्यन्त वैज्ञानिक, सूक्ष्म तथा सजीव हैं। उनमें रीति-व्यवहार, लोक-जीवन, सैद्धान्तिक व्यावहारिकता तथा साहित्यिकता के दर्शन होते हैं। भौगोलिक तथ्य भी प्रमाणित होते हैं। अन्त-र्राष्ट्रीयता की दृष्टि भी स्पष्ट है। इस प्रकार ये वर्णन पूर्ण हैं।

३—(५) **ऐतिहासिक युग (६०० ई० पू० से १२०० ई० तक)**—वेद, पुराण, रामायण एवं महाभारत-युगीन ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में भी हमें यात्रा-विवरण मिलते हैं। इन विवरणों से हमें यह स्पष्ट होता है कि यह यात्राओं का तारतम्य अपने प्राचीन रूप से चला आया है। इसको यदि यात्रा का क्रमिक-विकास भी कहा जाय, तो अनुचित न होगा। ऐतिहासिक-युग के सांस्कृतिक ग्रन्थों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतवासी प्रागैतिहासिक युग से ही समुद्र तथा स्थल की राह से निकट और दूर के देशों का भ्रमण करते थे। इन लोगों को इन यात्राओं की प्रेरणा अपने पूर्व इतिहास से मिलती रही है। हाँ, इतना भेद अवश्य रहा है कि प्रारम्भिक यात्राएँ व्यापारिक उद्देश्य-विशेष से की जाती थीं, पर धीरे-धीरे यात्राएँ व्यापार के अतिरिक्त ज्ञानार्जन के लिए भी आवश्यक समझी जाने लगीं।

शिशुपाल-वध (६५०-७००)—महाकवि माघ के प्रसिद्ध ग्रन्थ "शिशुपाल वध" के श्लोक में श्रीकृष्ण की द्वारिका से हस्तिनापुर के लिए की गई यात्रा का प्रमाण मिलता है। उसमें लिखा है : "जब श्रीकृष्ण द्वारिका से हस्तिनापुर जाते थे तब उन्होंने देखा था कि कुछ यात्री-व्यापारी विक्रयार्थ माल से भरे हुए जहाज़ अन्य देशों से लिए आ रहे थे तथा भारतवर्ष का माल अन्य देशों में बेचने के लिए यहाँ से जहाज़ों में लिए जा रहे थे।[1] इस श्लोक से उस समय के व्यापार का एवं दूसरे देशों के भ्रमण का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि व्यापार का साधन जहाज़ ही थे और व्यापार के लिए कई व्यापारियों का झुण्ड चला करता था।

संस्कृत के अनेक गद्य-नाटक, काव्य तथा अन्य ग्रंथों में भी यात्राओं के स्थल उपलब्ध हैं। इन स्थलों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य व्यापार, धर्म-प्रचार तथा तीर्थ-दर्शन आदि के लिए ही मुख्यतः यात्राएँ किया करते थे।

रघुवंश—महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ रघुवंश में भी एक स्थल पर यात्रा का प्रसंग आया है और लिखा हुआ है कि महाराज रघु ने एक बड़ी ही विकट जल-युद्ध यात्रा में बंग-नरेश को परास्त किया था और गंगा के बीचोबीच अपना

---

१. देखिये, शिशुपाल वध—तृतीय सर्ग, श्लोक ७६; पृ० ८६ हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, सं० २००६

विक्रीय दिश्यानि धनान्यरूणि द्वैप्यानसावुत्त मलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥

जय-स्तम्भ गाड़ा था ।[1] इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर यह भी लिखा है कि महाराज रघु ने फारस पर आक्रमण किया था, यद्यपि युद्ध-यात्रा चढ़ाई स्थल-मार्ग से ही हुई थी।[2] यह यात्राएँ इस बात का प्रमाण है कि युद्ध-यात्रा का उस युग में कितना महत्त्व था जिसमें सैकड़ों और हज़ारों सैनिकों को युद्ध के लिए यात्रा करनी पड़ती थी।

रत्नावली—कविवर श्री हर्ष की प्रसिद्ध नाटिका 'रत्नावली' में भी एक यात्रा-विवरण मिलता है। इस स्थल में सिंहलेश्वर विक्रमबाहु की एक कन्या का उल्लेख है जो यात्रा के जहाज के टूट जाने से बीच सागर में डूब गई थी और जिसे कौशाम्बी के कुछ यात्रिक व्यापारियों ने बचाया था।"[3] इस स्थल से ज्ञात होता है कि यात्रा में जीवन का जोखिम उस काल में पर्याप्त रूप से रहता था। फिर जल की यात्रा में तो स्थल की अपेक्षा और भी अधिक भय रहता था। सम्पन्न व्यक्ति भी इससे सुरक्षित नहीं थे।

दशकुमारचरित (५वीं-६ठी सदी)—कविश्रेष्ठ दण्डी भी यात्राओं के कई उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दशकुमारचरित' में करते हैं। इस ग्रंथ में आए हुए यात्रा-विवरण दस राजकुमारों की विभिन्न स्थानों की यात्राओं से सम्बन्धित हैं। अधिकतर ये राजकुमार राजकुमारियों की खोज में यात्रा करते हैं। दण्डी ने एक स्थान पर लिखा है, कि 'रत्नोद्भव' नामक एक व्यापारी कालयवन नामक टापू में गया। वहाँ उसने एक सुन्दरी का पाणिग्रहण किया, परन्तु घर लौटते समय जहाज सहित समुद्र के गर्भ में निमग्न हो गया।"[4] इस ग्रन्थ में यात्रा के कई स्थल और भी हैं। एक स्थान पर मित्रगुप्त की कथा वर्णित है जिसमें एक यवन की अद्भुत कहानी दी गई है कि वह यात्रा के लिए जलयान द्वारा कहीं गया था, परन्तु रास्ता भूल जाने के

---

१. देखिए कालिदास—ग्रंथावली में 'रघुवंश' ग्रंथ, सर्ग ४, श्लोक ३६, पृ० ३८, पं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, द्वितीय संस्करण सं० २००७

वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान्गंगा स्रोतोन्तरेषु सः ॥

२. वही—श्लोक ६०, पृ० ४०

—पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।

३. अन्यथा क्व सिद्धादेश जनित प्रत्यय प्रार्थितायाः सिंहलेश्वर दुहितुःसमुद्रे यानभंगोत्थितायाः फलकासादनं क्व च कौशाम्बीयेन वणिजा सिंहलेभ्यः प्रत्यागच्छता तदवस्थायाः सम्भावनं रत्नमालाचिह्नाया प्रत्यभिज्ञानादिहानयनं च ।

—रत्नावली—हर्षदेव, पृ० ८

सम्पादक—एम० आर० काले, द्वितीय संस्करण, बम्बई १९२५

४. देखिये दशकुमारचरित, प्रथमोच्छ्वास, पृ० ३७—३८

ततःसोदरविलोकन कौतूहलेन रत्नोद्भवः कथंचिच्छ्वशुरमनुनीय चपल लोचन यानया सह प्रवहण मारुह्य पुष्प पुरमभिप्रतस्थे । कल्लोल मालिकाभिहतः पोत समुद्राम्भस्य मज्जत् ।

कारण एक अन्य अज्ञात टापू में जा पहुँचा था।[1] रास्ता भूल जाने के कारण इन यात्रियों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था। वे जंगलों में भटकते फिरते थे। उनको कोई यात्रा-पथ का मार्ग बतानेवाला नहीं मिलता था। ये पहाड़ों पर, मैदानों से भ्रमण करते रह जाते थे। ऐसे समय में उन्हें अनेकों आकस्मिक विपत्तियों का जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्यक्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करना पड़ जाता था। ऐसे समय में भोजन आदि की कठिनाई भी कष्टदायक होती थी। ऐसे समयों में भी युद्ध-यात्रा के लिए राजकुमार तैयार रहते थे। दशकुमारचरित में वामदेवकुमार की दिग्विजय-यात्रा इसी प्रकार की है। काम के समान सुन्दर रामादि के तुल्य पौरुषशाली क्रोध से ही शत्रुओं को भस्म करने में समर्थ एवं वेग में वायु का उपहास करनेवाले कुमार वृन्द युद्ध-यात्रा में विजय के लिए प्रस्थान करते हैं।[2]

इन विजय के लिए की गई यात्राओं के अतिरिक्त विदेशी यात्रियों की कहानियाँ भी बहुत-सी मिलती हैं। दशकुमारचरित में ही हमें ईरानी यात्रियों के आगमन का पता उसके दो उल्लेखों से चल जाता है।[3] इस उल्लेख के अतिरिक्त दशकुमार-चरित के छठे उच्छ्वास में एक यवन व्यापारी यात्री का वर्णन है।[4] दशकुमारचरित के इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय यात्री विभिन्न देशों से यात्रा एवं व्यापार के उद्देश्य से दूसरे देशों को जाया करते थे। वे भारत में भी आते रहते थे। उपर्युक्त यवन यात्री व्यापारी की कहानी यह है कि भीमधन्वा की आज्ञा से मित्रगुप्त ताम्रलिपि के पास समुद्र में फेंक दिया गया। सवेरे उसे यवनों का जहाज देख पड़ा और यवन नाविकों ने उसे डूबने से बचाया। वे उसे अपने कप्तान (नाविक-नायक) रामेपु के पास ले गए। उन्होंने समझा—चलो, एक अच्छा मजबूत दास मिला जो जरा देर में ही उनकी सैकड़ों अंगूर की बेलें सींच देगा। इसी बीच में बहुत-सी नावों से घिरे एक जंगी जहाज (मृद्गु) ने यवनों के जहाज को घेर लिया और तेजी के साथ धावा बोल दिया। बेचारे यवन हारने लगे। यह देखकर मित्रगुप्त ने यवनों से उसके बन्धन खोल देने को कहा। बन्धन खुलते ही वह शत्रु-दल पर टूट

---

१. देखिए—अस्मिन्नेव क्षणेऽनेक नौकापरिवृतः कोऽपि मद्गुः अभ्यधावत। अभिभयुर्यवनाः। तावदतिजवा नौकाःश्वान इव वराहमस्मत्पोतं पर्यरुत्सत। —दशकुमारचरितम्

२. कुमारा मारामिरामा रामाद्य पौरुषा रुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसितसमीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानम कार्पुः। तत्साचिव्यं मितरेषां विधाय समुचितां बुद्धि मुपदिश्य शुभे मुहूर्ते सपरिवारं कुमारं विजयाय विससर्ज।

—दशकुमारचरितम, द्वितीयोच्छ्वास पृ०, ५०

३. दशकुमारचरित—दण्डी, श्री गणेश जनार्दन, आगशे द्वारा सम्पादित भूमिका, पृ० XIIV-XIV, पाठ पृ० १०६—७

४. वही भूमिका, पृ० XIV, पृ० १०६—७

पड़ा और उन्हें परास्त कर दिया। बाद में उसे पता चला कि उस जंगी जहाज का मालिक भीमधन्वा था। यवन-नाविकों ने उसे बाँधकर खूब खुशियाँ मनाईं।

इस विवरण से जलयुद्ध में प्राप्त बन्दियों को दास-रूप में प्रयोग करने की सूचना मिलती है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र—इसका समय प्रो० विंटरनिटीज़ और कीथ ईसा की चौथी शताब्दी मानते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें प्राचीन महापथ, समुद्री मार्ग और उस समय की यात्रा-व्यवस्था का कुछ विवरण ऐसा मिल जाता है, जिसका उल्लेख दूसरी जगहों में नहीं होता। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय यात्रियों द्वारा अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार हुआ करता था, पर ये यात्री इसमें अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे। राज्य ने उनके लिए कुछ ऐसे नियम बना दिये थे जिनकी वे अवहेलना नहीं कर सकते थे, अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड का भागी होना पड़ता था। इस प्रकार के व्यापार की सफलता के लिए चुस्त राजकर्म सेना का सुम संचालन, विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के लिए सड़कें आवश्यक थीं। विभिन्न प्रकार के पथ रहा करते थे। रथपथ, बन्दरगाहों को ले जानेवाले राजपथ, सूबों की राजधानियों को जानेवाले पथ, पड़ौसी राष्ट्रों को जानेवाले पथ और चरागाहों में जानेवाले पथ रहते थे।[1]

अर्थशास्त्र में एक स्थान पर[2] स्थल और जलमार्गों की आपेक्षिक तुलना की गई है। प्राचीन आचार्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य का कहना है कि उनके अनुसार स्थलमार्गों की अपेक्षा समुद्र और नदियों के रास्ते यात्रा एवं व्यापार के लिए अच्छे होते थे। उनकी अच्छाई माल ढोने में कम खर्च होने से ज्यादा लाभ होने के कारण थी, पर कौटिल्य के मत से जलमार्गों से यात्रा एवं व्यापार में स्थायित्व नहीं होता था तथा उनमें बहुत-सी अड़चनें और भय थे। इसकी तुलना में स्थलमार्ग सरल थे। शायद कट्टर ब्राह्मण होने के कारण कौटिल्य को सागर-यात्रा रुचिकर नहीं थी, पर अर्थशास्त्र की मर्यादा मानकर उन्होंने समुद्र-यात्रा के विरुद्ध धार्मिक प्रमाण न देकर केवल उसमें आनेवाली विपत्तियों की ओर ही संकेत किया है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उस समय राज्य को देश के जलमार्गों का पूरा ख्याल रहता था और उसी व्यवस्था के लिए ही नौकाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी।[3] इन कर्मचारियों के जिम्मे समुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा नदी के मुहानों, झीलों इत्यादि में चलनेवाली नावों का खाता होता था। बन्दरगाहों से चलने के पहले समुद्री यात्री राजा का शुल्क भाग अदा कर देते थे। राजा के निज के जहाजों पर चलनेवाले यात्रियों को यात्रा-वेतन भरना पड़ता था।

---

१. देखिए—अर्थशास्त्र, डा० शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० ५३, मैसूर १९२९
२. वही—पृ० ३२८
३. देखिए अर्थशास्त्र, डा० शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० १३९ से १४२

जो यात्री राजा का जहाज शंख और मोती निकालने के लिए व्यवहार करते थे वे भी नाव का भाड़ा अदा करते थे। जब तूफान में टूटा-फूटा जहाज बन्दर में घुसता था तो नौकाध्यक्ष का यह कर्तव्य होता था कि वह यात्रियों और नाविकों के प्रति पैत्रिक स्नेह दिखलाए। प्रसिद्ध व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को जो अक्सर अपने व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के उतरने देता था, छिपाकर माल ले जानेवाले तथा बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के यात्रा करनेवाले, गिरफ्तार करवा दिए जाते थे।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि मौर्य-युग से लेकर मुग़ल-युग तक बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के कोई यात्रा नहीं करता था। मुद्रा देने का अधिकार मुद्राध्यक्ष[१] को था। लोगों को मुद्रा देने के लिए वह उनसे प्रति मुद्रा एक माप वसूल करता था। समुद्र अथवा जनपदों में जाते-आते दोनों समय मुद्रा लेनी पड़ती थी, जिसके सहारे लोग बेखटके यात्रा कर सकते थे। जनपद अथवा समुद्र, दोनों ही में बिना मुद्रा यात्रा करने पर, १२ पण दण्ड लगता था। कौटिल्य के अनुसार शहर में यात्रियों के ठहरने के लिए, धर्मावस्थ-धर्मशालाएँ होती थीं।[२] इन धर्मशालाओं में यात्रियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। मौर्य-युग में व्यापारियों के अतिरिक्त यात्रियों को भी अपनी जवाबदेही का पूरा ज्ञान रहता था।[३] टाल्मी के कन्याकुमारी और कलिंगिकोन की खाड़ी के बाद भारत के पूर्वी समुद्र-तट के यात्रा-विवरणों से पता चलता है कि रोमन और यूनानी वहाँ खूब यात्रा करते थे और उस समय चोलों का पतन हो रहा था।[४] वार्मिगटन ने भारत के अन्य स्थानों पर पहुँचनेवाले यात्रियों का भी वर्णन दिया है। उनके अनुसार दक्षिण से द्वीपान्तर के सीधे रास्ते पर यात्री निकोबार, नियास, सिबिरु, नसाऊद्वीप और इवाडियु (यवद्वीप) जहाँ काफी सोना मिलता था और जिसकी राजधानी का नाम आरगापर था, पहुँचते थे। यवद्वीप की पहचान सुमात्रा अथवा जावा से की जाती है।[५] इससे स्पष्ट है कि यात्री उस समय सभी द्वीपों का भ्रमण किया करते थे। यात्रा-सम्बन्धी सारा विधान अर्थशास्त्र में व्यवस्थित रूप में मिलता है।

अवदानशतक—इसका समय ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी माना जा सकता है। प्राचीन संस्कृत बौद्ध-साहित्य से हमें बहुत-सी स्थलमार्गीय यात्राओं की बातों का पता लगता है। अवदानशतक ऐसे ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण है। ईसा की

१. अर्थशास्त्र—कौटिल्य, पृ० १७५७-५८

२. अर्थशास्त्र कौटिल्य, पृ० १६१

३. वही पृ० १६१

४. देखिए—दि कामर्स बिटविन दि रोमन एम्पायर एण्ड इंडिया

—ई० एच० वार्मिंगटन, पृ० ११५-१६, कैम्ब्रिज, १९२८

५. वही, पृ० १२८-२९

पहली दूसरी सदियों में भी यात्राओं में उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ थीं जितनी उसके पूर्व। रास्ते में डाकुओं का भय बना ही रहता था। रेगिस्तान में भी यात्रा की अनेक कठिनाइयाँ थीं। रास्ते में नदियाँ पार करनी पड़ती थीं और घाट उतारनेवाले घाट उतरने से पहले उतराई (तर्पण्य) वसूल करते थे।[१] मनुष्यों के व्यापार के लिए बाहर जाने पर उनकी स्त्रियाँ ईश्वर से मान-मनौती किया करती थीं। इस प्रकार की प्रार्थना का उदाहरण भी हमें अवदानशतक में प्राप्त होता है। उसमें कहा गया है कि राजगृह में एक समुद्री व्यापारी-यात्री की स्त्री ने इस बात की मन्नत मानी कि उसके पति के कुशलपूर्वक लौट आने पर वह नारायण को सोने का एक चक्र भेंट करेगी। अपने पति के यात्रा से लौट आने पर उसने बड़ी धूमधाम से मानता उतारी।[२]

दिव्यावदान — (इसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है)

दिव्यावदान ऐसे प्राचीन ग्रंथों में भी उस समय की यात्राओं का संकेत मिल जाता है। उसमें लिखा है कि यात्रा करते समय कभी-कभी नदी पार उतरने के लिए नावों का पुल भी होता था। इसके प्रमाण-स्वरूप दिव्यावदान में राज्यगृह-से श्रावस्ती के राजमार्ग पर अजातशत्रु द्वारा बनवाये नाव के पुल का वह संकेत करता है।[3] इसके अतिरिक्त भी कई अन्य सागरीय यात्राओं-सम्बन्धी कहानियाँ इसमें हमें मिलती हैं, जिनसे यह पता चलता है कि लाभ और सैर के लिए किस प्रकार लोग यात्राएँ किया करते थे। कौटिल्य की यात्रा इसी प्रकार की है।[४]

कथासरित्सागर (१०८१-८३)—काश्मीर के प्राचीन संस्कृत कवि सोमदेव के कथासारित्सागर में भी हमें अनेकों यात्राओं का विवरण मिलता है। वरन् अगर यों कहें कि समुद्र और स्थल-यात्राओं द्वारा अन्य देशों के प्रमाण के सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु स्थल-यात्राओं की अपेक्षा समुद्र-यात्रा की ही उस समय प्रधानता थी। नवें लम्बक में पृथ्वीरूप नामक राजा का किसी चित्रकार के साथ एक जहाज से मुक्तिपुर टापू की यात्रा करना वर्णित है।[५] इस यात्रा में राजा और चित्रकार को कई दिन लगे थे और रास्ते में सुन्दर चित्रों का इन दोनों ने खूब अवलोकन किया था। इन यात्राओं में भी कभी-कभी तूफान आने से जीवन जोखिम में आ जाता था, यहाँ तक कि जीवन से निराश भी होना पड़ता था। इसी प्रकार का एक प्रसंग ९वें लम्बक की दूसरी तरंग में आया है। उसमें लिखा

१. अवदानशतक १, जे० एस० स्पेयर द्वारा संपादित, सेंट पीटर्सबर्ग सन् १९०६, पृ० १४८
२. वही, पृ० १२९ (अवदानशतक)
३. दिव्यावदान—३, पृ० ५५-५६
४. वही, पृ० ४
५. देखिए ततः प्रवहणारूढा गत्वैवाम्बुधिवर्त्मना। ते तं मुक्तिपुरं द्वीपमवापुः पंचभिर्दिनैः ॥
—कथासरित्सागर—लम्बक ९, तरंग १, पृ० २५१

है कि एक व्यापारी यात्री अपनी स्त्री के साथ किसी टापू को भ्रमण के लिए जा रहा था। राह में तूफान आ जाने से जहाज टूट गया और दोनों का चिर वियोग होकर जीवन-यात्रा समाप्तप्राय हो गई।[१] उन दिनों व्यापार करनेवाले विभिन्न द्वीपों में भ्रमण किया करते थे। इसी ग्रन्थ की चौथी तरंग में समुद्र सूर तथा एक अन्य व्यापारी का भी उल्लेख हमें मिलता है, जो धन के लिए सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में व्यापार करने गए थे।[२] चन्द्रस्वामी नाम का एक व्यापारी अपने खोए हुए पुत्र की खोज में विभिन्न स्थानों का भ्रमण करता है। छठा तरंग में लिखा है कि वह व्यापारी यात्री जहाज पर चढ़कर लंका आदि कितने ही टापुओं का भ्रमण करता हुआ अपने पुत्र को खोजने गया था।[३] चतुर्दारिक नामक पाँचवें लम्बक में द्वीपान्तर के उल्लेख के साथ शक्तिदेव द्वारा कनकपुरी की स्थल-यात्रा का उल्लेख मिलता है : "शक्तिदेव ने सोचा कि मेरा अपमान भी हुआ और राजकन्या भी नहीं मिली सो या तो कनकपुरी देखूँगा या मर जाऊँगा।" यह सोचकर वर्धमानपुर से वह कनकपुरी के लिए दक्षिण को चला और धीरे-धीरे विन्ध्याचल के वन में जा पहुँचा।[४] इस प्रकार शक्तिदेव ने विभिन्न मार्गों का भ्रमण किया। इस ग्रन्थ के पंच लम्बक की तीसरी तरंग में नरवाहनदत्त की कौशाम्बी यात्रा वर्णित की गई है।[५] इसी प्रकार तीसरी और चौथी तरंग में भी नरवाहनदत्त की विद्याधर की सेना के साथ गौरिमुण्डमानस की यात्रा तथा मन्दरदेव की यात्रा वर्णित की गई है।[६] इस यात्रा में नगर-विहार का वर्णन ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

---

१. कथासरित्सागर—लम्बक ९, तरंग २

२. वही—लम्बक ९, तरंग ४, पृ० २७३
तदारूढश्च बाहुभ्यां क्षिप्ताम्बुर्विधिनैव सः। नीतः सुवर्णद्वीपं तदनुकूलेनवायुना ॥

३. देखिए—'तत्ह्ृत्वा मामकावेव नूनं ताविति चिन्तयन। चन्द्र स्वामी मतिं चक्रे गन्तु द्वीपवरंसतम् ॥
नीत्वा च रात्रि मन्विष्य वणिजा विष्णु वर्मणा। स व्यवात्संगतिं द्वीपं नरिकेलं प्रयास्यता ॥
तेनैवच सहारुह्य यानपात्रं जगाम सः। चन्द्रस्वामी सुतस्नेहाद्वीप मन्विपर्थेन तम ॥'
—कथासरित्सागर, लम्बक ९, तरंग ६, पृ० २८४

४. अात्रान्तरे द्विजयुवा शक्तिदेवः स दुर्मनाः। अचिन्तयदभि प्रेतराज कन्या वमानितः ॥
मयेह मिथ्याकनकपुरी दर्शनवादिना। विमानना परं प्राप्ता न त्वसौ राजकन्यका ॥
तदेतत्प्राप्तये तावद्भ्रमणीया महीमया। यावत्सा नगरी दृष्टा प्राणैर्वापि गतंमम ॥
तां हि दृष्ट्वा पुरीमेत्य तत्पणोपार्जितां न चेत्। लभेय राजतनयामेनां किं जीवतेनतत् ॥
एवं कृत प्रतिज्ञः सन्वर्धमानपुरात्ततः। दक्षिणां दिशामालव्य स प्रतस्थे तथाद्विजः ॥
—कथासरित्सागर—चतुर्दारिक लम्बक ५, तरंग २, पृ० १००

५. वही—प्रभावत्यजिनावत्यौ प्रापयामासतुश्चतम्।
नरवाहनदत्तं ते कौशाम्बीं नभसापुरीम् ॥
—तृतीय तरंग, पृ० ५०७

६. कथासरित्सागर—क्वांय मन्दरदेव तं जेतुं यात्रा समुद्यमः।
क्व चेयन्ति दिनानीह विहारोन्तः पुरैसह: ॥ —पंचलम्बक १४, तरंग ४, पृ० ५१५

विक्रमांक देवचरित (१०८०-१०८८ के बीच)—शास्त्रार्थ, ज्ञानार्जन अथवा जीवकोपार्जन के लिए उस समय लोग मुख्यतः यात्रा किया करते थे। काश्मीरी कवि विल्हण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विक्रमांक देवचरित में अपने देश-पर्यटन का वर्णन किया है। अपनी शिक्षा समाप्त करके वे काश्मीर से यात्रा के लिए निकले। उन्होंने पश्चिमी भारत की यात्रा की। दक्षिणी भारत की यात्रा में इन्होंने रामेश्वरम् का दर्शन किया।[1] इससे स्पष्ट है कि विल्हण ने उत्तर और दक्षिण भारत की खूब यात्रा की थी। उनकी यात्रा का उद्देश्य इस ग्रन्थ में स्पष्ट होता है। कवि विल्हण भी ऐसे ही व्यक्तियों में से एक थे।

राजतरंगिणी : (११४९-५० ई०)—कल्हण ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राज-तरंगिणी में काश्मीर का तात्कालिक इतिहास विश्वसनीय और मूल्यवान बातों के साथ अंकित किया है। वास्तव में यह काश्मीर के राजनैतिक इतिहास, भौगोलिक विवरण, सामाजिक व्यवस्था, साहित्यिक समृद्धि तथा आर्थिक दशा जानने के लिए एक विश्वकोष है। राजतरंगिणी में भी हमें यात्रा के कुछ प्रसंग मिलते हैं। इसके एक श्लोक से उस समय की यात्रा-सम्बन्धी बाधाओं का ज्ञान होता है, जिसमें लिखा है कि एक राजदूत को समुद्र-यात्रा में बड़ी ही भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा था।[2]

बृहत्कथाश्लोक संग्रह (आठवीं-नवीं शताब्दी)—बुद्धस्वामी के इस ग्रन्थ का उद्देश्य पद्यरूप में बृहत्कथा का संक्षेप देना था। इसमें नरवाहनदत्त, चारुदत्त, सानुदास आदि की प्रेम-कथाओं का वर्णन मिलता है।

बृहत्कथाश्लोक संग्रह में भी हमें यात्रा-परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। सानुदास की कहानी से भी उस काल की यात्रा का वर्णन मिलता है। चम्पा से सानुदास की ताम्रलिपि यात्रा इसी प्रकार की है।[3] इस यात्रा के सम्बन्ध में लिखा हुआ है कि रास्ते में उसे फटे जूते और छातेवाले कुछ यात्रियों से भेंट हुई जिन्होंने कंद-मूल-फल से उसका स्वागत किया। इस प्रकार यात्रा करते हुए वह सिद्धकच्छप पहुँचा जहाँ उसकी अपने एक रिश्तेदार से भेंट हुई। उसने उसका बड़ा स्वागत किया और उसे ताम्रलिपि की यात्रा करने के लिए रुपये देकर एक सार्थ के साथ कर दिया। चारुदत्त की साहसिक यात्रा को बृहत्कथाश्लोक संग्रह एक कहानी का रूप दे देता है, जबकि इसके साहसिक कार्य केवल सुवर्णद्वीप तक ही सीमित हैं। चारुदत्त की यात्रा प्रियगुपट्टन से, जो शायद बंगाल में था, शुरू हुई। वहाँ से वह

१. विक्रमांक देवचरित—जी० बुहलर द्वारा संपादित, बम्बई १८७५

२. देखिए, कल्हण की राजतरंगिणी—

सान्धि विग्रहिकः सोऽथ गच्छन् पोतच्युतोऽम्बुधौ ॥
प्राप पारं तिमिग्रासात्तिमिमुत्पाट्य निर्गतः ॥

३. बृहत्कथाश्लोक संग्रह—अध्याय १८, श्लोक १७१

चीन स्थान यानी चीन गया और वहाँ से वह मध्य एशिया पहुँचा। रास्ते में वह कमलपुर, जिसकी पहचान कम्बुज से की जा सकती है और जो मेरु अथवा अरबों के कमर का रूपान्तर है, पहुँचा। वहाँ से वह जावा पहुँचा और वहाँ से सिंहल। चारुदत्त ने अपनी मध्य एशिया की यात्रा सिन्धु सागर-संगम, प्राचीन बर्बर बन्दरगाह से प्रारम्भ की।

सानुदास की यात्रा-कहानी बड़ी मनोरंजक है। यात्रा करते समय राह में जब उसका जहाज टूट गया तब सानुदास एक तख्ते के सहारे बहता हुआ किनारे पर आ लगा। वहीं उसकी भेंट एक दिन समुद्रदिन्ना नामक स्त्री से हुई। वहीं से वह यात्रा करता हुआ पाण्ड्य देश में आ पहुँचा। यहाँ उसने केले के घने जंगलों की सैर की। दो कोस चलने के बाद सानुदास ने एक धर्मशाला देखी, जहाँ कुछ विदेशियों की हजामत बन रही थी, किसीका अभ्यंग हो रहा था और किसीकी मालिश। इस तरह सभी लोगों की खातिर हो रही थी।[1] शैलाक्ष पार करने के बाद सानुदास दो योजन आगे बढ़ा और एक पतले रास्ते के दोनों ओर गहरा रसातल देखा। आचेर ने गीली और सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके और उन्हें जलाकर धुआँ कर दिया। धुएँ को देखकर चारों ओर से किरात् इकट्ठे हो गए। उनके पास बकरों और चीतों के चर्म के बने जिरह-बख्तर और बकरे थे। व्यापारियों ने उन वस्तुओं का विनिमय केसरिए, लाल और नीले कपड़ों, शक्कर, चावल, सिन्दूर, नमक और तेल से किया। इसके बाद किरात हाथ में लकड़ियाँ लिये हुए अपने बकरों पर चढ़कर पतले और पेचदार रास्ते से यात्रा के लिए रवाना हो गए। जिन व्यापारी यात्रियों को सोने की खान से सोना लेना था, वे उसी रास्ते से आगे बढ़े। यात्रा-मार्ग सँकरा था। यात्री एक ही कतार में एक भालेबरदार के अधिनायकत्व में आगे बढ़े।[2] उस समय यात्रियों के पास समुद्री नक्शे नहीं होते थे। समुद्री नक्शे का सबसे पहला उल्लेख बृहत्‌कथाश्लोक-संग्रह में मिलता है।[3] उस समय समुद्री यात्रा में भी कभी-कभी विचित्र तरह के मुकदमे सामने आते थे। बृहत्‌कथाश्लोक-संग्रह में कहा गया है कि एक समय उदयन जब अपने दरबार में आए तो दो व्यापारियों ने अपनी यात्रा की कहानी सुनाई।[4]

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन यात्री 'सार्थ' रूप में यात्रा करते थे, इससे वे सुरक्षित रहते थे। यात्रा-क्षेत्र विस्तृत थे। यात्रियों को पर्याप्त सम्मान मिलता था। जंगली जातियों से भी पण्य विनिमय हुआ करता था और स्वर्ण की खोज में भी यात्री जाते थे। यात्रा वैज्ञानिक रूप में होने लगी थी। यात्रा-मार्गों के

---

१. बृहत्कथाश्लोक संग्रह—श्लोक ३५५ ५६

२. वही—४५०-४६१

३. वही—१९, १०७.

४. वही—१।४।२१-२९

मानचित्र बनते थे। यात्राओं में उत्पन्न होनेवाले झगड़ों का निपटारा प्रसिद्ध शासकों की अदालतों में होता था।

यात्रा के रूप का क्रमिक विकास हो रहा था।

मनुस्मृति (इसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० माना जाता है[1])—स्मृतियों में भी यात्राओं तथा सामुद्रिक व्यापारों का उल्लेख प्राप्त होता है। उस समय यात्रा करने में क्या-क्या प्रतिबन्ध थे तथा कैसी-कैसी दुर्घटनाएँ होती रहती थीं इसके उल्लेख मिलते हैं। समुद्र-यात्रा को मनु ने निषिद्ध कर दिया था। मनुस्मृति में एक स्थल पर लिखा हुआ है कि वह ब्राह्मण जिसने समुद्र-यात्रा की हो, श्राद्ध में बुलाए जाने का पात्र नहीं।[2] इससे यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिए सागर-यात्रा वर्जित थी। एक श्लोक में यह भी लिखा है कि जो लोग समुद्र-यान में कुशल और देश-कालार्थदर्शी हैं वे जहाज बनाने के लिए दिये हुए रुपये का जो सूद निश्चित करेंगे वही प्रामाणिक माना जाएगा।[3] एक अन्य श्लोक में नदी और समुद्र में चलने-वाले जल-यानों के तथा यात्रियों के किराए का संकेत भी मिलता है।[4] जहाजों पर अपने माल की जिम्मेदारी का निर्देश भी किया गया है। एक स्थान पर लिखा है कि समुद्र में जहाज चलानेवालों के दोष से यात्रियों के माल की जो हानि होगी उसके जिम्मेदार जहाज चालक ही होंगे। जो हानि दैवी दुर्घटनाओं के कारण होगी उसके जिम्मेदार भी जहाज चलानेवाले ही होंगे, परन्तु यात्रियों की जो हानि दैवी-दुर्घटनाओं के कारण होगी उसके लिए वे उत्तरदायी नहीं होंगे।[5]

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त याज्ञवल्क्यस्मृति के व्यवहाराध्याय में भी यात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें लिखा है—"धन के लाभ के कारण वयोवृद्ध लोग तक अपने प्राणों की बाजी लगाकर महीनों समुद्र के मार्ग से भयंकर स्थानों की

---

१. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र—पांडुरंग वमनकाने, पृ० १५६ भाग १, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट—१९३०

२. मनुस्मृति—८—१५७

३. समुद्रयानकुशला देशकालार्थ दर्शिनः। स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ।।
—वही, अध्याय ८, श्लोक १५७, पृ० ३६५

४. दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरीभवेत्। नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रेनास्ति लक्षणम् ।।
—मनुस्मृति, श्लोक ४०६, पृ० ४२५

५. मनुस्मृति—यन्नावि किञ्चिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ।।
एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ।।
—अध्याय ८, श्लोक ४०८-९, पृ० ४२५-२६
—स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत व्याख्या, प्रथम संस्करण, सं० २००९

यात्रा किया करते थे।"[१] इससे स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युग में हिन्दू लोग धन-प्राप्ति की इच्छा से सागर के बड़े-बड़े भयंकर स्थानों तक का भ्रमण किया करते थे।

मिलिन्द प्रश्न—इस प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ का समय दो शताब्दी ई० पू० के निकट का है। पहले मूलरूप में यह संस्कृत या प्राकृत में था परन्तु अब केवल पाली में मिलता है। यह राजा मिलिन्द और बौद्धिक साधु नागसेना के मध्य हुए वार्तालाप के रूप में लिखा गया है। इसका प्राकृत नाम मिलिन्दपन्ह है। मिलिन्द-प्रश्न नामक पाली ग्रन्थ में भी हमें यात्राओं के कई उल्लेख मिलते हैं। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोग अनेकों बन्दरों की सैर किया करते थे। मिलिन्द-प्रश्न के प्रथम सन्दर्भ में लिखा है: "महाराज, इस तरह उसने एक रईस नाविक की तरह बन्दरगाहों का कर चुकाकर समुद्रों में अपना जहाज चलाते हुए वंग, तक्कोल, चीन सोवीर, सुरट्ठ, अलसन्द, कोलपट्टन, सुवर्णभूमि और दूसरे बन्दरों की सैर की।[२] इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर यह भी उल्लखित हुआ है कि अंग और मगध के यात्री-व्यापारी एक समय सिन्धु सोवीर में यात्रा करते हुए रेगिस्तान के बीच अपना रास्ता भूल गए (वण्णुपथस्समन्झं) एक यक्ष ने अवतरित होकर उनसे पूछा, तुम सब धन की खोज में समुद्र के पार वण्णुपथ, वेत्तवार, शंकुपथ, नदियों और पर्वतों की यात्रा करते हो।[३] समुद्र-यात्रा की सफलता जहाज के चालकों की फुर्ती पर निर्भर होती थी। मिलिन्द प्रश्न से[४] हमें यह पता चलता है कि भारतीय नाविकों को अपने कार्य का पूरा ज्ञान होता था। भारत नाविक प्राय: सोचता था—मैं भृत्य हूँ और जहाज पर वेतन के लिए नौकरी करता हूँ। इसी जहाज के कारण मुझे खाना, कपड़ा मिलता है। मुझे सुस्त नहीं होना चाहिए, चुस्ती के साथ मुझे जहाज चलाना चाहिए। मिलिन्द प्रश्न[५] में एक जगह यह भी कहा गया है कि निर्यामक को अपने यन्त्र का विशेष ध्यान रहा करता था। यात्रा के समय दूसरों के छूने के भय से वह उसे मुहरबन्द करके रखता था। इन लोगों के जहाज में लंगर होते थे, जो जहाज को क्षुब्ध सागर में सीधा रखता था और गहरे समुद्र में उसे हिलने से रोकता था।[६] इस प्रकार यह ग्रन्थ जहाजों के कर्मचारियों की कर्त्तव्य-शीलता, यानों की बनावट, उनकी यांत्रिकता आदि की सूचना देता है।

---

१. ये समुद्रगा वृद्धयाधनं गृहीत्वा अधिलाभार्थं प्राणधन विनाश शंक स्थानं समुद्रं गच्छन्ति ते विशंशतं मासि मासि दद्युः ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति

२. मिलिन्द प्रश्न—पृ० ३५९

३. वहीं—पृ० २८०

४. वहीं—पृ० ३७९

५. वहीं—पृ० ३०२

६. वही—पृ० ३७७

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य—इस ग्रन्थ में जैन-साधुओं की यात्रा का विस्तृत वर्णन मिलता है। इनकी यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। जैन-साधु खाने-पीने के मामले में बहुत-कुछ विचार रखते थे। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य के अनुसार यात्रा में गुड़, घी, केले, खजूर, शक्कर तथा गुड़, घी की पिन्नी उनके विहित खाद्य थे। घी न मिलने पर वे तेल से भी काम चला सकते थे। वे उपर्युक्त भोजन इसलिए करते थे कि वह थोड़े ही में क्षुधा शान्ति कर देनेवाला होता था और उससे प्यास भी नहीं लगती थी। पर ऐसा माल भी सदा मिलनेवाला था नहीं इसलिए वे चना, चबैना और मिठाई पर ही यात्रा में गुजर करते थे।[1] यात्रा में जैन-साधु अपनी दवाओं का भी प्रबन्ध करके चलते थे। विशेषकर उनके पास वात-पित्त-कफ सम्बन्धी बीमारियों की दवाइयाँ होती थीं और घाव के लिए मलहम की पट्टियाँ।[2] यात्रा करते समय बनों में वन्य-पशुओं से रक्षा के लिए यात्रियों को पड़ावों पर आग जलानी पड़ती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जाएँ, लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सब छितराकर अपनी जान बचाते थे।[3] जंगलों में भटक जाने पर अथवा वन्य-पशुओं द्वारा नष्ट कर दिए जाने पर यात्रियों के पास सिवाय देवताओं की प्रार्थना के कोई चारा नहीं रह जाता था।[4] उस समय ठीक जगह न मिलने पर यात्री कुम्हारों की कर्मशाला अथवा दुकानों में पड़े रहते थे।[5] उस युग के आगमन-गृहों में सब तरह के यात्री टिक सकते थे। मुसाफिरों के लिए ग्राम-सभा, प्रपा (बावड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी।[6] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य के अनुसार नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिन्धु और सोवीर अच्छे कपड़ों के लिए विख्यात थे, इसलिए इन स्थानों के लोग अधिकतर यात्रा किया करते थे।[7]

समराइच्चकहा—अभाग्यवश भारतीय साहित्य में हमें प्राचीन युग के चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के अधिक उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं, पर भारतीय साहित्य में कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य बच गई हैं जिनसे बंगाल की खाड़ी और चीन सागर में भारतीय जहाजरानी द्वारा यात्राओं पर काफी प्रकाश पड़ता है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने (करीब ६७८-७२८ ई०) ऐसी ही कई कहानियाँ समराइच्चकहा में दी हैं। पहली कहानी 'धन' नामक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है।[8] धन ने अपनी

---

१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य—३०८३-८४.
२. वही—३०८४
३. वही—३१०४
४. वही—३११०
५. वही—३४४२-४५
६. वही—२४८६
७. वही—३९१२
८. समराइच्चकहा—पृ० २६४; बम्बई १९३८.

गरीबी से निस्तार पाने के लिए समुद्र-यात्रा का निश्चय किया। उसके साथ उसकी पत्नी और उसका भृत्य नन्द भी हो लिये। धन ने विदेश का माल (परतीरंक भाण्ड) एकत्रित किया और उसे जहाज पर भेज दिया। उसकी पत्नी के मन में पाप था। उसने अपने पति को मार कर नन्द के साथ भाग जाने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच जहाज तैयार हो गया था (सयाचित प्रवहण) और उस पर भारी माल (गुरुक भांड) लाद दिया गया। दूसरे दिन धन समुद्र की पूजा करके और गरीबों को दान देकर अपने साथियों के साथ जहाज पर चढ़ गया। जहाज का लंगर उठा दिया गया। पालें हवा से भर गई तथा जहाज पानी चीरता हुआ आगे बढ़ा।

वसुभूति की समुद्र-यात्रा में भी हमें इस युग की जहाज-यात्रा का सुन्दर चित्र मिलता है।[1] कथान्तर में कहा गया है कि ताम्रलिप्ति से बाहर निकलकर कुमार और वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के साथ चल निकले। जहाज दो महीने में सुवर्ण-भूमि पहुँच गया। वहाँ उतरकर वे श्रीपुर पहुँचे।

समराइच्चकहा[2] में धरण की कहानी से भी भारत द्वीपान्तर और चीन के मध्य की जहाज-यात्रा का पता चलता है। एक बार सार्थवाह धरण ने खूब अधिक धन पैदा करके दूसरों की सहायता करने की सोची। धन पैदा करने के लिए वह अपने माता-पिता की आज्ञा से एक बड़े सार्थ के साथ पूर्वी समुद्र-तट पर वैजयन्ती नाम के एक बड़े बन्दरगाह की ओर यात्रा करने चल पड़ा। वहाँ विदेशों में खपने-वाला माल उसने एक जहाज पर लाद दिया।

धरण की कहानी से भी यह पता चलता है कि रास्ते में चोर-डाकुओं और जंगली जातियों का भय रहता था। धरण अपनी यात्रा में कुछ पड़ावो के बाद उत्तरापुर, अचलपुर पहुँचा। वहाँ माल बेचकर उसने अठगुना लाभ किया। वहाँ से माल लादकर वह माकन्दी की ओर चला। यात्रा में उसे एक जंगल मिला जहाँ जंगली-जानवर लगते थे। यहाँ सार्थ ने पड़ाव डाला और पहरे का प्रबन्ध करके लोग सो गए। आधी रात में सिंगे बजाकर शबरों और भिल्लों ने सार्थ पर धावा बोल दिया जिससे साथ की स्त्रियाँ भयभीत हो गई। सार्थ के सैनिकों ने यात्रा-पथ में मिले हुए उन दुष्टों का सामना किया, पर उन्हें भागना पड़ा। बहुत-से सार्दिक मारे गए। उनका माल लूट लिया गया। कुछ यात्रियों को शबर पकड़कर भी ले गए।[3]

गिलगिट में प्राप्त "विनय-वस्तु" में बुद्ध की यात्रा का वर्णन मिलता है; जिसमें बुद्ध अपनी यात्रा में भ्रष्टाला, कन्था, धान्यपुर और नैतरी गए। इन स्थानों का

---

१. समराइच्चकहा—पृ० ३९८
२. वही—पृ० ५१०
३. वही—पृ० ५१०

पता नहीं लगता है। शाद्वला में उन्होंने पालित कोट नाग को दीक्षा दी। नन्दिवर्धन में अश्वक और पुनर्वसु नागों और नाली तथा उर्दया यक्षिणियों को दीक्षा दी। वहाँ से यात्रा करते हुए वे कुन्तिनगर पहुँचे, जहाँ बच्चों को खानेवाली कुन्ती यक्षिणी का पराभव किया। खर्जुरिका में उन्होने बच्चों को मिट्टी के स्तूपों से खेलते देखा और यह भविष्यवाणी की कि उनकी मृत्यु के पाँचसौ बरस बाद कनिष्क एक बहुत बडा स्तूप खड़ा करेंगे।[१] बुद्ध अपनी सूरसेन जनपद की यात्रा में पहले आदि राज्य, यानी बरेली जिले में अहिच्छत्रा पहुँचे। यहाँ उन्होंने भविष्यवाणी की कि उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद नट और भट नाम के दो भाई उरूमुण्ड (गोवर्धन) पर्वत पर उनके लिए एक स्तूप बनाएँगे।[२] बुद्ध भगवान् नक्षत्र रात्र में मथुरा पहुँचे थे। मथुरा की नगरदेवता (देवी) ने उनका आना अपने काम में बाधक समझकर उन्हें नंगी होकर डराना चाहा, पर बुद्ध ने माता के लिए यह अनुचित कार्य बताकर उसे लज्जित किया।[३] मथुरा से बुद्ध ओतला पहुँचे और वहाँ से दक्षिण पांचाल में कई ब्राह्मणों को दीक्षित किया।[४] पांचाल से साकेत की यात्रा में रास्तों पर कुमारवर्धन, क्रोंचानम् मणिवती, सालवला, सालिवला, सुवर्णप्रस्थ और साकेत पड़ते थे।[५] साकेत से बुद्ध ने श्रावस्ती की यात्रा की।[६]

उक्त विवरण से यात्रा के धार्मिक, प्रचार-सम्बन्धी उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। बुद्ध की धर्म-प्रचार यात्रा का रोचक विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

'महावस्तु' में भी हमें यात्राओं का उल्लेख मिलता है। महापथ पर पंजाब और अफगानिस्तान के घोड़ों के व्यापारी बराबर यात्रा किया करते थे। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि तक्षशिला का एक व्यापारी-यात्री घोड़े बेचने वाराणसी जाता था।[७] उसकी वाराणसी-यात्रा इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि यात्राएँ पशु-व्यापार के लिए भी की जाती थीं और घोड़ों के व्यापारी दूर-दूर की यात्रा करके लाभ उठाते थे।

शिलप्पादिकारम्—इस ग्रन्थ का समय १६७ ई० माना जाता है। यह तामिल साहित्य का बहुत प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसका मूल लेखक इलांगो है जिसने इसमें कोवालन और उसकी धर्मपत्नी कन्नकी की कहानी बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत की है। शिलप्पादिकारम् में भी हमें यात्रा-उल्लेख प्राप्त होते हैं। उसमें लिखा है कि उज्जैन होकर तामिलनाड के व्यापारी और यात्री काशी जाया करते

१. गिलगिट मैनेस्क्रिप्ट्स् ३, भाग १, पृ० १-२
२. वही—पृ० ३-१३
३. वही—पृ० १४
४. वही—पृ० १८
५. वही—पृ० ६८-६९
६. वही—पृ० ७९
७. महावस्तु २, १६७.

थे ।[1] 'मणि मेखलै' में तो काशी के एक ब्राह्मण की अपनी पत्नी के साथ कन्या-कुमारी तक की यात्रा का उल्लेख मिलता है,[2] जिस। यह ज्ञात होता है कि संगम युग के साहित्य में जल और स्थल दोनों से लम्बी-लम्बी यात्राएँ की जाती थीं और स्त्रियाँ भी इनमें साथ देती थीं ।

अवदानकल्पलता—(इस ग्रन्थ का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है । इसके लेखक महाकवि क्षेमेन्द्र हैं)*

क्षेमेन्द्र अपने अवदानकल्पलता में उस युग की यात्राओं का उल्लेख करते हैं । इस ग्रन्थ में विशेषकर उस युग का द्वीपान्तर के साथ समुद्री व्यापार एव यात्रा का उल्लेख आता है । अरबों की भाँति भारतीय नाविकों की भौगोलिक वृत्ति जागरित न होने से, हमें भारतीय साहित्य में बन्दरगाहों और उनसे चलनेवाले व्यापार का पता नहीं चलता, पर इसमें सन्देह भी नहीं कि इस युग में भी भारतीय व्यापारी जल और थल की यात्रा से ज़रा भी घबराते नहीं थे । कल्पलता के बदरद्वीप-अवदान में वे कहते हैं—

हर्म्यारोहण हेलया मदचला: स्वभ्रं: सदम्भ्रंलिहा ।
यद्वा गोष्प दलीलया जलभरक्षोभोद्धता: सिन्धवः ।।
लंघ्यन्ते भवनस्थली कलनपा ये चाटवींना तटाः।
तद्वीवस्य महात्मनां विलसत: सत्वोजितं स्फूर्जितम् ।।[3]

क्षेमेन्द्र के उपर्युक्त श्लोक से यह पता चलता है कि कैसे अदम्य उत्साह वाले, खेल ही खेल में ऊँचे पहाड़ पार कर जाते थे, यात्रा में छोटे तालाब की भाँति सागर को पार कर जाते थे और किस तरह राह में आए जंगलों को वे उपवन की तरह पार कर जाते थे ।

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति—इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है ।° इसके लेखक ईशानशिवगुरुदेव मित्र थे । इसमें शिवजी की वन्दना, अर्चना एवं यात्रा का वर्णन है । ईशानशिवगुरुदेवपद्धति से हमें पता चलता है कि द्रोणमुख अर्थात् नदी के मुहानेवाले बन्दरों से यात्रियों के जहाज द्वीपान्तर को चले थे ।[4] इन यात्री-जहाजों पर सैकड़ों आदमी यात्रा किया करते थे । द्वीपान्तर जाने की कथाएँ

---

१. शिलप्पादिकारम्, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षित द्वारा अनूदित, पृ० ८८, आक्सफोर्ड प्रेस, १९३९

२. मणिमेखलै इन इट्स हिस्टौरिकल सेटिंग—एस० कृष्णास्वामी आयंगर, पृ० १४३, मद्रास १९२८

* संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर ऑफ नेपाल, वाई—राजेन्द्रलाल मित्रा, एल-एल. डी. सी. आई-ई-कलकत्ता, १८८२, पृष्ठ ५७

३. अवदानकल्पलता—क्षेमेन्द्र ४।२, कलकत्ता १८८८

०. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति—महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री १९२१—भूमिका से

४. वही—संस्कृत सिरीज़ ६७, पृ० २३७—त्रिवेन्द्रम्

उस काल के प्रसिद्ध ग्रन्थ भविष्यतकहा[1] में भी मिलती हैं। भारत से द्वीपान्तर जाने का बहुत सुन्दर वर्णन कवि प्रस्तुत करता है और कहता है : "वे यात्रा में अथाह, दुस्तर समुद्र में अपने जहाज चलाकर द्वीपान्तर के स्थलों को पार करके नाना प्रकार के कौतूहल देखते थे। तत्कालीन प्राचीन-से-प्राचीन साहित्य से भी यही पता चलता है कि उस ससय स्थल-मार्ग पर उसी तरह यात्रा होती थी जिस तरह दूसरे युगों में। रास्ते में चोर, डाकुओं का भय भी उसी प्रकार था, कष्ट भी पहले से कम न थे। पर इतनी सब बाधाओं के बाद भी व्यापारी बराबर यात्रा किया करते थे। केवल व्यापारी ही नहीं वरन् हिन्दू-धर्म के भक्त भी यात्रा किया करते थे। तीर्थयात्रा का वह प्रधान युग था, इसी कारण हजारों हिन्दू सब कष्ट उठाते हुए भी तीर्थयात्रा किया करते थे। उस समय घूम-फिरकर दूसरों के स्वभाव, वेश-भूषा का अध्ययन करना अनिवार्य-सा माना जाता है, ऐसा न करनेवाले कभी भी उन्नति नहीं कर पाते थे। इसी बात को लेकर दामोदर गुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुट्टनीमतम' में कहा है कि जो लोग घूम-फिरकर लोगों के वेश, स्वभाव और बातचीत का अध्ययन नहीं करते, वे बिना सींग के बैल के समान हैं।[2] सुभाषितरत्न भाण्डागार में भी यात्रा का महत्व बतलाते हुए लिखा गया है कि जो देश की यात्रा नहीं करता और पण्डितों की सेवा नहीं करता उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूँद की तरह स्थिर रहती है, इसके विपरीत जो यात्रा करता है और पण्डितों की सेवा करता है, उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की तरह फैल जाती है।[3] इन ग्रंथों में कहीं-कहीं यात्रा की प्रशंसा भी की गई है। भाण्डागार में एक स्थल पर कहा गया है कि यात्रा से तीर्थ का दर्शन, लोगों से भेंट-मुलाकात, पैसे का लाभ, आश्चर्यजनक वस्तुओं से परिचय, बुद्धि की चतुरता, बोल-चाल में धड़का खुलना ये सब बातें होती हैं।[4] इन्हीं सब बातों के लाभार्थ यात्राएँ की जाती थीं; जबकि मध्य युग में यात्रियों के लिए आज की-सी साफ-सुथरी सड़कें भी नहीं थीं। बरसात में तो कीचड़ से भरी सड़कों पर चलने में उनकी दुर्गति हो जाती थी। इस दुर्गति का भी इस ग्रन्थ में वर्णन दिया गया है।[5] इन संकेतों से यह पता चलता है कि कीचड़ में फँसकर यात्री रास्ता भूल जाते थे और अँधेरी रात में कदम-कदम पर फिसलकर गिरते थे। केवल वर्षा-ऋतु में ही नहीं जाड़े में भी उनकी काफी फजीहत होती थी। ग्रामदेव की फूस की कुटिया में, दीवाल के एक कोने में पड़े हुए ठण्डी हवा से उनके दन्त कटकटाते थे :

---

१. भविष्यतकहा—वहणंइ वहन्तिजलहर रौदिदुत्तर अत्थाहि मासमुद्धि।
लंघन्तइं दीवंतर थलाइ पेक्खन्ति विविह कोऊलांइ॥
—हरमन याकोबी द्वारा सम्पादित, ५३।३-४, म्यूनिख १९१८

२. कुट्टनीमतम्—श्लोक २१२, श्रीलन सुखराम द्वारा सम्पादित, बम्बई सं० १९८०

३. सुभाषितरत्न भांडागार—पृ० ८८

४. वही—पृ० ३२९

५. वही—पृ० ३४५

बेचारे रात में सिकुड़ते हुए अपनी कथरी ओढ़ते थे।[१] रास्ते की इन बाधाओं से लोग अभ्यस्त थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य साधु चरित, जनसाधारण की उत्कण्ठाएँ, हँसी-मज़ाक, कुटलाओं की टेढ़ी बोली, गूढ़ शास्त्रों का तत्व, विटों की वृत्ति, धूर्तों को ठगाने के उपायों का ज्ञान होता था।[२] इस प्रकार यात्रा करनेवालों को उस समय के वातावरण की पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है। इसके साथ-ही-साथ यात्रा करते हुए घूमने में गोष्ठी का ज्ञान, तरह-तरह के हथियारों के चलाने की जानकारी, शास्त्रों का अभ्यास, अनेक तरह के कौतुकों के दर्शन, पत्रच्छेद, चित्रकर्म, मोम की पुतलियाँ तथा पुताई के काम का ज्ञान तथा गाने, बजाने और हँसी-मज़ाक का मज़ा मिलता था।[३] उस समय विजय-यात्राओं का विशेष महत्त्व था, जिससे सैकड़ों हाथी, घोड़ों से तैयार होकर यात्राएँ की जाती थीं। 'तिलकमंजरी' में वर्णित विजय-यात्राओं में हम राजेन्द्र चोल की द्वीपान्तर की विजय-यात्राओं की झलक पाते हैं।[४] इन यात्राओं में बहुत दिन लगते थे।

इस युग में यात्रा करनेवालों को कष्ट-बाधाएँ तो बहुत थीं ही परन्तु यात्रियों के आराम का भी प्रबन्ध होता था। यह प्रबन्ध राजनियमों के अनुसार ही होता था, जिसके कारण यात्रियों को कष्ट के साथ-साथ कुछ आराम भी प्राप्त हो सके। इस प्रकार का विवरण अशोक के एक अभिलेख से प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि यात्रियों के आराम के लिए राजा ने रास्तों पर कुएँ खुदवाए थे और पेड़ लगवाए थे।[५] इतना ही नहीं वरन् और भी सुविधाएँ दी गई थीं जैसे बीमार यात्रियों की सेवा-टहल का भी प्रबन्ध किया जाता था और मृत्यु हो जाने पर उनकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था का भार भी उस पर था।[६] इस प्रकार राजनीतिक नियम यात्रियों के लिए लाभकर थे और राजा इन यात्रियों का ख्याल रखता था। उस समय यात्रियों की सुविधा के लिए ही राजा सड़कें बनवाने के बाद हर दो मील पर स्तम्भ लगवाकर दूरी और उपमार्गों का संकेत करवा देता था।[७]

बहुत ही प्राचीनकाल से हमारे भारतवर्ष में यात्राएँ होने के कारण से यहाँ के भारतीय साहित्य में इसका एक विशेष स्थान हो गया है। अर्थशास्त्र के अतिरिक्त

---

१. सुभाषितरत्न भाण्डागार—पृ० ३४८
२. कुट्टनीमतम्—पृ० २१४-२१५
३. वही—पृ० २३४-२३७
४. तिलकमञ्जरी—पृ० ११३, द्वितीय संस्करण, बम्बई १९३८
५. अशोक—भाण्डारकर, पृ० २७६
६. ऐंशेण्ट इण्डिया डिसक्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, जे० डब्लू० मेकिंडल फ्रेगमेंट ३४०, पृ० ८७, लन्दन १८७७
७. वही—फ्रेगमेंट ३४, पृ० ८६

प्राचीन व्याकरण-साहित्य में भी यात्राओं का उल्लेख मिलता है। महानिद्देस[1] में प्राचीन यात्रा-पथों का जिनपर यात्री यात्रा किया करते थे, वर्गीकरण और उस समय के जल-भागों की ओर हमारा ध्यान पहली बार सिलवालेवी[2] ने खींचा। अट्ठकवग्ग के परिकिस्सति की व्याख्या करते हुए महानिद्देस का लेखक कहता है कि अनेक कष्टों को सहते हुए वह गुम्ब, तक्कोल, तक्कसिला, कालमुरक, मरणपार, वरसुंग, वेरापथ, जव, तमलि, वंग, एलवद्धन, सुवण्णकूट, तम्बपण्णि, सुपार, भरुकच्छ, गंगण, परमागंण, योन, परमयोन, अल्लसन्द, मरुकान्तर, जवण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, संकुपथ, मूसिकपथ और वेत्ताधार में घूमा, पर उसे इन स्थानों के भ्रमण से कहीं शान्ति नहीं मिली। ऐसी यात्राएँ भी हुआ करतीं थीं जिनमें कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त होती थी, फिर भी यात्री अपनी यात्राओं से निराश नहीं होते थे।

'वासुदेवहिण्डी' में भी हमें यात्राओं के उल्लेख मिलते हैं। इसमें चारुदत्त की कहानी में भारत से विदेश-यात्रा के लिए समुद्र-मार्ग का उल्लेख मिलता है।[3] इस मार्ग से अनेकों यात्री व्यापार करने के लिए विदेश की यात्रा किया करते थे। एक रईस बनिए का बेटा चारुदत्त बुरी संगत के कारण दरिद्र हो गया था, उसने अपने परिवार की राय से धन कमाने के लिए यात्रा करने की ठानी। चम्पानगर से यात्रा प्रारम्भ करके वह दिसांसवाह नामक एक कस्बे में पहुँचा। वहाँ उसके मामा ने व्यापार करने के लिए कपास और दूसरी बाहरी वस्तुएँ खरीदी थीं। वह यात्रा करके उनका व्यापार करता था।[4] कुछ दिन वहाँ रहकर उसने पुनः यात्रा प्रारम्भ की और कमलपुर, ख्मेर, यवनद्वीप, सिंहल, पश्चिम बर्बर तथा यवन पहुँचा। उसने अपनी इस यात्रा में बहुत धन कमाया।[5] उसकी इस यात्रा का उद्देश्य ही धन-लाभ था। सत्रहवीं नम्बर की लेण में भी हमें विजय की सिंहल यात्रा का वर्णन मिलता है।[6] इन यात्रा-वर्णनों के उल्लेखों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्थल-यात्रा उस युग में प्रधान नहीं थी वरन् समुद्र-यात्रा की प्रधानता थी। यद्यपि रथ-यात्रा, घोड़ों से यात्रा, एवं बैलगाड़ियों से भी यात्राएँ की जाती थीं। पद-यात्रा तो एक साधारण बात थी। यद्यपि इसमें बाधाएँ सबसे अधिक पड़ती थीं। साँची के अर्धचित्रों से भी यह पता चलता है कि उस समय कभी-कभी व्यापारी लोग खूब सजे-सजाये बैलों पर भी यात्रा

---

१. महानिद्देस, एल० द० ला० वालेपूसां और ई० जे० टामस द्वारा सम्पादित, भाग १ पृ० १५४—५५, भाग २, पृ० ४१४-१५

२. एतूद आसियार्तीक, भाग २, पृ० १-५५, पारी १९२५

३. वासुदेवहिण्डी—डाक्टर बी० एल० सांडेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १७७—भावनगर, सं० २००३

४. वासुदेवहिण्डी—डा० बी० एल० सांडेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १८७

५. वही—पृ० १८८

६. हेरिंघम, अजण्टा प्लेट, XIII ५७ (आ० १४ ए-बी)

किया करते थे।[1] यह यात्राएँ वे उन्हीं स्थानों पर करते थे जहाँ यात्रा-मार्ग ठीक होते थे और उनकी बैलगाड़ियाँ बिना किसी बाधा के चली जाती थीं।

जैन-शास्त्रों में भी हमें अनेक महापुरुषों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने समुद्र आदि के मार्ग द्वारा भारतेतर देशों का भ्रमण किया था। श्वेताम्बराम्नाय के उत्तराध्ययनसूत्र के इक्कीसवें व्याख्यान में चम्पा के श्रेष्ठी समुद्रपाल की कथा है। यह समुद्र के मध्य में जहाज पर ही जन्मे थे। इसलिए इनका नाम समुद्रपाल था। इनके पिता पालित कामक थे, जो व्यापार के निमित जहाज पर जाया करते थे। इसी प्रकार एक दिन वह जहाज पर बैठकर पिहुण्डनगर को गए हुए थे। वहीं उन्होंने एक विदेशी रमणी से विवाह भी कर लिया था। जहाज-यात्रा में लौटते समय इसी रमणी के गर्भ से समुद्रपाल का जन्म हुआ था, जो अपनी आयु के अन्तिम भाग में जैन-मुनि हुए थे और निर्वाण-पद को पहुँचे थे।[2]

इसी प्रकार की अन्य यात्रा-कथाओं के उल्लेख हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। हिन्दू-टेल्स में इसी सूत्र की एक अन्य कथा में आयाल नामक व्यक्ति के पारस्य देश में खूब धन कमाकर जहाजों द्वारा वेन्नायद नगर में आने का उल्लेख है।[3] यह आयाल कांपिल्य के ब्रह्मदत्त सम्राट् के समय विद्यमान था, जो ईसा के पूर्व आठवीं या नवीं शताब्दी में हुए माने जाते हैं।[4]

'दिगम्बराम्नाय' नामक पालिग्रंथ की कथाओं में स्वयं इन सम्राट् ब्रह्मदत्त का समुद्र-यात्रा करते हुए एक कांतरदेव द्वारा बीच समुद्र में मारे जाने का उल्लेख मिलता है। इस समय अर्थात् सम्राट् ब्रह्मदत्त के पूर्व के अनेक जैन पुरुष भी जहाजों में बैठकर विदेशों की यात्रा कर चुके थे। गीता के श्रीकृष्णजी के समकालीन बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथजी भगवान् थे। इनके तीर्थ में चारुदत्त नामक प्रसिद्ध सेठ हुए थे। चारुदत्त सेठ की कथा वेश्या के पीछे सारा धन गँवा देने के कारण बहुत प्रसिद्ध है। वे अपनी सम्पदा गँवाकर कई बार यवनद्वीप और रत्नद्वीप आदि देशों में धनोपार्जन करने के भाव से यात्रा करने गए थे।[5] इनका वर्णन जिनसेनाचार्य के 'हरिवंशपुराण' में भी मिलता है। ऐसे ही भविष्यदत्त की कथा धनपाल कवि ने अपभ्रंश, प्राकृत भाषा में 'भविष्यतकहा' नाम से लिखी है। उसमें भविष्यदत्त को द्वीपान्तरों में वाणिज्य के लिए जहाजों में माल-असबाब भरकर, अन्य व्यापारियों के

---

१. मार्शल—सांची, भाग २, प्ले XX (बी)
२. जैनसूत्र (एस० बी० ई०) भाग २, पृ० १०८
३. हिन्दू टेल्स—मेयर्स पृ० २१५
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० १८०
५. इपीग्रेफिका इण्डिका, भाग १, पृ० ३८९

समूह के साथ, जाते हुए लिखा है। इन द्वीपों में मैणाकद्वीप और तिलकद्वीप उल्लेखनीय हैं। यह सेठ आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभस्वामी के समय में हुए थे।[1]

उपरान्त अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के समय में भी जैनी व्यापारी मुख्यतः सागर-यात्रा किया करते थे। जिस समय परमजिनेंद्रभक्त राजा उदायन कच्छदेश की वीतभय नगरी में राज्य कर रहे थे, उस समय किन्हीं यात्री-व्यापारियों का जहाज लगातार छः माह तक समुद्र के तूफान में पड़ा मण्डराता रहा, आखिर व्यापारीगण वीतभय नगर पहुँचे।[2] इतना ही नहीं कि उस समय जैन व्यापारी ही विदेशों में सागर-मार्ग द्वारा यात्रा किया करते हों, प्रत्युत जैन साधुओं और राजाओं के भी विदेश-यात्रा में जाने के उल्लेख मिलते हैं। जैन साधुओं ने लंका, अरब, ईरान, ग्रीस, अबीसीनिया, नार्वे आदि सुदूर देशों में यात्रा करके जैन-धर्म का प्रचार किया था, यह आज भी विद्वानों को मान्य है।[3] भृगुकच्छ से यात्रा करते हुए एक दिगम्बर जैनाचार्य यूनान को गए थे और वहीं यात्रा करके इन्होंने समाधि-मरण किया था। इन श्रमणाचार्य की निषधिका यूनान की राजधानी अथेन्स में भी मौजूद है।[4] इसी प्रकार खारवेल महामेघवाहन की जावा द्वीप-यात्रा का भी उल्लेख मिलता है। इन उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जैन-धर्मानुयायी बहुत प्राचीनकाल से यात्राएँ किया करते थे।

यात्रा-सम्बन्धी इन विवरणों का उल्लेख हमें बौद्धकालीन जातकों में बहुत अधिक मिलता है। बौद्धों का साहित्य उस काल की यात्रा-बहुलता का स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ हम बौद्ध-साहित्य से उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जातकों का समय ३८० ई० पू० के निकट माना जाता है। इन जातकों में उस समय के यात्रियों के लिए अनेक प्रकार की सड़कों के उल्लेख हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि कुछ सड़कें इन यात्रियों के चलने से भी बन जाती थीं और कुछ सड़कें बनवाई जाती थीं। सड़कें अधिकतर ऊबड़-खाबड़ थीं और साफ-सुथरी नहीं होती थीं।[5] यात्री अक्सर इन यात्रा-पथों से गुजरते थे और ये यात्रा-मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों से होकर जाते थे, जिनमें अक्सर भुखमरी, जंगली जानवर, डाकू, भूत-प्रेत और जहरीले पौदे मिलते थे।[6] इन यात्रा-मार्गों में यात्री अनेक बाधाओं का सामना करते थे। कभी-कभी इन यात्रियों को हथियारबन्द डाकू पकड़ लेते थे और कपड़े-लत्ते तक धरवा लेते थे।[7] जब कभी कोई बड़ा आदमी यात्रा करने को तैयार होता

---

१. जैन ओ० एस० न० XX, सन्धि ३, ४
२. हिन्दू टेल्स—मेयर्स
३. देखिए—'भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध', पृ० ९६-९७
४. इण्डियन हिस्टॉरीकल क्वाटर्ली, भाग-२, पृ० २९३-९४
५. जातक—१, १९६
६. वही—१, ९८, २७१, २७४, २८३, ३, ३१५, ४, १८५, ५, १२, ६, २६,
७. वही—४, १८५, गा० ५८, १, २८३, २, ३३५

था तो उस युग में भी उसके सड़कों पर चलकर यात्रा करने के पूर्व सड़कों की मरम्मत करदी जाती थी। इस प्रकार का उल्लेख भी हमें धम्मपद में मिलता है। मगधराज बिम्बसार ने जब यह सुना कि भगवान् बुद्ध वैशाली से मगध की ओर आनेवाले हैं तो उन्होंने उनसे सड़क की मरम्मत हो जाने तक यात्रा स्थगित कर देने की प्रार्थना की। राजगृह से पाँच योजन तक की लम्बी सड़क चौरस करदी गई और हर योजन पर एक सभा तैयार करदी गई। गंगा के पार वज्जियों ने भी वैसा ही किया। इसके बाद बुद्ध अपनी यात्रा पर निकले।[१] अनेक बाधाओं के कारण सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएँ होती थीं। ऐसी एक शाला बनवाने के सम्बन्ध में एक जातक में एक मजेदार कहानी आई है।[२] एक दूसरे जातक में इस बात का भी उल्लेख है कि उस समय अंग और मगध के वे नागरिक, जो एक राज्य से दूसरे राज्य में बराबर यात्रा करते थे, उन राज्यों के सीमान्त पर बनी हुई एक सभा में ठहरते थे। रात में ये मौज से शराब, कबाब और मछलियाँ उड़ाते थे तथा सवेरा होते ही वे अपनी गाड़ियाँ कसकर यात्रा के लिए निकल पड़ते थे।[३] जातकों के उपर्युक्त विवरण से पता लगता है कि उस समय की यात्रा-सभाओं का रूप ठीक मुग़ल-युग की सराय-जैसा था।

उस समय जो यात्री शहरपनाह के फाटकों पर पहुँचते थे, वे शहर के भीतर नहीं घुसने पाते थे। उन्हें अपनी रात या तो द्वारपालों के साथ बितानी पड़ती थी या उन्हें किसी टूटे-फूटे भुतहे घर में आश्रय लेना पड़ता था।[४] पर ऐसा पता लगता है कि तक्षशिला के बाहर एक सभा थी जिसमें नगर के फाटकों के बन्द हो जाने पर भी यात्री ठहर सकते थे।[५] एक जातक से यह भी पता लगता है कि काशी के महामार्ग पर एक गहरा कुआँ था, जिसमें पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ नहीं थीं, फिर भी पुण्यलाभ के लिए जो यात्री उस राह से गुजरते थे, वे कुएँ से पानी खींचकर पशुओं के लिए एक जलद्रोणी भर देते थे।[६] यात्रा के मध्य में आई हुई नदियों को पार उतारने के लिए घाट चलते थे। एक जातक में एक बेवकूफ माँझी की कहानी है जो बिना भाड़ा लिए यात्री को उस पार उतारकर फिर उससे भाड़ा माँगता था, जो उसे यात्रियों से कभी नहीं मिलता था।[७] इस जातक की कहानी से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय यात्रियों के मन में पार उतरने से पहले कुछ और ही होता था और पार उतरने के बाद कुछ और। उस समय छिछले पानी में यात्री बन्द से पार उतरते

---

१. धम्मपद अट्ठकथा—३।१७०
२. जातक—१, २०१
३. वही—२, १४८
४. वही—२, १२
५. धम्मपद अट्ठकथा—२, ३१
६. जातक—२, ७०
७. वही—३, १ ५२

थे और गहरे पानी में पार उतरने के लिए (एकद्रोणि) नावें चलती थीं।[१] राजा बहुधा नावों के वेड़ों के साथ यात्रा किया करते थे। एक जगह कहा भी गया है कि काशिराज गंगा के ऊपर अपने वेड़े (बहुनावासंघात) के साथ सफर करते थे।[२] यात्री या तो पैदल यात्रा किया करते थे अथवा सवारियाँ काम में लाते थे। गाड़ियों के पहियों पर हालें चढ़ी रहती थीं।[३] रथों और सुखनायकों में आरामदेह गद्दियाँ लगी रहती थीं और उन्हें घोड़े खींचते थे।[४] राजकुमार और रईस पालकियों पर चलकर यात्रा किया करते थे।[५]

जंगलों में से गुजरते हुए रास्तों में डाकुओं, जंगली जानवरों और भूत-प्रेतों का यात्रियों को डर बना रहता था तथा भुखमरी से लोग भयभीत रहते थे।[६] अंगुत्तरनिकाय[७] में लिखा है: "सड़कों पर डाकू यात्रियों की घात में बराबर लगे रहते थे। डाकुओं के सरदार मुश्किल रास्तों को अपना मित्र मानते थे। वे यात्रियों को पकड़कर उनके रिश्तेदारों और मित्रों से गहरी रकम वसूल करते थे। रकम वसूल करने के लिए वे पकड़े हुए लोगों में से आधों को तो पहले भेज देते थे और आधों को बाद में।[८] अगर डाकू यात्रा करनेवाले बाप-बेटे दोनों को साथ पकड़ पाते थे तो वे बेटे को अपने पास रख लेते थे और बाप को छोड़ने की रकम लाने के लिए, भेज देते थे। अगर उनके कैदी आचार्य और शिष्य हुए तो वे आचार्य को रोके रखते थे और शिष्यों को रकम लाने के लिए छोड़ देते थे।"[९]

राज्य की ओर से डाकुओं के उपद्रव रोकने के लिए कोई खास प्रबन्ध न था। इससे ऐसा अनुमान लगता है कि मुग़ल-युग की भाँति यात्रियों को अपनी रक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था, परन्तु पूर्णरूप से शासकीय प्रबन्ध नहीं था; ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कभी-कभी डाकुओं और यात्रियों को लूटनेवाले लुटेरों को राज की ओर से बड़ी सख्त सजा मिलती थी। वे बाँधकर कारागृह में बन्द कर दिए जाते थे।[१०] वहाँ उन्हें यन्त्रणा दी जाती थी और बाद में नीम की बनी लकड़ी की सूली पर वे चढ़ा दिए जाते थे।[११] इतना ही नहीं कभी-कभी उनके नाक,

---

१. वही—२, ४२३, ३, २३०, ४, २३४, ४, ४५६, ५, १६३.
२. जातक—३, ३२६
३. वही—४, ३७८
४. वही—१, १७५, २०३, २, ३३६
५. वही—४, ३१८, ६, ५००, गाथा १७६७, गाथा १६१३
६. वही—१, ९९
७. अंगुत्तरनिकाय भाग ३, पृ० ९८-९९
८. जातक—१, २५३
९. वही—४, ७२
१०. वही—२, ९७
११. वही—२, ३४

कान काट दिये जाते थे और इसके बाद वे किसी सुनसान गुफा अथवा नदी में फेंक दिये जाते थे।[१] वे वध के लिए कँटीली चाबुक (कंटककंस) और फरसे लिए हुए चोरघातकों के सुपुर्द भी कर दिए जाते थे।[२]

यात्रा-मार्गों पर जंगली जानवरों का भी बड़ा भय रहता था। कहा जाता है कि बनारस से जानेवाले महापथ पर एक आदमखोर बाघ लगता था।[३] लोगों का यह भी विश्वास था कि यात्रियों को जंगलों में चुड़ैलें लगती थीं, जो यात्रियों को बहकाकर उन्हें चट कर जाती थीं।[४] रास्ते में भोजन न मिलने से सभी यात्रियों को खाने का सामान साथ में ले जाना पड़ता था। पका खाना गाड़ियों पर चलता था।[५] पैदल यात्री सत्तू पर ही गुज़र करते हुए यात्रा किया करते थे। एक जगह कहा गया है कि[६] एक बूढ़े ब्राह्मण की जवान पत्नी ने एक चमड़े के झोले (चम्मपरिसिव्बंक) में सत्तू भरकर अपने पति को दे दिया। एक जगह यात्रा में वह कुछ सत्तू खाने के बाद थैली खुली छोड़कर पानी पीने चला गया जिसके फलस्वरूप थैली में साँप घुस गया।

कभी-कभी अस्पृश्यता के कारण ब्राह्मण-यात्रियों को बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। कहानी है कि अछूत-कुल में पैदा हुए बोधिसत्व कुछ चावल लेकर एक बार यात्रा पर निकले। रास्ते में एक उत्तरी ब्राह्मण बिना सीधा-सामान के उनके साथ हो लिया। बोधिसत्व ने उसे कुछ चावल देने चाहे; पर उसने लेने से इन्कार कर दिया। किन्तु बाद में, भूख की ज्वाला से विकल होकर उसीने बोधिसत्व का जूठा हुआ अन्न खाया। अन्त में अपने कर्म का प्रायश्चित्त करते हुए ब्राह्मण ने घने जंगल में घुसकर अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दी।[७] तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता का पता भी उक्त कथन से लगता है।

उस समय यात्री ही केवल व्यापार के लिए लम्बी यात्राएँ नहीं किया करते थे; सड़कों पर ऋषि-मुनि, तीर्थ-यात्री, खेल-तमाशेवाले और विद्यार्थी भी बराबर चला करते थे। जातकों का कहना है कि अक्सर सोलह वर्ष की अवस्था में पढ़ाई के लिए राजकुमार तक्षशिला की यात्रा किया करते थे।[८] देशों तथा उसके निवासियों की जानकारी के लिए भी यात्राएँ की जाती थीं। दरीमुख जातक में कहा गया है कि राजकुमार दरीमुख अपने मित्र पुरोहित-पुत्र के साथ तक्षशिला में अपनी शिक्षा समाप्त

१. जातक—२, ८१
२. वही—३, ४१
३. वही—१, २०४
४. वही—१, ३३३
५. वही—२, ८५
६. वही—३, २११
७. वही—२, ५७-५८
८. जातक—३, २

करके देश के रस्म-रिवाजों की जानकारी के लिए नगरों और ग्रामों की यात्रा करते फिरें।[1] शास्त्रार्थ के लिए भी कभी-कभी यात्राए की जाती थीं। जातकों में इस सम्बन्ध की कहानियाँ मिलती हैं।[2] अकेले यात्रा करना श्रेयस्कर माना जाता था, क्योंकि धम्मपद[3] आलसी और बेवकूफों के साथ यात्रा करने को मना करता है।

बौद्ध-साहित्य से पता चलता है कि घोड़े के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। उत्तरापथ से घोड़े के व्यापारी बराबर बनारस आया करते थे।[4] फेरीवाले बहुधा लम्बी यात्राएँ भी करते थे। अपनी जीविका की खोज में नाच-तमाशेवाले भी खूब यात्राएँ किया करते थे।[5] बौद्ध-साहित्य में ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख है जिनकी यात्रा का उद्देश्य केवल मौज उड़ाना था। रास्ते में साहसिक कार्य ही उनकी यात्रा के इनाम थे। एक जातक में इस तरह की साहसिक यात्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन आया है।[6]

यात्रा में अनेक तरह की कठिनाइयाँ होते हुए भी, अन्तरदेशीय और अन्तर-राष्ट्रीय यात्राएं होती रहती थीं। जातकों में समुद्र-यात्राओं के अनेक उल्लेख हैं जिनसे उनकी कठिनाइयों का पता चलता है। बहुत-से व्यापारी सुवर्णद्वीप यानी मलय एशिया और रत्नद्वीप अर्थात् सिंहल की यात्रा करते थे। बावेरू जातक से हमें पता चलता है कि बनारस के कुछ व्यापारी अपने साथ एक दिशा काक लेकर समुद्र-यात्रा पर निकले।[7] दूसरी यात्रा में भी इन्हीं यात्रियों ने वहाँ एक मोर बेचा था। यह यात्रा अरब सागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी।

शंख जातक[8] में सुवर्णद्वीप की यात्रा का उल्लेख है। दान देने से अपनी सम्पत्ति का क्षय होता देखकर ब्राह्मण शंख ने सुवर्णद्वीप की यात्रा एक जहाज से की। उसने स्वयं अपना जहाज बनाया और उस पर यात्रा की।

समुद्र-यात्रा से लौटनेवाले भाग्यवान् समझे जाते थे। ऐसी अवस्था में यात्रियों के सम्बन्धियों की चिन्ता का हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। यात्री की माता और पत्नी यात्री को समुद्र-यात्रा से रोकने का प्रयत्न करती थीं, पर मध्य-काल की तरह प्राचीन-काल के भारतीय इतने कोमल और भावुक नहीं थे। एक जगह यात्रा के सम्बन्ध में कहा गया है कि बनारस के एक धनी व्यापारी ने जब एक जहाज खरीद

---

१. वही—३, १५६
२. वही—३, १
३. धम्मपद—५।६१
४. जातक १, १२४
५. वही—३, ४१
६. वही—३, ३२२
७. वही—३, ३३६
८. वही—४, १०

कर समुद्र-यात्रा की ठानी तब उसकी माता ने बहुत मना किया, पर उसे वह रोती-बिलखती हुई छोड़कर चला गया।[१]

जब इन यात्रियों के जहाज डूबने लगते थे तब ये अपने इष्टदेवताओं की याद करने लगते थे।[२] बलहस्स जातक[३] में कहा गया है कि सिंहल के पास एक जहाज के टूटने पर यात्री तैरकर किनारे गए। इस घटना की खबर जब यक्षिणियों को लगी तब वे सिंगार पटार करके और काँजी लेकर अपने बाल-बच्चों और चाकरों के साथ उन व्यापारियों के पास आईं और उनके साथ विवाह करने का बहाना करके उन्हें चट कर गईं। शंख जातक[४] में कहा गया है कि शंख की यात्रा के सातवें दिन जहाज में सेंध पड़ गई और नाविक पानी उलीचने में असमर्थ हो गए। डर के मारे यात्री शोर-गुल मचाने लगे, पर शंख ने एक नौकर अपने साथ लिया और अपने शरीर में तेल पोतकर और डटकर घी-शक्कर खाने के बाद मस्तूल पर चढ़कर वह सागर में कूद पड़ा और सात दिनों तक जल-यात्रा करता रहा।

जातकों से हमें यह भी पता चलता है कि उस समय के यात्रियों के जहाज लकड़ी के तख्तों से बने होते थे।[५] वे अनुकूल वायु में चलते थे।[६] जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में हमें इतना और पता लगता है कि बाहरी पंजर के अलावा उनमें तीन मस्तूल रस्सियाँ, पाल, तख्ते, डाँड, पतवार और लंगर होते थे।[७] नियमिक पतवार की सहायता से यात्री जहाज चलाता था।[८] दीघनिकाय के केवड्ढसुत्त में, बुद्ध के शब्दों में, बहुत दिन पहले, समुद्र के व्यापारी जहाज पर एक दिशाकाक लेकर यात्रा करते थे, जब जहाज किनारे से ओझल हो जाता था तब वे दिशाकाक को छोड़ देते थे। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन तथा उपदिशाओं में उड़ता हुआ भूमि देखते ही वहाँ उतर पड़ता था, पर भूमि नहीं दिखने पर वह जहाज पर लौट आता था।[९]

बौद्ध-साहित्य में ऐसी सामग्री अधिक नहीं है जिससे पता चल सके कि जहाज पर यात्रियों के आमोद-प्रमोद या मनोरंजन के साधन क्या थे? पर यह मान लिया जा सकता है कि जहाज पर मनोरंजन के लिए गाना-बजाना होता था। एक जातक में एक यात्री-गायक की मजेदार कहानी आई है,[१०] क्योंकि उसके गाने से जहाज ही

---

१. जातक—४, २
२. वही—४, ३४
३. वही—२, १२७
४. वही—४, १०
५. वही—२, १११, ४, २०—गाथा ३२
६. वही—१, २३९, २, ११२
७. वही—२, ११२, ३, १२६, ४, १७, २१
८. वही—२, ११२, ४, १३७
९. जे० आर० ए० एस० १८८९, पृ० ४३२
१०. जातक—३, १२४

डूबते-डूबते बचा। कहा गया है कि कुछ व्यापारियों ने सुवर्णद्वीप की यात्रा करते हुए अपने साथ सग्ग नामक एक गायक को ले लिया। जहाज पर लोगों ने उससे गाने के लिए कहा। पहले तो उसने स्वीकार नहीं किया, पर लोगों के आग्रह करने पर उसने उनकी बात मान ली। पर उसके संगीत ने समुद्री मछलियों में कुछ ऐसी गड़बड़ाहट पैदा कर दी कि उनकी खलबलाहट से जहाज डूबते-डूबते बचा। सुप्पारक[1] जातक से हमें पता चलता है कि समुद्र के व्यापारी एक समय भरुकच्छ से जहाज द्वारा यात्रा के लिए निकले।

उपर्युक्त विस्तृत वर्णन से यह स्पष्ट है कि जल और थल में यात्रा करने का मुख्य कारण व्यापार ही होता था। वैसे इस युग में यात्रा के लिए अन्य उद्देश्य भी होते थे। यात्रा-जीवन का एक अनिवार्य अंग हो गई थी। प्राचीन साहित्य के सभी ग्रन्थों में हमें यात्रा-विवरण मिलते हैं, जिनसे यात्रा-परम्परा की प्राचीनता प्रमाणित होती है। सभी सांस्कृतिक साहित्यिक ग्रन्थ यात्राओं के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। यद्यपि विभिन्न युगों में भिन्न दृष्टिकोणों से यात्राएँ की गई हैं, परन्तु धीरे-धीरे यात्राओं का रूप विस्तार को प्राप्त होता गया है। उसके साधनों, वाहनों तथा नियमों में अधिकाधिक व्यवस्था आती गई और मार्ग की बाधाओं का परिहार होता गया। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन प्राचीन युगों में यात्रा का प्रधान उद्देश्य व्यापार और धन-लाभ ही था, यद्यपि विद्योपार्जन, मनोरंजन, तीर्थदर्शन आदि के लिए भी यात्राएँ की जाती रहीं।

विभिन्न युगों में यात्रा की विशेषताएँ—इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वैदिक युग' में व्यापारिक यात्राओं की प्राधान्यता के साथ-साथ तीर्थ-यात्राएँ भी हुआ करती थीं। ये यात्राएँ जल और थल दोनों भागों से होती थीं। आर्यों का स्थानान्तरण भी इसी प्रकार की यात्रा थी। इस युग की यात्राओं का विशेष उद्देश्य व्यापार द्वारा अर्थ-लाभ ही रहता था। सामुद्रिक यात्राएँ जहाजों द्वारा होती थीं। मनोरंजनार्थ भी लम्बी यात्राएँ हो जाती थीं। जहाज-यात्रा राजनैतिक दृष्टियों से आवश्यक-सी थी। जहाजों द्वारा ही लोग युद्ध के लिए भी जाते थे। इस युग के यात्रियों में केवल व्यापारीवर्ग ही नहीं, वरन् साधु, संन्यासी, तीर्थ-यात्री, फेरीवाले, खेल-तमाशों वाले एवं पढ़नेवाले छात्र भी देश-दर्शन की अभिलाषा से यात्राएँ करते थे। यात्रा-मार्गों में खाद्य-सामग्री न मिलने के कारण यात्री खाने का सामान अपने साथ ही ले जाते थे। समुद्री यात्रा के जहाज छोटे और बड़े सभी प्रकार के होते थे। यात्री सागर-तट के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अपने साथ पक्षियों को ले जाते थे। शास्त्र-विहित होने पर भी जल-यात्रा बहुत अधिक होती थी। नदियों के किनारे-किनारे लोग यात्रा किया करते थे। स्थल-यात्राओं के मार्गों में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। यात्रा-मार्गों में यात्रियों को तरह-तरह के चोर-डाकू लगते थे, जो

---

११. वही—४, १३८-१४२, गाथा १०५ से ११५

उन्हें लूटने के साथ ही कभी-कभी मारकर गढ़ों में भी फेंक देते थे। इन कठिनाइयों के साथ-साथ यात्रियों का लोग स्वागत भी करते थे, उनकी खूब आवभगत होती थी। अधिक वाहनों के अभाव में थल-यात्राएँ पैदल तथा बैलगाड़ियों आदि से ही होती थीं।

प्रागैतिहासिक युग में भी जल और थल ही यात्रा के विशेष मार्ग थे। परन्तु वैदिक युग की भाँति यात्रा का क्षेत्र सीमित न था। यात्रा की परम्परा चल निकली थी, अतः इस दिशा में यात्रियों को अधिक प्रोत्साहन मिला। जल-मार्ग से यात्राएँ अधिक होती थीं। थलमार्गीय यात्राएँ इस युग में भी पैदल, बैलगाड़ियों, घोड़ों आदि पर होती थीं। सागर-यात्रा जहाज द्वारा होती थी। हीरा, मोती आदि बहुमूल्य पदार्थों की खोज में विभिन्न देशों की यात्राएँ होती थीं, इन यात्राओं में धन-लाभ के साथ-साथ मनोरंजन भी होता था। राजे-महाराजे तीर्थों की यात्राएँ रथों पर करते थे, जिनका उद्देश्य पाप-कर्मों से मुक्ति पाकर पुण्य-लाभ करना ही होता था। इस युग में लोगों में धार्मिक भावना की प्रधानता थी, वे धर्म को अत्यधिक महत्त्व देते थे, इसलिए धार्मिक तीर्थ-स्थानों की यात्राएँ बहुत अधिक की जाती थीं। यात्रियों में व्यापारिक और राजनैतिक कारणों से युद्ध भी होते थे। यात्री अनेक मांगलिक कार्य करके ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त कर आभूषणों से अलंकृत होकर यात्रा करता था। पुराण, महापुराण, रामायण, महाभारत आदि सभी धार्मिक ग्रन्थ इस प्रकार की यात्राओं के विवरणों से भरे पड़े हैं।

ऐतिहासिक युग में हम देखते हैं कि यात्राओं का मूल उद्देश्य केवल व्यापार न होकर ज्ञानार्जन भी था। यात्री व्यापारियों के झुण्ड-के-झुण्ड साथ-साथ चलकर यात्राएँ किया करते थे। प्रायः युद्ध के लिए यात्राएँ होती थीं, जिनमें जीवन का जोखिम रहता था। राजकुमारियों की खोज के कारण भी यात्राएँ होती थीं। व्यापार का क्षेत्र अब अन्तर्देशीय क्षेत्र में सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया था। इस कारण से और भी अधिक यात्राएँ होने लगी थीं। राज्यों की ओर से राजपथों, जलमार्गों की व्यवस्था भी हो गई थी। यात्रियों के ठहरने के लिए धर्मशालाएँ थीं। सड़कों के किनारे मीलों के पत्थर लगा दिए गए थे तथा पथों के दोनों ओर वृक्षा-रोपण तथा कुओं का प्रबन्ध हो गया।

निष्कर्ष—साहित्य की यात्रा-परम्परा के इस क्रमिक विकास को देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यात्रा-परम्परा भारतीय जीवन में आरम्भिक युग से चली आई है। वैदिक-युग से प्रारम्भ होकर यह परम्परा पौराणिक-युग, रामायण-युग और महाभारत-युग में होती हुई ऐतिहासिक-युग तक चलती रही। इससे स्पष्ट होता है कि यात्रा-सम्बन्धी यह परम्परा अनिवार्य-सी थी, जिसके पीछे निहित थीं सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृति, धार्मिक तथा व्यक्तिगत भावनाएँ। पहले-पहल यात्रा-क्षेत्र सीमित था, जो अन्य युगों में विभिन्न प्रकार के यात्रा-वाहनों के प्राप्त होने पर क्रमिक-विकास की ओर अग्रसर होता गया।

: ३ :

हिन्दी में यात्रा-साहित्य का आरम्भ तथा उसका स्वरूप

१—भौगोलिक पृष्ठभूमि—किसी देश की संस्कृति के विकास में उस युग विशेष का, वहाँ के भूगोल का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भौगोलिक परिस्थिति और वातावरण की प्रतिक्रिया से उत्पन्न शक्ति ने बहुत-कुछ ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ निर्धारित की हैं। यद्यपि मनुष्य ने अपने बुद्धिबल के द्वारा अनेक प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की है, उन्हें सीमित बनाने में सफल भी हुआ है, किन्तु अपने चारों ओर के भौगोलिक बन्धन से वह अपने को आज के वैज्ञानिक-युग में भी सर्वथा मुक्त नहीं कर सका है। उसका मनुष्य के जीवन-संग्राम, भावों और विचारों पर भी प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में सर टी० एच० होल्डिच का कथन बिलकुल सत्य है कि भारतीय इतिहास और संस्कृति ने जितना भौगोलिक परिस्थितियों का अनुसरण किया है, उतना अन्य किसी देश के इतिहास ने नहीं किया।[१] भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही बाहर से अनेक जातियाँ यहाँ आईं और उनकी विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय से भारतीय संस्कृति का क्षेत्र विस्तृत हुआ। देश की भौतिक अवस्थाओं का मानव-जीवन पर तो प्रभाव पड़ता ही है, साथ-ही-साथ उनका प्रभाव मनुष्य के आचरण पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए रेगिस्तान में, जहाँ मनुष्य को प्रकृति के साथ निरन्तर लड़ाई करनी पड़ती है, उसमें एक शुष्क स्वभाव और लूट-पाट की आदत का जन्म होता है। इसके विपरीत ही उष्ण कटिबन्ध में रहनेवालों की मुलायम आदतें उनसे सर्वथा भिन्न होती हैं, क्योंकि उष्ण कटिबन्ध में रहनेवाले मनुष्यों की आवश्यकताएँ प्रकृति भी सरलता से पूर्ण कर देती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव पर्वतमालाओं का पड़ता है। प्राचीन-काल में पर्वत-शृंखला लाँघी न जा सकने के कारण उसके दोनों ओर के निवासियों में पारस्परिक सम्पर्क बना रहना असम्भव-सा था। वहाँ सड़कें तथा यातायात के अन्य साधन भी उपलब्ध नहीं होते थे। पर्वतीय जलवायु और पथरीली भूमि की अपेक्षा विशाल उपजाऊ और हरे-भरे मैदानों में आने-जानेवालों को अधिक आकर्षण रहता था। इसी प्रकार यात्राओं का उस देश की भौतिक अवस्थाओं—बदलती जलवायु

---

१. 'दि रीजन्स ऑव दि वर्ल्ड'—(१९०४)—पृ० १ (टी० एच० होल्डिच)

आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यात्रा-पद्धति भी उसकी भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होती है। यही परिवर्तन हमें भारत में भी मिलता है। भूगोल-विद्या-विशारदों का तो यहाँ तक मत है कि निकट भविष्य में उत्तर भारत के विशाल मैदानों के लगभग आधुनिक केन्द्र में ही सौर चक्रावर्तनों का कटिबन्ध फिर उपस्थित होगा।[1] अर्थात् जलवायु-सम्बन्धी परिवर्तन जीवन में स्फूर्ति, गति और शक्ति उत्पन्न करेगा। जिस दिन मानव जलवायु पर विजय प्राप्त कर लेगा उस दिन संसार एक भव्य शक्ति-सम्पन्न स्थान हो जाएगा। हम यह देखते हैं कि पहाड़ों और रेगिस्तानों के यात्रा-मार्ग कठिन होते हैं, पर वही रास्ते नदी की घाटियों और खुले मैदानों में सरल बन जाते हैं। आरम्भिक युग में मनुष्य ने ढोरों को चराने की फिराक में घूमते हुए नवीन मार्गों की खोज की होगी और बाद में वही यातायात के पथ बन गए होंगे।

मुसलमान अपने साथ नई युद्ध-विद्या एवं राज्य-व्यवस्था लाए। उनका दृष्टिकोण सामन्तवादी था और देश के आर्थिक जीवन में उन्होंने बहुत-से परिवर्त्तन किए। उस समय भारत की सांस्कृतिक गतिविधि निर्धारित करने में हिमालय पर्वतमाला का बहुत बड़ा हाथ रहा है। गंगा की घाटी की सारी सम्पत्ति विभिन्न छोटी-बड़ी नदियों द्वारा हिमालय से ली गई। हम यह सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि हिमालय का यहाँ की भौगोलिक पृष्ठभूमि के विकास में कितना बड़ा भाग रहा है। मुसलमानों ने हिमालय के उत्तर-पश्चिमी दर्रों से देश में प्रवेश किया। कुछ काल तक तो सीमान्त का पर्वतीय प्रदेश आक्रमणकारियों के मार्ग में भारी रुकावट बना रहा, किन्तु बाद में मुसलमान सेनाएँ पहाड़ी आंचल में प्रवेश करने में सफल हुईं। इसके पश्चात् इन लोगों ने पर्वत से आने-जाने का यात्रा-मार्ग इसे ही बना लिया। भारत में अंग्रेज़ों का भी आगमन हुआ, किन्तु अंग्रेज़ उत्तर-पश्चिम सीमान्त के स्थल-मार्ग से नहीं आए। विन्ध्य-मेखला उत्तरी और दक्षिण भारत के बीच की विभाजन-रेखा मानी जाती है। प्राचीनकाल से उसके बीच के व्यापारिक रास्तों का विशेष सामयिक और व्यावसायिक गौरव रहा है। नर्मदा और सोन नदियों की घाटियाँ विन्ध्य को दो शाखाओं में विभाजित करती हैं। राजपूताना-मालवा की पर्वत-शृंखला और पन्ना-कैमोर आदि शृङ्खलाएँ उत्तर की ओर हैं और सतपुड़ा, हज़ारीबाग, राजमहल की शृंखला दक्षिण की ओर। आबू पर्वत विन्ध्यमेखला में ही है। यह मेखला प्रधान रूप से पर्वतीय और जंगली प्रदेश है। प्राचीन आर्यों ने इसे लाँघकर ही दक्षिण से सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया था। इसके पश्चात् बहुत दिनों तक उत्तर और दक्षिण में पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं आवागमन होता रहा। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में गुजरात तथा दक्षिण के प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आक्रमणकारी सिंध-प्रदेश के मार्ग से जाने के स्थान पर राजपूताना और मालवा होकर यह मेखला पार करते थे।

---

१. देखिए—'सिविलाइज़ेशन एण्ड क्लाइमेट'—एल्सवर्थ हंटिंगटन (१९१५), पृष्ठ ११२

देश के पथ के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके विकास में अनेक युग लगे होंगे और हज़ारों जातियों ने भाग लिया होगा। प्राचीन युग की सड़कों की यात्रा का सुख-दुख, सुरक्षा-अरक्षा आदि समय की भौगोलिक स्थिति पर अवलम्बित था। भारत के उत्तर-पूर्व में जंगलों से ढँकी पहाड़ियाँ और घाटियाँ हैं, जो मंगोल जाति को भारत में आने से रोकती हैं। फिर भी इन जंगलों और पहाड़ों से होकर मणिपुर और चीन के बीच एक प्राचीन रास्ता था, जिस रास्ते से चीन और भारत का थोड़ा-बहुत व्यापार चलता रहता था। ईसवी पूर्व दूसरी सदी में जब चीनी राजदूत चांगकियेन बलख पहुँचा, तब उसे वहाँ दक्षिणी चीन के बाँस देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। वास्तव में ये बाँस आसाम के रास्ते मध्य देश पहुँचते थे और वहाँ से बलख। फिर भी उत्तरी-पूर्वी रास्ते को पार करना सरल न था और यातायात के साधनों की कमी के कारण सभी लोग यात्राएँ नहीं कर पाते थे। मार्ग में पड़नेवाले प्राकृतिक दृश्यों को देखकर यात्रियों को आनन्द अवश्य अधिक आता था, पर उन्हें कष्ट भी बहुत झेलने पड़ते थे। भौगोलिक कठिनाइयों के कारण पद-यात्राओं का ही महत्त्व अधिक था। इच्छा रहते हुए भी धनाभाव के कारण जनसाधारण यात्रा नहीं कर पाता था।

२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत हमने यात्रा के क्रमिक-विकास को दिखाने का प्रयत्न किया है। इसे निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया गया है :—

१. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ
२. सामाजिक परिस्थितियाँ
३. यातायात के साधन
४. प्रमुख यात्रा-मार्ग
५. यात्रा-उद्देश्य

१. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ—ऐतिहासिक तारतम्य की दृष्टि से हम यात्राओं का प्रारम्भ उस समय से पाते हैं जब यूनानी पाटलिपुत्र पर धावा कर रहे थे। भारतवर्ष के साथ इनका सम्पर्क हो चुका था। देश में युद्ध-यात्राएँ बड़ी तेजी के साथ हो रही थीं। अशोक के बाद ही उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और देश की इस अवस्था से पूर्ण लाभ उठाकर बलख के राजा द्विमित्र ने हिन्दूकुश को पार करके भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। परन्तु बलख के यूनानी भारत के हृदय में घुसते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गए। इस युद्ध-यात्रा का ठीक-ठीक समय तो निश्चित नहीं किया जा सकता; पर श्री टार्न की राय में यह चढ़ाई करीब ई० पू० १७५ में हुई होगी।[1] द्विमित्र का सेनापति मिलिन्द था, जिसकी सेना बनारस होती हुई

---

१. 'दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया'—डब्ल्यू-डब्लयू टार्न—पृ० १३३, कैम्ब्रिज १६३८

पाटलिपुत्र पहुँची थी। स्त्राबो[१] के अनुसार ई० पू० सदियों से हेरात से भारतीय सीमा की यात्राओं के लिए तीन रास्ते चलते थे और इन्हीं रास्तों से यात्री भ्रमण किया करते थे। इन्हीं में से एक रास्ता दाहिनी ओर जाता हुआ वलख पहुँचता था और वहाँ से हिन्दूकुश होता हुआ उपरिशयेन से ओर्तोस्पेन में पहुँचता था। दूसरा रास्ता हेरात के दक्षिण की ओर जाता था और तीसरा रास्ता पहाड़ों में होकर भारत और सिन्धु नदी की ओर जाता था। श्री फूशे[२] की राय है कि कबुर और ओर्तोस्पेन दोनों ही काबुल के नाम थे और ओर्तोस्पेन शायद काबुल के वगल-वगल कहीं वसा था। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने से हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनके द्वारा युग का धीरे-धीरे विस्तार होता रहा। इस बात के प्रमाण भी हमें मिलते हैं कि अक्काद में भारतीयों की, संभवत: यात्री-व्यापारियों की एक बस्ता भी थी। इस बस्ती के लोग व्यापार के लिए यात्राएँ किया करते थे। गार्डन-चाइल्ड ने इसका विवरण अपनी पुस्तक में देते हुए लिखा है : "सिन्ध घाटी के शहरों की बनी हुई चीजें दजला और फरात के बाजारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ तरीके, मैसोपोटामिया के सिंगार के सामान और एक बेलन के आकार की मुहर की नकल सिंधवालों ने कर ली थी। कच्चे माल और विलास की चीजों तक ही व्यापार सीमित न था।"[३] इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि काल-विशेष की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण शहरों की चीजें व्यापारी यात्री एक दूसरे स्थान को ले जाते थे और उन्हें बेचकर लाभ उठाते थे। ये व्यापारी अकेले ही नहीं रहते थे वरन् इनका एक संघ होता था, जो भयावह परिस्थितियों के आने पर मिलकर दूसरों का सामना करता था। प्रो० वाशवर्न ने महाभारत का उदाहरण देते हुए इनके सम्वन्ध में लिखा है—"इन संघों की रक्षा एकता से है। कहा जाता है कि यात्री व्यापारियों के संघों का ऐतिहासिक युग में ऐसा ज़ोर था कि राजा भी इनके विरुद्ध कोई कानून नहीं बना सकता था। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए।[४] भारत का अन्य देशों से भी सम्बन्ध था, इसका मूल कारण व्यापार ही कहा जा सकता है। यद्यपि ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ई० पू० की सातवीं सदी के पूर्व से लेकर युगों बाद तक भारत और ईरान के सम्वन्ध हमें मिलते हैं। मुख्य रूप से यह विचार किया जाता है कि भारत और वैबिलोन के मध्य होनेवाला व्यापार का पथ फारस की खाड़ी से होकर था। मुख्यत: उत्तरी भारत में आनेवाले व्यापारी और यात्री स्थल-मार्गों से आते थे। दक्षिणी भारत समुद्र के ऊपर भरोसा करता था और उसका व्यापार सागरीय मार्गों से ही होता था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पिगट ने अपने ग्रन्थ 'प्री हिस्टोरिक इण्डिया' में यह अनुमान

---

१. स्त्राबो—१५। १। ८-९
२. ल वैययरुत द ला एंद-फूशे—भाग २, पृ०, २१३-१४
३. ह्वाट हैपेण्ड इन हिस्ट्री—गार्डन चाइल्ड पेलिकन बुक्स, पृष्ठ ११२
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—जिल्द १, पृ० २६९—प्रो० वाशबर्न हाप्किंग्स का लेख

लगाया है कि शायद हड़प्पा के व्यापारी दक्षिण बलूचिस्तान में जाते थे, पर उनका वहाँ ठहरना एक कारवाँ के ठहरने से अधिक महत्त्व का नहीं था।[१] यह इस बात का प्रमाण है कि सिन्ध और बलूचिस्तान में व्यापार चलता था तथा बलूचिस्तान की पहाड़ियों से माल और कभी-कभी आदमी भी सिन्ध के मैदान में उतरते थे। इतिहास इस बात का प्रमाण भी देता है कि यह व्यापारिक सम्बन्ध समुद्र के रास्ते था, स्थल के रास्ते नहीं, क्योंकि कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध पश्चिम में ईरानी मकरान में स्थित वामपुर और ईरान के सूबे फार्स के आगे नहीं जाता।[२] आर्यों की यात्रा के सम्बन्ध में कदाचित यही अनुमान लगाया जाता है कि बलूचिस्तान और सिन्ध के रास्ते पश्चिम से आर्यों का इस देश में आगमन हुआ होगा। आर्यों के यात्रा-पथ की ऐतिहासिक और भौगोलिक छान-बीन श्री फूशे ने की है। उनकी जाँच-पड़ताल का आधार यह है कि पश्चिम से सब रास्ते बलख से होकर चलते थे और इसीलिए आर्य भी इसी पथ से होकर भारत पहुँचे होंगे।"[३] शासन-सम्बन्धी स्थितियों के साथ-साथ राजनैतिक स्थितियों का प्रभाव भी इन यात्रियों की परिस्थितियों पर पड़ा। भारतीय राजनैतिक क्षेत्र में नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जिससे शीघ्र ही एक नवीन साम्राज्य की स्थापना हुई। ऐतिहासिक परिस्थितियों के ऐसे काल में इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने हिमालय की पर्वत-शृंखला के उत्तर-पश्चिमी स्थल-मार्ग से भारत पर आक्रमण किया था। नए साम्राज्य के संस्थापक ये ही ईसाई धर्मानुयायी थे। वे जल-मार्ग से भारत में आए थे और पहले-पहल दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर उतरे थे—आक्रमणकारियों के रूप में नहीं, वरन् व्यापारी-यात्रियों के रूप में। सिकन्दर महान् (३२७ ई० पू०) और वास्कोडीगामा (१४९८) के बीच के काल में भारत और यूरोप में कोई विशेष व्यापारिक सम्बन्ध न था। पुनरुत्थान काल (पन्द्रहवीं शताब्दी) के बाद ही भारतवर्ष यूरोप का ध्यान आकर्षित करने लगा था। कोलम्बस (१४९२) की असफलता के पश्चात् १४९६ के और १६१६ के मध्य जान कैबट, सरह्यू विलूबाई, फोरबिशर, डैविड हडसन, बैसिन आदि इंग्लैण्ड के निवासियों ने उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व से जल-मार्ग ही नहीं वरन् बुखारा और ईरान होकर भारतवर्ष की यात्रा के लिए स्थल-मार्ग भी खोजने के असफल प्रयत्न किए। १५७७ में फ्रान्सिस ड्रेक हिन्दमहासागर में केवल मलाया द्वीप तक आ पाया था। रोमन कैथोलिक टामस स्टीवेन्स सर्वप्रथम अंग्रेज था, जो १५७९ में भारतीय समुद्र-तट (गोआ) तक पहुँच सका था। इसके पश्चात् १५८३ में जॉन एलड्रेड, जान न्यूबेरी, रैल्फ फिच, विलियम लीड्स और जेम्स स्टोरी नामक पाँच अंग्रेज यात्री व्यापारी भारतवर्ष आए। फिच अपने दो साथियों न्यूबेरी और लीड्स

१. प्री हिस्टोरिक इण्डिया—स्टुअर्ट पिगट ५, पृ० ११३-११४, लंदन—१९५०

२. वही—पृ० ११७-११८

३. ल वैय्यरूत द ला एन्ड—फूशे, पृ० १८२

के साथ दक्षिण भारत तथा बंगाल में भ्रमण करने के अतिरिक्त उज्जैन, आगरा, फतेहपुर, प्रयाग, बनारस, पटना आदि स्थानों पर भी गया था। भारतवर्ष आने के बाद वे पाँचों अलग-अलग हो गए और अपने-अपने निर्धारित मार्ग के अनुगामी बने। १५८८ में स्पेन की नाविक पराजय के बाद इंग्लैण्ड बड़े ज़ोरों से आगे बढ़ा। १५९१ में एलिज़ाबेथ की आज्ञा प्राप्त कर कुछ व्यापारी यात्री तीन जहाज लेकर केप आफ गुड होप के रास्ते से कुछ दुर्घटनाएँ सहन करते हुए भारतवर्ष आए। उनके बाद कई सफल-असफल प्रयत्न हुए। इन्हीं परिस्थितियों में १६०३ में लन्दन का सर जान मिल्डेनहाल नामक व्यापारी ईरान होता हुआ स्थल-मार्ग से आगरा पहुँचा और सम्राट् अकबर से भेंट की। भारतवर्ष तथा अन्य पूर्वी देशों में आने-जाने के लिए खोजे हुए नए मार्गों से यात्रा करके लाभ उठाने के लिए अंग्रेज़ पहले से ही प्रयत्न-शील थे। सोलहवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों की नाविक शक्ति बढ़ी और उन्होंने चारों ओर फैलना शुरू कर दिया। परिणामतः सत्रहवीं शताब्दी में मद्रास (१६४०), बम्बई (१६८९) और कलकत्ता (१६९०) में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उन्होंने अभूतपूर्व उन्नति कर ली। १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् भारतीय जीवन में अराजकता छा गई और ऐसे समय में भारत की यात्रा का द्वार उन्मुक्त हो गया और क्लाइव (१७४३-१७६७), वेलेज़ली (१७९८-१८०४) और हेस्टिंग्स (१८१४-१८२३) आदि ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ऐतिहासिक घटनाचक्र के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों और विदेशी राजनीतिक सत्ता की स्थापना ने यात्राओं के क्षेत्र को और भी अधिक विस्तृत कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में सभी विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने लगे।

२. सामाजिक परिस्थितियाँ—युग के विस्तार में उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का विशेष महत्त्व होता है। परिस्थिति के अनुसार ही समाज के गुण और दोष दोनों ही दिखाए जाते हैं। यही रूप हमें प्रारम्भिक यात्रा के युग-विस्तार में मिलता है, जिसके सम्बन्ध में श्री हेबर ने लिखा है: "सामाजिक परिस्थितियों द्वारा प्रोत्साहित आन्तरिक कलह और बाह्य आक्रमणों से उत्पन्न पारस्परिक फूट वैमनस्य, मतभेद और विश्रृंखलता और अराजकता, आर्थिक विनाश, रक्तपात, बर्बरता, जीवन और धन-सम्पत्ति की अनिश्चितता जीवन के आवश्यक अंग बन चुके थे।"[1]

इन परिस्थितियों में भी यात्रा-व्यापार खूब होता था, इसके प्रमाण हमें हड़प्पा-संस्कृति में भी मिलते हैं। हड़प्पा-संस्कृति में व्यापार का क्या स्थान था और वह किन स्थानों से होता था, इसका पता हम मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले रत्नों और धातुओं की जाँच-पड़ताल के आधार पर पा सकते हैं। शायद बलूचिस्तान

---

१. नैरेटिव ऑव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्राविन्सेज़ ऑफ इण्डिया

—रेजीनाल्ड हेबर, भाग २, पृ० २८४, लन्दन—१९२८.

से सेलखरी, अलबास्टर और स्टेटाइट आते थे और अफगानिस्तान या ईरान से चाँदी। ईरान से शायद सोना भी आता था; चाँदी, शीशा और राँगा तो वहाँ से आते ही थे। फ़िरोजा और लाजवर्द ईरान अथवा अफगानिस्तान से आते थे। हेमिटाइट फारस की खाड़ी में हुरमुज से आता था।[1] इस व्यापार से स्पष्ट है कि व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर ठहरने के लिए माल ले जाते थे। शायद पन्थों पड़ावों पर ये टिकते भी होंगे। यात्री व्यापारी ऊँट पर माल ढोते थे, पर पर्वतीय स्थानों में लद्दू टट्टुओं से काम चलता था। हड़प्पा-संस्कृति में धीमी गति-वाली बैलगाड़ियों का काफी प्रचार था। इस बात में भी कोई संदेह नहीं कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में नदियों में नावें चला करती थीं। डा० मेके[2] का विचार तो यहाँ तक है कि बहुत प्रमाण होने पर भी यह कहा जाता है कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में सिन्ध के मुहाने से निकलकर जहाज बलूचिस्तान के समुद्री किनारे तक जाते थे। आज भी हम देखते हैं कि भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे के बन्दरगाहों से बहुत-सी देशी नावें फारस की ओर अदन तक जाती हैं। अगर ये रद्दी नावें आज कल समुद्र-यात्रा कर सकती हैं तो इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि उस काल में भी नावें समुद्र की यात्रा कर सकती थीं। ये भी सम्भव है कि विदेशी जहाज भारत के पश्चिमी समुद्र तट के बन्दरगाहों पर आते रहे हों।

सामाजिक परिस्थितियों में बँधे रहते हुए भी साधु-जीवन व्यतीत करने में कोई बाधा न थी। कोई भी व्यक्ति साधु होकर जनता पर अपना आध्यात्मिक प्रभुत्व स्थापित कर सकता था। हिन्दुओं के लिए वैरागी और गुसाई तथा मुसलमानों के लिए फकीर हो जाना सरल बात थी। इस रूप में उन्हें कम-से-कम भोजन तो प्राप्त हो ही जाता था।[3] इस प्रकार की परिस्थितियों को पाकर लोग दिन-रात भ्रमण ही किया करते थे। इन्हें किसी व्यवसाय हानि-लाभ आदि से कोई मतलब न होता था। एक प्रकार से ऐसे व्यक्ति समाज पर भारस्वरूप ही रहते थे। इधर-उधर के स्थानों के भ्रमण के साथ ये नित्य अनेकों तीर्थों का भ्रमण किया करते थे। ऐसे भक्त-जनों में से योगियों और संन्यासियों का सबसे अधिक आदर था। इन यात्रियों की कुछ धार्मिक-प्रथाएँ सामाजिक परिस्थितियों के कारण ऐसी भी होती थीं जिनमें देवी-देवताओं के रथों के नीचे लेटकर ये जीवन-दान भी दे देते थे। एक बार कई सन्तानों का वृद्ध पिता महामारी शान्त करने के लिए अग्नि की ज्वालाओं में भस्म हो गया।[4] इस प्रकार यात्री-साधु एक स्थान से दूसरे स्थान तक भ्रमण करते हुए अपने-अपने चेले बनाते फिरते रहते थे। उन्हें समाज पवित्र और एक रहस्यात्मक शक्ति से

---

१. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र—पृ० ३१.
२. दि इन्डस वैली सिविलाइज़ेशन—डा० मेके—पृ० १९७-१९८.
३. रैम्बिल्स एण्ड रिकलेक्शन्स—मेजर स्लीमैन—पृ० ३७०, लन्दन १८१५.
४. स्केचेज़ आफ़ दि हिन्दूज़—पृ० १२८

सम्पन्न मानता था। जहाँ वे जाते थे लोगों की भीड़ लग जाती थी। ऐसे उदाहरण भी मिल जाते हैं जब उच्च वंश की स्त्रियाँ उनके पास भोजन लेकर जातीं और आशीर्वाद प्राप्त कर वापस आती थीं। सामाजिक परिस्थितियों से मुक्त इन घुमक्कड़ साधुओं में अनेक तो ऐसे भी थे जो 'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए...' में विश्वास रख अनेक मादक द्रव्यों का सेवन करते थे। ऐसे ढोंगी भक्तों का केवल हिन्दुओं में ही नहीं मुसलमानों में भी अभाव न था।[1] इन यात्री-साधुओं के पास वैभव और ऐश्वर्य सभी कुछ था। बड़े ठाट-बाट से यह रहते थे और ऐश का जीवन व्यतीत करते थे। बनारस, अयोध्या, हरिद्वार, पटना आदि अनेक धार्मिक नगरों और ग्रामों में ऐसे साधु और उनके शिष्य भरे पड़े रहते थे। जनता केवल उनकी आध्यात्मिकता से प्रभावित ही नहीं रहती थी वरन् उनसे सशंकित और आतंकित भी रहती थी। वे जो कुछ किसीसे कराना चाहते थे, करा लेते थे, या जिस किसीसे जो कुछ चाहते थे, ले लेते थे। जनता के किसी व्यक्ति को इन्कार करने का साहस न हो पाता था। वे जादू-टोना अथवा मनुष्य की खोपड़ी में रखे हुए उल्लू, चमगादड़, साँप और नरमांस आदि द्वारा सहज ही में अपना आतंक जमा लेते थे। यहाँ तक कि कभी-कभी वे किसी सेना से मुठभेड़ भी ले बैठते थे। वे समाज की सम्पत्ति और शक्ति पर बड़े भारी भार के समान थे।[2] उस समय समाज में हिन्दू-मुसलमान में वैमनस्य की भावना अधिक नहीं थी। मेजर स्लीमैन ने इसी भावना का वर्णन करते हुए लिखा है : "शाह पूना आला' नामक प्रसिद्ध मुसलमान अपने बारह गाँवों की पच्चीस हजार रुपए वार्षिक आय से अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण और पथिकों तथा तीर्थ-यात्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।"[3] इस व्यक्ति में हिन्दू-मुसलमान की भावना सदैव अच्छी ही बनी रही। इन पर हिन्दू भी श्रद्धा करते थे। ठीक इसी प्रकार ये मुसलमान हिन्दू विचारों का भी पालन किया करते थे। ऐसे अनेक हिन्दू भी थे जो मुसलमान सन्तों और धर्म तथा पवित्र स्थानों की पूजा करते थे। शेख ख्वाजा मुइनुद्दीन की दरगाह में हिन्दू भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित किया करते थे। जिस समय अजमेर सिंधिया-वंश के अधिकार में था उस समय वह भी एक प्रसिद्ध दरगाह के दानदाताओं में से था।[4] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि समाज की इन परिस्थितियों में ये लोग यात्रियों की सहायता सदैव

---

१. ऑरिएण्टल मेम्बायर्स—जेम्स फोर्ब्स—जिल्द १, पृ० ४७१-७२, एवं जिल्द २, पृ० २७६

२. थाट्स आन दि एफेक्ट्स आव दि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट आव दि स्टेट आव इण्डिया—विलियम टेनेण्ट—पृ० १४४-१४७—एडिनबरा—१८०७

३. जर्नी थ्रू दि किंगडम आव अवध—मेजर स्लीमैन—जिल्द १, पृ० ४८-४९ एवं २३३-३४ लन्दन—१८५८

४. नैरेटिव आव ए जर्नी थ्रू दि अपर प्राविन्सेज आव इण्डिया—(१८२४-२५) रेजीनाल्ड हेबर—जिल्द २, पृ० ४४१-४२, लन्दन—१८२८

किया करते थे। जो भूले हुए पथिक होते थे उन्हें सही मार्ग का प्रदर्शन कराते थे और समय पड़ने पर उन्हें भोजन आदि की सुविधा भी प्रदान की जाती थी।

सामान्यतः इसका प्रधान कारण यही ज्ञात होता है कि हिन्दुओं में आशा और भय का संचार रहता था। वे धर्म के शाश्वत रूप को भूल गए थे। हिन्दू-धर्म में अनेक अच्छी बातें थीं; इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं किन्तु हिन्दू पण्डों, पुजारियों, पुरोहितों, गुरुओं आदि के संरक्षण में अज्ञान और भय से संवेष्टित रहकर ही अपने धर्म पर आरूढ़ रहता था। ब्राह्मण उसके अज्ञान और भय के प्रहरी थे। समाज में ये ही लोग सामान्य हिन्दुओं से विष्णु, शिव, शक्ति, हनुमान, भूत-प्रेत आदि की पूजा कराते, पिण्डदान कराते, लोगों के सिर मुण्डवाते, तिलक लगाते और यज्ञोपवीत पहनाते, गंगा-स्नान कराते, पापों का प्रायश्चित्त कराते थे, साथ ही तीर्थ-यात्रा का योग बताकर सारे प्रान्त का भ्रमण कराने स्वयं भी साथ चलते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज की इन परिस्थितियों में वे जीवन के अन्त तक एक हिन्दू पर छाए रहते थे।

समुद्र के मार्ग से यात्रा करनेवालों से नई-नई प्रथाओं का ज्ञान भी होता था। कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि हिन्दुओं में सागर-यात्रा का निषेध माना जाता था। समुद्र-यात्रा करनेवाले हिन्दू को प्रायश्चित्त भी करना पड़ता था। सूरत से कैम्बे जल-मार्ग तक यात्रा करने के कारण ही रावोबा को अनेक ब्राह्मणों और धर्मगुरुओं की भर्त्सना सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।[1] यह इसी बात का प्रमाण है। समाज की इन परिस्थितियों में भी विभिन्न देशों का भ्रमण-क्रम चलता रहा। ऐसे समय में आर्थिक जीवन का नगरों के आर्थिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था, तो भी राजनैतिक उथल-पुथल के कारण व्यापारी प्रसन्न नहीं थे। युद्धों के कारण अनेक व्यापारियों के बड़े-बड़े मकान नष्ट हो जाया करते थे। व्यापारी यात्रियों का यही क्रम हम अठारहवीं शताब्दी तक में देखते हैं। जब नगरों की साप्ताहिक हाटों में वस्तुओं का या तो क्रय-विक्रय होता था या विनिमय, उस समय पटना, मुंगेर, तिरहुत, बनारस, दिल्ली, गाजीपुर, फ़ैज़ाबाद, फीरोज़ाबाद, लखनऊ, नगीना (जिसे उस समय अंग्रेज उत्तरी भारत का बरमिंघम कहते थे), कालपी, हीरापुर, बाँदा, कन्नौज, कानपुर, छपरा, चुनार, मिर्ज़ापुर, आगरा, जयपुर, जोधपुर, इटावा आदि प्रसिद्ध औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र थे।[2] ये व्यापार और धन-सम्पन्नता के लिए विख्यात थे और जिनमें नमक, शोरा, शीशा, हथियार, रुई, नील, दुशालों, पत्थर की बनी चीजों, सोने-चाँदी के आभूषणों, बर्तनों, कम्बलों, रत्नों, सूती कपड़ों, रेशम और रेशमी-कपड़ों, बढ़िया ऊनी कपड़ों, कालीनों, लोहे की बनी चीजों,

---

१. ओरिएण्टल मेम्वायर्स—जेम्स फोर्ब्स—जिल्द १, पृ० ३११, लन्दन १८३४

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—एम० ए०, डी-फिल, डी० लिट्० पृ० ६, इलाहाबाद १९४८

गुलाब और इत्रों, खिलौनों, जीन और घोड़ों के सामानों, दस्तानों, मूर्त्तियों, पीतल के वर्तनों, लकड़ी की बनी चीजों, कमखाब, तनज़ेब, चीनी महाजनी आदि का व्यापार होता था। व्यापारी यात्री नावों आदि से भी माल ले जाते थे। भारतवर्ष से बाहर जानेवाली व्यापार की सामग्री में मुख्यतः भारतीय व्यापारी रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियाँ, जिरह-बख्तर, कमखाब, जरदोज़ी की लोइयाँ, इत्र-फुलेल, दवाइयाँ, हाथी-दांत की बनी चीजें, ज़ेवर और सोना (चाँदी कम) आदि ले जाते थे।[1] समाज की इन परिस्थितियों में भी धर्म का वाह्य रूप मूर्ति-पूजा एवं अन्ध-विश्वासों में सीमित था। तीर्थ-यात्रा करना, भूखे रहकर शरीर सुखा लेना, एक पैर से खड़े रहना आदि विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों का समाज में प्रचलन था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद इस प्रकार की प्रथाओं में आमूल परिवर्तन हुए और समाज की रक्षा हो सकी। परिवर्तन के नव-युग की अवतारणा से यात्रा-विकास के नए मार्ग खुल गए।

३. **यातायात के साधन**—यातायात के साधनों का वर्गीकरण मूल रूप से तीन भागों में किया गया है, और इन्हींके अन्तर्गत समस्त वाहनों का विवरण भी समाहित है। ये तीन साधन इस प्रकार हैं—(१) पदातिक यात्रा, (२) पशुवाहन, (३) निर्मित वाहन। प्राथमिक यात्राओं के युग में यातायात का अधिक महत्त्व न था। यही कारण है कि प्राचीन साहित्य में इन साधनों के विषय में कुछ विवरण ही प्राप्त होता है। यातायात के साधनों की हमारे यहाँ सदैव कमी रही है, इसी कारण लोग पदातिक यात्राएँ अधिक करते थे। व्यापार ही यात्राओं का मूल कारण होता था। प्रारम्भ में यातायात व्यापार जल के साथ-साथ स्थल के रास्ते से ही शुरू हुआ। ऐसे समय में मनुष्य बिक्री का सामान स्वयं ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने हाथ में, कन्धे, पीठ या सिर पर रखकर ले जाता था। जब मनुष्य ने पशु-पालन प्रारम्भ किया तब वह उनकी पीठ पर सामान ढोने लगा। इसके पश्चात् उसने यातायात के साधनों बैलगाड़ियों, ऊँटगाड़ियों, घोड़ागाड़ियों का निर्माण प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे आज के युग में मोटर, ट्रक, रेल, वायुयान आदि यातायात के अनेक साधनों से सम्पन्न हो सका है।

१. **पदातिक यात्राएँ**—इनका तात्पर्य उन यात्राओं से है जो मानव ने प्रारम्भ में की थीं। उस समय यातायात के साधनों के सुलभ न होने से इन यात्राओं का विशेष महत्त्व था। इस प्रकार की यात्राएँ दो रूपों में होती थीं—कभी एकाकी और कभी वर्गगत।

(क) **एकाकी यात्राएँ**—इनसे अभिप्राय उन यात्राओं से है जिनमें मनुष्य अकेला ही अपने निश्चित यात्रा-स्थल पर पहुँचता था। उसे एकाकी रहकर ही

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया—रीज़ डेविड्स, पृ० ६८

यात्राएँ करना पसन्द था। इस प्रकार की यात्राओं में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, क्योंकि रास्ते में लगनेवाले चोर, डाकू ऐसे एकाकी यात्रियों को लूटकर मार डालते थे। इन्हीं कारणों से एकाकी यात्राएँ बहुत कम हुआ करती थीं।

(ख) **वर्गगत यात्राएँ**—इनसे अभिप्राय उन यात्राओं से है जिसमें यात्री टोलियाँ बना लेते थे और झुंड-के-झुंड साथ चलते थे। पहली सदी से लेकर सातवीं सदी तक इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। यात्री रास्ते में खाते-पीते हुए विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते थे। उन्हें जहाँ भी अपने खाने-पीने योग्य सामग्री मिल जाती थी, वे वहीं अपना डेरा डाल लेते थे। जब वहाँ उनके खाने-पीने की वस्तु समाप्त हो जाती थी तो वे आगे के लिए प्रयाण करते थे। कभी-कभी व्यापार के कारण भी इस प्रकार की यात्राएँ की जाती थीं। सार्थ-रूप यात्राएँ भी हमें इसीके साथ मिलती हैं। सार्थ-रूप यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन यात्राओं से है जिनमें वर्गगत यात्रियों के साथ-साथ चला करते थे। सार्थ पाँच प्रकार के होते थे—मण्डी सार्थ—माल ढोने वाले, २. वहलिया—इस सार्थ में ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे, ३. भारवह—इस सार्थ में लोग अपना माल ढोते थे, ४. औदरिका—यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते थे, ५. कार्पटिक सार्थ—इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे।[1] उपर्युक्त प्रकार के सार्थ ही यात्रियों को विभिन्न यात्राओं में साथ देते थे। इन सार्थों के साथ यात्रा में अनुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली, घोड़े, भैंसें, हाथी और बैल होते थे, जिन पर केवल असमर्थ बीमार, पायल, बूढ़े और पैदल यात्री चलते थे। कोई-कोई सार्थवाह इनके लिए कुछ किराया वसूल करते थे, पर किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ाते थे वे क्रूर समझे जाते थे और लोगों को ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की कोई राय नहीं देता था।[2] ऐसा सार्थ जिसके साथ दन्तिक्क (मोदक, मण्डक, अशोकवर्ती जैसी मिठाइयाँ) गेहूँ, तिल, गुड़ और घी हो, प्रशंसनीय समझा जाता था, क्योंकि आपत्तिकाल में, जैसे बाढ़ आने पर, सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं तथा अपने साथ के यात्रियों को भोजन दे सकता था।[3] यात्रियों के साथ यात्रा में अक्सर सार्थों को आकस्मिक विपत्तियों का जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकुओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्य-क्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय में यात्रियों और सार्थ के साथ खाने-पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था। सार्थों के साथ यात्रियों के अतिरिक्त व्यापारियों और खासकर साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था, क्योंकि इनके लूटने का

१. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य—३०६६
२. वही—३०७१
३. वही—३०७२

बराबर भय बना रहता था। रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटे-छोटे यात्रियों के साथ चलनेवाले सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे।

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े। क्षेत्रत: परिशुद्ध सार्थ एक दिन में उतनी ही मन्जिल मारता था जितनी बच्चे और बूढ़े आराम से तय कर सकते थे। सूर्योदय के पहले ही जो सार्थ चल पड़ता था वह ही अधिक पद-यात्रा कर पाता था। सार्थों के साथ यात्रा करनेवालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी। उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था। सार्थ-रूप यात्राओं में यात्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे उन शकुनों और अपशकुनों में विश्वास करें जिन्हें सारा सार्थ मानता था। सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था।

इन सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी। कभी-कभी उनके भिक्षाटन के लिए निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन बेचारों को भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकना पड़ता था। एक ऐसे ही भूले-भटके समुदाय का वर्णन है जो उन गाड़ियों के, जो राजा के लिए लकड़ी लेने आई थीं, पड़ाव पर पहुँचा। वहाँ इन्हें भोजन मिला और ठीक रास्ते का पता भी चला। लेकिन साधुओं को ये कष्ट तभी उठाने पड़ते थे जब सार्थ उन्हें भोजन देने को तैयार न था। आवश्यक चूर्णि[1] में इस बात का उल्लेख है कि क्षितिप्रतिष्ठ और बसन्तपुर के बीच यात्रा करनेवाले एक सार्थवाह ने इस बात की मनादी कर दी कि उसके साथ यात्रा करनेवालों को भोजन, वस्त्र, बर्तन, दवाइयाँ मुफ्त में मिलेंगी। पर ऐसे उदार-हृदय भक्त थोड़े ही होते होंगे, साधारण व्यापारी अगर ऐसा करते तो उनका दिवाला निश्चित था। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए पड़ावों पर आग भी जलाई जाती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जाएँ, लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सार्थ इधर-उधर छितराकर अपनी जान बचाता था।[2]

भारतीय सार्थ घर बैठे हुए लोगों को बाहर निकलकर वास्तविक जीवन बिताने के लिए प्रबल आवाहन देता था। सार्थ की यात्रा व्यक्ति के लिए बोझिल नहीं होती थी। उसके पीछे आनन्द या उमंग, मेल-जोल, अन्यान्य हितबुद्धि की सरस भावनाएँ छाई रहती थीं। सार्थ के इस आनन्दमय जीवन की कुंजी महाभारत के उस वाक्य में मिलती है जो यज्ञ-प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था—'सार्थः

---

१. आवश्यक चूर्णि—पृ० १०८.

२. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य—३१०४

प्रवसतो मित्र भार्या मित्रं गृहसतः'[1] घर के बाहर की यात्रा के लिए जो निकलते हैं सार्थ उनका वैसा ही सखा है जैसा घर में रहते हुए स्त्री। सार्थ के वातावरण में जीवन-रस का अक्षम्य स्रोता बहता हुआ अनेकों को अपनी ओर खींचता था। उसका उमगता हुआ सख्यभाव यात्रा के लिए मन को मथ डालता था। सार्थों के उपरान्त यात्रा की यही परम्परा आगे चलती रही, जिसका रूप आज भी हम अपने प्राचीन तीर्थों—बदरीनाथ, केदारनाथ, रामेश्वरम्, प्रयाग, अयोध्या, वाराणसी आदि में देखते हैं। इन तीर्थस्थानों की यात्रा के लिए बड़े-बड़े वर्ग एक ही साथ चलते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि आज यह वर्गगत यात्राएँ तीर्थ-दर्शन के लिए ही मुख्यतः होती हैं, परन्तु प्राचीन युग में ये मूलतः व्यापार के लिए ही होती थीं। यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में साधनों के आधिक्य से पद्धति समाप्तप्राय-सी हो गई है और प्रत्येक व्यक्ति यात्राओं के लिए स्वतन्त्र है।

२. **पशुवाहन**—यह यात्रा का दूसरा साधन था। अन्य नवीन साधनों के न मिल पाने से बैल, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि पर ही व्यापार का सारा सामान लादा जाता था। इन पशुओं पर केवल व्यापारिक सामग्री ही नहीं लादी जाती थी, वरन् ये यात्री की सवारी के काम भी आते थे। देव रूपों में पशुवाहन का स्वरूप हमें मिलता ही है जिसमें ये वाहन शीघ्रगामिता के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। इन्हीं वाहनों पर बैठकर यात्रा की जाती थी और उन्हें विभिन्न रूप-रंग से अलंकृत भी किया जाता था, इस प्रकार की परम्परा रामायण, महाभारत-युग से चली आई थी जिसके संकेत हमें साँची के अर्ध चित्रों तक में देखने को मिलते हैं, जिसमें कभी-कभी व्यापारी खूब सजे-सजाए बैलों पर भी यात्रा किया करते थे।[2] प्राचीन साहित्य में हमें इस बात के संकेत अधिक नहीं मिलते जिसमें सेना को छोड़ लम्बी यात्राओं के लिए घोड़े, बैल, खच्चर काम में लाए जाते थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि निकट के स्थानों की यात्राओं में लोग खूब सजे-सजाए घोड़ों पर यात्राएँ करते थे। सांची में ऐसे घोड़ों के चित्र बहुत बार आए हैं।[3] पशुओं को सजाने की यह प्रथा आज भी हम अपने देश के ग्रामों में देखते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऊँट, खच्चर, हाथी भी व्यापार एवं यात्रा के काम में लाए जाते रहे हैं। हम यह जानते हैं कि भारत में हाथियों की सवारी बड़े लोगों में बहुत प्रचलित थी। सेना के तो हाथी एक अंग होते ही थे, साथ ही राजा-महाराजाओं की दूर की यात्रा में वे बराबर उनके साथ चला करते थे। सवारी और माल की ढुलाई में ऊँटों का उपयोग भी बहुत पहले से होता आया है। रेगिस्तानी-यात्रा में तो यही एकमात्र यातायात एवं यात्री की सवारी

१. महाभारत वनपर्व—२९७।४५.

२. सांची—मार्शल—भाग २, प्लेट० XXb

३. वही—XXXI

का साधन था। साँची में भी हमें एक ऊँट के सवार यात्री का चित्रण मिलता है।[१] राज्य-कर्मचारियों और शीघ्रगमिता वाले यात्रियों के लिए शिविकाएँ होती थीं जो यात्राओं में बहुत आराम देती थीं। इस प्रकार की दो शिविकाओं का चित्रण अमरावती के अर्ध-चित्रों में मिलता है।[२] टट्टू और खच्चर प्राचीन युग से आज तक पर्वतीय प्रदेशों में व्यापार के सामान को लादने के काम आते हैं। स्थल मार्गीय व्यापार एवं यात्राओं के लिए पशुवाहनों में बैल, घोड़ा, खच्चर, ऊँट, हाथी ही प्रमुख साधन रहे हैं। वाहनों के विकसित हो जाने पर भी हमें इन पशुवाहनों का प्रयोग भारत में आज भी मिलता है।

३. **निर्मित वाहन**—पशुवाहनों से काम न चलने पर मनुष्य ने अन्य नवीन वाहनों का निर्माण प्रारम्भ किया। इनके द्वारा उसे व्यापार एवं यात्राओं में बहुत सुविधा मिली। इनके निर्मित करने में उसे अनेकों कठिनाइयों का सामना पड़ा। ये साधन समयानुसार क्रमिक-विकास पाते गए। इनमें विशेष रूप से जहाज़, रथ, ठेला, गाड़ी, इक्का आदि वाहन आते हैं। सड़कों के ठीक न होने पर स्थल-यात्राएँ प्रारम्भ में कष्टप्रद होती थीं परन्तु मार्गों के ठीक होने पर ये निर्मित वाहन सुविधा प्रदान करने लगे। विभिन्न प्रकार के जहाजों के निर्मित हो जाने पर यात्रा सरल हो गई थी। रथों द्वारा भी स्थलीय यात्राएँ होने लगी थीं, युद्ध-यात्राएँ मूल रूप से रथों पर ही होती थीं जिसके संकेत हमें रामायण, महाभारत, आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इन्द्रजीत के स्वयं रथ हाँकने और युद्ध करने के सम्बन्ध में लिखा है—

स्वयं सारथ्यमकरोत्पुनश्च धनुरस्पृशत्
तदद्भुतमभूत्तत्र सामर्थ्यं पश्यतां युधि ॥[३]

इसी प्रकार महाभारत के युद्धीय वर्णनों में युद्ध की विविध विधियों से रथों को घुमा-फिराकर शस्त्रों के प्रहारों का वर्णन किया गया है। गाड़ियों और इक्कों का चलन भी हमारे प्राचीन युग से चला आया है। हड़प्पा के खण्डहरों में ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन युग में यात्रा-साधनों के विकास में यहाँ इक्का भी चलता था।[४] इन इक्कों पर यात्राएँ की जाती थीं परन्तु गाड़ी और ठेलों पर व्यापार की सामग्री ही अधिक लादी जाती थी। रथों का प्रयोग सभी नहीं कर पाते थे, केवल राजा-महाराजा ही इन साधनों को उपयोग में लाते थे। भ्रमण के साथ-साथ युद्ध-यात्रा में इनका उपयोग अधिक होता था। निर्मित वाहनों के क्षेत्र में दिन-पर-दिन उन्नति ही होती रही और उसी क्रमिक विकास के

१. वही—भाग ३, प्ले० IXXVI, ६६ सी०
२. अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूज़ियम—शिवराम मूर्ति, प्ले० आ० १६, मद्रास १९४२
३. वाल्मीकि रामायण—युद्ध काण्ड, ९० सर्ग, पृ० ९७७, चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा
४. भारतीय संस्कृति और उसका साहित्य—सत्यकेतु विद्यालंकार—पृ० ७२, दि० सं० १९५६.

परिणामस्वरूप आज हम साइकिल, रिक्शा, मोटर, ट्राम्बे, रेलगाड़ी, वायुयान और राकेट आदि को यात्राओं में लाभप्रद पाते हैं। आज इन वाहनों द्वारा यात्रा अत्यधिक सुलभ हो गई है, जिसे सर्वसाधारण भी बड़ी सरलता से कर रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यातायात के अन्य साधनों की भाँति निर्मित वाहनों का भी क्रमिक-विकास होता रहा है और भविष्य में और अधिक होगा।

४. **प्रमुख यात्रा-मार्ग**—यात्रियों के कुछ प्रमुख पथ भी थे जिन पर चलकर वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते थे। भारत के महापथों के लिए महाभारत के सबसे महत्त्व-पूर्ण यात्रा-मार्ग "उत्तरी महापथ" का वर्णन विशेष रूप से हमें मिलता है। यह महापथ केस्पियन सागर से चीन तक एवं बाल्हीक से पाटलिपुत्र ताम्रलिप्ति तक सारे एशिया भूखण्ड की विराटधमनी था। पाणिनी (५०० ई० पू०) ने इसका तत्कालीन संस्कृत नाम उत्तरपथ लिखा है।[1] इस पथ को ही प्रारम्भिक युगीन यात्राओं के वर्णन में मैगस्थनीज़ ने "नार्दर्न रूट" कहकर उसके विभिन्न भागों का परिचय दिया है। महाभारत के नलोपाख्यान में ग्वालियर के कोंतवार प्रदेश (चम्बल, बेतवा के मध्य) में खड़े होकर दक्षिण के रास्तों की ओर दृष्टि डालते हुए कहा गया है—"एते गच्छन्ति बह्वः पन्थानो दक्षिणापथम्"।[2] और इसी प्रसंग में "बह्वः पन्थानः" का ब्यौरा देते हुए विदर्भ मार्ग दक्षिण कोसल मार्ग और दक्षिण पथ मार्ग इन्हीं तीन पथों के नाम भी दिए गए हैं। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में भी हमें अपने लम्बे-चौड़े देश की इस विशेषता—जनायन-पंथों पर ध्यान दिलाया गया है—

'ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभयो भद्र पापास्तं पन्थानं जयेमान मित्र मतस्करम्॥
यच्छिवं तेन नौ मृड्।[3]

इसमें भारक के यात्रियों के अनेक प्रमुख पथों या मार्गों का विवरण दिया गया है, जिसे निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

१. इस भूमि पर मार्गों की संख्या अनेक है।
२. वे पंथ जनायन अर्थात् मानवों के यातायात के प्रमुख साधन हैं।
३. उन मार्गों पर रथों के वर्त्म या रास्ते बिछे हैं।
४. माल ढोने वाले शकटों के आवागमन के लिए (यातवे) भी ये ही साधन थे।
५. इन मार्गों पर भले-बुरे सभी को समान रूप से चलने का अधिकार है।
६. किन्तु इन पथों पर शत्रु और चोर-डाकुओं का भय हटना आवश्यक है।

---

१. उत्तर पथेनाहृतं च—पाणिनी-अष्टाध्यायी—५।१।७७
२. महाभारत—वनपर्व—५८।२
३. अथर्ववेद—१२।१।४७.

७. जो सुरिक्षत एवं कल्याणकारी पथ हैं वे पृथिवी की प्रसन्नता के सूचक हैं। तत्कालीन यात्राओं का वर्णन करते हुए इसी महापथ की ओर कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में भी संकेत किया है।[1] रघुवंश में इसीको राजपथ कहा गया है जो कि सबसे अधिक दर्शनीय था।[2] इन महापथों के अतिरिक्त भी अनेकों प्रमुख मार्ग थे, जिन पर यात्री यात्रा के लिए चला करते थे।

प्रमुख यात्री और उनके यात्रा-मार्ग में पड़नेवाले प्रमुख नगर—जिस प्रकार अनेक यूनानी, चीनी, फ्रान्सीसी आदि लोगों के यात्रा-विवरण हमें यात्रा-साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में मिलते हैं, उसी प्रकार के सारे यात्रा-विवरणों में जो सबसे प्राचीन समझा जाता है वह सुलेमान नाम के एक सौदागर का लिखा हुआ है, जिसने व्यापारार्थ केवल भारत ही में भ्रमण नहीं किया वरन् चीन का भी भ्रमण किया था। इलियट महोदय ने भी अपने महत्त्वपूर्ण इतिहास में सुलेमान सौदागर के यात्रा-विवरण को ही सबसे प्राचीन लेख माना है।[3] इसके साथ ही इस यात्री की प्राचीनता का एक प्रमाण हमें और भी मिलता है। फ्रान्सीसी डाक्टर लीबान भी इस सौदागर को ही भारत का प्रथम मुसलमान-यात्री बतलाते हैं।[4] डाक्टर साहब का तो यहाँ तक कहना है कि सुलेमान का यात्रा-विवरण प्रथम पुस्तक है जो कि यूरोप में चीन के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। सुलेमान फारस का सौदागर था, इसी कारण वह बहुत भ्रमण किया करता था। सौदागरी के ही लिए इस यात्री ने भारत तथा चीन की कई बार यात्रा की।

प्राथमिक यात्रियों में यात्रा-विवरण की दृष्टि से फाहियान भी बहुत प्राचीन यात्री माना जाता है। इसके पूर्व जो यात्री आए थे वे उद्यान से इधर नहीं बढ़ते थे। फाहियान जब श्रावस्ती पहुँचा था तो उससे यह जानकर कि वह चीन देश से आया है, लोगों ने आश्चर्यपूर्वक यह कहा था कि सुलेमान सौदागर के अतिरिक्त किसीको भी हमने चीन से यहाँ आते हुए नहीं देखा और न सुना ही है। इसका समय (२००-६०० ई०) माना जाता है, पर कुछ विद्वान् इसका समय ४००-४१४ ई० मानते हैं। इनके अनुसार से वह सन् ४०० ई० में भारतवर्ष में की ओर चला था

---

१. सन्तान काकीर्ण महापथं पर्च्चानांशुकैः कल्पित केतुमालम्। —कुमारसम्भव—७, ३

२. देखिए—'रघुवंश' १४, ३०—"श्रद्धापणं राजपथं"

३. देखिए—हिस्ट्री आफ इण्डिया एज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स (मुहम्मडन पीरियड), ८ भाग, इलियट लिखित एवं डासन द्वारा संपादित। प्रथम भाग के आरम्भ में सुलेमान का उल्लेख है।

४. "देखिए—उर्दू में 'तमद्दन अरब' (डा० लीबान फ्रान्सीसी भाषा में लिखित तथा सैयदअली बिलग्रामी द्वारा उर्दू में अनुवादित)

और सन् ४१४ ई० में अपने देश को लौट गया था।[1] फाहियान के अनन्तर यहाँ अनेक प्रमुख यात्री आए, उनके नाम निम्नलिखित हैं—

तावयुंग, तायिगं, हुईसांग, सुयेनच्वांग, हुइनि, सुयनेचिड, सुयेनताई, चाउही, सिपिन, ईत्सिग, बुद्ध-धर्म, ताउफांग, उंगापो, सुयेनहुई, लुंग, मिंगयुएन, वानकी, मोक्षदेव, कुईचुंग, सिनचिउ, तावालिन, सुयेनता, सि-जि, ऊहिंग तथा सुंगयुन आदि।

इन यात्रियों का आगमन समय सन् ४१४ ई० से सन् १२०० ई० के मध्य रक्खा जा सकता है। इन यात्रियों के अतिरिक्त कुछ मुग़लकालीन प्रमुख यात्रियों का भी उल्लेख मिलता है। इस काल में (१२००-१५२६ ई०) अबुल फ़िदा (१२७३-१३७३ ई०) जकरिया कजबीनी (१२८३ ई०), सूफी दुमिश्की (१३२७ ई०), इब्नबतूता (१३२५-१३४६ ई०), शहाबुद्दीन उमरी (१३४६ ई०), अब्दुर्रज्जाक (१४४२ ई०) आदि अनेक मुसलमान यात्री भारत आए।

इन यात्रियों के अतिरिक्त मार्कोपोलो, बर्नियर, तावर्नियर आदि के यात्रा-वृत्तान्त भी हमें मिलते हैं। इनके साथ ही कितने ही अन्य यात्रियों ने भी भारतवर्ष की ओर प्रयाण किया, परन्तु उनमें से बहुतों का तो पता ही नहीं है और कितने राह ही में मर गए और कितने आधे मार्ग से लौट गए।

मौर्य-काल के बाद भी प्राथमिक यात्राओं का वही रूप रहा। इस समय यात्रियों के लिए दो प्रधान सड़कों का उल्लेख मिलता है। प्रथम पाटलिपुत्र को काबुल की घाटी से और द्वितीय सिन्धु नदी के मुहाने से मिलाता था और ये ईरान होते हुए पश्चिम की ओर चले जाते थे।[2] इन विदेशी यात्रियों के यात्रा-वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में समय की भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से लिखा है। ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ब्रिटिशकाल के अन्त तक न जाने कितने विदेशी यात्री भारत-भ्रमणार्थ आए। इनमें सत्यासत्य विवेचन भी क्षमता रखनेवाले कुछ विद्वान् यात्री भी थे, जिनके लेख विशेष महत्त्व के हैं। हेरोडोटस, सुलेमान सौदागर, मैगस्थनीज़, फाह्यान, हुएंगसांग, अलबरूनी, अबूजैद, अल इदरसी, इब्नबतूता, मार्कोपोलो, बर्नियर टैवर्नियर आदि विदेशी यात्रियों के वर्णन से भारतीय उद्योग-धन्धों एवं उस काल की यात्राओं के इतिहास से पता चलता है। इन्हें पढ़ने से यह भी पता चलता है कि प्राचीनकाल में इन विभिन्न देशों में किस प्रकार पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना थी और वे कैसे एक-दूसरे से राजनैतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों द्वारा जुड़े हुए थे।

---

१. सुंगयुन का यात्रा-विवरण—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० २—३, ना० प्र० सभा, काशी द्वारा प्रकाशित, सम्वत् १९७७.

२. दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—भाग १, प्राचीन भारत—पृ० ५१६.

यदि हम भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में हिन्दूकुश के उत्तरी और दक्खिनी रास्तों की जाँच-पड़ताल करें तो हमें पता चलता है कि सब युगों में रास्ते एक समान ही नहीं चलते थे। पहाड़ी प्रदेश के रास्तों में कम हेर-फेर हुआ है, पर मैदान के मार्गों में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए बलख, बाम्यान, कापिशी, पुष्करावती और उदभाण्ड होकर तक्षशिला का रास्ता सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों तथा अनेक बर्बर जातियों द्वारा व्यवहार में लाया जाता था। वही मार्ग आधुनिक काल में मजारशरीफ अथवा खानाबाद, बाम्यान या सालंग, काबुल, पेशावर तथा अटक होकर रावलपिण्डी पहुँचता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तक्षशिला होकर महाजन पथ काशी और मिथिला तक चलता था। जातक से पता चलता है कि बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों से होकर गुजरता था। तक्षशिला उस युग में भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन-केन्द्र था। बौद्ध-साहित्य से इस बात का पता चलता है कि बनारस, श्रावस्ती और सोरेय्य (सोरों) के भारत के भीतर की यात्रा में युवानच्वांग ने गन्धार में पहुँचकर बहुत से सन्घाराम और बौद्धतीर्थ देखने के लिए अनेक मार्ग लिए। गन्धार से वे उड्डियान (स्वात) की राजधानी मेंग-की यानी मंगलौर पहुँचे।[1] इस प्रदेश की सैर करके उत्तर-पूर्व से वे देरल में पहुँचे।[2] यहाँ से कठिन पर्वतीय यात्रा में झूलों से सिन्ध पार करके वे बेलोर पहुँचे।[3] इसके बाद वे पुनः उदभाण्ड लौट आए और वहाँ से तक्षशिला गए। तक्षशिला से उरसा (हजारा जिला) के रास्ते चलकर वे कश्मीर पहुँचे। वहाँ भ्रमण करके वे एक कठिन मार्ग से पूंछ पहुँचे और पूंछ से राजोरी होते हुए वे काश्मीर के दक्षिण-पश्चिम में पहुँचे।[4] राजोरी से दक्षिण-पूर्व में जाकर वे टक्क देश पहुँचे और दो दिन की यात्रा के बाद व्यास पार करके वे साकल पहुँच गए।[5] भ्रमण करते हुए यहाँ से वे चीनपति, तमसावन होते हुए उत्तर-पूर्व में जालन्धर पहुँचे। यहाँ से कुल्लू की यात्रा करके पायत्रि और कुरुक्षेत्र होते हुए मथुरा आए।[6]

तक्षशिला और मथुरा के बीच महापथ के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है महाजन पथ का रुख बौद्ध-काल में भी वही था और बाद में वही रहा, यद्यपि उस पर पड़नेवाले प्रमुख नगरों के नाम राजनैतिक कारणों से बदल गए थे।

---

१. आन युवानच्वांग—वटर्स—पृ० १, २२७
२. वही—२३९
३. वही—२३९-४०
४. वही—१, २८३-८४
५. वही—१, २८६
६. वही—१, २९२

अपनी दूसरी-यात्रा में युवानच्वांग कान्यकुब्ज होते हुए अयोध्या पहुँचे और वहाँ से अयमुख और प्रयाग होते हुए वे विशोक पहुँचे ।[1] यहाँ से फिर वे आगे बढ़े और वैशाली पहुँच गए ।[2] यहाँ नेपाल की यात्रा करके वापस आए और फिर पाटलिपुत्र गए ।[3] पाटलिपुत्र से उन्होंने गया और राजगृह की यात्राएँ कीं । व्यापारी तक्षशिला में व्यापार के लिए आते थे ।[4] भ्रमण करते हुए यात्रियों की टोलियाँ खुले मैदानों में भी पड़ाव डालती थीं । हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वैशाली से दक्षिण जानेवाली महापथ की शाखा पर अनेक पड़ाव थे जिन पर बुद्ध राजगृह से कुशीनगर की अपनी अन्तिम यात्रा में ठहरे थे ।[5] अपनी इस यात्रा में बुद्ध-भगवान् राजगृह से चलकर अबलटिठक और नालन्दा होते हुए पाटलिग्राम में गंगा पार कर कोटिग्राम और नदिका होते हुए वैशाली पहुँचे थे, यहाँ से श्रावस्ती का रास्ता पकड़ कर मण्डगाम, हत्थिग्राम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर तथा उत्तर पावा (पपउर, वर्तमान पडरौना, तहसील गोरखपुर) होते हुए वे मल्लों के शालकुंज में पहुँचे थे ।[6]

मौर्य-काल में भी यात्रियों के कुछ प्रमुख पथ थे जिनसे व्यापारी यात्रा करते थे । मौर्य साम्राज्य के प्रमुख राजपथ का वर्णन मैगस्थनीज़ ने दिया है । यह राजपथ ताम्रलुक से प्रारम्भ होकर पाटलिपुत्र, प्रयाग, कान्यकुब्ज और तक्षशिला होते हुए पश्चिमोत्तर प्रान्तस्थ पुष्करावती नगरी तक गया था ।[7] इससे ज्ञात होता है कि उस काल में यात्रा के मार्ग निश्चित हुआ करते थे और लोग उन्हीं पर चढ़कर अपने गन्तव्य स्थानों पर पहुँच जाते थे ।

प्राथमिक यात्राओं में चीनी-यात्रियों का स्थान विशेष महत्व का है । ये दूर-दूर के प्रदेशों की यात्रा किया करते थे । युवानच्वांग ने बलख से तक्षशिला का सीधा रास्ता पकड़ा और अपनी यात्रा से लौटते समय वे दूसरे मार्ग से जो कन्धार से आता है, लौटा । युवानच्वांग बलख, कापिशी, नगरहार, पुरुषपुर, पुष्करावती और उदभाण्ड होते हुए तक्षशिला पहुँचे । चौदह वर्ष भारत की यात्रा करके जब युवानच्वांग भारत से चीन को लौटे तो उदभाण्ड में कुछ काल तक ठहरे । फिर वहाँ

---

१. वही—१, २३०-३१
२. वही—२, ६३
३. वही—२, ८३
४. डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स, १, ९८२, डा० जी० पी० मालालसेकरा—लन्दन १९३८
५. वही—२, ७२३
६. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र, पृ० १८, पटना—१९५३
७. Megasthenis IV, 3-Schwaubecks Megasthenis Indica, translated by Mc Crindle in Ancient India as described by Megasthenis and Arrian. (Trubner), London 1877.

से लम्पक (लगमान) होते हुए खुर्रम की घाटी से होकर वर्णु (बन्नू) के दक्षिण में पहुँचे।[1]

युवानच्वांग ऐसे प्रसिद्ध यात्री के यात्रा-विवरण से हमें पता चलता है कि सातवीं-आठवीं सदी में भी यात्रा के लिए वे ही प्रमुख मार्ग थे जो ई० पू० पाँचवीं सदी में। ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में भारत की पथ-पद्धति, प्रमुख मार्ग वही थे, यद्यपि उस पर के बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो गये थे और उनकी जगह नए नगर बस गए थे। अलबरूनी के अनुसार उस समय पन्द्रह मार्ग आते थे जो कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड़, धार, वाड़ी और बयाना से चलते थे।[2]

मुगलकालीन भारत के प्रमुख मार्गों का पता हमें, डब्लू० फिच, तावर्नियर, टीफेन थालर और चहारगुलशन से लगता है। मुगल-काल में महापथ काबुल से आरम्भ होकर बेग्राम, जगदालक, गण्डमक, जलालाबाद और अलीमस्जिद होते हुए पेशावर पहुँचा था। यहाँ से वह अटक के रास्ते हसन अब्दाल होते हुए रावलपिण्डी जाता था। यहाँ से रोहतास और गुजरात होकर वह लाहौर आता था।[3] काबुल से एक रास्ता, चारिकार के रास्ते, गौरवन्द और तलीकान होकर बदख्शाँ पहुँचता था। खुसरों की बगावत दबाने के पश्चात् बादशाह जहाँगीर ने काबुल से लाहौर तक इसी रास्ते से यात्रा की थी।[4] चहारगुलशन[5] ने इस रास्ते पर बहुत से पड़ावों के नाम दिए हैं। लाहौर से मुल्तान का रास्ता औरंगाबाद, नौशहरा, चौकीफत्तू, हड़प्पा और तुलुम्ब होकर गुजरता था।[6]

यात्रियों के लिए लाहौर से दिल्ली तक का रास्ता पहले होशियारनगर, नौरंगाबाद और फतेहाबाद होते हुए सुल्तानपुर पहुँचता था, जहाँ शहर के पच्छिम कालना नदी पर और उत्तर में सतलज पर घाट लगते थे। वहाँ के बाद जहाँगीरपुर पर सतलज की पुरानी सतह मिलती थी और उसके बाद फिल्लौर और लुधियाना आते थे। यहाँ से सड़क, सरहिन्द, अम्बाला, आनेसर, तरावड़ी, करनाल, पानीपत और सोनीपत होते हुए दिल्ली पहुँचती थी।[7] दिल्ली से आगरे की सड़क बड़ा पुल, बदरपुर, बल्लभगढ़, पलवल, मथुरा, नौरंगाबाद, फरह सराय और सिकन्दरा होकर आगरा पहुँचती थी। दिल्ली, मुरादाबाद, बनारस, पटनावाला रास्ता, गाजिउद्दीननगर,

---

१. ल वैय्य रुत द ला एंद्—फुशे—पृ० २३१
२. इण्डिया—सचाऊ—१, पृ० २००
३. अर्ली ट्रवेल इन इण्डिया—डब्लू फास्टर, पृ० १६१, लंदन—१९२१,
४. तुजूक—१, पृ० ९०
५. इण्डिया आफ औरंगजेब—जे० सरकार, पृ० c, कलकत्ता— १९०१
६. वही—c VI-C VII
७. वही—XCVIII

डासना, हापुड़, बागसर, गढ़मुक्तेश्वर और अमरोहा होकर मुरादाबाद पहुँचता था। मुरादाबाद से बनारस तक के पड़ावों का उल्लेख नहीं मिलता। बनारस से सड़क गाजीपुर होकर बक्सर पहुँचती थी जहाँ सात मील दक्खिन में गंगा पार करके रानीसागर होकर पटना पहुँचती थी।[1] तावर्नियर के कथनानुसार[2] आगरा-पटना ढाकावाली सड़क आगरा से फिरोजाबाद, इटावा और औरंगाबाद होते हुए इलाहाबाद पहुँचती थी। इलाहाबाद में महसूल जमा करने के बाद सूबेदार से हस्ताक्षर लेकर गंगा पार करके जगदीशसराय होते हुए व्यापारी वाराणसी पहुँचते थे। गंगा पार करते समय यात्रियों के माल की छानबीन होती थी और उनसे चुंगी वसूल की जाती थी। वाराणसी से सैयदराजा और मोहन की सराय होकर रास्ता पटना की ओर जाता था। करमनासा नदी खुर्रमाबाद में और सोन सासाराम में पार की जाती थी। यही मार्ग दाऊदनगर और अरवल होते हुए पटना आ पहुँचता था।

बावरी ने कुछ शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा था, उन शिष्यों ने आलक से अपनी यात्रा आरम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (पैठन, हैदराबाद), महिस्सति (महेसर, म० भारत), उज्जैनी, गौनद्ध, वेदसा (भेलसा, म० भारत), वन सह्वय होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। दक्षिण भारत के पथ नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पहला मार्ग मनमाड से मछलीपट्टम के रेलमार्ग के साथ चलता है। दूसरा पूना से कांजीवरम् को जाता है, तीसरा गोआ से तन्जौर, नेगापटन, चौथा कालीकट से रामेश्वरम् और पाँचवाँ मार्ग केवल एक स्थानिक मार्ग है। पहले तीन पथों का बहुत महत्त्व है।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ये रास्ते आपस की लड़ाई-भिड़ाई, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रधान साधन थे, फिर भी इन ऐतिहासिक पथों का विशेष महत्त्व है। पश्चिम और दक्षिण भारत की मार्ग-पद्धति के कुछ टुकड़ों का ऐतिहासिक वर्णन हमें अलबरूनी से अवश्य प्राप्त होता है। बयाना होकर मारवाड़ के रेगिस्तान से एक सड़क भाटी होती हुई लहरीबन्दर, यानी कराची जाती थी।[3] दिल्ली, अजमेर, अहमदाबाद का मार्ग कनौज, बयाना के रास्ते में ही था।[4] तावर्नियर के कथनानुसार सूरत से अहमदाबाद होकर भी एक मार्ग आगरा तक चलता था। सूरत से बड़ौदा और नाडियाड होकर अहमदाबाद यात्री पहुँचते थे। अहमदाबाद और आगरा के बीच की प्रसिद्ध जगहों में येसाणा, सीधपुर, पालनपुर, भिन्नमाल, जालोर, मेड़ता, हिंडौन, बयाना और फतेहपुर सीकरी पड़ते

१. इण्डिया आफ औरंगजेब—जे० सरकार
२. ट्रवेल्स—तावर्नियर—पृ० ११६-२०
३. देखिए इण्डिया—सचाऊ—१, ३१६-१७
४. वही—१, २०२

थे।[1] दक्षिण भारत के कुछ अन्य मार्गों का वर्णन करता हुआ वह लिखता है : "सूरत और गोलकुण्डा का मार्ग बारडोली, पिम्पलनेर, देवगाँव, दौलताबाद, औरंगाबाद, आष्टी, नाडेंड होकर था। सूरत और गोआ के मध्य का मार्ग उमन, बसई, चोल, डामोल, राजापुर और वेनगुला होकर था।[2]

मार्कोपोलो ही ऐसा यात्री था जिसने एशिया के अनेक देशों की यात्राएँ कीं और उनका विस्तृत वर्णन अक्षरबद्ध किया। उसने अपनी यात्राओं में ईरान (फारस) के मरुस्थलों और हरे-भरे मैदानों को देखा, उसने चीन और उसकी बड़ी-बड़ी नदियों, उसकी घनी आबादी, उसके ऐश्वर्यशाली नगरों और व्यापारिक वस्तुओं का ब्यौरेवार वर्णन किया। उसने अपनी प्राथमिक युगीन यात्रा में तिब्बत, लाऊस (लासा), बर्मा, श्याम, चीन, कोचीन, जापान, सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, सीलोन, भारतवर्ष, अंडमन, अफ्रीका, जंजीबार, मेडागास्कर, साइबेरिया और आर्कटिक ओशन इत्यादि अनेक स्थलों का भ्रमण किया और उनके वृत्तान्त को लिपिबद्ध किया जो इस समय तक किसी को ज्ञात भी न थे। प्राचीन वेनिस के व्यापारी यात्री संसार-भर में अपनी कीर्ति छोड़कर गए हैं। आज भी सुदूर स्थानों के साथ उनके व्यापार एवं भ्रमण की अद्भुत कहानियाँ देश-देश के लोगों की जिह्वा पर नृत्य करती हैं। मार्कोपोलो की कहानी भी इसी प्रकार की है। उसको भी एक साहसी व्यापारी निकोलोपोलो के साथ जाना हुआ था १२६० में निकोलोपोलो और उसका भाई माफेओपोलो वाणिज्य-व्यापार के लिए कुस्तुनतुनिया गए। उन दिनों मध्य-एशिया का व्यापार-केन्द्र बुखारा था। बुखारा की यात्रा के लिए इन लोगों ने प्रस्थान कर दिया। बुखारा पहुँचने पर इन्हें सम्राट कुब्लाखाँ के प्रताप और ऐश्वर्य तथा उसकी राजधानी पीकिंग के वैभव की बातें सुनकर पोलो बहुत मुग्ध हुए। उनका मन पीकिंग के वैभव को देखने के लिए ललचा उठा। तब उन्होंने पीकिंग की यात्रा आरम्भ कर दी। वे एशिया के बीच से यात्रा करते हुए एक दिन सम्राट् कुब्लाखाँ के दरबार में जा उपस्थित हुए। वहाँ भ्रमण कर लेने के पश्चात् १२६९ ई० के एप्रिल मास में दोनों पोलो भाई यरूशलम पहुँचे। उन दिनों इस प्रकार की लम्बी यात्राओं का साहस कोई बिरला ही कर पाता था। १२७१ ई० में दोनों पोलो-भाइयों ने चीन के लिए पुनः अपनी यात्रा प्रारम्भ की। उनके साथ दो पादरियों के अतिरिक्त एक और भी व्यक्ति था और वह था निकोलोपोलो का पुत्र मार्कोपोलो। उस समय मार्कोपोलो १७ वर्ष का ही था, पर उसे यात्राओं की बड़ी इच्छा थी। तीनों पोलो यात्रा करते हुए बगदाद पहुँचे। वहाँ से टाइग्रिस अर्थात् दजला नदी के जलमार्ग से वे फारस की खाड़ी में से होकर ओरमज तक चले आए। वहाँ से उत्तर की ओर यात्रा आरम्भ हुई और वे किरमान, खोरिस्तान तथा बलख से होते हुए

---

१. ट्रवेल्स—तावर्नियर—पृ० ६६-७१
२. वही—पृ० १४२-४७

आमू नदी को पार कर गए। धीरे-धीरे वे पामीर के पठार की ओर गए। इस पठार को पार करते हुए वे एक मरुस्थल के किनारे चलते-चलते खेतान तथा अन्य कई शहरों का भ्रमण करते हुए लवनीर झील के निकट पहुँचे। लवनीर झील से चलकर उन्होंने विशाल गोबी मरुस्थल को पार किया। इस प्रकार साढ़े तीन वर्ष के पर्यटन के पश्चात् वे तीनों पोलो कुब्लाखाँ की राजधानी में पहुँचे। अपनी इन्हीं यात्राओं के सिलसिले में मार्कोपोलो का चीन, स्याम, जावा, जापान, लंका और भारतवर्ष की यात्राओं के लिए आगमन हुआ।

अपनी यात्रा में मार्कोपालो ने सम्राट् कुब्लाखाँ की राजधानी का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। उसके वर्णन के अनुसार राजधानी पीकिंग बहुत ही सुन्दर नगर था। उसकी सड़कें बहुत खुली और साफ-सुथरी थीं। वहाँ के भवन बहुत सुन्दर और विशाल थे। विशाल और हरे-भरे मनोहर उद्यान नगर की शोभा को चार चाँद लगाते थे। पीकिंग की अपेक्षा हांयुनगर और भी अधिक सुन्दर था। मार्कोपोलो की राय में संसार भर में उस नगर से बढ़कर सुन्दर और कोई शहर न था।[1] सम्राट् के आदेश से मार्कोपोलो ने तिब्बत और समस्त दक्षिण-पश्चिम रूशिया और बंगाल तक भ्रमण किया। १२९५ ई० में वे तीनों पोलो अपने देश वेनिस में सकुशल पहुँच गए।

इसके बाद भारत में यवनों का आधिपत्य छाया जिसमें सुल्तान मुहम्मद तुगलक आदि ने मार्गों के निर्माण पर विशेष बल दिया। इसका वर्णन करते हुए १४वीं शताब्दी के अरब यात्री इब्नबतूता ने लिखा है: "सुल्तान के साथ उसकी दिल्ली से दौलताबाद की यात्रा बड़ी आनन्दमय रही। सड़कों के दोनों किनारों पर यात्रियों के आराम के लिए वृक्षारोपण था।[2] शेरशाह के शासनकाल में भी नई सड़कों के साथ-साथ पुरानी सड़कों की भी अच्छी व्यवस्था रहती थी, इसी कारण इतिहास में इसे मार्ग-निर्माता भी कहा गया है। ग्रैण्ड ट्रंक रोड का निर्माण एक प्रसिद्ध घटना थी जिससे यात्रियों को बहुत सुविधाएँ मिलती थीं। परन्तु यवनों की शासन-व्यवस्था के क्षीण होने तक यह मार्ग बहुत भयावने बन चुके थे जिनमें यात्रियों को ठग और चोर, डाकू लूट लिया करते थे।"

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मार्गों की बड़ी अव्यवस्था रही। इसके बाद ब्रिटिश शासन-काल में यात्रा-मार्गों का प्रसार हुआ जिसमें यात्रियों की सुविधाओं पर विशेष ध्यान दिया गया। यात्रा-मार्गों का यह रूप क्रमिक विकास पाता रहा और आज इतना उन्नतिशील हो सका है।

---

१. विकट पथ के राही—प्रो० बालकृष्ण—पृ० ६

२. ट्रान्सपोर्ट इन इंडिया एण्ड एब्राड—एन० एल० भटनागर—पृ० २६, मेरठ—१९५१

इस प्रकार हमें उपर्युक्त विवरण में यात्राओं के प्रमुख मार्ग, उन मार्गों पर चलनेवाले प्रमुख यात्री एवं मार्ग में पड़नेवाले प्रमुख नगरों का वर्णन मिलता है। देश में मार्ग-पद्धति का विकास सभ्यता के विकास का मापदण्ड है। जैसे-जैसे महाजन पथों से अनेक उपपथ निकलते गए, वैसे-ही-वैसे सभ्यता भारतवर्ष के कोने-कोने में फैलती गई और यात्राओं के मार्ग खुलते गए। इन्हीं स्थल यात्रियों द्वारा सभ्यता का विकास वृहत्तर भारत में हुआ और इन्हीं व्यापारियों, यात्रियों ने इस देश की संस्कृति को अग्रसर किया।

५. यात्रा-उद्देश्य—सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टि डालने से हमें—अध्ययन, धर्म-प्रचार, लूट-पाट, व्यापार, व्यवसायादि, युद्ध-यात्रा एवं मनोरंजन आदि ही यात्रा के प्रमुख उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं। प्रारम्भ में मूलतः तीर्थ-यात्राएँ ही अधिक हुआ करती थीं। इनके अतिरिक्त व्यापारी व्यापार के उद्देश्य को लेकर देश-विदेश की यात्राएँ किया करते थे। तीर्थ-यात्रा-प्रेमी अनेक कष्टों के बाद भी यात्राएँ करते रहते थे। बहुत से ब्राह्मण पण्डित अपनी जीविका के लिए देश भर में भ्रमण किया करते थे। यात्रा ही उनके जीवन की प्रधान वृत्ति थी।

अध्ययन—बौद्ध-काल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बालक इन्हीं यात्रा-पथों से अकेले बहुत दूर-दूर से तक्षशिला को विद्या-अध्ययनार्थ जाते थे।[1] हिन्दू राजा यात्रियों के लिए सड़कें निर्मित करवाकर धार्मिक लाभ प्राप्त करते थे। विद्या-अध्ययन ही इन विद्यार्थियों की यात्रा का प्रमुख उद्देश्य रहता था।

धर्म-प्रचार—यात्राओं द्वारा बौद्ध-धर्म के प्रचार से भारतवर्ष के साथ चीन देश का गुरु-शिष्य सम्बन्ध सुदृढ़ होता गया। बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ-साथ चीन में इस धर्म के अनेक भक्तों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और चीन देश में भिक्षुसंघ का संगठन हो गया, तब से अनेक भिक्षु यात्री भारतवर्ष की ओर धर्म-यात्रा के लिए आते रहे, पर पंजाब से आगे कोई नहीं बढ़ा और न किसीने अपनी धर्म-यात्रा का विवरण ही लिख छोड़ा जिससे उसकी यात्रा का कुछ भी पता चल सके, ऐसे यात्रियों ने भारतवर्ष के विभिन्न नगरों तथा अन्य देशों में भ्रमण किया। बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों की खोज में भी यात्राएँ की जाती थीं। लेवी महोदय ने फाहियान की यात्राओं का वर्णन करते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में एक अन्य ग्रन्थ का भी विवरण दिया है जो उस युग की यात्राओं का उद्देश्य तथा विवरण बताता है। उन्होंने लिखा है : "एक और बृहत् ग्रन्थ है जिसमें भिन्न-भिन्न जनपदों में उसकी यात्रा का विवरण है···यदि कोई और बड़ा ग्रन्थ फाहियान के यात्रा-विवरण का इसके अतिरिक्त, जिसका यह

---

१. बौद्धकालीन भारत—पं० जनार्दन भट्ट—पृ० २३६

अनुवाद है, रहा होगा तो बहुत दिनों से लुप्त हो गया।"[१] सन् ४२० ई० में सीनवंश का तातारियों ने उच्छेद कर दिया और एक प्रबल तातारी साम्राज्य लोयांग में स्थापित हो गया। यह वंश वीई के नाम से प्रख्यात हुआ। इसी वीई वंश के साम्राज्य काल में सुंगयुन और हुईसांग भारतवर्ष में आए थे, जिस समय वे लोयांग से चले उस समय वहाँ एक विधवा रानी का राज्य था। उसके नाम का उल्लेख हमें नहीं मिलता है। केवल इतना मात्र लिखा है कि वीई महावंश की विधवा महारानी ने अपना दूत बनाकर पश्चिम के जनपदों में बौद्ध-धर्म की पुस्तकों की खोज में यात्रा के लिए भेजा था।[२] यह सुंगयुन का लेख नहीं है, वरन् यह चीनी संग्रहकार की प्रस्तावना का वाक्य है जो उसने यात्रा को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थ के आदि में लिखा है। यद्यपि इसमें विशेष रूप से सुंगयुन की ही यात्रा का वर्णन है और उसीके हस्तलिखित पत्रादि संग्रहकार को मिले थे तथा इसी कारण से यात्रा-विवरण सुंगयुन के नाम से अंकित भी किया गया है। इसकी यात्रा का मूल उद्देश्य वहाँ से बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों एवं वहाँ के लोगों के रहन-सहन के चित्रों को लेना ही था।

लूटपाट—कुछ आक्रमणकारियों ने भारत को लूटने के ही उद्देश्य से यात्रा की। ये हूण थे। सुंगयुन ने अपनी यात्रा में इन हूणों का अच्छा विवरण दिया है। इन लोगों के रहन-सहन का भी उसने बहुत स्पष्ट चित्र खींचा है। ये लोग पुष्यमित्र (४५४ ई०) के समय में सबसे पहले भारतवर्ष में मध्य एशिया से आने लगे थे, पर उस समय स्कन्दगुप्त ने गद्दी पर बैठकर उन्हें मारकर भगा दिया था। भारत पर हूणों का यह आक्रमण सन् ४५५ ई० से पूर्व हुआ था, क्योंकि स्कन्दगुप्त सन् ४५५ ई० में सिंहासनासीन हुआ। परन्तु हूणों के प्रभाव को स्कन्दगुप्त न रोक सका। मिस्टर विन्सेंट स्मिथ अपने इतिहास में इस सम्बन्ध में लिखते हैं : "स्कन्दगुप्त ने पहले उन्हें रोका था; पर फिर जब वे विदेशी लगातार सेना लेकर झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे तो वह उन्हें न रोक सका और न कुछ कर सका। वे भारत को लूटने के लिए मध्य एशिया से बराबर आते रहे।"[३] विन्सेंट स्मिथ की यही बात आगे समझ में नहीं आती

१. It is added that their is another larger work giving an account of his travels with a various countries...........If these were ever another and larger account of Fahien's travels than the narrative of which a translation is now given, it has long ceased to be in existence.

—फाहियान—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० १२३

२. सुंगयुन का यात्रा-विवरण—अनु० जगन्मोहन वर्मा—पृ० १४, ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९७७

३. "He (Skandagupta) was unable to continue the successful resistence which he had offered in the earlier days of his rule, and was forced at last to succumb to the repeated attacks of the foreigners, who were, no doubt, constantly recruited by fresh hordes eager for the plunder of India".

—विन्सेन्ट स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया—पृ० ३१७, तृतीय संस्करण

कि सुंगयुन से हूण के राजा से हिरासत में कहाँ सन् ५१९ ई० में हुई इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, पर वह चालीस राज्यों से कर वसूल करता था, इसका ब्यौरा दिया गया है।[1]

व्यापार—प्राथमिक यात्राओं का मूल उद्देश्य व्यापार होता था। व्यापारियों की लम्बी-लम्बी यात्राएं उनके अदम्य साहस और धन-लाभ की तीव्र लालसा का प्रमाण उपस्थित करती हैं।

व्यवसायादि—कुछ यात्रियों का यात्रा-उद्देश्य व्यवसाय करना होता था और कुछ का विभिन्न स्थानों—देशों के उद्योग-धन्धों का निरीक्षण करना। बर्नियर ने भारत आकर यही किया था। उसने भारत आकर मुगलकाल के विभिन्न शिल्पियों एवं कारखानों को भी देखा था। राजकीय कारखानों का निरीक्षण कर उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए उसने लिखा है कि बड़े कारखानों में लम्बे-चौड़े कमरे होते थे। उनमें कहीं बनाई का, कहीं कढ़ाई का और कहीं रँगाई का कार्य होता था। किसी-किसी कारखाने में बारीक रेशमी वस्त्र तैयार किए जाते थे। इसी प्रकार लकड़ी, लोहा, चमड़ा, बर्तन आदि के अलग-अलग कारखाने थे।[2] यात्राओं के उद्देश्यानुसार सड़कों या मार्गों का निर्माण भी होता था। व्यावसायिक एवं सामयिक दृष्टि से की जानेवाली यात्राओं के लिए इन पथों का मूल्य अवश्य ही असाधारण रहा होगा।

युद्ध-यात्रा—इन उद्देश्यों के अतिरिक्त युद्धों के लिए भी यात्राएँ की जाती थीं। यात्रियों के काफिलों के साथ-साथ विभिन्न स्थानों को युद्ध के लिए फौजें भी भेजी जाती थीं। यात्रियों के इन पथों की देखभाल का कार्य एक प्रमुख विभाग के कर्मचारियों पर निर्भर रहता था, जो इसकी सुव्यवस्था को बनाए रखते थे।[3] इन मार्गों के आध-आध[4] कोस पर यात्रियों के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रदर्शक पत्थर (माइल स्टोन) गड़े रहते थे।[5] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी जल और स्थलमार्गीय यात्राओं के उद्देश्य वर्णित किए हैं।[6] इन यात्राओं के उद्देश्य भी धन-लाभ एवं व्यापार ही थे।

मनोरंजन—यात्रा का उद्देश्य कभी-कभी मनोरंजन भी होता था। यद्यपि बारहवीं-तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में युद्धों के लिए ही मूलरूप से यात्राएं होती

---

१. वही—पृ० ३१०
२. ट्रैवेल्स इन दि मुगल एम्पायर—बर्नियर—पृ० २५९
३. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया – स्मिथ—पृ० १४२
४. वही—फुटनोट—पृ० १४२
५. मैगस्थनीज़—XXXIV ३
६. कौटलीय अर्थ-शास्त्र – अधिकरण ७, अध्याय १२, प्रकरण ११६, पृ० २९८ बिबलियोथिका संस्क्रिता में प्रकाशित।

थीं, जिसमें मुसलमान राजा विभिन्न देशों को परास्त करके अपने में मिलाने के लिए यात्राएँ करते थे। काश्मीर आदि की यात्राएँ विशेषकर मनोरंजन के लिए ही की जाती थीं, यहाँ तक कि मनोरंजनार्थ बर्फ मँगाने के लिए भी पर्वतीय यात्राएँ करनी पड़ती थीं। कभी-कभी राजधानियों को बदलने के हेतु यात्राएँ की जाती थीं।

यही परम्परा ब्रिटिश युग की यात्राओं में भी मिलती है। इस युग में भी युद्धों के लिए, व्यापार के लिए, ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए यात्राएँ की जाती रही हैं, जिनमें यात्रा-मार्गों का पूर्ण उपयोग होता रहा है। आज भी यात्राओं का मूल उद्देश्य शिक्षा, ज्ञानार्जन, धर्म-प्रचार, शान्ति-स्थापना, व्यापार एवं मनोरंजन ही है, जिसके लिए केवल जल और स्थल के मार्ग ही नहीं आकाश-मार्ग भी निर्मित हो चुके हैं।

काल-विभाजन

हस्तलिखित ग्रन्थों का युग (१६००-१६६६ वि०)
१. भारतेन्दु-युग (१८५०-१६०० ई०)
२. द्विवेदी-युग (१६००-१६२० ई०)
३. उत्तर द्विवेदी-युग (१६२१-१६५५ ई०)
४. वर्तमान-युग (१६५५ से अब तक)

हस्तलिखित ग्रन्थों का युग[1] (१६००-१६६६ वि०)—रचनाक्रम में हमें सर्वप्रथम कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। १७वीं शताब्दी विक्रमीय के आरम्भ में कुछ ऐसे धार्मिक-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। ये संवत् १६०० से लगभग १६६६ विक्रमी तक के बीच में मिलते हैं। इस काल में प्राप्त इन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर ही हम उस युग का नामकरण तथा तत्कालीन साहित्य का रूप-निर्धारण कर सकेंगे। ग्रन्थों से पता लगता है कि इस युग में यात्राएँ विशेषकर धार्मिक भावना के कारण ही हुआ करती थीं, यद्यपि अन्य विषयों से सम्बन्धित एकाध ग्रन्थ जैसे 'बात दूर देश की' आदि भी मिलते हैं जिसमें गोमठ-यात्रा वर्णित की गई है। शैली की दृष्टि से इस युग की रचनाएँ प्रधानतः पद्य में लिखी गई हैं। गद्य-रचना अधिक नहीं है, जो कुछ है वह चम्पू के प्राधान्य से रचा गया है। वास्तव में चम्पू शैली ही इस युग की प्रमुख शैली है। भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा है। इसके स्वरूप में खड़ीबोली और ब्रजभाषा का मिश्रण ही अधिक है। इस प्रकार इस युग का यात्रा-आधार, मार्मिकता-प्रधान है और ब्रजभाषा ही रचना का माध्यम है। इस युग के उपलब्ध ग्रन्थ ये हैं—

बनयात्रा—सर्वप्रथम हमें संवत् १६०० वि० की रचित विट्ठलजी की 'वनयात्रा' नामक पुस्तक की हस्तलिखित प्रति प्राप्त होती है। इसके लेखक का पता इसकी एक पंक्ति से ही लग जाता है। इसमें लिखा है : "अथ बनयात्रा श्री गुसाईंजी

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—परिशिष्ट

महाराज प्रभु किए सो प्रकार लिखते हैं।[1]" इस वाक्य से हमें यही ज्ञात होता है कि इसके लेखक कोई गुसाईंजी महाराज ही थे। ये गुसाईंजी महाराज कौन थे? कहाँ रहते थे? इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। हाँ, इस ग्रन्थ में धार्मिक भावना की प्रधानता अवश्य दिखाई देती है। इसके प्रमाण के लिए एक उद्धरण ही यथेष्ट होगा—

"रात्रि ही मथुरा को पधारे। नन्द-यशोदा-बलिदाऊ-श्रीकृष्ण को दर्शन करि पाछै ललिताकुण्ड, बनवारी कुण्ड, छछिहारी कुण्ड होइ गोपेश्वर होइ अक्रूर उतरे को स्थल देखि। पाछै ईसरा की परिवारि वैरागी की क्यारी जहाँ उद्धव ज्ञानोपदेश की राहें व्रजभक्तन को सो देखि।[2]

बनयात्रा—दूसरा हस्तलिखित ग्रन्थ 'बनयात्रा' नामक है। इसका रचनाकाल संवत् १६०६ है। इसका रचनाकाल का वाक्य इस प्रकार दिया हुआ है: 'संवत् सोलै सै ना साल रे। भादरवों वदि द्वादशी सार रे॥[3] इसकी लेखिका श्रीमती जीमनजी की माँ (वल्लभ सम्प्रदायी) हैं।

बनयात्रा—इसी संवत् की एक 'बनयात्रा' और भी है। इसमें रचनाकाल के लिए लिखा है: 'संवत् सोल्हे सै नी साल रे। भादरवों वदि द्वादशी सार रे॥[4] इसकी लेखिका भी श्री जीमनजी की माँ (गोकुल निवासी) हैं।

सेठ पद्मसिंह की यात्रा—एक अन्य ग्रन्थ 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' नाम से है। इसके रचनाकाल का अनुमानित संवत् १७०५ के बाद ज्ञात होता है। इस अनुमान का आधार इनकी यात्रा का एक वाक्य ही है, जिसमें लिखा है: "असद्रावादथ की सेठ पद्मसिह यात्रा करणे वास्ते गया तारा तौ बाल संमत १७ स ५ के साल में।"[5] इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

बात दूर देश की—नामक ग्रन्थ का रचनाकाल संवत् १८८६ दिया हुआ है: "इति श्री देस दूर की बात संपुरणम संवत् १८८६ वार बुधवार मीती कातिक वदी २।[6] इसमें जैन तीर्थ-स्थान गोमठ का वर्णन है, परन्तु लेखक के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। यह ग्रन्थ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डोलौजी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के पास वर्तमान है।

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त, 'बनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० १३७—अप्रकाशित

२. वही—पृ० १३६

३. ना० प्र० सभा, काशी—'बनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ नं० ६२१, पृ० १

४. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वाँ त्रैमासिक विवरण सन् १६३५-३७ ई०, पृ० १५३, सम्पादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी सं० २०१२

५. ना० प्र० सभा काशी में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रन्थ "सेठ पद्मसिंह की यात्रा" से उद्धृत—ग्रन्थ संख्या १०७४

६. ना० प्र० सभा काशी की अप्रकाशित हस्तलिखित रिपोर्ट के आधार पर।

बद्री-यात्रा कथा—इस यात्रा-ग्रन्थ का निर्माणकाल संवत् १८८८ वि० है। इसकी लेखिका अयोध्यानरेश बख्तावरसिंह की पत्नी हैं। सभा में सुरक्षित खण्डित प्रति के कारण लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता है। इस सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखा भी है—"बख्तावरसिंह की स्त्री (सुदानि) ये अयोध्यानरेश महाराज बख्तावरसिंह की रानी थीं। इन्होंने संवत् १८८८ में बद्रीनाथ की यात्रा की थी, जिसमें इन्हें तीन मास और एक दिन लगा था, तथा जिसका इन्होंने "बद्री-यात्रा कथा" नामक पुस्तक में पद्य-बद्ध वर्णन किया है।···इसकी प्रस्तुत प्रति खण्डित है जिससे लिपिकाल का कोई पता नहीं चलता।"[1]

बन-यात्रा परिक्रमा—रामसहायदासजी द्वारा लिखित एक हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थ और मिलता है। इसका रचनाकाल संवत् १८९१ दिया हुआ है—"संवत् १८९१ मिति कार्तिक शुक्ल १० शुभ मंगलवासरे। लिखित वैस्मश्व रामसहाय दास।"[2]

ब्रज चौरासी कोस बन-यात्रा—यह ग्रन्थ "बन-यात्रा परिक्रमा" से मिलता-जुलता है। सभा में मायाशंकर याज्ञिक के संग्रह में सुरक्षित है। इसका लिपिकाल संवत् १९०० है। क्योंकि इसमें लिखा है: "इति श्री कामवन के कुण्डन कीर्ति गति समाप्त। मिति आषाढवदिण संवत् १९०० लिषंत मथुराजी रामघाट मध्ये यमुनातटे।"[3]

बद्रीनारायण सुगम-यात्रा—इस ग्रन्थ के रचयिता पं० वाचस्पति शर्मा उप-नाम "चैत" हैं। इसका रचना-काल संवत् १९६६ वि० है, जैसा कि इनके इस श्लोक से ज्ञात होता है—

> **श्री बद्रीनारायणस्याऽथ सुगमांचार्थ विस्तृतां।**
> **यात्रां प्रवक्तु मुत्सेहे खटरसाकेन्द्र १९६६ वैक्रमे॥**[4]

उपर्युक्त हस्तलिखित-ग्रन्थों में "बनयात्रा" (१९०० वि०), सेठ पद्मसिंह की यात्रा एवं "बात दूर देश की" आदि ग्रन्थ केवल गद्य में हैं। बद्री यात्रा-ग्रन्थों में गद्य-पद्य (चम्पू) का मिश्रण मिलता है। यद्यपि (१९०९ वि०) की दोनों बन-यात्राओं एवं "बद्री यात्रा-कथा" में पथ की प्रधानता है और "बनयात्रा परिक्रमा" तथा "ब्रज-चौरासी कोस बनयात्रा" में गद्य की प्रधानता दिखाई देती है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—संपादक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
पृष्ठ ११०-१११, वर्ष ५८, सं० १०१०. अंक (१-२)

२. ना० प्र० सभा काशी से प्राप्त "बनयात्रा परिक्रमा" की हस्तलिखित प्रति के आधार पर—पु० न० ६२०

३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ "ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा", पृ० १

४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित-ग्रन्थ "बद्रीनारायण सुगम यात्रा", पु० न० ६०८।४३३

इन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इस युग में विशेषकर ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। ब्रजभाषा में ही यात्रा-विवरण लिखे जाते थे। इन विवरणों में गद्य-पद्य मिश्रित (चम्पू) शैली की ही प्रधानता थी। साथ ही ये ग्रन्थ प्रधानतः वर्णनात्मक हैं; यद्यपि इनमें लेखक के भावुक हृदय का परिचय भी प्रचुर मात्रा में मिल जाता है। उदाहरणार्थ, यहाँ पर एक संक्षिप्त उदाहरण दिया जा रहा है—

"तहाँ श्री बलदेवजी के मन्दिर हैं तहाँ ताके आगे माधुरी कुण्ड है। तहाँ सरोवर है तहाँ मोर आदिक पक्षी नाना प्रकार के शब्द करत हैं। ताके आगे परासौली ग्राम है। तहाँ चन्द्र सरोवरी है। तहाँ श्री गोकुलनाथजी को मन्दिर है तथा श्री विट्ठलजी को मन्दिर है तथा श्री मदनमोहनजी को मन्दिर है ताके आगे रूंड कुण्ड है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सं० १६०० के लगभग से लेकर सं० १९९६ वि० तक के हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थ हमें इस काल में प्राप्त होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि यात्रा-साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थ इस काल में भी लिखे जाते थे।

१. भारतेन्दु-युग (१८५०-१९०० ई०)—यात्रा-साहित्य के भारतेन्दु-युग की दो विशेषताएँ कही जा सकती हैं। १—रेलवे का आगमन तथा २—भारत में मुद्रण-यन्त्र की स्थापना। प्रथम के द्वारा यात्रा का एक सशक्त साधन उपलब्ध हुआ, दूसरे के द्वारा पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों के प्रकाशन को प्रसार मिला। पश्चिमीय प्रभाव से प्राच्य देशों में भी युग-परिवर्त्तन हुआ और यूरोप में व्यापारिक क्रान्ति ने (१७५०-१८२५) अच्छी सड़कें, नहर, रेल और जहाज़ का आविष्कार किया।[2] इसका वर्णन हेनरी ग्रोट लेविन ने अपनी पुस्तक "ब्रिटिश रेलवे सिस्टम" में किया है।[3] रेल-निर्माण का वर्णन करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेयजी ने लिखा है : "१८४५ में कोर्ट के डाइरेक्टरों का ध्यान भारत में रेल-निर्माण की ओर सर्वप्रथम गया था। उस समय सैनिक तथा शासन-सम्बन्धी समस्याएँ उनके सामने थीं। किन्तु कोर्ट के

१. ब्रज चौरासी कोस बन-यात्रा—ना० प्र० सभा काशी हस्तलिखित ग्रन्थ, पु० न० ३।४६. अप्रकाशित।

२. The Industrial Revolution in England (1750-1825) brought on the scene good roads, canals, the Railways and the steamships.
—Indian Economics, K. P. Jain, page 247.

३. As early as the seventeenth century a species of tramroad came into common use in certain mining districts of this country, where on horses drew wagons of coal, the wheels of which ran on rough wooden logs placed parallel to one another from the mine the Shipping point, and by the aid of this device the load formerly conveyed was more than doubled.
The British Railway System—Henry Grote Lewin, p. 3, London 1914.

इस निर्णय से हिन्दी प्रदेश में रेलों का निर्माण न होकर ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी द्वारा कलकत्ता (हावड़ा) से रानीगंज (१२० मील) तक सबसे पहली रेलवे लाइन बनी; दूसरी ग्रेट इण्डिया पैनिन्सुला रेलवे कम्पनी द्वारा बम्बई से कल्यान तक (३३ मील), और तीसरी मद्रास रेलवे कम्पनी द्वारा मद्रास से अराकान (३९ मील) तक बनी। तत्पश्चात् १८५३ में लार्ड डलहौज़ी ने उनके राजनीतिक, व्यापारिक और सामाजिक लाभ देखकर उन्हें विस्तार देने का विचार किया। १८५९ तक आठ रेलवे कम्पनियाँ बनीं जिनमें से ईस्ट इण्डियन, दि इण्डियन ब्रांच (बाद में अवध एण्ड रुहेलखण्ड रेलवे), दि सिन्ध, पंजाब एण्ड दिल्ली रेलवे (बाद में नार्थ-वेस्टर्न स्टेट रेलवे) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर रेलों से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि आन्दोलनों को काफी बल मिला। दुर्भिक्षों तथा बाढ़ के समय अथवा तीर्थ-यात्रा के लिए जाते समय रेलों के कारण धन, समय, शक्ति आदि सभी बातों में बचत होने लगी।[1] रेलों द्वारा यात्रा सरल हो गई और सभी क्षेत्रों का भ्रमण शुरू हो गया। यातायात का यह प्रमुख साधन बन गई। डॉ० ट्रूमन और मैरिल ने अपनी "ट्रान्सपोर्ट" नामक पुस्तक में उस युग के यातायात एवं व्यापारिक यात्राओं का वर्णन करते हुए लिखा है: "व्यापार का क्षेत्र यातायात के सभी साधनों (प्राचीन और नवीन) और वस्तुओं पर निर्भर है। इसमें हम वायुयान, साइकिल, नाव तथा जानवरों को भी ले सकते हैं।[2] वास्तव में १९वीं सदी के अन्त तक भारत में रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछ गया था। बीसवीं सदी में रेलवे का और अधिक विस्तार हुआ। अब वह समय आ चुका है कि यातायात और यात्रा की दृष्टि से भारत को संसार के उन्नत देशों में गिना जा सकता है। निःसन्देह रेलवे के कारण यात्रा और व्यापार तथा युद्ध-यात्राओं में अत्यधिक सहायता मिली है। इसका वर्णन ब्लैक और वैवर ने अपने ग्रन्थों में देते हुए लिखा है: "रेलों ने युद्ध में बहुत बड़ी सहायता की है। इसके द्वारा युद्ध के सैनिक उनके अस्त्र-शस्त्र तथा भोजन का प्रबन्ध होता था। इनका अमेरिकन सिविल वार में बहुत उपयोग हुआ था।"[3] साइरिल फाल्स ने भी इनका युद्ध-यात्रा की शताब्दी में वर्णन करते हुए लिखा है—"रेलों के प्रादुर्भाव द्वारा ही पनडुब्बी, इंजिन, वायुयान, टेलीग्राफी और टेलीफोनी तथा ऐटम बम के क्षेत्र में प्रगति हुई है।"[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि रेलों के

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, एम० ए०, डी० फ़िल०, डी० लिट०, पृ० १३१-१३२, जून १९५२, इलाहाबाद

२. ट्रान्सपोर्टेशन—डा० ट्रूमन एवं डा० मैरिल जे० रावर्टस्—पृ० १-२ द्वि० स० १९५२ लन्दन

३. रेल रोड्स आव दि कानफीडिरेसी—ब्लैक—पृ० १८२
दि नार्दर्न रेल रोड्स इन दि सिविल वार—वैवर, पृ० १७६

४. ए हन्ड्रेड ईयर्स आफ वार—साइरिल फाल्स, पृ० २, लन्दन—१९९३

आगमन से युद्ध-स्थल में सेना की टुकड़ियों को इकट्ठा करने तथा उनमें गतिशीलता देने का कार्य किया है। आधुनिक यातायात और यात्रा के साधनों में प्रमुख स्थान रेलों एवं मोटरों का ही रहा है। फाल्स ने इसका वर्णन बड़े सुन्दर रूप में किया है। इस वर्णन में रेलवे इंजिन और मोटर पर ही ज़ोर दिया गया है।[१] रेल के आगमन से यात्राएँ—अधिक होने लगीं क्योंकि मानव को सबसे अधिक सहायता इसी द्वारा मिलने लगी। 'रैप' ने इसी बात को "रेलवे यातायात" में कहा है: "रेलों के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि मानव जाति के हित के लिए रेलवे के समान अन्य कोई आविष्कार नहीं हुआ।"[२] मेयर के शब्दों में: "रेलों ने संसार में एक प्रकार का युगान्तर उपस्थित कर दिया है, एक नवीन सृष्टि रच दी है।"[३] रेलवे से सर्वोत्तम लाभ यात्रा की सुगमता का हो जाना है। भारत में यह लाभ देर से उठाया जा सका। विदेशों में रेलवे के कारण यात्रा निःस्सन्देह अत्यन्त सुखकर और सुसाध्य हो गई है। भारत में यह सुख अधिक नहीं मिल पाता है और यात्रा भी कुछ अधिक कष्टसाध्य होती है। इस सम्बन्ध में रामनिवास पौद्दारजी का विचार कुछ और ही है। उनके शब्दों में: "यहाँ की रेलों में यात्रियों की जो दुर्दशा होती है इसको देखकर यही कहना पड़ता है कि यहाँ की रेलों ने यात्रा को सुगम नहीं, किन्तु दुर्गम बना रक्खा है।"[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी में रेल आदि के कारण यात्रा करना सरल हो गया और इसीके फलस्वरूप अधिक यात्राएँ भी की जाने लगीं। अधिक यात्राएँ किए जाने के साथ-ही-साथ यात्रा-साहित्य की भी उन्नति हुई। विभिन्न-यात्रा-प्रेमियों ने अपनी यात्राओं को लिपिबद्ध किया, इस प्रकार हिन्दी यात्रा-साहित्य का आरम्भिक युग पनपा और धीरे-धीरे उन्नति की ओर अग्रसर हुआ।

भारतवर्ष में सबसे पहले २९ जनवरी १७८० ई० को जैम्स आगस्टस हिक्की ने छापाखाना खोलकर 'बंगाल गज़ट' अथवा 'कलकत्ता जेनरल एडवरटाइज़र' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था।"[५] हिन्दी का सर्वप्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई सन् १८२६ ई० को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। यह साप्ताहिक पत्र

---

१. Modern means of transportation, especially the railway engine and the internal combustion motor engine now for the first time taking over some of the functions of the draught horse—and modren means of communications had made it possible to assemble, control, manoeuvere feed and maintain these massess.
—A Hundred Year's of War—Cyril Falls, Page 162.

२. रेलवे ट्रान्सपोर्टेशन—रेप, पृष्ठ १

३. रेलवे लेजिस्लेशन—मेयर, पृष्ठ ३; ८

४. भारत में रेल-पथ—रामनिवास पोद्दार, पृ० २०६, आदर्श प्रेस, आगरा सं० १९८१

५. दि राइज़ एण्ड दि ग्रोथ आफ हिन्दी जरनलिज़्म
—डा० रामरतन भटनागर, पृष्ठ १, इलाहाबाद १९४८

था और प्रति मंगलवार को प्रकाशित होता था।[1] इसी वर्ष से भारत में मुद्रण-कला का कार्य प्रारम्भ हुआ था। व्यवहारिक लोकप्रचलित खड़ीबोली गद्य के प्रचार का सूत्रपात इसी मुद्रण-यंत्र द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। आरम्भिक युगीन गद्य-साहित्य के विभिन्न रूपों में एक रूप हमें यात्रा-साहित्य का भी मिलता है। यद्यपि इस युग में हिन्दी यात्रा-साहित्य का अधिक विकास नहीं हुआ था, फिर भी यात्राओं का वर्णन अधिकांश मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लेखों के रूप में निकलने लगा था। इस समय हिन्दी की विभिन्न शैलियों की समस्या भी सामने आ चुकी थी। इस युग में प्राप्त लेखों में गद्य-शैली की विशेषता उतनी देखने को नहीं मिलती जितनी होनी चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य में वर्णनात्मकता की प्रधानता अवश्य दिखाई देती है। आगरा में सन् १८५३ ई० में प्रकाशित होनेवाले 'बुद्धि प्रकाश'[2] नामक साप्ताहिक समाचार-पत्र में इस युग की एक पैदल यात्रा वर्णित मिलती है। मुन्शी सदासुखलालजी के संपादन में यह पत्र निकलता था। इस पत्र में वर्णित यह यात्रा शिमला से काश्मीर तक के पर्वतों की है। इसका वर्ण्य-विषय पर्वतों का वातावरण ही है। इस वातावरण का वर्णन करते हुए लिखा गया है : "मनुष्य दृष्टि नहीं आते; ऊँचे-ऊँचे पहाड़ आकाश से बातें करते हैं। उनकी ऊँचाई को देख करके करतार का महत्त्व और ईश्वरत्व स्मरण आता है।"[3] इस युग का यात्रा-साहित्य छुटपुट लेखों से ही प्रारम्भ होता है। लेखों के दृष्टिकोण से इस युग के प्रधान लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का विशेष महत्त्व है। इन्होंने यात्रा-सम्बन्धी कई निवन्ध लिखे थे। अपने यात्रा-स्थान की छोटी-से-छोटी बात पर भी उनकी दृष्टि गई और प्रकृति-सौन्दर्य से लेकर रीति-रिवाज और खान-पान, बोल-चाल तक सबका वर्णन उन्होंने अत्यन्त रोचक ढंग से किया है। भारतेन्दुजी प्रायः यात्राएँ किया करते थे और उनसे अनुभव भी बहुत प्राप्त किया था। उन्होंने अपने इन निबन्धों में अपने अनुभव का रोचक वर्णन किया है। यात्रा-सम्बन्धी उनके पाँच निबन्ध ये हैं :—सरयू पार की यात्रा, मेहदावल की यात्रा, लखनऊ की यात्रा, हरिद्वार की यात्रा, वैद्यनाथ की यात्रा। ये निबन्ध १८७१ ई० से १८७९ ई० तक 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित हुए। इन निवन्धों में कई प्रकार की यात्राओं के उदाहरण देख पड़ते हैं। तीर्थ-यात्रा नगरदर्शन आदि का उद्देश्य भी दिखाई पड़ता है और नौका, रेल आदि यात्रा के साधन भी वर्णित हैं। भारतेन्दुजी के अतिरिक्त इस युग के कई अन्य प्रसिद्ध हिन्दी लेखकों ने भी यात्रा-विवरण लिखे। बाकृष्णभट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप'

---

१. आधुनिक पत्र-कला—रा० र० खाडिलकर—पृ० १२, ज्ञानमण्डल, वाराणसी १९५३

२. बुद्धि प्रकाश—३१ अगस्त १८५३, पृ० २९१-९२, सम्पादक मुन्शी सदासुखलाल

३. वही—पृ० २९२

में 'कतिकी का नहान'[1] एवं 'गया यात्रा'[2] और प्रतापनारायण मिश्र ने 'विलायत यात्रा'[3] लिखी। इन लेखों ने अन्य लेखकों को यात्रा-साहित्य लिखने की प्रेरणा दी और यात्रा-सम्बन्धी लेखों की धूम मचना प्रारम्भ हो गई। मुद्रण-कला विकास पर आ ही रही थी, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के अतिरिक्त धीरे-धीरे यात्रा-साहित्य के ग्रन्थों का मुद्रण भी प्रारम्भ हुआ। इस मुद्रित रूप में यात्रा-साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ जो हमें देखने को मिल सका है वह 'लन्दन-यात्रा' नाम से है। इसकी लेखिका हरदेवीजी हैं। इनकी यह पुस्तक औरिएटंल प्रेस, लाहौर से सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुई थी। सन् १८८३ ई० से ही यात्रा-ग्रन्थों की परम्परा का विकास हुआ ज्ञात होता है, जिसके बाद पुस्तकाकार यात्रा-साहित्य प्रकाशित होने लगा। इस युग में यात्रा-साहित्य पर लिखे गए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—'लन्दन का यात्री (१८८४) भगवानदास वर्मा, मेरी पूर्वादिग्यात्रा (१८८५) पं० दामोदरशास्त्री, मेरी दक्षिणदिग्यात्रा (१८८६) पं० दामोदरशास्त्री, व्रजविनोद (१८८८) तोताराम वर्मा, केदारनाथ-यात्रा (१८९०) लाला कल्यानचन्द्र, विलायत की यात्रा (१८९२), अज्ञात लेखक, रामेश्वर यात्रा (१८९३) देवीप्रसाद खत्री, व्रज-यात्रा (१८९४) पं० विष्णु मिश्र।

उक्त ग्रन्थों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि इस भारतेन्दु-युग में विभिन्न प्रकार की यात्राएँ होती रहती थीं। इन पचास (१८५०-१९००) वर्षों में हिन्दी यात्रा-साहित्य अत्यधिक पनपा और इसका विशाल भण्डार भरने लगा। इस साहित्य का हम दो रूपों में वर्गीकरण कर सकते हैं। प्रथम—विदेश-यात्रा और द्वितीय स्वदेश-यात्रा। इस विभाजन के अनुसार हम यह देखते हैं कि विदेश यात्रा में लन्दन की यात्रा ही अधिक वर्णित है और स्वदेश यात्रा में तीर्थों का प्राधान्य है। इस युग ने दो प्रमुख लेखकों को जन्म दिया। इन लेखकों में पं० दामोदर शास्त्री, बाबू देवीप्रसाद खत्री का नाम उल्लेखनीय है। इस युग द्वारा यात्रा-साहित्य को एक नवीन दिशा मिली, यही इस युग की प्रधान विशेषता है।

२. **द्विवेदी-युग (१९००-१९२० ई०)**—द्विवेदी-युग का आगमन 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म के साथ-साथ हुआ। इस समय की साहित्यिक पत्रिकाओं में सरस्वती, मर्यादा, चित्रमय जगत्, लक्ष्मी, इन्दु इत्यादि का नाम प्रमुख है। हिन्दी साहित्य के मध्य-युग के पूर्व यद्यपि यत्र-तत्र बिखरे रूप में ही हिन्दी के गद्य के दर्शन होते हैं

---

१. हिन्दी प्रदीप—मार्च, १८९४
२. वही—नवम्बर १८९७
   नोट :—ये निबन्ध अब 'भट्ट-निबन्धावली' भाग १, २ में संग्रहीत हैं—सम्पादक धनञ्जय भट्ट ना० प्र० सभा काशी सं० २००४
३. निबन्ध नवनीत—प्रतापनारायण मिश्र—भाग १, प्र० सं० १९११, पृ० ११२-१५ अभ्युदय प्रेस, प्रयाग

परन्तु हिन्दी गद्य का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। इसके पहले न तो गद्य का कोई सुधार निश्चित रूप ही मिलता है और न महत्त्वपूर्ण रचनाओं की परम्परा ही, साथ ही इसके पूर्व गद्य की आवश्यकता और महत्ता भी पूर्व सिद्ध नहीं हो गई थी। भारतेन्दु-युग में अनेक कारणों से हिन्दी-पद्य अपने विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ। इसका प्रथम कारण तो पत्र-पत्रिकाओं का प्रारम्भ और प्रवर्त्तन है। पत्र-पत्रिकाओं के विचार से विषयों का प्रतिपादन गद्य के माध्यम से हुआ। इस युग के गद्य में विविध रूपों के साथ ही यात्रा-सम्बन्धी लेखों का बहुत महत्त्व है। यद्यपि इसमें शैली की विशेषता नहीं मिलती जितनी वर्ण्य-विषय की। हिन्दी जगत् के पाठकों का मनोरंजन, हिन्दी के विविध अंगों का पोषण परिवर्द्धन और कवियों तथा लेखकों को प्रोत्साहित करने की भावना से प्रेरित और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित "सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका" सरस्वती का प्रकाशन सन् १९०० ई० से प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में पत्रिका का कलेवर १६ से २१ पृष्ठों तक ही सीमित रहा, परन्तु सरस्वती के उस प्रथम अंक से ही यात्रा-साहित्य के रूप में "काश्मीर-यात्रा" प्रकाशित हुई। यद्यपि आरम्भिक अव्यवस्था के कारण विषय-सूची भी अव्यवस्थित थी और लेखों के आरम्भ या अंत में कहीं भी लेखकों का नाम नहीं दिया गया। इससे स्पष्ट हो जाता है डॉ० श्यामसुन्दर दास ने यात्रा-सम्बन्धी लेखों को कितना महत्त्व उस समय दिया था। सन् १९०३ ई० से पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी सरस्वती को सम्पादक हुए। वे स्वयं भी भ्रमण-सम्बन्धी कुछ भौगोलिक लेख लिखा करते थे।

द्विवेदी-युग में अर्थात् १९०० के बाद निबन्ध-साहित्य का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ। इस युग के निबन्धों में एक विशेष रोचकता है। अधिकांश निबन्ध आत्मानुभव की अभिव्यक्ति के रूप में हैं। उसमें वस्तु या वर्ण्य-विषय के प्रति लेखक का अपना निजी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। इसी विशेषता के कारण हम यह देखते हैं कि निबन्धकार का व्यक्तित्व उसके निबन्धों के भीतर झाँकता हुआ दिखलाई देता है। द्विवेदी-युग में जिन विषयों पर अधिक लिखा गया उनमें यात्रा-भ्रमण भी है। इस युग के निबन्ध-साहित्य के भीतर हम विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और कथात्मक सभी प्रकार के निबन्ध पाते हैं। स्वयं द्विवेदीजी इस बात का ध्यान रखते थे कि उनकी सरस्वती पत्रिका में विविधों विषयों पर लेख निकल सकें। उन्होंने "व्योम विहरण"[१], "उत्तरी ध्रुव की यात्रा"[२], "दक्षिणी ध्रुव की यात्रा"[३] तीन ऐसे निबन्ध लिखे भी थे। इन यात्रा-सम्बन्धी निबन्धों में प्रायः दूसरों की कथा ही वर्णित है। इस युग की पत्रिकाओं के कुछ प्रमुख लेखों का यहाँ पर उल्लेख किया

---

१. सरस्वती १९०५ ई०, पृ० ३१५, ३४०

२. वही - १९०७ ई०, पृ० ७४

३. वही—१९०९ ई०, पृ० २६५

जाता है : "अपने राम की मसूरी शैला यात्रा[१], मारिशस यात्रा[२], विलायत की सैर[३], दक्षिणी ध्रुव की यात्रा[४], देहरादून-शिमला यात्रा[५], विलायत समुद्र यात्रा[६], काश्मीर समीर[७], युद्धक्षेत्र की सैर[८], रेलयात्रा[९], एक जर्मन का भारत-भ्रमण[१०], हमारी यात्रा[११], जमुना दर्शन[१२], जापान की सैर[१३], मेरी तीर्थयात्रा[१४], रामेश्वर यात्रा-वर्णन[१५], हमारी दक्षिण भारत की यात्रा[१६] इत्यादि। इस प्रकार इस कार्य में द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित सरस्वती तथा तत्कालीन उपर्युक्त पत्रिकाओं का बड़ा हाथ रहा।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलनेवाले लेखों के अतिरिक्त इस युग में यात्रा-साहित्य पर अनेकों सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ भी प्रकाश में आए। इन ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है—

दुनियाँ की सैर (१९०१) अज्ञात लेखक, बदरिकाश्रम यात्रा (१९०२) बाबू देवीप्रसाद खत्री, हमारी एडवर्ड तिलक विलायत यात्रा (१९०३) ठाकुर गदाधरसिंह, भारत-भ्रमण ५—भाग (१९०३) साधुचरण प्रसाद, पंजाब यात्रा (१९०७) पं० रामशंकर व्यास, अमेरिका दिग्दर्शन (१९११) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, द्वारिकानाथ यात्रा (१९१२) धनपतिलाल, पृथिवी प्रदक्षिणा (१९१४) शिवप्रसाद गुप्त, मेरी कैलाश यात्रा (१९१५) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, अमेरिका भ्रमण (१९१६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, लंका यात्रा का विवरण (१९१६) गोपालराम गहमरी।

---

१. चित्रमय जगत—अपने राम—सितम्बर १९११, पृ० १३७-४२
२. मर्यादा—स्वामी मंगलानन्द पुरी—जुलाई १९१२ भाग ४ अंक ३
३. चित्रमयजगत—ग० स० मराठे—फरवरी—मार्च १९१३—पृ० ६६-६८
४. इन्दु—लालनारायण सिंह—मार्च १९१३, पृ० २२१-२३२
५. मर्यादा—श्रीधर पाठक—जून-जुलाई-अगस्त सितम्बर १९१३
६. वही—लक्ष्मीशंकर मिश्र—जुलाई १९१४, पृ० १६१-६९
७. वही—हरिहरस्वरूप शर्मा शास्त्री—अक्तूबर १९१४, पृ० २७५-८५
८. गृहलक्ष्मी—श्रीमती उमा नेहरू—१९१४, पृ० ६४४-४८
९. वही—कृष्णमुरारी लाल—१९१४, पृ० ९४-१०१
१०. चित्रमयजगत—भारतीय—एप्रिल १९१५, पृ० १०१-१०३
११. इन्दु—लोचनप्रसाद पांडेय—सितम्बर १९१५, पृ० २३०-३६
१२. मर्यादा—ग्रामीण—जुलाई १९१६, पृ० १७-१८
१३. वही—अज्ञात—अगस्त १९१७, पृ० ९९१-९७
१४. चित्रमयजगत—गोविन्द हरि फड़के—जून से सितम्बर तक—१९१८ ई०
१५. वही—बालकृष्ण श्रीधर कोल्हटकर—मार्च १९१९, पृ० १०२-१०५
१६. वही—बाबा सा० पंत—जून एवं जुलाई १९२०

इन ग्रन्थों की नाम-सूची से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग में यात्राओं का रचनाक्षेत्र पर्याप्त रूप में व्यापक हो चला था। इन वर्षों में यात्रा-साहित्य प्रारम्भिक युग की अपेक्षा बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ और इसकी ओर श्रेष्ठ साहित्यिकों की दृष्टि भी गई। इस युग में स्वदेश यात्राएं (वदरिकाश्रम, द्वारिकाश्रम, कैलाश यात्रा आदि) लेखकों का विषय इतना नहीं बनीं, पर विदेश यात्राओं (चीन, अमेरिका, लंका, इंग्लैण्ड आदि) पर मुख्यतः अधिक पुस्तकें लिखी गई। स्वदेश यात्राओं के विषय इस युग में भी धार्मिक स्थानों से अधिक सम्बन्धित रहे।

इस युग के यात्रा-सम्बन्धी लेखकों में प्रमुख रूप से बाबू देवीप्रसाद खत्री, ठाकुर गदाधरसिंह, साधुचरण प्रसाद, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक एवं शिवप्रसाद गुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इन लेखकों के ग्रन्थों में भी वर्णनात्मकता ही प्रमुख विशेषता है, साथ ही शैली भी बड़ी अलंकृत है। इस युग के लेखकों ने मौलिकता की दृष्टि से सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में तथा ग्रन्थों में यात्रा की स्वतन्त्र उद्-भावनाओं को भी स्थान दिया है। यद्यपि इस युग में बहुत अधिक हिन्दी यात्रा-साहित्य उपलब्ध नहीं हो सका; फिर भी उद्देश्य, रीति और शैली की दृष्टि से उपयोगी और साहित्यिक रचना के साथ ही अपने तथा परिवर्ती युग के यात्रा-साहित्य की आदर्श भूमिका अवश्य प्रस्तुत हो गई। हिन्दी यात्रा-साहित्य को इस युग की यही देन है।

३. उत्तर द्विवेदी-युग (१९२१-१९५५ ई०)—उत्तर द्विवेदी-युग को यात्रा की दृष्टि से अगर वायुयान-युग कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि इस युग में यात्राएँ—विशेषकर वायुयानों द्वारा ही होती रही हैं। अमेरिका के ओहियो प्रान्त के निवासी राइट-बन्धुओं ने १७ दिसम्बर १९०३ ई० में हवाई जहाज तैयार किया था।[१] इसके बाद से ही वायुयानों का चलन प्रारम्भ हुआ। साथ-ही-साथ इनका विभिन्न कार्यों में उपयोग भी होने लगा। धीरे-धीरे यही वायुयान युद्धों में सहायक सिद्ध हुए और लम्बी-लम्बी यात्राएँ भी इसीके द्वारा होने लगीं। युद्ध में वायुयान का उपयोग किस प्रकार हुआ इसका वर्णन साइरिल फाल्स ने अपने ग्रन्थ में दिया है।[२] आधुनिक युग में सर्वप्रथम वायुयानों का प्रयोग प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८ ई०) में प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में वायुयानों के कारण यातायात की सबसे बड़ी कठिनाई सरल हो गई जिसके द्वारा युद्ध में सेनाएँ आक्रमणकारी गोला-बारूद, सैकड़ों मील

१. हिन्दी विश्वभारती (भाग २), भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव—पृ० १००६-८, संवत् १९९६ वि०

२. The German acquired the first, a monoplane with a machine-gun—Air Crafts were used at sea, but though they could take of from the deck of a ship, they could not land on it and had to come down beside it in the Water Sea planes were used with success in the Gallipot Campaign.

—A Hundred Years of War—Cyril Falls, page 183, London 1953.

दूर से कुछ घण्टों में आने जाने लगा। बम-वर्षा इन विमानों का प्रमुख काम था। इस काल में १९१८ ई० के बाद जब युद्ध शान्त हुआ तब इन वायुयानों द्वारा यात्रा का कार्य भी प्रारम्भ हुआ। विलायत से वायुयान द्वारा भारत लौटनेवालों में श्रीधर्मचन्द सरावगी प्रथम भारतीय हैं। साथ-ही-साथ हिन्दी-साहित्य के सुलेखक भी।[1] आपने अपनी यात्रा को "यूरोप में सात मास" नाम से सन् १९३६ ई० में प्रकाशित कराया था।

प्रारम्भ में वायुयान द्वारा देश-विदेश का भ्रमण कुछ ही व्यक्ति कर पाते थे। इन व्यक्तियों में केवल धनिकों नाम ही अग्रगण्य था। कुछ व्यक्ति जीवन-मृत्यु के भय के कारण विमानों पर यात्रा नहीं करते थे। परन्तु क्रमशः वायुयान-यात्रा में प्राणभय कम हो गया और लोग इस यात्रा-साधन को अपनाने लगे। विदेश-यात्रा सरल हो गई। लोग हजारों मील की यात्राएँ वायुयान द्वारा करने लगे। एक नये युग का सूत्रपात हुआ। यात्राओं की अधिकता के कारण लेखकों की वृद्धि हुई। हिन्दी का यात्रा-साहित्य प्रचुर हुआ ; नवीन यात्रा-साहित्य लिखा जाने लगा। इस प्रकार आधुनिक गद्य-शैली के माध्यम से यात्रा-सम्बन्धी बहुत-से ग्रन्थ प्रकाश में आए। सन् १९४१ से १९४५ ई० तक द्वितीय महायुद्ध की आग धधकती रही। इस भीषण युद्ध के पश्चात् वायुयान द्वारा यात्रा एक साधारण-सी बात हो गई और प्रायः स्वदेश और विदेश की वायुयान द्वारा यात्राएँ होने लगीं। इन यात्राओं के फलस्वरूप हिन्दी यात्रा-साहित्य की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई। इस काल में यात्रा-साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए हिन्दी की सरस्वती, चित्रमयजगत्, विश्वमित्र, माधुरी, विशालभारत, वीणा, सुधा, चाँद, नया समाज एवं मधुकर आदि सभी प्रमुख पत्रिकाओं का सहयोग रहा है। इन पत्रिकाओं में यात्राओं पर विभिन्न लेख लिखे गए हैं। वास्तव में यह युग यात्रा-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इस युग के ग्रन्थों के नाम और उनका रचनाकाल निम्नलिखित है—

हमारी विलायत यात्रा (१९२६) केदाररूप राय, लन्दन पेरिस की सैर (१९२६) वेणी शुक्ल, मेरी जर्मन यात्रा (१९२६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, रूस की सैर (१९२६) पं० जवाहरलाल नेहरू, श्याम देश-यात्रा (१९२७) महता जेमिनी, अफ्रीका यात्रा (१९२८) स्वामी मंगलानन्द पुरी, हमारी जापान यात्रा (१९३१) पं० कन्हैयालाल मिश्र, विदेश की बात (१९३२) कृपानाथ मिश्र, मेरी यूरोप-यात्रा (१९३२) गणेशनारायण सोमाणी, यूरोप यात्रा में छः मास (१९३२) पं० रामनारायण मिश्र, तिब्बत में सवा बरस (१९३३) राहुल सांकृत्यायन, मेरी दक्षिण भारत यात्रा (१९३४) हरिकृष्ण झाझड़िया, दक्षिण भारत की यात्रा (१९३५) सत्येन्द्र नारायण, मेरी यूरोप यात्रा (१९३५) राहुल सांकृत्यायन, यूरोप में सात मास (१९३६) धर्मचन्द सरावगी, यात्रीमित्र (१९३६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक,

१. सरस्वती—जुलाई १९३३

उत्तराखण्ड के पथ पर (१९३६) प्रो० मनोरंजन, यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, स्वतन्त्रता की खोज में (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७) राहुल सांकृत्यायन, कैलाश पथ पर (१९३७) रामशरण विद्यार्थी, यूरोप के झकोरे में (१९३८) डॉ० सत्यनारायण, मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९) राहुल सांस्कृत्यायन, रोमांचक रूस में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, युद्ध-यात्रा (१९४०) डॉ० सत्यनारायण, कैलाश दर्शन (१९४०) शिवनन्दन सहाय, ईराक की यात्रा (१९४०) कन्हैयालाल मिश्र, काश्मीर (१९४०) श्रीगोपाल नेवटिया, स्वदेश-विदेश यात्रा (१९४०) संताराम, इंग्लैण्ड यात्रा (१९४१) रामचन्द्र शर्मा, सागर प्रवास (१९४१) पं० सूर्यनारायण व्यास, दुनियाँ की सैर (१९४१) योगेन्द्रनाथ सिन्हा, मेरी काश्मीर यात्रा (१९४१) देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', यूरोप के पत्र (१९४२) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, कैलाश मानसरोवर (१९४३) स्वामी प्रणवानन्द, विकट यात्रा (१९४३) रामचन्द्र वर्मा, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१९४३) लक्ष्मीनारायण टंडन प्रेमी', काश्मीर और सीमाप्रान्त (१९४४) कृष्णवंश सिंह बाघेल, संयुक्तप्रान्त के तीर्थस्थान (१९४४) लक्ष्मीनारायण टंडन, कैलाश दर्शन (१९४६) स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, मेरी जीवन यात्रा (१९४६) राहुल सांकृत्यायन, भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान (१८४६) चक्रधर 'हंस', विश्वयात्री (१९४७) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, किन्नर देश में (१९४८) राहुल सांकृ-त्यायन, राहुल यात्रावली (१९४९) राहुल सांकृत्यायन, दार्जलिंग परिचय (१९५०) राहुल, प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान (१९५०) लक्ष्मीनारायण टंडन, काश्मीर की सैर (१९५०) सत्यवती मल्लिक, दिल्ली से मास्को (१९५१) महेशप्रसाद श्रीवास्तव, देश-विदेश (१९५२) नवलकिशोर अग्रवाल, सत्यलोक (१९५२) स्वामी सत्यभक्त, पैरों में पंख बाँधकर (१९५२) श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी', वो दुनियाँ (१९५२) डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, यात्रा के पन्ने (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, माओ के देश में (१९५२) रामआसरे, रूस में २५ मास (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१९५३) राहुल सांकृत्यायन, लाल चीन (१९५३) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) यशपाल, अरे यायावर रहेगा याद (१९५३) अज्ञेय, आँखोंदेखा रूस (१९५३) पं० जवाहरलाल नेहरू, तिब्बत में २३ दिन (१९५३) कृष्णवंश सिंह बाघेल, खोज की पगडंडियाँ, खण्डहरों का वैभव (१९५३) डॉ० मुनिकान्त सागर, आखिरी चट्टान तक (१९५३) मोहन राकेश; शिवालिक की घाटियों में (१९५३) श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, उड़ते चलो, उड़ते चलो (१९५४) श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी', हिमालय के कुछ स्थान (१९५४) कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृथ्वी-परिक्रमा (१९५४) सेठ गोविन्ददास, बदलते दृश्य (१९५४) राजवल्लभ ओझा, हिमालय की गोद में (१९५४) महावीरप्रसाद पोद्दार, कलकत्ता से पेकिंग (१९५५) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, जय अमरनाथ (१९५५) यशपाल जैन,

लद्दाख यात्रा की डायरी (१९५५) कर्नल सज्जनसिंह, मेरी अफ्रीका यात्रा (१९५५) स्वामी सत्यभक्त, अनजाने देशों में (१९५५) विमला कपूर।

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह सिद्ध होता है कि इस युग में अत्यधिक यात्रा-साहित्य-लेखन की गति और भी तीव्र हुई। इस काल में कुछ तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण यात्रा-लेखक रहे हैं, जिन्होंने इस साहित्य में एक प्रमुख स्थान प्राप्त किया। इन प्रमुख लेखकों के नाम निम्नलिखित हैं :—

पं० रामनारायण मिश्र (जन्मकाल सन् १८७६ ई०), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (जन्मकाल सन् १८८३ ई०), डॉ० सत्यनारायण (जन्मकाल १९१० ई०)।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त और भी बहुत से लेखक हैं, जिनका यात्रा-साहित्य की बहुमुखी उन्नति में महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा है। रचनाकाल-क्रमानुसार आगे हम इन लेखकों का नाम दे रहे हैं। केदाररूप राय (रचनाकाल १९२६ ई०), वेणीशुक्ल (रचनाकाल १९२६), पं० जवाहरलाल नेहरू (रचनाकाल १९२६-१९५३), महता जेमिनी (रचनाकाल १९२७), स्वामी मंगलानन्द पुरी (रचनाकाल १९२८), पं० कन्हैयालाल मिश्र (रचनाकाल १९३१), कृपानाथ मिश्र (रचनाकाल १९३२), गणेशनारायण सोमाणी (रचनाकाल १९३२), हरिकृष्ण झाझड़िया (रचनाकाल १९३४), सत्येन्द्रनारायण (रचनाकाल १९३५), प्रो० मनोरंजन (रचनाकाल १९३६), रामशरण विद्यार्थी (रचनाकाल १९३७), डॉ० सत्यनारायण (रचनाकाल १९३८), शिवनन्दन सहाय (रचनाकाल १९४०), श्री गोपाल नेवटिया (रचनाकाल १९४०), सन्तराम (रचनाकाल १९४०), रामचन्द्र शर्मा (रचनाकाल १९४१), पं० सूर्यनारायण व्यास (रचनाकाल १९४१), योगेन्द्रनाथ सिन्हा (रचनाकाल १९४१), देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' (रचनाकाल १९४१), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (रचनाकाल १९४२) कृष्णवंश सिंह बाघेल (रचनाकाल १९४४-१९५४), लक्ष्मीनारायण टंडन (रचनाकाल १९४३-४४), स्वामी प्रणवानन्द (रचनाकाल १९४३), रामचन्द्र वर्मा (रचनाकाल १९४३), स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी (रचनाकाल १९४६), चक्रधर 'हंस' (रचनाकाल १९४६), डॉ० भगवतशरण उपाध्याय (रचनाकाल १९४७-५५), सत्यवती मल्लिक (रचनाकाल १९५०), महेशप्रसाद श्रीवास्तव (रचनाकाल १९५१), नवलकिशोर अग्रवाल (रचनाकाल १९५२), स्वामी सत्यभक्त (रचनाकाल १९५२-५५), रामआसरे (रचनाकाल १९५२), श्रीरामवृक्ष 'बेनीपुरी' (रचनाकाल १९५२-५४), यशपाल (रचनाकाल १९५३-५६) सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' (रचनाकाल १९५३), डॉ० मुनिकान्त सागर (रचनाकाल १९५३), मोहन राकेश (रचनाकाल १९५३), श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार (रचनाकाल १९५३), राजवल्लभ ओझा (रचनाकाल १९५४), महावीरप्रसाद पोद्दार (रचनाकाल १९५४), यशपाल जैन (रचना-

काल १९५५-५८), कर्नल सज्जनसिंह (रचनाकाल १९५५), विमला कपूर (रचनाकाल १९५५)।

हमने इन लेखकों के नाम कालक्रमानुसार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि इनका महत्त्व इनके रचना-परिमाण और भावाभिव्यंजना की श्रेष्ठता पर आधारित है। आधुनिक युग में यात्रा-साहित्य ने साहित्यिक दृष्टि से भी परिपूर्णता प्राप्त की है। तात्पर्य यह कि इस युग में यात्रा-साहित्य का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है।

भारत के इस नवजागरण में वायुयान के द्वारा बहुत-सी यात्राएँ हुई हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य की जो प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध के बाद प्रारम्भ हुई थी, वह अब तक भी पूर्ण वेग के साथ जारी है। इस युग के लेखकों ने विदेश-यात्राएँ ही अधिक लिखी हैं, अपेक्षाकृत स्वदेश यात्राओं के। यूं स्वदेश के विभिन्न पर्वतीय एवं चट्टानी स्थानों की भी यात्राएँ की गई हैं। इन विदेश-यात्राओं के अधिक लिखे जाने का प्रमुख कारण वायुयान एवं नवयुग का आगमन ही है। इस युग में वायुयान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री-भावना का भी विकास हुआ है और इस कारण से विभिन्न देशों के सांस्कृतिक मण्डलों का आवागमन आरम्भ हो गया। विश्वविद्यालयों के छात्र तथा अध्यापक वायुयान की सहायता से अपने कार्य में अधिक सफलता तथा पूर्णता प्राप्त करने लगे। समय तथा दूरी का अतिक्रमण करके वायुयान ने मनुष्य के लिए सामान्य रूप से यात्रा सुलभ कर दी। विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भी यात्राएँ होने लगी हैं। इस युग की यात्राओं का स्तर मध्ययुग से बहुत ऊँचा है। इस काल में विभिन्न स्थानों जैसे लन्दन, पेरिस, रूस, अफ्रीका, स्याम, जापान, तिब्बत, ईराक़ तथा अनेक अनजाने देशों की यात्राएँ की गईं। साथ-ही-साथ स्वदेश की यात्राओं में उत्तराखण्ड, दक्षिणभारत, कैलाश, लद्दाख, काश्मीर, दार्जलिंग आदि स्थानों की यात्राएं की गईं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस युग में यात्रा-साहित्य की बहुत वृद्धि हुई। इस वृद्धि के साथ ही लेखकों को इस साहित्य की रचना की प्रेरणा मिली। साथ ही इस युग में विभिन्न विषयों का वर्गीकरण हुआ और रचनाओं का विस्तार भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

४. **वर्त्तमान युग (१९५५ ई० से अब तक)**—वर्त्तमान युग का प्रारम्भ हमने सन् १९५५ ई० से माना है। इस युग में राकेट का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है, जिसके द्वारा कुछ ही घण्टों में मानव चन्द्रलोक और मंगललोक की यात्रा कर सकता है। इस प्रकार की यात्राओं के लिए प्रयोग हो रहे हैं यद्यपि इन पर साहित्यिक दृष्टिकोण-विशेष से अभी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। हाँ, इस विषय से सम्बन्धित अनेक काल्पनिक और वैज्ञानिक लेख अवश्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और

इस युग के साहित्य को एक नवीन क्षेत्र प्रदान कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त इस युग में की गई विभिन्न यात्राओं को लिपिवद्ध करके नवीन यात्रा-ग्रन्थों का रूप तो दिया ही जा रहा है। इस प्रकार के यात्रा-सम्बन्धी लेख आज और भी अधिक प्रगतिशीलता के साथ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकल रहे हैं। इन प्रमुख पत्रों में वाराणसी से प्रकाशित होनेवाले दैनिक 'आज' का और दिल्ली से प्रकाशित होने वाले हिन्दी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का नाम उल्लेखनीय है। वम्वई के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में भी इस प्रकार के लेख निकले हैं। 'सरस्वती' और 'विशाल भारत' नामक प्रसिद्ध पत्रिकाओं में तो प्रारम्भ से ही इस प्रकार के लेख निकलते रहे हैं और आज भी निकल रहे हैं। इधर इस युग में यात्रा-सम्वन्धी कुछ लेखों का 'आकाशवाणी प्रसारिका' (त्रैमासिक पत्रिका) में भी प्रकाशन हुआ है। ये यात्रा-विवरण आकाशवाणी केन्द्र दिल्ली एवं इलाहाबाद आदि से प्रसारित हुए थे। इस युग के यात्रा-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

राहबीती (१९५६) यशपाल, भारत में बुलगानिन (१९५६) गोविन्दसिंह, ज्ञान की खोज में (१९५७) डॉ० जगदीशशरण शर्मा, देश-विदेश (१९५७) रामधारीसिंह 'दिनकर', लन्दन से लन्दन (१९५७) व्रजकिशोर 'नारायण', हालैण्ड में २५ दिन (१९५७) रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, बदलते रूस में (१९५८) रा० र० खाडिलकर, जापान की सैर (१९५८) रामकृष्ण बजाज, उत्तराखण्ड के पथ पर (१९५८) यशपाल जैन, आँखों-देखा यूरोप (१९५८) भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', पार उतरि कहँ जइहौ (१९५८) प्रभाकर द्विवेदी।

उपर्युक्त यात्रा-सम्वन्धी ग्रन्थों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि आज यात्रा-साहित्य की ओर लेखक विशेष ध्यान दे रहे हैं और इस प्रकार का साहित्य अधिक लिखा जा रहा है। इस युग में लन्दन, हालैण्ड, जापान, रूस तथा अमेरिका की विदेश-यात्राएँ वर्णित हैं, स्वदेश यात्राओं में केवल उत्तराखण्ड का ही नाम आता है। इस युग में रचना-परिमाण एवं भावाभिव्यंजना की श्रेष्ठता पर बल नहीं दिया जा रहा है, यद्यपि कुछ पुराने प्रतिष्ठित लेखक भी यात्रा-सम्बन्धी साहित्य रचते जा रहे हैं तथापि नवीन लेखक उस सहृदयता और भावुकता का सहारा लेकर नहीं लिखते हैं जिसका उपयोग आरम्भिक और मध्ययुग के लेखक करते रहे हैं। भाषा-सौष्ठव की ओर भी अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है; फिर भी इस युग में यात्रा-साहित्य ने सभी प्रमुख पत्रिकाओं, साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों तथा आकाशवाणी आदि में स्थान पा लिया है। इस प्रकार यह साहित्य दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा है और लेखक साहित्य के इस अंग की पूर्ति भी कर रहे हैं। इस युग के लेखकों का नाम हम रचनाकाल-क्रमानुसार आगे दे रहे हैं—

यशपाल (रचनाकाल १९५३-५६), गोविन्दसिंह (रचनाकाल १९५६), डॉ० जगदीशशरण शर्मा (रचनाकाल १९५७), दिनकर (रचनाकाल १९५७), व्रजकिशोर 'नारायण' (रचनाकाल १९५७), रा० र० खाडिलकर (रचनाकाल

१९५७-५८), रामकृष्ण बजाज (रचनाकाल १९५८), यशपाल जैन (रचनाकाल १९५८), भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन' (रचनाकाल १९५८), प्रभाकर द्विवेदी (रचनाकाल १९५८)।

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस युग के साहित्य में वैज्ञानिकता एवं बुद्धिवाद का पूर्ण विश्लेषण किया गया है, जो कि इस युग की महत्त्वपूर्ण देन है। साहित्य की ओर लेखकों की दृष्टि विशेषतया बौद्धिक ही है। राकेट की चमत्कारपूर्ण यात्रा की सम्भावना और वायुयान की नित्यप्रति की सरल यात्राओं ने इस युग के यात्रा-साहित्य को अत्यन्त रोमांचक बना दिया है। काल्पनिकता तथा औपन्यासिकता का भी समावेश उसमें हो गया है। इससे हिन्दी का यात्रा-साहित्य दिन-पर-दिन प्रगतिशील हो रहा है। साहित्यिकों की अनुकूल दृष्टि होने के कारण यात्रा-साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी के यात्रा-साहित्य का वर्गीकरण

सम्पूर्ण हिन्दी यात्रा-साहित्य पर दृष्टिपात करते हुए हम उसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजन कर सकते हैं। प्रथम वर्ग यात्रा के साधनों से सम्बद्ध है और दूसरा उसमें वर्णित विषय से। साधनों के अन्तर्गत यात्रा-यातायात-साधन लिए जा सकते हैं तथा विषय के अन्तर्गत विभिन्न यात्रियों तथा यात्रा-उद्देश्यों को लिया जा सकता है।

१. यात्रा-मार्ग तथा यातायात-साधन
२. विषयानुसार यात्रा-साहित्य

इन दो रूपों के अन्तर्गत हम विभिन्न प्रकार की यात्राओं को रख सकते हैं।

१. यात्रा-मार्ग तथा यातायात-साधन

(i) स्थलमार्ग की यात्राएँ
(ii) जलमार्ग की यात्राएँ
(iii) आकाशमार्ग की यात्राएँ

२. विषयानुसार यात्रा-साहित्य

१. पशु-पक्षियों की यात्राएँ
२. धार्मिक यात्राएँ
३. शिकारियों की यात्राएँ
४. सांस्कृतिक यात्राएँ
५. साहित्यिक यात्राएँ
६. ऐतिहासिक यात्राएँ
७. भौगोलिक यात्राएँ
८. राजनैतिक यात्राएँ

स्थलमार्ग तथा यातायात—थल की यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो स्थलमार्ग पर भ्रमण हेतु की गई हों। भारत में इस प्रकार की यात्राएँ बहुत प्राचीनकाल से होती रही हैं। इस प्रकार की यात्राओं में विभिन्न साधनों से की गई यात्राएँ सम्मिलित हैं। मार्गों के स्वरूप के क्रमिक विकास के साथ-साथ इस प्रकार की यात्राएँ और भी अधिक होने लगीं। आज यात्राओं में इतनी

अधिक असुविधाएँ नहीं होती हैं क्योंकि यातायात साधनों में रेल, मोटर, वायुयान आदि विभिन्न प्रकारों का प्रयोग होता है। इन्हीं कारणों से आज यातायात का विकास होता जा रहा है। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओं के ग्रन्थ अधिकतर गद्य-शैली में ही लिखे गए हैं। कुछ ग्रन्थों में यात्राओं को भावात्मक शैली में वर्णित किया गया है। इनमें काश्मीर, मेरी काश्मीर यात्रा, भारत के कुछ दार्शनिक स्थान, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, आदि उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। कुछ में बुद्धिवाद की प्रधानता दिखाई देती है—जैसे तिब्बत में सवा बरस, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी लद्दाख यात्रा, किन्नर देश में, आदि। स्थल की यात्राओं के इन ग्रन्थों में किसी-किसी में कलात्मकता का सुन्दर समावेश किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में नेवटिया का 'काश्मीर', देवदत्त शास्त्री का 'मेरी काश्मीर यात्रा' और अज्ञेय का 'अरे यायावर रहेगा याद' प्रमुख हैं। इनमें ही हमें कल्पनात्मकता और आलंकारिकता का पूर्ण सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक प्रकृति मनोरमता का प्रश्न है उसमें उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के अतिरिक्त दुनियाँ की सैर, काश्मीर और सीमाप्रान्त, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान का नाम भी अमर है। दार्शनिकता की भावना बहुत कम दिखाई देती है। भाषासौष्ठव—अमेरिका भ्रमण, मेरी लद्दाख यात्रा, काश्मीर, दुनियाँ की सैर, मेरी काश्मीर यात्रा, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ, भारत के कुछ दर्शनीय स्थान, यात्रा के पन्ने, आखिरी चट्टान तक, अरे यायावर रहेगा याद, तिब्बत में २३ दिन आदि ग्रन्थों में बहुत सुन्दर है। दार्शनिक विचारधारा किसी-किसी लेखक में प्रासंगिक रूप में पाई जाती है। वर्णनों में कहीं-कहीं भावात्मकता एवं कलात्मकता का सामंजस्य भी मिलता है। अज्ञेयजी के प्रकृति मनोरमता के चित्रणों में जहाँ भी कल्पना ने जोर पकड़ा है, आलंकारिता स्वतः आ गई है। शैली भी यात्रा-साहित्य में अपने ढंग की निराली है। अधिकतर लेखकों ने यात्राओं को विवरणात्मक रूप ही दिया है। इन थलयात्राओं में पर्वतीय यात्राओं का भी समावेश कर लिया गया है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्थलयात्रा-सम्बन्धी साहित्य में करीब-करीब सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। इस प्रकार के यात्रा-साहित्य की हिन्दी में निम्न पुस्तकें हैं—

मेरी पूर्वादिग्यात्रा (१८८५) दामोदर शास्त्री, पंजाब यात्रा (१७०७) रामशंकर व्यास, अमरीका भ्रमण (१९१३) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, श्याम देश यात्रा (१९२७) मेहता जैमिनी, तिब्बत में सवा बरस (१९३३) राहुल सांकृत्यायन, दक्षिण भारत की यात्रा (१९३५) सत्येन्द्रनारायण, मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७) राहुल सांकृत्यायन, मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९) राहुल सांकृत्यायन, युद्ध-यात्रा (१९४०) डॉ० सत्यनारायण, काश्मीर (१९४०) श्री गोपाल नेवटिया, स्वदेश-विदेश यात्रा (१९४०) सन्तराम, दुनियाँ की सैर (१९४१) योगेन्द्रनाथ सिन्हा, मेरी काश्मीर यात्रा (१९४१) देवदत्त शास्त्री, संयुक्तप्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१९४३) लक्ष्मीनारायण टण्डन, काश्मीर और सीमाप्रान्त (१९४४) कृष्णवंश सिंह बाघेल, भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान (१९४६) चक्रधर 'हंस', किन्नर देश में

(१९४८) राहुल सांकृत्यायन, राहुल यात्रावली (१९४९) राहुल सांकृत्यायन, साइकिल यात्रा (१९४९) जी० डी० जोशी, यात्रा के पन्ने (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, आखिरी चट्टान तक (१९५३) मोहन राकेश, अरे यायावर रहेगा याद (१९५३) स० ही० वा० 'अज्ञेय', तिब्बत में २३ दिन (१९५३) कृष्णवंश सिंह बाघेल, नैपाल यात्रा (१९५३) राहुल सांकृत्यायन, हिमालय की गोद में (१९५४) महावीरप्रसाद पोद्दार।

उपर्युक्त थल-यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त स्थल-यात्राओं पर प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में अनेक साहित्यिक लेख भी प्रकाशित हुए हैं। अपने वर्गीकरण के इस अंश (थल-यात्रा) में हमने पर्वती यात्राओं के समस्त लेखों का भी समावेश कर लिया है। यहाँ पर हम इन लेखों की सूची काल-क्रम के अनुसार दे रहे हैं—

लेख	लेखक
लखनऊ[1]	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
जब्बलपुर[2]	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
अपने राम की मसूरी शैल-यात्रा[3]	अपने राम
देहरादून-शिमला यात्रा[4]	पण्डित श्रीधर पाठक
युद्ध-क्षेत्र की सैर[5]	उमा नेहरू

काश्मीर समीर[6]—हरिहरस्वरूप शर्मा, युद्ध-क्षेत्र की सैर[7]—उमा नेहरू, हमारी यात्रा[8]—लोचनप्रसाद पाण्डेय, यमुना-दर्शन[9]—ग्रामीण, काश्मीर[10]—चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, काश्मीर-यात्रा[11]—बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, काश्मीर का प्रवास[12]—बाबासाहब पंत सचिव, ज्वालाजी की यात्रा[13]—सन्तराम, मेरी दक्षिण-यात्रा[14]—रामदास गौड़, नियाग्रा प्रपात की सैर[15]—एस० बहादुर, शिमला की यात्रा[16]—कन्नोमल, हमारी पूसा-यात्रा[17]—गिरीन्द्रनारायण सिंह, बाराह क्षेत्र की सैर[18]—

१. कविवचन सुधा—Vol. २, No. २२. श्रावण कृष्ण ३०, सन् १८७१, पृ० १७३
२. वही—जुलाई सन् १८७२ ई०
३. चित्रमय जगत—सितम्बर १९११
४. मर्यादा—जुलाई से सितम्बर १९१३
५. गृहलक्ष्मी—सन् १९१४
६. गृहलक्ष्मी—अक्तूबर १९१४
७. मर्यादा—जनवरी एवं जून १९१५
८. इन्दु—सितम्बर १९१५
९. मर्यादा—जुलाई १९१६
१०. सरस्वती—दिसम्बर १९१७
११. सरस्वती से—चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा, द्वारा हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह में संगृहीत १९१८
१२. चित्रमय जगत—(विशेषांक) जनवरी १९२२
१३. सरस्वती—मार्च १९२४
१४. सरस्वती—दिसम्बर १९२४
१५. सरस्वती—मार्च १९२५
१६. सरस्वती—जुलाई १९२६
१७. सुधा—मई १९२८
१८. माधुरी—अगस्त १९२८

लक्ष्मीनारायण सिंह, नैपाल की यात्रा[१]—पाटेश्वरीप्रसाद, श्रीनगर की सैर[२]—पृथ्वीपाल सिंह शीतकाल मे शिमला की सैर[३]—डॉ॰ धनीराम प्रेम, शिमला के अंचल मे[४]—गिरींद्रनारायण सिंह, मैसूर यात्रा—[५]डा॰ नवल बिहारी मिश्र, काश्मीर म एक मास[६]—ईश्वरचन्द्र शर्मा, महाराष्ट्र भ्रमण[७]—डॉ॰ धनीराम प्रेम, मेरी बीकानेर-यात्रा[८]—प॰ रामनरेश त्रिपाठी, श्रीनगर[९]—रायबहादुर हीरालाल नैनीताल की सैर[१०]—नारायणप्रसाद पोद्दार, मेरी छतरपुर यात्रा[११]—गणेश पाण्डेय, मसूरी यात्रा[१२]—गुरुनारायण शुक्ल।

भेडाघाट का गोद मे[१३]—नर्मदाप्रसाद खरे, मेरी शैल यात्रा[१४]—डा॰ धनीराम 'प्रेम', चिलका-यात्रा[१५]—रामानंद शर्मा, लाहौर की यात्रा[१६]—श्रीराम शर्मा, खाती पिनुरी की यात्रा[१७]—फक्कड, काश्मीर मे दस दिन[१८]—आर॰ एस॰ पडित, मसूरी से शिमला[१९]—दीनदयालु शास्त्री, राजपूताने की यात्रा[२०]—गणेश पाण्डे, दार्जलिंग-यात्रा[२१]—पडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, उदयपुर की यात्रा[२२]—प॰ सूर्यनारायण व्यास, मसूरी शैल की सैर[२३]—प॰ सूर्यनारायण व्यास, धुआँधार की ओर[२४]—रामगोपाल मूना, सोलन के पहाडो मे[२५]—शिवनारायण टण्डन, मेरी काश्मीर-यात्रा[२६]—बलदेवप्रसाद गुप्त, बिहार के उत्तुङ्ग शैल-शिखर पर[२७]—ऋतुलाल प्रसाद वर्मा, गंगोत्री-यात्रा[२८]—सत्येंद्र, एम॰ ए॰, हिमाचल के अंतराल मे[२९]—रामेश्वरदयाल दुबे, काश्मीर मे कुछ मास[३०]—मधुसूदनदास चतुर्वेदी, सोमेश्वर की पहाडियो मे[३१]—महंत धनराज पुरी, शिमला-शैल की पैदल यात्रा[३२]—संतराम, झेलम के साथ-साथ[३३]—सुबोध अदावल, हमारी मोटर-यात्रा[३४]—आदर्शकुमारी

---

१ सुधा—जनवरी १९२९
२ सुधा—अगस्त १९२९
३ सुधा—दिसम्बर १९२९
४ माधुरी—वर्ष ८ खण्ड २ स॰ ४ १९२९
५ माधुरी—वर्ष ८ खण्ड २ स॰ ३ १९२९
६ चाँद—मई १९३०
७ माधुरी—१९३०
८ सरस्वती—जनवरी १९३१
९ सुधा—अगस्त १९३१
१० सरस्वती—जुलाई-दिसम्बर १९३१
११ विशाल भारत—दिसम्बर १९३१
१२ सुधा—जून १९३२
१३ सरस्वती—सितम्बर १९३२
१४ सुधा—नवम्बर १९३२
१५ माधुरी—मार्च १९३३
१६ सुधा—नवम्बर १९३३
१७ विशाल भारत—जनवरी १९३४
१८ सरस्वती—जनवरी १९३४
१९ विशाल भारत—अप्रैल १९३४
२० चाँद—फरवरी अप्रैल १९३५
२१ सुधा—सितम्बर १९३५
२२ बालक—सितम्बर १९३६
२३ सुधा—जुलाई एवं दिसम्बर १९३६
२४ सुधा—अगस्त १९३७
२५ वीणा—फरवरी १९३८
२६ सुधा—मार्च १९३८
२७ सुधा—फरवरी १९३९
२८ सुधा—मई १९३९
२९ सुधा—अक्तूबर १९४०
३० माधुरी—सितम्बर १९४०
३१ सरस्वती—दिसम्बर १९४०
३२ सरस्वती—जुलाई १९४२
३३ माधुरी—सितम्बर १९४२
३४ मधुकर दिसम्बर १९४२

यशपाल, महाराष्ट्र का काश्मीर[१]—प्रो० प्र० नेने, मेरी अल्मोड़ा-यात्रा[२]—सन्त-राम, अमरनाथ सन्' ४९ में[३]—पं० हरिशंकर त्रिवेदी, शैलसुन्दरी[४]—पं० सूर्य-नारायण व्यास, रोहतंग की यात्रा[५]—कुंजविहारी गोस्वामी, पहाड़ यात्रा[६]—अमृतराय, काश्मीर की सैर[७]—रामधारीसिंह 'दिनकर', कुरतालम[८]—घोरपड़े, लद्दाख के गोम्बा[९]—श्रीधर कौल, उत्तरी बर्मा की यात्रा[१०]—प्रो० बालचन्द्र अग्रवाल, मेरी पग यात्रा[११]—डा० उदयनारायण तिवारी, मेरी चीन-यात्रा[१२]—हर्षदेव मालवीय, पर्यटकों का स्वर्ग मसूरी[१३]—पर्यटक, नैनीताल[१४]—बेढब बनारसी, मेरी मसूरी यात्रा[१५]—कमला अग्रवाल।

जल-मार्ग तथा यातायात

जलमार्ग की यात्राएँ देश के बाहर जाने के लिए ही अधिकतर की गई हैं। इस मार्ग की यात्राएं कोई नवीन नहीं हैं, यद्यपि इनमें प्राणभय सदैव बना रहता है। यातायात का विकास भी जलमार्ग द्वारा ही हुआ है। इस प्रकार की सभी साहित्यिक यात्राएँ गद्य-प्रधान हैं। दो-एक लेखकों में ही भावात्मक दृष्टिकोण दृष्टिगत हुआ जैसे पंडित सूर्यनारायण व्यास एवं ब्रजकिशोर 'नारायण'जी में। विवरणात्मकता की सभी लेखकों के ग्रन्थों में प्रधानता है। साहित्यिक कलात्मकता हमें ठाकुर गदा-धरसिंह, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शिवप्रसाद गुप्त, पं० सूर्यनारायण व्यास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, विमला कपूर एवं ब्रजकिशोर 'नारायण' के यात्रा-ग्रन्थों में खूब मिलती है। कल्पनात्मक और आलंकारिक शैली हमें केवल कुछ ही लेखकों में मिलती है जैसे ठाकुर गदाधरसिंह, शिवप्रसाद गुप्त, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक और प० सूर्यनारायण व्यास आदि, भाषासौष्ठव सभी लेखकों का सुन्दर और स्पष्ट है। प्रकृतिक मनोरमता के चित्रण में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, शिवप्रसाद गुप्त, सेठ

१. सरस्वती—जुलाई १९४५
२. सरस्वती—अगस्त १९४६
३. सरस्वती—जनवरी-फरवरी १९५०
४. धर्मयुग—२९-११-५३
५. सरस्वती—जनवरी-जून १९५६
६. आज 'साप्ताहिक'—१० जून, १९५६
७. आकाशवाणी प्रसारिका—अक्तूबर, दिसम्बर १९५३
८. 'आज' साप्ताहिक—२६ अगस्त १९५६
९. 'आज' साप्ताहिक—१८ नवम्बर १९५६
१०. 'आज' साप्ताहिक—२३ दिसम्बर १९५६
११. 'आज' साप्ताहिक—१० फरवरी १९५७
१२. 'आज' साप्ताहिक—१० फरवरी १९५७
१३. 'आज' साप्ताहिक—२८ अप्रैल १९५७
१४. 'आज' साप्ताहिक—४ अगस्त १९५७
१५. 'आज' साप्ताहिक—२५ अगस्त १९५७

गोविन्ददास एवं पं० सूर्यनारायण व्यासजी का नाम उल्लेखनीय है। व्यासजी की शैली निराली है जिसमें भाषासौष्ठव सबसे सुन्दर है। यहाँ पर हम जलमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों की सूची क्रमानुसार दे रहे हैं—

लन्दन-यात्रा (१८८३) हरदेवी, लन्दन का यात्री (१८९२) भगवानदास वर्मा, चीन में तेरह मास (१९०२) ठाकुर गदाधरसिंह, हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा (१९०३) ठाकुर गदाधरसिंह, रूस-जापान-युद्ध (१९०५) ठा० गदाधरसिंह, अमरीका दिग्दर्शन (१९११) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृथ्वी-प्रदक्षिणा (१९१४) शिवप्रसाद गुप्त, लंका-यात्रा का विवरण (१९१६) गोपालराम गहमरी, लन्दन पैरिस की सैर (१९२६) वेणी शुक्ल, मेरी जर्मन-यात्रा (१९२६) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, हमारी विलायत-यात्रा (१९२६) केदाररूप राय, अफ्रीका-यात्रा (१९२८) मंगलानन्द पुरी, हमारी जापान यात्रा (१९३१) कन्हैयालाल मिश्र, विदेश की बात (१९३२) कृपानाथ मिश्र, मेरी ईरान-यात्रा (१९३२) महेशप्रसाद मौलवी, मेरी यूरोप-यात्रा (१९३२) गणेशनारायण सोमाणी, मेरी यूरोप-यात्रा (१९३५) राहुल सांकृत्यायन, हमारा प्रधान उपनिवेश (१९३८) सेठ गोविन्ददास, ईराक की यात्रा (१९४०) पं० कन्हैयालाल मिश्र, इंग्लैण्ड-यात्रा (१९४१) रामचन्द्र शर्मा, सागर-प्रवास (१९४१) यूरोप के पत्र (१९४२) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट०, मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा (१९५१) स्वामी स्वतन्त्रानन्द, अनजाने देशों में (१९५३) विमला कपूर, अफ्रीका-यात्रा (१९५५) स्वामी सत्यभक्त, नन्दन से लन्दन (१९५७) ब्रजकिशोर 'नारायण' आदि।

उपर्युक्त जलमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक विद्वानों के साहित्यिक लेख भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। जल-मार्गीय यात्रा-सम्बन्धी इन लेखों की सूची हम यहाँ पर क्रमानुसार दे रहे हैं—

विलायत की सैर[१]—ग० स० मराठे, विलायत समुद्र-यात्रा[२]—लक्ष्मीशंकर मिश्र, लन्दन की सैर[३]—वेणीप्रसाद शुक्ल, अमेरिका की यात्रा[४]—अमेरिका का एक यात्री, रूस की सैर[५]—वीरेन्द्रकुमार मुखोपाध्याय, मेरी फीजी-यात्रा[६]—

१. चित्रमय जगत—फरवरी-मार्च १९१३
२. मर्यादा—जुलाई १९१४
३. सरस्वती—अप्रैल १९१९
४. सरस्वती—जुलाई-अगस्त १९१९
५. सरस्वती—जनवरी १९२२
६. मर्यादा—चैत्र १९२३

गोविन्दसहाय शर्मा, कलकत्ता से वेनिस [१]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, जर्मनी आस्ट्रेलिया की सैर [२]—श्यामाचरण राय, स्वीडेन में [३]—श्रीयुत यात्री, मेरी मिसड्रौय-यात्रा [४]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, बरमा की यात्रा [५]—सत्यव्रत विद्यालंकार, लन्दन का प्रथम दर्शन [६]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', मेरी जावा-यात्रा [७]—के० सी० बनर्जी, कोलम्बो से लन्दन [८]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', मेरी फीजी-यात्रा [९]—गोपेन्द्रनारायण 'पथिक', मेरी ईरान-यात्रा [१०]—साधुप्रसाद, हमारी विदेश-यात्रा [११]—रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, मेरी ईरान-यात्रा [१२]—मौशियो आर तूर्त, नवद्वीप-यात्रा [१३]—दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, मेरी यूरोप-यात्रा [१४]—डॉ० मनजीतसिंह राठौर, कलकत्ता से तेहरान [१५]—मु० इस्हाक, मेरा यूरोप-भ्रमण [१६]—डॉ० धनीराम 'प्रेम', न्यूजीलैण्ड-यात्रा [१७]—शंकरप्रताप फीजी, मेरी यूरोप-यात्रा के पृष्ठों से [१८]—डॉ० हेमचन्द्र जोशी, साम्यवादी देशों में [१९]—नित्यनारायण बनर्जी, मेरी रूस-यात्रा [२०]—पं० ब्रजलाल नेहरू, यूरोप-यात्रा [२१]—डॉ० हरिशंकर चतुर्वेदी, सैल्सबर्ग में एक सप्ताह [२२]—पं० सूर्यनारायण व्यास, वर्न की यात्रा [२३]—पं० सूर्यनारायण व्यास, मेरी जापान-यात्रा और जापानी-जीवन पर विहंगम दृष्टि [२४]—सेठ लक्ष्मणप्रसाद, यूरोप की यादगार [२५]—विश्वनाथ सहाय माथुर आदि ।

आकाश की यात्राएँ

आकाश की यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन साहित्यिक यात्राओं से है जो आकाश-मार्ग पर वायुयान द्वारा की गई हों और उन्हें अपने अनुभव के आधार पर शब्द-बद्ध कर दी गई हों। वायुयान के चलन के बाद से आकाश-मार्ग का यात्रारम्भ हुआ। यातायात का विकास हुआ। बहुत-से व्यक्ति आकाश-मार्ग से विदेशों की यात्रा करते हैं, पर सभी अपनी उस यात्रा का वर्णन साहित्य के लिए लिपिबद्ध नहीं करते। हम यहाँ केवल उन्हीं यात्राओं का विवरण करेंगे जो हमें

---

१. माधुरी—१९२३
२. माधुरी—१९२३
३. सरस्वती—अगस्त १९२४
४. सरस्वती—दिसम्बर १९२४
५. माधुरी—अगस्त-सितम्बर १९२८
६. चांद—जून १९२९
७. सरस्वती—अक्तूबर १९२९
८. माधुरी—१९२९
९. विशाल भारत—जनवरी १९३०
१०. सरस्वती—मई १९३०
११. सुधा—फरवरी-सितम्बर १९३१
१२. विशाल भारत—अप्रैल १९३१
१३. चांद—मार्च १९३१
१४. सुधा—फरवरी १९३२
१५. विशाल भारत—फरवरी १९३२
१६. चाद—जनवरी-फरवरी-मई-जून १९३२
१७. चाद—अप्रैल १९३२
१८. माधुरी—दिसम्बर १९३२ फरवरी-मार्च १९३३
१९. विशाल भारत—जनवरी १९३४
२०. सरस्वती—फरवरी १९३४
२१. वीणा—अगस्त १९३४
२२. सुधा—वर्ष ११, संख्या २-३
२३. कौमुदी—सन् १९३८
२४ सुधा—जनवरी १९३९
२५. माधुरी—दिसम्बर १९४०

साहित्यिक रूप में लिपिबद्ध मिलती हैं। आधुनिक-युग में जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से इस प्रकार की यात्राओं को प्रेरणा मिली है और यही कारण है कि १९५० ई० के बाद से इस प्रकार का साहित्य हमें पूर्व की अपेक्षा अधिक मिलता है।

इस प्रकार की यात्राओं का साहित्य गद्य रूप में ही मिलता है। भावात्मक और विवरणात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता हमें धर्मचन्द सरावगी, सेठ गोविन्ददास, रामवृक्ष बेनीपुरी, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय और राजवल्लभ ओझा में अधिक मिलती है। साहित्यिक कलात्मकता में भी उपर्युक्त लेखक ही उल्लेखनीय हैं। राहुल जी में बुद्धिवादी दृष्टिकोण मिलता है। भाषा में आलंकारिकता का पुट कई लेखकों द्वारा दिया गया है, पर इसकी प्रधानता किसीमें नहीं है। कल्पनात्मकता में डॉ० सत्यनारायण, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, रामवृक्ष 'बेनीपुरी', राजवल्लभ ओझा, सेठ गोविन्ददास अग्रणीय हैं। प्रकृति मनोरमता के दृश्यों का उल्लेख करने में ओझाजी और बेनीपुरीजी सबसे आगे हैं। ओझाजी के दृश्यों में मौलिकता है, पर बेनीपुरीजी में केवल कल्पनात्मकता। भाषा-सौष्ठव में पं० रामनारायण मिश्र, धर्मचन्द सरावगी, डॉ० सत्यनारायण, सेठ गोविन्ददास, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, यशपाल, बेनीपुरी, राजवल्लभ ओझा आदि का स्थान सर्वोपरि है। इन लेखकों ने बड़ी ही सरल भाषा-शैली में अपनी आकाशमार्गीय यात्राओं के वर्णनों को समावेष्ठित किया है, जो पाठकों को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यहाँ पर हम आकाश-मार्गीय यात्राओं के प्रकाशित साहित्यिक ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं—

रूस की सैर (१९२६) पं० जवाहरलाल नेहरू, यूरोप यात्रा में ६ मास (१९३२) पं० रामनारायण मिश्र, यूरोप में ७ मास (१९३६) धर्मचन्द सरावगी, रोमांचक रूस में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, यूरोप के झकोरे में (१९३९) डॉ० सत्यनारायण, सुदूर दक्षिण-पूर्व (१९५१) सेठ गोविन्ददास, दिल्ली से मास्को (१९५१) महेशप्रसाद श्रीवास्तव, वो दुनिया (१९५२) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, पैरों में पंख बाँधकर (१९५२) रामवृक्ष 'बेनीपुरी', रूस में २५ मास (१९५२) राहुल सांकृत्यायन, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) यशपाल, कलकत्ता से पैकिंग (१९५३) डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, उड़ते-चलो उड़ते-चलो (१९५४) रामवृक्ष 'बेनीपुरी', बदलते दृश्य (१९५४) राजवल्लभ ओझा, पृथ्वी-परिक्रमा (१९५५) सेठ गोविन्ददास, राहबीती (१९५६) यशपाल, ज्ञान की खोज में (१९५७) डॉ० जगदीशशरण शर्मा, देश-विदेश (१९५७) रामधारीसिंह 'दिनकर', हालैण्ड में पच्चीस दिन (१९५७) रा० र० खाडिलकर, जापान की सैर (१९५७) रामकृष्ण बजाज, दुनियाँ की सैर ८० दिन में (१९५७) डॉ० परमेश्वरदीन शुक्ल, आँखोंदेखा यूरोप (१९५८) भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', बदलते रूस में (१९५८) रा० र० खाडिलकर।

उपर्युक्त साहित्यिक-यात्रा ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ लेख भी प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आकाशमार्गीय यात्रा-सम्बन्धी इन लेखों की सूची निम्नलिखित है :—

कवीन्द्र के साथ ईरान को[1]—केदारनाथ चट्टोपाध्याय, मध्य यूरोप में ३ सप्ताह[2]—राजकुमार मानसिंह, बुडापेस्ट-यात्रा[3]—श्रीमती मनसा पंडित, आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका-यात्रा[4]—गिरिजाकुमार माथुर, नए चीन की एक झलक[5]—एफ० सी० अरोड़ा।

विषयानुसार यात्रा-साहित्य

पशु-पक्षियों की यात्राएँ—पशु-पक्षियों की यात्राओं-सम्बन्धी साहित्य से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो पशु-पक्षियों की यात्राओं पर लिखा और प्रकाशित किया गया है। विश्व का कण-कण शक्तिमान् है और प्रत्येक कण में गति है। विश्व की इसी गति पर विश्व का विकास निर्भर है, तब ये पशु-पक्षी ही अपनी इस गतिशीलता की शक्ति के सदुपयोग से क्यों वंचित रह जाएँ। मानव-मन की भाँति पशु-पक्षी भी विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हैं। भले ही मानव की यात्राओं की भाँति इनका उद्देश्य प्रकृति पर्यवेक्षण और मनोरंजन न होकर उनका उद्देश्य भोजन की खोज-मात्र ही होता है। रामायण, महाभारत, पंचतन्त्र आदि में भी पशु-पक्षियों की यात्रा के संकेत मिलते हैं। मानस में—कागभुशुण्ड की यात्रा तथा पद्मावत में हीरामन तोते की यात्रा आदि इसी प्रकार ही यात्राएँ हैं। इसी प्रकार की यात्राएँ बाल-साहित्य में भी मिलती हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हिन्दी में पशु-पक्षियों की यात्राओं से सम्बन्धित साहित्य बहुत कम मिलता है। इस सम्बन्ध में कुँवर सुरेशसिंह कालाकांकर का नाम लिया जाता है; पर भरसक प्रयत्न करने के बाद भी उनका साहित्य हमें नहीं मिल सका है। इस प्रकार की हमें केवल एक पुस्तक ही प्राप्त हो सकी है, इसके लेखक श्री सीताराम शाह हैं, यह सन् १६०६ ई० में ज्ञान-मण्डल कार्यालय, काशी से 'दिलचस्प सच्ची कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसमें अनेक पशु-पक्षियों की यात्राओं और उनके रहन-सहन का विवरण दिया हुआ है। इस प्रकार की यात्राओं के लेखकों में पं० श्रीराम शर्माजी भी प्रमुख हैं जिनके लेख यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं।

धार्मिक यात्राएँ—वे हैं जो धार्मिक-स्थानों के दर्शन हेतु की गई हैं और दर्शन-पूजन के बाद साहित्य-रूप में लिपिबद्ध कर दी गई हैं। इस प्रकार की यात्राएँ

---

१. विशाल भारत—सितम्बर १६३२
२. वीणा—सितम्बर १६३४
३. नया समाज—दिसम्बर १६४६
४. सरस्वती—मार्च १६५६
५. आकाशवाणी प्रसारिका (त्रैमासिक पत्रिका) अप्रैल—जून (१६५७)

हिन्दी में बहुत-सी मिलती हैं। इस प्रकार का साहित्य गद्य-पद्य (चम्पू) दोनों शैलियों में मिलता है परन्तु गद्य-रूप में ही इसकी प्रधानता है। पद्यात्मक-यात्राओं में पंडित विष्णु मिश्र, बाबू तोताराम वर्मा और लाला कल्यानचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। गद्यात्मक यात्राओं में विवरणात्मकता की प्रधानता है। यह विशेषता हमें बाबू देवीप्रसाद खत्री, धनपतिलाल, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, रामशरण विद्यार्थी, शिवनन्दन सहाय, लक्ष्मीनारायण टण्डन, हरिकृष्ण झाझड़िया में मिलती है। भावात्मकता केवल कुछ ही लेखकों में दिखाई देती है। जैसे सत्यदेव परिव्राजक, प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी। बुद्धिवादी दृष्टिकोण किसी में भी नहीं मिलता है। कलात्मकता अवश्य प्रो० मनोरंजन एवं शिवनन्दन सहाय में सबसे अधिक है। धार्मिक भावना की करीब-करीब सभी लेखकों में प्रधानता है। कल्पनात्मकता हमें विशेषरूप से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी और यशपाल जैन में ही मिलती है। इन लेखकों की अद्वितीय लेखन-शैली में आलंकारिकता का भी पुट मिश्रित है। कला-वैचित्र्य में परिव्राजक, प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी और शिवनन्दन सहाय का स्थान उच्च है। दार्शनिक भावना केवल शिवनन्दन सहाय में ही दिखाई देती है। प्रकृति मनोरमता के चित्रण में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, प्रो० मनोरंजन, रामशरण विद्यार्थी, स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी एवं जैनजी अग्रगणी हैं। ये लेखक भाषा-सौष्ठव में भी निपुण हैं। इस प्रकार की धार्मिक यात्राओं के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है :—

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा (१८८६) दामोदर शास्त्री, केदारनाथ-यात्रा (१८९०) लाला कल्यानचन्द्र, ब्रज-यात्रा (१८९४) पं० विष्णु मिश्र, ब्रजविनोद (१८८८) बाबू तोताराम वर्मा, रामेश्वर-यात्रा (१८९३) बाबू देवीप्रसाद खत्री, बदरिकाश्रम-यात्रा (१९०२) बाबू देवीप्रसाद खत्री, द्वारिकानाथ-यात्रा (१९१२) धनपतिलाल, मेरी कैलाश-यात्रा (१९१५) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, कैलाश-यात्रा (१९३२) पं० श्रीराम शर्मा, उत्तराखण्ड के पथ पर (१९३६) प्रो० मनोरंजन, कैलाश-पथ पर (१९३७) रामशरण विद्यार्थी, संयुक्तप्रान्त के तीर्थ-स्थान (१९४५) लक्ष्मीनारायण टण्डन, कैलाश-दर्शन (१९४६) स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, मेरी दक्षिण भारत-यात्रा (१९४६) रकृष्ण झाझड़िया, जय अमरनाथ (१९५५) यशपाल जैन।

उपर्युक्त धार्मिक यात्राओं-सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ धार्मिक स्थानों की यात्राएँ लेखों के रूप में भी लिखी गई हैं। ये लेख हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों की सूची हम यहाँ पर दे रहे हैं—

हरिद्वार[1]—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सरयू पार की यात्रा[2]—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र,

१. कविवचन सुधा—३० अप्रैल एवं १४ अक्तूबर १८७१
२. हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका—फरवरी १८७९

वद्यनाथ की यात्रा[1]—भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र, मेरी तीर्थ-यात्रा[2]—गोविन्दहरि फड़के, रामेश्वर-यात्रा वर्णन[3]—बालकृष्ण श्रीधर कोल्हटकर, हमारी दक्षिण भारत की यात्रा[4]—बाबा सा० पंत, व्यासकुण्ड की यात्रा[5]—सन्तराम, गंगोत्री-यात्रा-वर्णन[6]—श्रीराम शर्मा, मेरी द्वारिकापुरी की यात्रा[7]—पं० मोहनलाल नेहरू, श्री जगन्नाथ-पुरी[8]—प्रोफेसर दयाशंकर दुबे, मेरी छतरपुर-यात्रा[9]—गणेश पाण्डेय, दार्जलिंग यात्रा[10]—लोकनाथ द्विवेदी, मेरी अमरनाथ की यात्रा[11]—राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह, मेरी द्वारिका-यात्रा[12]—डॉ० सरजूप्रसाद तिवारी, कैलाश-दर्शन[13]—प्रो० शिवनाथ कश्यप, जयपुर का गलता तीर्थ[14]—पं० हरिशंकर शर्मा, भुमगा के प्रस्तर-खण्डों में[15]—लक्ष्मीकान्त पाठक 'कांत', केदारनाथ की यात्रा[16]—चन्द्रकुँवर वर्तवाल, बद्रीनारायण धाम-यात्रा[17]—शम्भूनाथ चतुर्वेदी, मेरी बद्रीनाथ-यात्रा[18]—विष्णु प्रभाकर, देवभूमि कांगड़ा-कुल्लू[19]—शर्मा, नन्दादेवी अभियान[20]—नारेन बी० जोशी।

शिकारियों की यात्राएँ—शिकारियों की यात्राओं से हमारा अभिप्राय उन यात्राओं से है जो शिकारियों द्वारा स्वयं की गई हैं और अपनी उन यात्राओं को उन लोगों ने अक्षरबद्ध कर दिया है। हम यहाँ केवल उन्हीं यात्राओं को इसके अन्तर्गत ले रहे हैं, जो साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। इस प्रकार का साहित्य यद्यपि हिन्दी में

---

१. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—और मोहन चन्द्रिका—१८८०
२. चित्रमय जगत—जून से सितम्बर १९१८
३. चित्रमय जगत—मार्च १९१९
४. चित्रमय जगत—जून-जुलाई १९२०
५. विशाल-भारत—जनवरी १९२३
६. प्रभा—अगस्त १९२४
७. चांद—जुलाई १९२६
८. माधुरी—अगस्त-सितम्बर १९२८
९. विशाल भारत—दिसम्बर १९३१
१०. सरस्वती—सितम्बर १९३२
११. सुधा—अक्तूबर १९३२
१२. वीणा—दिसम्बर १९३२
१३. सुधा—फरवरी १९३६
१४. माधुरी—अगस्त १९४०
१५. सरस्वती—अक्तूबर १९४२
१६. तरुण—मई १९४३
१७. सरस्वती—अक्तूबर १९५०
१८. विशाल भारत—अप्रैल १९५६
१९. सरस्वती—जुलाई से दिसम्बर १९५६
२०. सरस्वती—जुलाई से दिसम्बर १९५६

बहुत कम है; फिर भी जो है वह बहुत ही रोचक और मनोरंजक है। इस प्रकार का साहित्य देना प्रतिभावान लेखकों का ही कार्य है। भावात्मकता और कलात्मकता के क्षेत्र में पं० श्रीराम शर्मा अग्रगणी हैं। परन्तु कल्पनात्मकता में शर्माजी के साथ-साथ श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार और कर्नल सज्जनसिंह भी ऊँचे कलाकार हैं। इनकी शिकारी यात्राओं में भौगोलिकता के दर्शन हो जाते हैं। वन, पर्वत, नदी-नाले आदि सभी के प्रकृति मनोरम शब्द चित्र इसमें अंकित कर दिए गए हैं, जो कि सरल और सुगठित भाषा में हैं। इस प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची हम क्रमानुसार दे रहे हैं—

शिकार (१९३२) पं० श्रीराम शर्मा, प्राणों का सौदा (१९३३) पं० श्रीराम शर्मा, शिवालिक की घाटियों में (१९५३) श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, लद्दाख-यात्रा की डायरी (१९५५) कर्नल सज्जनसिंह।

सांस्कृतिक यात्राएँ—सांस्कृतिक यात्राएँ वे हैं जो किसी देश की संस्कृति को समझने या समझाने के लिए की जाती हैं। इस प्रकार की यात्राएँ की अवश्य जाती हैं; पर इनका साहित्य नहीं के बराबर है। यूँ दो-तीन साहित्यिक ग्रन्थ इस प्रकार की यात्राओं के अवश्य प्राप्य हैं, जिनका उद्देश्य दूसरे देशों में भारतीय हिन्दू-संस्कृति का प्रचार ही था। इस प्रकार के ग्रन्थों की भाषा सरल और भावात्मक है। इनमें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक और स्वामी सत्यभक्त का नाम अग्रगणी है। इस प्रकार के साहित्यिक ग्रन्थों की सूची हम क्रमानुसार दे रहे हैं—

ज्ञान के उद्यान में (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, यूरोप की सुखद-स्मृतियाँ (१९३७) स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मेरी अफ्रीका-यात्रा (१९५५) स्वामी सत्यभक्त।

साहित्यिक यात्राएँ—साहित्यिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य उन यात्राओं से है जो साहित्यकारों द्वारा साहित्यिक दृष्टिकोण से की गई हों। इस प्रकार की यात्राओं में वे सभी यात्राएँ भी सम्मिलित कर ली गई हैं जो साहित्यिक महारथी दर्शनार्थ, साहित्य सदन दर्शनार्थ, साहित्यिक सामग्री के एकत्रीकरण हेतु या साहित्य के प्रचारार्थ की गई हैं। इस प्रकार की यात्राओं के अधिक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हैं वरन् इस प्रकार की यात्राएँ केवल पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुई हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले सन् १८८५ ई० में दामोदर शास्त्रीजी ने अपनी एक पुस्तक 'मेरी पूर्वा-दिग्यात्रा' नाम से प्रकाशित कराई थी। इसमें शास्त्रीजी ने हिन्दी प्रचार एवं भाषण के लिए की गई यात्राओं को लिपिबद्ध करके संगृहीत किया है। इस पुस्तक के अतिरिक्त साहित्यिक यात्राएँ हमें केवल लेखों के रूप में ही मिलती हैं।

मेरी रींवा-यात्रा[1]—भगीरथ प्रसाद दीक्षित, मेरी बीकानेर-यात्रा[2]—पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, शान्तिनिकेतन-यात्रा[3]—बनारसीदास चतुर्वेदी, कलकत्ते की साहित्यिक-यात्रा[4]—श्रीनाथसिंह, पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा[5]—श्रीराम शर्मा, मेरी दक्षिण-यात्रा[6]—पं० रामनरेश त्रिपाठी, वर्धा में तीन दिन[7]—डॉ० बाबूराम सक्सैना, दार्जलिंग-यात्रा[8]—पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, दौलतपुर की यात्रा[9]—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, साहित्य सदन की यात्रा[10]—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, संकटमय पथ के मधुर यात्री[11]—पं० माखनलाल चतुर्वेदी ।

ऐतिहासिक यात्राएँ—ऐतिहासिक यात्राएँ वे हैं जो विद्वानों द्वारा पुरातत्व अन्वेषण, अध्ययन और प्राचीन सुन्दरता का अवलोकन करने के लिए की जाएँ। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राएँ संख्या में बहुत कम हैं । इनमें ऐतिहासिक तत्त्वों का ही निरूपण किया गया है । इस प्रकार की यात्राओं में मुनिकान्तिसागर का "खण्डहरों का वैभव" नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है । इसका प्रकाशन सन् १९५३ ई० में हुआ था । इसके अतिरिक्त सभी लेख मिलते हैं जिनकी सूची यहाँ दी जा रही है—

तक्षशिला और खैबर घाटी की यात्रा[12]—रायसाहब सोहनलाल, मेवाड़ दर्शन[13]—केदारनाथ चटर्जी, जयपुर[14]—पं० मंगलदेव शर्मा, उद्धवस्त अवंतिका के खण्डहरों में[15]—पं० सूर्यनारायण व्यास, मेरी उज्जैन यात्रा[16]—सन्तराम, मेरी उदयपुर-यात्रा[17]—महेन्द्रकुमार मानव—विजयगढ़-यात्रा[18]—बनारसीलाल आर्य, नालन्दा के उजड़े-आँगन में[19]—बनारसीलाल आर्य ।

भौगोलिक यात्राएँ—भौगोलिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो भौगोलिक क्षेत्रों में की गई हैं और उनका वृत्तान्त भौगोलिक दृष्टिकोण से लिखा गया है । देश की सुरक्षा के लिए हमें अपने देश के महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थानों का ज्ञान होना आवश्यक है, या किसी देश, अथवा उसके प्रदेश की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में यदि सब मौन हैं तो वहाँ की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त जो यात्राएँ की जाती हैं वे भी भौगोलिक यात्राएँ ही कहलाती हैं। इस प्रकार की

१. सरस्वती—मई १९२६
२. सरस्वती—जनवरी १९३१
३. विशालभारत—जनवरी १९३२
४. सरस्वती—जुलाई १९३३
५. सुधा—जनवरी १९३४
६. विशालभारत—फरवरी १९३४
७. सुधा—सितम्बर १९३५
८. सुधा—सितम्बर १९३५
९. सुधा—दिसम्बर १९३८
१०. मधुकर—फरवरी १९४५
११. सरस्वती—जनवरी से जून १९५६
१२. सरस्वती—जुलाई १९६२
१३. विशालभारत—अगस्त १९३०
१४. चाद—जून १९३४
१५. सुधा—अगस्त १९४०
१६. माधुरी—अक्तूबर १९४०
१७. माधुरी—फरवरी १९४६
१८. 'आज' साप्ताहिक—३० जून १९५५
१९. 'आज' साप्ताहिक—१ जून १९५७

भौगोलिक यात्राओं में भावात्मकता और कल्पनात्मकता का पूर्ण अभाव है। भाषा-सौष्ठव के कारण इसमें कलात्मकता अवश्य आ गई है। इस क्षेत्र में साधुचरण प्रसाद और राहुल सांकृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। वर्णनात्मकता की प्रधानता हमें राहुलजी के साथ-साथ स्वामी प्रणवानन्दजी में भी मिलती है। इस प्रकार के निम्न ग्रन्थ हैं—

भारत भ्रमण (१९०३) (५ भाग) साधुचरण प्रसाद, कैलाश मानसरोवर (१९४३) स्वामी प्रणवानन्द, दार्जलिंग परिचय (१९५०) राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१९५८) राहुल सांकृत्यायन।

राजनैतिक यात्राएँ—राजनैतिक यात्राओं से हमारा तात्पर्य केवल उन यात्राओं से है जो देश-विदेश की राजनीति को अध्ययन करने या उससे सम्बन्धित सम्मेलनों में एकत्रित होने, अपने देश की समस्याओं को हल करने के लिए की जाएँ। इसमें वे यात्राएँ भी सम्मिलित हैं जो देश के नेताओं द्वारा राजनीति के सम्बन्ध में की गई हैं, और दूसरे लेखकों द्वारा लिपिबद्ध की गई हैं। साथ ही यशपालजी की दो वायुयान यात्राएँ पुनः ली जा रही हैं जिनका उद्देश्य राजनीति ही था। इस प्रकार की यात्राओं में भावात्मकता केवल यशपालजी में ही मिलती है। दार्शनिक आलंकारिक शैली इनकी अपनी है। कल्पना का किसी लेखक ने आश्रय नहीं लिया है। न्यूज़ रील की भाँति यात्रा को वर्णित करने में गोविन्दसिंह का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार की यात्राओं के ग्रंथ हिन्दी साहित्य में बहुत कम हैं। नीचे इनकी सूची दी जा रही है—

माओ के देश में (१९५३) रामआसरे, लोहे की दीवार के दोनों ओर (१९५३) यशपाल, राहबीती (१९५६) यशपाल, भारत में बुलगानिन (१९५६) गोविन्दसिंह।

उक्त विभाजन के अन्तर्गत हमने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण यात्रा-साहित्य का एक विश्लेषण करने का प्रयास किया है। अधिकांश सामग्री इसमें संगृहीत कर ली गई है और इस प्रकार यथा-सम्भव आधुनिक यात्रा-साहित्य का पूरा परिचय देने का प्रयास किया गया है।

: ४ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी तथा उनकी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी कृतियों का परिचयात्मक विवरण

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखकों की जीवनी, व्यक्तित्व और कृतियाँ

लेखक	जन्मकाल
१. श्री बाबू तोताराम	१८४७
२. ,, बाबू देवीप्रसाद खत्री	१८५६
३. ,, पं० श्रीधर पाठक	१८६०
४. ,, बाबू गोपालराम गहमरी	१८६६
५. ,, ठाकुर गदाधरसिंह	१८६९
६. ,, पं० रामनारायण मिश्र	१८७६
७. ,, गणेश नारायण सोमाणी	१८७८
८. ,, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	१८७९
९. ,, पं० कन्हैयालाल मिश्र	१८८०
१०. ,, बाबू शिवनन्दन सहाय	१८८२
११. ,, बाबू शिवप्रसाद गुप्त	१८८३
१२. ,, कृष्णवंश सिंह बाघेल	१८८५
१३. ,, संतराम	१८८६
१४. ,, पं० जवाहरलाल नेहरू	१८८९
१५. महेशप्रसाद मौलवी	१८९०
१६. ,, राहुल सांकृत्यायन	१८९३
१७. ,, सेठ गोविन्ददास	१८९६
१८. ,, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	१८९७
१९. ,, स्वामी सत्यभक्त	१८९९
२०. श्री कर्नल सज्जनसिंह	१९००
२१. ,, प्रोफेसर मनोरंजन	१९००
२२. स्वामी प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	१९०२
२३. केदाररूप राय	१९०२
२४. पं० सूर्यनारायण व्यास	१९०२
२५. श्री श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी	१९०२
२६. ,, योगेन्द्रनाथ सिनहा	१९०३
२७. ,, यशपाल	१९०४
२८. ,, रामधारीसिंह 'दिनकर'	१९०८
२९. ,, डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	१९१०
३०. ,, डॉ० सत्यनारायण	१९१०
३१. ,, अज्ञेय	१९११
३२. ,, लक्ष्मीनारायण टंडन	१९११
३३. ,, यशपाल जैन	१९१२
३४. ,, भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'	१९१२
३५. ,, रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर	१९१४
३६. ,, राजवल्लभ ओझा	१९१६

३७. श्री अमृतलाल नागर	१९१६	४०. ,, श्रीमती विमला कपूर	१९२३
३८. ,, ब्रजकिशोर 'नारायण'	१९१८	४१. ,, मोहन राकेश	१९२५
३९. ,, रामआसरे	१९२३	४२. ,, गोविन्दसिंह	१९३०

बाबू तोताराम वर्मा

जीवनी—बाबू तोतारामजी जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म सन् १८४७ में हुआ था और मृत्यु दिसम्बर सन् १९०२ में हुई। बी० ए० पास करके ये हेडमास्टर हुए, पर अंत में नौकरी छोड़कर अलीगढ़ में प्रेस खोलकर 'भारत-बन्धु' पत्र निकालने लगे।[1] हिन्दी के प्रति इन्हें अनन्य प्रेम था। हिन्दी का हरएक प्रकार से हित-साधन करने के लिए जब भारतेन्दुजी खड़े हुए थे उस समय उनका साथ देनेवालों में ये भी थे। इन्होंने "भाषा-संवर्द्धिनी' नाम की एक सभा स्थापित की थी। ये हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका के लेखकों में से थे। उसमें 'कीर्ति-केतु' नाम का इनका एक नाटक भी निकला था। ये जब तक रहे हिन्दी के प्रचार और उन्नति में लगे रहे।[2]

कृतियाँ—वर्माजी ने हिन्दी की बहुत सेवा की। कई पुस्तकें लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित भी की थीं। जैसे—केटो कृतान्त नाटक (अंग्रेजी का अनुवाद), स्त्री सुबोधनी, ब्रजविनोद, जिसमें यात्रा विवरण दिया गया है।

'ब्रज-विनोद'—१३७ पृष्ठों की पुस्तक है जो भारतबन्धु यंत्रालय, अलीगढ़ से सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुई थी। तोतारामजी ने इसमें बड़े रोचक ढंग से ब्रजमण्डल, वन-यात्रा, ब्रज के तीर्थ, मन्दिर, उपवन, मेले, वृन्दावन, मथुरा, गोकुल, आदि की यात्राओं का विस्तार से वर्णन किया है। ब्रजभाषा में प्रस्तुत यह यात्रा-विवरण बहुत मधुर बन पड़ा है। उनका यह विवरण यात्रा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण योग है। इस पुस्तक का एक उद्धरण दृष्टव्य होगा—

"भादों में कृष्ण के जन्मोत्सव के समय से बन-यात्रा का प्रारम्भ हो जाता है। वन-उपवनों में रासलीला होती है। जिस स्थान पर जो लीला कृष्ण महाराज ने की है, वहाँ पर वही लीला की जाती है। वन, उपवन, सर, कूप, गिरि, मन्दिर और कुंजों में वन-उपवन ही मुख्य हैं; इससे यह वन-यात्रा ही कहलाती है।[3]

बाबू देवीप्रसाद खत्री

जीवनी—बाबू देवीप्रसाद खत्रीजी मुलतान के दीवान नौनिधिराय के वंशज लाला अम्बरजमलजी के पौत्र तथा लाला नन्दलालजी के पुत्र थे, जिनके सगे

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २०१२ संस्करण—पृ० ४७६
२. वही
३. ब्रज-विनोद—बाबू तोताराम वर्मा, पृ० २

भाई लाला ईश्वरदास के सुपुत्र उपन्यास-सम्राट् बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। इनका जन्म मुजफ्फरपुर के विख्यात रईस राय नन्दीपत मेहता के यहाँ सन् १८५६ ई० में हुआ था जो इनके नाना थे। बचपन में ही पिताजी की मृत्यु हो जाने के कारण लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा नाना के यहाँ ही हुई। आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एन्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण की। आप मुज़फ्फ़रपुर गवर्नमेंट ट्रेज़री के ख़ज़ाञ्ची भी रहे। वैशाख मास सन् १९२१ ई० में काशी में ही आपकी मृत्यु हुई थी।[1]

खत्रीजी का रहन-सहन एकदम सादा था। इन्हें संस्कृत और हिन्दी की धार्मिक पुस्तकों, पूजापाठ एवं श्राद्धादिक में विशेष श्रद्धा थी। ये स्वभाव के बहुत ही नम्र, सरल एवं सहनशील थे, क्रोध करते तो इनको कभी किसीने देखा ही नहीं था। तीर्थ-स्थानों, विशेषकर काशी से इन्हें बड़ा ही प्रेम था, वर्ष में कम-से-कम दो-एक बार काशी अवश्य जाते थे और अपने अनुज बाबू देवकीनन्दन खत्रीजी के यहाँ रहा करते थे। यात्रा की रुचि इन्हें प्रारम्भ से ही थी और इसी कारण वे अपनी माताजी को सब तीर्थ कराने ले भी गए थे।[2]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर बाबू देवीप्रसाद खत्रीजी ने दो पुस्तकें लिखी थीं। पहली पुस्तक रामेश्वर-यात्रा पर लिखी गई है तथा दूसरी पुस्तक बदरिकाश्रम-यात्रा पर।

रामेश्वर-यात्रा—खत्रीजी की इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सन् १८९३ ई० में नारायण प्रेस, मुज़फ्फ़रपुर से हुआ था। इसका दूसरा संस्करण सन् १९१५ ई० में लहरी प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। ९४ पृष्ठों की इस पुस्तक में खत्रीजी ने अपनी प्रयाग, चित्रकूट, ओंकार, महाकालेश्वर, गोदावरी, त्र्यम्बकनाथ, द्वारिकाधाम, द्वारिकापुरी, कांची, बालाजी, रामेश्वर इत्यादि द्वादश यात्राओं का सविस्तर वर्णन दिया है। लेखक की यह यात्रा-सम्बन्धी प्रथम कृति थी। यह यात्रा-ग्रन्थ डायरी-शैली में लिखा है। पुस्तकांत में खत्रीजी ने पाठकों से निवेदन करते हुए लिखा है : "मेरी यह लम्बी यात्रा बहुत ही थोड़े दिन में समाप्त हुई अर्थात् मिती आश्विन शुक्ल विजयदशमी तारीख १ अक्तूबर सन् १८९२ ई० को घर से निकले और १६ नवम्बर, १८९२ ई० को घर लौट आए। एक महीना सोलह दिन कुल इस सफर में लगे, जितनी जल्दी यह यात्रा खतम की उसके पढ़ने ही से आप लोग समझ सकते हैं कि मुझे रास्ते में कितना कुछ आराम मिला।

---

१. लेखक के नाम आए स्व० बाबू देवीप्रसाद खत्री के भतीजे बाबू दुर्गाप्रसाद खत्रीजी के व्यक्तिगत पत्रों से प्राप्त सामग्री के आधार पर

२. लेखक के नाम आए स्व० बाबू देवीप्रसाद खत्री के भतीजे बाबू दुर्गाप्रसाद खत्रीजी के व्यक्तिगत पत्रों से प्राप्त सामग्री के आधार पर

सिवाय चलने-फिरने, दर्शन करने की नौबत नहीं आई। हाँ, बम्बई में दो-तीन टिकने का मौका जरूर मिला।" एक उद्धरण दृष्टव्य है :—

"आज की झाँकी का अकथनीय आनन्द कहाँ तक लिखें यहाँ तो वही कहावत हुई कि—'रोम-रोम हो तो दृग तो न पेट भरितों।' घण्टों खड़े रह जाइए हटने को जी नहीं चाहता। अहा! धन्य हैं वे लोग जिनको नित्य ही यह अलौकिक सुख प्राप्त होता है।[1]

बद्रिकाश्रम-यात्रा—देवीप्रसादजी की यह पुस्तक प्रथम बार सन् १९०२ ई० में लहरी प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। १३७ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने केवल यात्रियों की सुविधा के दृष्टिकोण-विशेष के लिए सामग्री दी है तथा अपनी-बीती सारी यात्रा का सरल हिन्दुस्तानी भाषा में वर्णन दिया है। अपनी यात्रा के वर्णन के साथ ही संस्कृत के श्लोक आदि भी उद्धृत किए हैं, जो कि खत्रीजी को पण्डों, पुजारियों द्वारा बदरिकाश्रम के माहात्म्य आदि के लिए जपने पड़े थे। अपने काल में यह पुस्तक यात्रियों के बड़े काम की रही होगी, इसमें किंचित-मात्र भी सन्देह नहीं; क्योंकि इससे पूर्व यहाँ की यात्रा-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक देवीप्रसादजी को प्राप्त न हो सकी थी। इसके साथ ही यह पुस्तक विशेषतः "यात्री दर्शक" के रूप में ही रह गई है, जिसमें प्रकृति-सौन्दर्य आदि का तथा विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव है जिसे खत्रीजी ने अपनी प्रस्तावना में स्वयं कह दिया है। इस पुस्तक का भी एक उद्धरण देखिए :—

"हरे-भरे पहाड़, रंग-विरंग के सुन्दर बूटे और स्वच्छ झरनों का बहाव अच्छे-से-अच्छे और सुन्दर-से-सुन्दर बागों की रौनक को मात करता है। इसके अतिरिक्त हिमालय के बर्फिस्तान की छटा भी दिल लुभा लेने में किसी तरह कसर नहीं करती।"[2]

पण्डित श्रीधर पाठक

जीवनी—पाठकजी का जन्म माघकृष्ण चतुर्दशी, संवत् १९१६ (११ जनवरी सन् १८६० ई०) को आगरा जिले के फीरोज़ाबाद परगने के जौंधरी नामक ग्राम में हुआ था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पं० लीलाधर था।[3] पाठकजी के वृद्ध प्रपितामह श्री कुशलेशजी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इनके पितामह पं० धरणीधर शास्त्री धुरन्धर नैयायिक थे। पिता पं० लीलाधरजी यद्यपि एक साधारण पण्डित थे, परन्तु सच्चरित्रता, भगवत्भक्ति और पवित्रता में अद्वितीय थे। इनके निधन पर पाठकजी ने 'आराध्य शोकांजलि' नामक संस्कृत निबन्ध पितृभक्ति

१. रामेश्वर-यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० ७१-७२

२. श्री बदरिकाश्रम-यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० १२५

३. पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक से प्राप्त विवरण के आधार पर

और कारुणिकता उद्रेक में लिखा था। बचपन से ही पाठकजी की रुचि लिखने-पढ़ने की ओर थी। प्रारम्भ में इन्हें संस्कृत पढ़ाई गई और १०-१५ वर्ष की अवस्था में अपनी तीव्र बुद्धि से उस भाषा में इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि संस्कृत बोलने और लिखने लगे। १२ वर्ष की अवस्था में इनका पढ़ना-लिखना ही छूट गया। १४ वर्ष की अवस्था में फिर पढ़ना आरम्भ किया। पहले तो कुछ फारसी पढ़ी और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल से हिन्दी की प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में प्रान्त-भर में इनका नम्बर प्रथम रहा। सन् १८७९ ई० में आगरा कालेज से अंग्रेजी मिडिल की परीक्षा पास की और इसमें भी सब उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में प्रथम पद प्राप्त किया। इसके एक ही वर्ष पीछे सन् १८८० ई० में इन्होंने एण्ट्रेंस की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की।"[1]

उक्त परीक्षा उत्तीर्ण करने के छः माह के अनन्तर सन् १८८१ ई० में आप कलकत्ता चले गए और वहाँ ६० रु० मासिक पर सैंसस कमिश्नर के स्थायी कार्यालय में नौकर हो गए। इसी नौकरी में इन्हें शिमला जाकर हिमालय के प्राकृतिक उदग्र वैभव को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। बाद में प्रयाग में लाट-साहब के कार्यालय में इनको एक स्थान मिल गया। इस कार्यालय के साथ पाठकजी को कई बार नैनीताल के प्राकृतिक दृश्यों को देखने एवं भ्रमण करने का अवसर मिला। सन् १८९८ ई० में जब कि इनका वेतन २०० रु० मासिक था, इनकी आगरा को बदली हुई और वहाँ से सन् १९०१ ई० में ३०० रु० मासिक वेतन पर इर्रीगेशन कमीशन के सुपरिण्टेण्डेण्ट पद पर नियुक्त हुए। कमीशन के अन्त (सन् १९०३) तक ये उसी पद पर रहे। तदनन्तर एक वर्ष पर्यन्त भारत सरकार के कार्यालय में डिप्टी-सुपरिण्टेण्डेण्ट और सुपरिण्टेण्डेण्ट रहे। वहाँ से तीन मास की छुट्टी लेकर यह काश्मीर सैर करने गए। वहाँ से लौटने पर "काश्मीर-सुषमा" नामक काव्य लिखा। उसके उपरान्त नौकरी करते हुए आप बराबर साहित्य की सेवा करते रहे। सन् १९२८ ई० में आपका देहान्त हो गया।

पाठकजी अपने प्रकृति वर्णन के लिए हिन्दी-साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। सरल और स्वाभाविक चित्रण अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। उनकी प्राकृतिक सौन्दर्य-सम्बन्धी अनुभूति एकदम पवित्र, स्वच्छ और सात्विक है, जिसमें हृदय की सहज ललक ही उनके व्यक्तित्व की देन है। युग की सामूहिक चेतना से उनका व्यक्तित्व प्रभावित है।

कृतियाँ—पाठकजी की कृतियाँ यों तो अनेक हैं, पर हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक "देहरादून" नामक है।

---

१. हिन्दी के निर्माता—(भाग १) डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० ७९

"देहरादून"[1]—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १६१५ ई० में इनके पुत्र पण्डित गिरिधर पाठक द्वारा इलाहाबाद से हुआ था। यह पद्मकोट प्रबन्धमाला का १६वाँ पुष्प है। इसमें पाठकजी ने अपनी देहरादून-शिमला आदि यात्राओं का सम्पूर्ण विवरण "बरवा" छन्द में लिपिबद्ध किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व इनकी ये यात्राएँ सन् १६१३ ई० में हिन्दी की प्रमुख मासिक पत्रिका "मर्यादा" में निकली थीं। "बरवा" इनका प्रिय छन्द था जिसमें इनकी यह यात्रा बहुत सुन्दर बन पड़ी है। मार्ग में पड़नेवाले जंगल, पहाड़ आदि के दृश्य-चित्रों को पाठकजी ने बहुत सुन्दर रूप से अंकित किया है। इन दृष्टियों से यात्रा-साहित्य का यह ग्रन्थ अविस्मरणीय है। इस ग्रन्थ की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य होंगी :—

पग-पग विपुल डगरवा पुलवा बन्ध,
सोहत सुलभ सगरवा सुखद प्रबन्ध।
चहुँ दिसि खिलित पहुपवा नव छवि धारि,
विचरत सुघर सरूपवा नर अरु नारि।
जिऊ भयौ अति प्रफुलितवा सुछवि निहारि,
नगर खेद अतुलितवा निपट बिसारि।[2]

बाबू गोपालराम गहमरी

जीवनी—आपका जन्म पौष कृष्ण ८ गुरुवार सन् १८६६ ई० में बारा (गाजीपुर) में हुआ था। आपके पूर्वज वहीं के निवासी थे। आपके प्रपितामह श्री जगन्नाथ साहु फ्रान्सीसी छींट के व्यापारी थे। उनके दो पुत्र थे—रघुनन्दन और ब्रजमोहन। रघुनन्दनजी के तीन पुत्र हुए—रामनारायण, कालीचरण और रामदास। यही रामनारायणजी गहमरीजी के पूज्य पिता थे। गोपालरामजी ने वर्नाक्यूलर मिडिल तक की शिक्षा गहमर में पाई। सन् १८७६ ई० में आपने मिडिल पास किया। उसके पश्चात् चार वर्ष तक आप गहमर स्कूल में लड़कों को पढाते तथा स्वयं उर्दू और अंग्रेजी का अभ्यास करते रहे। छोटी अवस्था होने के कारण आप नार्मल में भरती न हो सके और आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से आपके अभिभावक अंग्रेजी पढ़ाने का खर्च सँभाल न सकते थे। आपके पिता आपको ६ महीने का छोड़कर परलोक सिधारे थे।[3] सन् १८८८ ई० में आपने हाई स्कूल फर्स्ट ग्रेड में नार्मल की परीक्षा पास की। सन् १८८६ ई० में आपने रोहतासगढ़ मिडिल स्कूल की हैडमास्टरी ग्रहण की। वहाँ एक वर्ष तक काम करने चले गए। वहाँ आप सन् १८८६ ई० तक काम करते रहे, फिर "भारत मित्र" का सम्पादन करने कलकत्ता चले गए। वहाँ

---

१. लेखक को यह ग्रन्थ पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक की कृपा से प्राप्त हो सका
२. देहरादून, पृ० १५
३. हिन्दी के निर्माता—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १६

सन् १६०० ई० तक आप रहे। उसके अनन्तर गहमर आकर आपने "जासूस" नाम का मासिक पत्र निकाला। आपने उपन्यास, नाटक एवं कविता की पुस्तकें भी रची हैं। साहित्यिक क्षेत्र में आपका मूलभाव था सरल, सुगम सुबोध हिन्दी का प्रचार करना। आप सदा सरल, सबके समझने योग्य हिन्दी लिखते रहे। जासूसी उपन्यासों में आपका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से उभर सका है।

कृतियाँ—आपने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर भी एक पुस्तक लिखी है। इनका "लंका-यात्रा का विवरण" नामक ग्रन्थ, चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी से सन् १६१६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में गहमरीजी ने अपनी लंका-यात्रा का सम्पूर्ण विवरण देने का प्रयत्न किया है। इनकी यह यात्रा रेल और जहाज द्वारा हुई थी। धनुपकोटि तीर्थ-स्थान का एक उद्धरण देखिए :—

"कहते हैं जब रामचन्द्र लंका-विजय करके दल-बल सहित सीता को लिए यहाँ आये थे तब लौटती बेर धनुष से अपना बँधा हुआ विशाल सेतु यहाँ तोड़ दिया था, तभी से इसका नाम धनुपकोटि पड़ा।"[1]

ठाकुर गदाधरसिंह

जीवनी—आपका जन्म सन् १८६६ ई० में वाराणसी में हुआ था।[2] ये चन्देल क्षत्रिय थे। इनके पूज्य पिता का नाम ठाकुर दरियावसिंह सरदार बहादुर था। ये बंगाल की पाँचवीं नेटिव इन्फैण्टरी में सूबेदार थे। सन् १८३४ ई० में ये सेना में भरती हुए और सन् १८७८ में इन्होंने पेंशन ले ली। इस ४४ वर्ष की सेवा में इन्होंने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के काबुल, कन्धार, मुदकी, गजनी, फिरोजशहर, सुबराव, सौताल आदि अनेक युद्धों में वीरतापूर्ण भाग लिया था। सन् १८५७ ई० के विद्रोह के समय में छुट्टी लेकर आप घर आए हुए थे। अपनी सरकार पर आपदा देखकर ये घर पर न टिक सके, तुरन्त अपनी पल्टन पर लौट गए। इस समय इनको बाग़ी होने के अनेक प्रलोभन दिए गए, पर ये अपने स्वाभिव्रत पर दृढ़ रहे।[3] वे स्वामी दयानन्द के दर्शन कर चुके थे और स्वामीजी का इन पर भारी प्रभाव था। इन सब बातों का प्रभाव बालक गदाधरसिंह पर भी पड़ा।[4] इनकी माता भी पढ़ी-लिखी थीं। बाल्यावस्था में इनकी शिक्षा घर ही पर माता तथा एक शिक्षक द्वारा हुई। इन शिक्षक महोदय को रामायण पढ़ने का बड़ा अनुराग था। ठाकुर गदाधरसिंह भी दो घण्टे इनके साथ रामायण पढ़ते थे। पिता की इच्छा थी कि हमारा पुत्र सिपाही हो। अतएव १७ वर्ष की अवस्था में मैट्रिक उत्तीर्ण करके ये पिता की पल्टन

---

१. लंका यात्रा—गोपालराम गहमरी, पृ० ३८

२. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५७, द्वि० सं० १६४६

३. हिन्दी के निर्माता—भाग १, डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १२५, इण्डियन प्रेस, प्रयाग

४. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५७

में भरती हो गए। नियुक्ति के प्रथम वर्ष (सन् १८८८ ई०) में ये बरमा की लड़ाई पर गए। वहाँ इन्होंने सेना सम्बन्धी सब प्रकार का कार्य किया। वहाँ से लौटने पर ये अपनी सेना के कार्यालय में कार्य करने लगे। सन् १८९४ ई० में जब बंगाल की सेनाओं में जाति-भावना उठी तब ये १६वीं राजपूत पल्टन में बदल गए और स्कूल के अध्यापन का कार्य करने लगे। सन् १८९६ ई० में ये सातवीं राजपूत पल्टन में बदल गए।[1]

ठाकुर गदाधरसिंहजी ने सेना-विभाग में बीस वर्ष सेवा करके अपना ट्रान्सफर उत्तर-प्रदेश के डाक विभाग में करा लिया और वहीं कार्य करने लगे। उस समय सेना में इनका पद सूबेदार का था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों को इन्होंने खूब पढ़ा था और उनके अनुयायी थे। इनकी बड़ी बहिन भी बड़ी साहित्य-प्रेमी थीं, अनेक वर्षों तक उन्होंने "वनिता हितैषी" नामक मासिक पत्र निकाला था। ठाकुर गदाधरसिंह का देहावसान अक्तूबर २५, सन् १९२० ई० में हुआ था।[2]

आप हिन्दी के साहित्य-प्रेमी थे। आप पर स्वामी दयानन्दजी का पूर्ण प्रभाव था। आपका साहित्यानुराग ही आपके व्यक्तित्व का परिचायक है। ठाकुर गदाधरसिंहजी का स्वभाव बड़ा ही मिलनसार और नम्र था और देश-सेवा का रंग तो मानों उनकी नस-नस में भरा हुआ था।[3] यात्राओं का उल्लासपूर्ण वर्णन अपने ढंग का निराला है जिसमें आपका व्यक्तित्व निखर उठा है।

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर आपकी तीन पुस्तकें हैं—

(१) चीन में तेरह मास
(२) हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा
(३) रूस-जापान युद्ध ३ भाग

चीन में तेरह मास—गदाधरसिंहजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९०२ ई० में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ था। ठाकुर साहब सन् १९००-१ ई० में अपनी पल्टन के साथ चीन की लड़ाई में गए थे। ३१९ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने उसी महासंग्राम का आँखों-देखा सम्पूर्ण रोचक वृत्तान्त, चीन और जापान का संक्षिप्त इतिहास, रीति-नीति, चीनियों के धर्मविश्वास, खान-पान, व्यवहार, फौजी और देशी सभी वृत्तान्त, नामी मन्दिरों और इमारतों आदि के सर्वांग-वर्णन, बक्सर-विद्रोह, विदेशी अधिकार इत्यादि विषयों का वर्णन बड़ी सुन्दर और उपयुक्त रीति से किया है। इस पुस्तक की विशेषता और महत्ता पर हिन्दी और अंग्रेज़ी के विभिन्न पत्रों और पत्रिकाओं ने भी दृष्टिपात किया है। हम यहाँ उनके संक्षिप्त

---

१. हिन्दी के निर्माता—भाग १—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० १२६
२. वही, पृ० १२७
३. वही, पृ० १२७

उद्धरण भी दे रहे हैं। लखनऊ के प्रसिद्ध पत्र "ऐडवोकेट" ने लिखा था : "इसके पृष्ठ खोलने पर वहाँ जो कुछ हमने देखा उससे हमें बहुत आश्चर्य हुआ। इसके लेखक को ही इसका श्रेय जाना चाहिए जिसने सक्रिय और हलचलपूर्ण सैनिक जीवन में भी घटित होनेवाली घटनाओं को देखा और विस्तार से उनका चित्रण किया।··· यह पुस्तक निश्चित रूप से नवांकुरित हिन्दी साहित्य पर अपनी अमर छाप छोड़ेगी"[१] पं० शुकदेवबिहारी मिश्र "शशिभाल कवि" ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करते हुए लिखा है : "यह पुस्तक हिन्दी उपन्यास की भाँति रोचक है।"[२] पुस्तक की सुन्दरता और महत्ता का वर्णन करते हुए कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'इण्डियन मिरर' ने लिखा है : "यह पुस्तक भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं में अनूदित करने योग्य है।"[३] हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है : "हिन्दी में अब तक हमने ऐसी पुस्तक नहीं देखी है, न ऐसी पुस्तक अभी तक छपी है। भारतवासियों के लिए समयोपयुक्त शिक्षाओं का यह भण्डार है।"[४] 'हिन्दोस्थान' ने इसके सम्बन्ध में लिखा है : "पुस्तक ऐसी सुन्दर बनी है कि एक बार आरम्भ करके बिना समाप्त किए फिर नहीं रहा जाता है।[५] 'राजपूत' पत्र ने लिखा है कि : "इस ग्रन्थ के लेखक ने केवल युद्ध का ही वर्णन नहीं, किन्तु चीन-देश और आरम्भ से अपनी यात्रा का विवरण लिखकर अपने देशवासियों के लिए एक अपूर्व उपहार प्रस्तुत किया है।"[६] ऋतु-वर्णन का एक उद्धरण दृष्टव्य होगा :—

"धरती के दुग्धफेन निभ वसनों की कालिमा पत्र-पत्र विहीन वृक्षावलि हैं। जिस समय तुषार रूपी शुभ्र वसनों से पृथ्वी पर पड़े हुए सभी पदार्थ कूड़ा-करकट,

---

१. "When its pages were opened we were very agreeably surprised with what we found therein. It reflects great credit upon the author to have to carefully observed and noted in detail all the passing events in the hurry and scurry of Military life in active service...
This book is a distinct advance and is likely to leave a permanent mark upon the budding Hindi Literature."
Advocate, Lucknow, Thursday, 1 May, 1902.

२. "The nature of this book is Novel for Hindi—Pt. S. B. Misra, coated from the last page of the book—'My Coronation Visit to England'—by G. D. Singh."

३. This book deserves to be rendered into all the Vernacular's of India."
—The Indian Mirror—Calcutta, Tuesday, April 22, 1902

४. सरस्वती—मार्च १९०२ ई०

५. हिन्दोस्थान—अप्रैल, १३, १९०२ ई०

६. राजपूत—अप्रैल १५, १९०२ ई०

ईंट-पत्थर-कोयला, राख गड्ढा-खंदक सब ढँककर श्वेत वर्ण हो जाते हैं और सूर्यनारायण अपनी स्वर्णोपम किरण द्वारा मीठी मन्द मुस्क्यान से दृष्टि डालते हैं तब चकाचौंध से नेत्र स्थिर नहीं रह सकते।"[१]

हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा—ठाकुर साहब का यह ग्रन्थ सन् १९०३-४ ई० में प्रथम बार लाला सीताराम, जुही, कानपुर द्वारा प्रकाशित हुआ था। गदाधरसिंहजी को महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के समय सन् १९०२ ई० में इंग्लैण्ड जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। २८० पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी इस यात्रा का वर्णन दिया है। ठाकुर साहब ने महाराजाधिराज एडवर्ड सप्तम के लन्दन में राजतिलक महोत्सव का आँखों-देखा वर्णन प्रस्तुत किया है। इस यात्रा-वर्णन के साथ ही समुद्र-यात्रा तथा विलायत के अनेक दर्शनीय स्थानों के रोचक और हृदयग्राही वर्णन इसमें समाहित किए हैं। पुस्तक बहुत सुन्दर है। इस पुस्तक का एक उद्धरण ही यथेष्ट होगा—

"विद्या और ज्ञान-विज्ञान रूपिणी सरस्वती बुद्धि और विवेक द्वारा नीर-क्षीर विलगकारी हंस पर सवार होकर अपनी सौम्य, शान्त और जनमन मोदकारी रूप का दर्शन देती थी तब हृदय और मन ज्ञान के प्रकाश से आलोकमय हो जाता और समस्त संसार, हाँ सृष्टि और सृष्टा दोनों ही हस्तामलक हो जाते थे।"[२]

रूस-जापान युद्ध—गदाधरसिंहजी की इस पुस्तक का प्रकाशन पुस्तक प्रचारक कम्पनी, अजमेर से हुआ था। यह तीन भागों में विभाजित है। प्रथम और तृतीय भाग का प्रकाशन सन् १९०५ ई० में हुआ था और द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् १९०८ ई० में। इन तीनों भागों में गदाधरसिंहजी ने रूस और जापान-युद्ध का विस्तृत वर्णन दिया है। यह वर्णन साहित्यिक न हो सकने के कारण यात्रा-साहित्य में अधिक योगदान न दे सका।

पण्डित रामनारायण मिश्र

जीवनी—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अन्यतम संस्थापक स्वर्गीय पं० रामनारारण मिश्र का जन्म सारस्वत ब्राह्मण कुल में संवत् १९३३ (सन् १८७६ ई०) में भद्रकाली एकादशी (ज्येष्ठ कृष्ण ११) के दिन हुआ था। अपने जन्म की तिथि एवं स्थान के विषय में पंडितजी ने स्वयं ही इस प्रकार लिखा है: "मेरी जन्म-पत्री खो गई। इतना मालूम है कि मेरा जन्म भद्रकाली एकादशी पर हुआ था, जो ज्येष्ठ में निर्जला एकादशी के पन्द्रह दिन पहले पड़ती है अर्थात् मेरा जन्म-दिन ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी है। मेरे पिताजी ने क्वींस कालेज में मेरा नाम ४ अगस्त सन्

---

१. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० १७२

२. हमारी एडवर्ड तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ५९

१८८३ ई० लिखवाया था और वहाँ मेरी उम्र नौ बरस बतलाई थी। इस हिसाब से मेरा जन्म १८७४ में हुआ होगा, अर्थात् १९३२ या १९३३ में। जब गवर्नमैण्ट सर्विस में आया तब लोगों ने बतलाया कि जिसके जन्म की तारीख और महीना न मालूम हो वह पहली जुलाई लिख सकता है। सन् मैंने अन्दाज से १८७३ लिख दिया। मेरा जन्म-स्थान दिल्ली है जो उस समय पंजाब प्रान्त के अन्तर्गत था।"[1] पंडितजी के पूर्वजों का निवास-स्थान अमृतसर था और इनके पिता पंडित चिरंजीव मिश्र वहीं रहते थे। पंडितजी बचपन में वहीं उर्दू पढ़ते थे। इनके मामा डाक्टर छन्नूलाल इन्हें इनके वृद्ध माता-पिता के साथ बनारस ले आए। उस समय इनकी अवस्था सात-आठ वर्ष के लगभग थी। अपने मामा के सम्बन्ध में इन्होंने स्वयं लिखा है : "मेरे मामा डॉ० छन्नूलाल लाहौर मेडिकल कालेज से पढ़कर पेशावर और मियाँवाली में असिस्टेण्ट सर्जन हुए। उत्तर-प्रदेश की सरकार की माँग पर वे इस प्रान्त में आ गए। कुछ दिनों तक मुरादाबाद चिकित्सालय में रहकर वाराणसी के सहायक सर्जन हुए और वहीं मेरे माता-पिता को बुलवा लिया। मैं शायद उस समय सात-आठ वर्ष का था। डॉ० छन्नूलाल सितम्बर १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो नगर में जो सर्वधर्म-सम्मेलन (पार्लियामैण्ट आफ रिलीजन्स) हुआ था उसमें सम्मिलित हुए थे।"[2]

काशी आने के बाद यहीं इनका स्थायी निवास हो गया। पंडितजी की शिक्षा सं० १९४० (४ अगस्त, १८८३) से काशी के क्वींस कालेज में प्रारम्भ हुई और वहीं से इन्होंने संवत् १९५१ (सन् १८९४) में विज्ञान लेकर द्वितीय श्रेणी में स्कूल की फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९०० ई० में बी० ए० उत्तीर्ण होकर कालेज छोड़ा। इण्टरमीडिएट में इन्होंने फारसी ली थी और बी० ए० में रसायन-शास्त्र (कैमिस्ट्री) और दर्शन। कालेज छोड़ने के बाद उसी वर्ष ये राजकीय सेवा में नियुक्त हुए और उत्तर प्रदेशीय शिक्षा-विभाग में सबडिप्टी-इन्सपेक्टर के पद पर एक वर्ष जौनपुर रहे। वहाँ से डिप्टी-इन्सपेक्टर होकर बस्ती एवं वाराणसी गए और १९०८ ई० तक उसी पद पर रहे। दस मास तक भारत सरकार के प्रधान शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर जनरल आव एजूकेशन) के कार्यालय में शिमला में कार्य किया। वहाँ से फिर डिप्टी-इन्सपेक्टर के पद पर बरेली और जौनपुर गए। वाराणसी में ६ वर्ष तक डिप्टी-इन्सपेक्टर रहे। ४ अगस्त, १९१० ई० में वे सरकारी आज्ञा से काशी के हरिश्चन्द्र स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर भेजे गए। यहाँ से सन् १९२० ई० में गवर्नमेण्ट स्कूल के प्रधानाध्यापक होकर देवरिया गए और सन् १९२२ में उसी पद पर मिर्जापुर में स्थानान्तरित हुए। सरकार ने पं० मदनमोहन मालवीय

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर —वर्ष ५८, अंक ३, सं० (२०१०), पृ० ३९९

२. वहीं, पृ० ४००

के आग्रह पर इन्हें काशी के सेण्ट्रल हिन्दू-स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर सन् १९४४ ई० तक कार्य कराया। इसके पश्चात् ये वैतनिक सेवा से अवकाश ग्रहण कर अवैतनिक रूप से सार्वजनिक सेवा-कार्यों में प्रायः अपना पूरा समय देने लगे। सन् १९३८ ई० से सन् १९४२ ई० तक ये काशी के दयानन्द इण्टर कालेज के अवैतनिक प्रिन्सिपल रहे। पंडितजी की मृत्यु सं० २००९ में शिवरात्रि के दिन (११ फरवरी, १९५३) बुधवार की रात्रि में हुई। इस प्रकार उन्होंने लगभग ७७ वर्ष की आयु पाई।[1] पंडितजी सरल स्वभाव और साधारण वेशभूषा के व्यक्ति थे। ये मिष्टभाषी और व्यवहार-कुशल थे।

ये हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। इनके हिन्दी-प्रेम के कारण ही उन्हें हिन्दी प्रचारिणी संस्थाएँ समय-समय पर सम्मानित किया करती थीं। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी राजकीय सेवा के पदों पर एवं सार्वजनिक कार्य-क्षेत्रों में भी प्रतिष्ठा मिली। इनकी प्रशंसनीय सार्वजनिक सेवा के उपलक्ष में उत्तर-प्रदेश के गवर्नर की ओर से वाराणसी के कमिश्नर ने इन्हें एक घड़ी भेंट की थी। सन् १९१० ई० तक ये वाराणसी म्यूनिसिपल बोर्ड के सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य रहे तथा उसकी शिक्षा-समिति के अध्यक्ष चुने गए थे। अपनी साहित्यिक-सेवाओं के कारण ही सरकार द्वारा ये उत्तरप्रदेशीय उच्च एवं माध्यमिक शिक्षा परिषद्, प्रान्तीय पाठ्य-पुस्तक समिति, शिक्षा-नियम-संशोधन समिति तथा तीन बार उत्तर प्रदेशीय हिन्दुस्तानी एकेडेमी के भी सदस्य नियुक्त किए गए थे।[2]

हिन्दू-स्कूल में प्रधानाध्यापक रहते हुए ये हिन्दू-कन्या विद्यालय के पदेन-मन्त्री भी थे। स्वामी-दयानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे एवं महामना मालवीयजी के विचारों और कार्यों का पंडितजी पर बहुत प्रभाव था। हिन्दी-भाषा के प्रति पंडितजी को सहज प्रेम था, स्वयं तो इसका व्यवहार करते ही थे, इसके संरक्षक एवं प्रचार के लिए हर प्रकार से निरन्तर प्रयत्नशील रहते तथा दूसरों को भी इसके लिए प्रोत्साहित करते थे।

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सम्मेलन (मद्रास सं० १९९५), अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन के राष्ट्र-भाषा सम्मेलन (मुरादाबाद सं० २००१) तथा पंजाब आर्य प्रतिनिधि-सभा की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर हुए राष्ट्र-भाषा सम्मेलन (लाहौर सं० २००३) के वे सभापति चुने गए थे। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से तो उनका सम्बन्ध था ही। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने सं० २००५ में इन्हें "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्रदान की थी। आपके व्यवहार और उद्योग से

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर—वर्ष ५८, अंक ३, सं० (२०१०) पृ०, ३९९

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—हीरक जयन्ती अंक के आधार पर—वर्ष ५८, अंक ३, सं० २०१०, पृ० ४०२

प्रभावित होकर स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी ने अपना ज्वालापुर का ४५,००० रुपये का सत्यज्ञान-निकेतन नागरी प्रचारिणी सभा को अर्पित कर दिया। सभा के आर्य-भाषा पुस्तकालय के लिए पंडितजी ने अपने निजी संग्रह की लगभग १,२०० पुस्तकें प्रदान कीं जो उनके एकमात्र चिरंजीव सुपुत्र के नाम पर श्रीशचन्द्र-संग्रह में आर्य-भाषा पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-साहित्य पर आपकी एक प्रसिद्ध पुस्तक "योरोप-यात्रा में छः मास" नाम से है। ५६३ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९३२ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में मिश्रजी ने अपनी यूरोप-यात्रा का विस्तृत-विवरण दिया है। वे काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय से सैण्ट्रल हिन्दू-कालेज तथा शिक्षा-समितियों के अखिल भारतीय संघ की ओर से प्रतिनिधि बनकर जिनेवा (स्विटज़रलैण्ड) और एल सिनोर (डैनमार्क) के शिक्षा-सम्बन्धी सम्मेलनों में उपस्थित होने के लिए गए थे। वहाँ की विभिन्न शिक्षा-समितियों के सम्मेलनों की बैठकों में आप सम्मिलित हुए। यूरोप की इन शिक्षा-समितियों एवं प्रसिद्ध स्थानों की यात्रा का आपने बड़ा रोचक वर्णन सरल भाषा में लिपिबद्ध किया है। देखिए—

"३० अक्तूबर को आधी रात के बाद गाड़ी मुगलसराय पहुँची। हम लोग उसी रात सकुशल अपने घर पहुँचे। इस तरह छः महीने की यात्रा सकुशल समाप्त हुई।"[1]

श्री गणेशनारायण सोमाणी

जीवनी— गणेशनारायण सोमाणीजी का जन्म जयपुर में संवत् १९३५ भाद्र शुक्ल १३ सोमवार (९ सितम्बर, सन् १८७८ ई०) को सोमाणी वंश में हुआ था।[2] सोमाणीजी के पूज्य-पिता सेठ गोपीनाथजी इनको अल्प-अवस्था में ही छोड़कर दिवंगत हो गए थे। इनके पिताजी हिन्दी के अच्छे विद्वान् व कविता के रसिक थे।[3] इनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अजमेर गवर्नमेण्ट कालेज में हुई। प्रयाग विश्व-विद्यालय से आप ग्रेजुएट हुए। ग्रेजुएट होते ही एक प्रथम श्रेणी के बड़े सामन्त के शिक्षक व अभिभावक नियुक्त हुए। इसके पश्चात् आप जोबनेर हाई-स्कूल व वाल्टर नोबिल्स स्कूल, बीकानेर के प्रधानाध्यापक रहे। इसके बाद आप राजस्थान की सबसे पुरानी और बड़ी टेक्सटाइल मिल के मैनेजर-पद पर आसीन रहे। कई बार जयपुर गवर्नमैण्ट ने प्रसन्न होकर बड़ी राशि का पुरस्कार देकर सोमाणीजी को सम्मानित किया। सोमाणीजी जयपुर की सर्वप्रथम लोक-संस्था सर्वहितकारिणी सभा के प्रथम अध्यक्ष हुए। सन् १९२० ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन

---

१. यूरोप-यात्रा में छः मास—रामनारायण मिश्र, पृ० ५६३

२. मेरी जीवन-कहानी—गणेशनारायण सोमाणी, पृ० १, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, १९४८

३. वही—पृ० ३

के साथ होनेवाले अखिल भारतीय देशी राज्य-सम्मेलन नागपुर के आप प्रथम सभापति थे। कई वर्ष तक सोमाणीजी नागरी प्रचारिणी सभा, जयपुर के मन्त्री भी रह चुके हैं। आज-कल आप सोमाणी-बिल्डिंग्स, जयपुर में ही रहते हैं। अब आप अपने पारिवारिक जीवन में बड़े आनन्द से हैं। आप सच्चे देशभक्त हैं। आर्य-समाज की ओर आपका बचपन से ही झुकाव था, महर्षि दयानन्द सरस्वती के आप अनन्य भक्त हैं। जयपुर आर्य-समाज के कई वर्ष तक प्रधान भी रह चुके हैं। सोमाणीजी युवावस्था से अपनी इस वृद्धावस्था तक एक निर्भीक लेखक, वक्ता व कार्यकर्त्ता रहे हैं और निरन्तर अपने देश की नैतिक, सामाजिक, व आर्थिक उन्नति के लिए तत्पर रहे हैं। सरकारी बड़े पदों पर आरूढ़ होते हुए भी इन्होंने जनता की हर प्रकार से सहायता की है।[1]

कृतियाँ—हिन्दी-यात्रा साहित्य पर सोमाणीजी की "मेरी यूरोप-यात्रा" नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १९३२ ई० में वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से मुद्रित हुई थी। २०१ पृष्टों की इस पुस्तक में सोमाणीजी जैसे अदम्य उत्साही यात्री ने अपनी पूरी यूरोप-यात्रा अपनी प्रिय पुत्री को पत्रों के रूप में लिख भेजी थी। आपने यह यात्रा केवल सैर-सपाटे के लिए की थी। सम्पूर्ण पुस्तक पत्रों के रूप में ही है। सोमाणीजी ने स्वयं लिखा भी है: "मैंने यह पत्र साधारण बोलचाल की भाषा में लिखे हैं न कि इससे पूर्व रचित मेरी पुस्तकों के स्टाइल में। उन्हीं पत्रों की प्रति उतरवाकर पुस्तक-रूप में रक्खी गई है।"[2] इस यात्रा-पुस्तक में मारवाड़ी मुहावरों एवं शब्दों का बहुत प्रयोग किया है। सोमाणीजी के जीवन की यह प्रथम विदेश-यात्रा थी। जिनेवा के दृश्य का एक उद्धरण देखिए :—

"कल यहाँ गुलाब की बेलें भी देखीं जो ऐसी कोमल लचकीली टहनियों की थीं कि जिनका कहीं खम्भा-बना दिया और कहीं छाया करके गुंज कर दी हो। एक तरफ समुद्र, दूसरी ओर आबूवाले गुरु-शिखर पहाड़ की तरह पहाड़ और बीच में बँगले व खेती थी।[3]

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक

जीवनी—स्वामी सत्यदेवजी का जन्म पंजाब के लुधियाना नगर में सन् १८७९ ई० में सिक्ख थापर खत्रियों में हुआ था। इनके पिता का नाम मास्टर कुन्दनलाल और माता का नाम श्रीमती नारायणदेवी था। यह बड़ी शान्त-स्वभाव, मधुर-भाषिणी और सरल-हृदया थीं, पर पिताजी स्वभाव के बड़े तीखे और क्रोधी थे, यद्यपि दिल के साफ थे। माताजी स्वतन्त्रता प्रिय थीं। उनका यह गुण इन्हें मिला। पिता बड़े कट्टर सनातनधर्मी और नियमपूर्वक पूजा-पाठ करनेवाले थे।

१. लेखक के नाम आए श्री सोमाणीजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
२. मेरी यूरोप-यात्रा—(भूमिका में उद्धृत)—गणेशनारायण सोमाणी।
३. मेरी यूरोप-यात्रा—गनेशनारायण सोमाणी, पृ० ४५.

धर्म में श्रद्धा की भावना इनको वहीं से मिली। पिता मध्यमवृत्ति के गृहस्थ थे।[1] सन् १८६५ ई० में सत्यदेवजी ने मिडिल परीक्षा पास की, आप स्वामी महानन्दजी के शिष्य हैं। स्वामी महानन्दजी दादू-पन्थियों की एक गद्दी के शिष्य थे। जब उन्हें स्वामी दयानन्दजी का देश-भक्तिपूर्ण उपदेश मिला तो वे आर्य-समाज में आ गए। इन्हीं स्वामीजी से सत्यदेवजी ने संस्कृत का अध्ययन किया जिसका वर्णन करते हुए इन्होंने स्वय ही लिखा भी है : "स्वामीजी के पास मैं कई महीने रहा और 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी' पढ़ी।[2] यहीं से ये संन्यासी हो गए। सन् १८८६ ई० में स्वामीजी ने सर्वप्रथम लुधियाना से लाहौर तक की रेल-यात्रा की थी। सन् १६०५ ई० में आपने केवल १५ रुपये की पूँजी से अमरीका की यात्रा की। ये सदैव ही स्वावलम्बी स्वभाव के रहे हैं। सन् १६०६ ई० जून मास से लेकर सन् १६०७ ई० के जून मास तक स्वामीजी शिकागो विश्वविद्यालय में राजनीति-विज्ञान, व्याख्यान-कला, लेखन-कला, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, आदि विषयों का अध्ययन करते रहे। अमरीका पहुँचकर ही आपने हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' में लेख लिखने आरम्भ किये थे।[3] जुलाई, १६०७ ई० से आपने ओरेगन विश्वविद्यालय में पढ़ना शुरू किया और सन् १६०८ ई० से १६१० ई० तक वाशिंगटन रियासत के स्टेट-विश्वविद्यालय में पढ़ते रहे। इस विषय का वर्णन करते हुए आपने लिखा है : "यहीं से मैं ग्रेजुएट हुआ और यहीं से मैं अमरीका भ्रमण को निकला। वाशिंगटन, ओरेगन, कैलीफोर्नियाँ, अरीजोना, टैक्साज तथा न्यू मैक्सिको इन ६ रियासतों में मैंने पैदल भ्रमण किया और २३०० मील की इस यात्रा का अद्‌भुत अनुभव प्राप्त किया जो मेरे जीवन की अमूल्य निधि बन गई।"[4] सन् १६२७ ई० में स्वामीजी फिर जर्मनी पहुँच गए और तीन वर्ष रहे। १६२८ ई० में वीएना, प्राग, बर्लिन, फ्रेंकफर्ट, ज्यूरिच, कोलोन और हालैंड का भ्रमण किया। जनवरी सन् १६३३ ई० में स्वामीजी ने ज्वालापुर-कनखल रोड पर २००० रुपये में ५ बीघा (पक्का) भूमि का टुकड़ा नहर के किनारे खरीद लिया। राजनीति-क्षेत्र से अब स्वामीजी ने संन्यास ले लिया है। अब आप इसी स्थान पर स्थापित सत्यज्ञान निकेतन में ही रहते हैं।[5] स्वामीजी नेत्रों की ओर से जीवन-भर कष्टों का सामना करते रहे और अब उन्हें बिलकुल

---

१. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १-२२, प्र० संस्करण—१६५१
   नोट :—लेखक को यह पुस्तक स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हो सकी थी। यह उनकी निजी प्रति थी। यह पुस्तक प्रकाशित होते ही सरकार द्वारा जब्त कर ली गई थी।

२. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० ७६

३. स्वतन्त्रता की खोज में, पृ० ११६-११७

४. वही, पृ० ११७-११८

५. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

नहीं दिखाई देता है। अपने भोजन एवं नेत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ही लिखा भी है: "मैं चौबीस घण्टे में एक बार अन्न लेता हूँ और पाँच छटाँक आटा खाता हूँ, वह भी पराँठे के रूप में। शाक-भाजी खूब खाता हूँ और रात के समय आधा सेर दूध केले के साथ, अथवा बादाम और मुनक्के लेता हूँ। दाल और चावल बिलकुल नहीं खाता। ...आँखों से मैं बिलकुल नहीं देखता।[1]"

स्वामीजी में उदारता, त्याग, साधना, स्पष्टवादिता, निर्भीकता और साहित्य-प्रेम एक साथ ही मिलते हैं। स्वामीजी का हिन्दी-प्रेम सराहनीय है। इन्होंने हिन्दी के लिए बड़े उद्योग किए हैं। विदेशों की साहसपूर्ण यात्राएँ जो इन्होंने कीं उनके वर्णन को पढ़-पढ़कर जाने कितने युवकों के हृदय में अपनी साधनहीन अवस्था में सुदूर पाश्चात्य देशों में जा-जाकर ज्ञानार्जन करने के हौसले उत्पन्न हुए। ये निरन्तर हिन्दी में लिखते और व्याख्यान देते रहे।[2] इनकी वाणी और कलम में तीखी चुभने-वाली शक्ति रहती है। अमेरिका से भी अच्छे-अच्छे गद्य-लेख प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों में सदा छपवाते रहे और स्वदेशानुसार पूर्ण लेखों में अनेकानेक बातों का वर्णन करते रहे।[3] स्वामीजी एक प्रकार से राजनीतिक संन्यासी रहे, यद्यपि राजनीति के झोंके में नहीं आए—ये जो कुछ लिखते उसमें हार्दिक भावों का ज्वार भरा रहता था। ये एक आदर्श पर्यटक रहे। खेद है वे अब नेत्रों से लाचार होकर पढ़ने-लिखने से विवश हैं, फिर भी पत्रों का उत्तर अपने सहायक द्वारा अवश्य भिजवा देते हैं, जो कि इनके व्यक्तित्व की उदारता का पूर्ण परिचायक है। ३० नवम्बर, सन् १९४३ ई० को इन्होंने अपनी संपूर्ण सम्पत्ति (सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर सहित) जिसकी कीमत तब २५०० रुपये थी, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को पश्चिमी-भारत में नागरी-लिपि, हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य के प्रचार के लिए दे दी है। स्वामीजी का यह दान अमर रहेगा। स्वामीजी का सिद्धान्त सदैव अत्याचार का विरोध करना—ईश्वरीय आज्ञा का पालन करना रहा है।[4] देशभक्ति के कारण इन्हें कई बार जेल-यात्रा भी करनी पड़ी है। इन यात्राओं में इनका पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धुदास, पंडित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द और गणेशशंकर विद्यार्थी-जैसे देशभक्तों का साथ रहा है। यूरोप महाद्वीप से हिन्दी में रेडियो-भाषण सर्वप्रथम स्वामीजी ने ही अपने देश-वासियों को सुनाया था। हिन्दी की ओर उन्हें अब बहुत निराशा-सी हो गई है। श्रीमती विपुलादेवी ने लिखा है: "स्वामी सत्यदेवजी से ८ फरवरी, १९५३ ई० को जब मेरी भेंट हुई और प्रारम्भिक बातों के अनन्तर ज्योंही मैंने स्वामी सत्यदेवजी से हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया,

---

१. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५६१

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य चतुरसेन, पृ० ५५८

३. मिश्रबन्धु-विनोद—भाग ४—मिश्रबन्धु, पृ० ३४७

४. Resistance to tyranny is a obedience to God—*Satya Deva.*

त्योंही असन्तुष्ट भाव से उन्होंने पहला वाक्य यही कहा : "हिन्दी साहित्य की हालत कैसी है ? बहुत खराब है। लोग नौकर रख-रखकर पुस्तकें लिखवाते तथा नाम कमाते जाते हैं। वे कुछ भी श्रम नहीं करते। ऐसी रचनाओं से कहीं साहित्य बना करता है। उसके लिए साधना चाहिए।"[1] एक स्थान पर इस निराशा और विक्षोभ को उन्होंने और भी प्रकट किया है : "व्यक्ति के अभाव के कारण, अर्थात् चरित्रपूर्ण, त्यागपूर्ण व्यक्ति के अभाव के कारण संस्थाएं भी नहीं चल रही हैं। मैं सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर में रहता हूँ। ५ एकड़ भूमि के बीच में मेरी गुफा है। मैंने अपना पचास-साठ हजार का निकेतन नागरी-प्रचारिणी सभा को दान दे दिया है, पर आज तक सभा का कोई आदमी न आया जो वहाँ धूनी रमाकर बैठे।"[2]

स्वामीजी की आज भी यही इच्छा है कि हिन्दी का भण्डार भरे, इस इच्छा को प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है : "सत्यज्ञान निकेतन ज्वालापुर को मैं उच्चकोटि का हिन्दी-साहित्य-केन्द्र बना देना चाहता हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यूरोपीय भाषाओं के विद्यार्थी विदेशी सज्जन, इस निकेतन में आकर हिन्दी-साहित्य पढ़ें और अपनी-अपनी भाषाओं के सुन्दर और उपयोगी ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का भण्डार भरें। सत्यज्ञान निकेतन को मैं एक भाषा-शिक्षणालय बना देना चाहता हूं।"[3] स्वामीजी भारत के उन गिने-चुने महान् आत्माओं में से एक हैं, जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की खोज और प्राप्ति में अपने जीवन को अर्पण कर दिया। इन्होंने सांसारिक सुख-भोगों पर लात मारकर एक तपस्वी का जीवन अपनाया है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और व्याख्यानदाता होने के साथ-साथ स्वामी सत्यदेवजी हमारे देश के उन पंथान्वेषी साधकों में से हैं जिन्होंने अपनी उगती जवानी में ही अनन्त की खोज को अपना जीवन-ध्येय बना लिया और दुनियादारी को त्यागकर पूरे आत्मविश्वास के साथ विश्व के परिव्राजक बन गए। उनके लेखन और प्रवचन में निर्भीकता और ईमानदारी के साथ-साथ अति सुस्पष्टता और प्रोत्साहना भी होती है। उसकी ओजस्विता प्रभावित किए बिना नहीं रहती। स्वामीजी के जीवन और व्यक्तित्व को हम अद्भुत साहस, अटूट आत्म-श्रद्धा और अदम्य जिज्ञासा की गाथा कह सकते हैं।

कृतियाँ—साहित्य के क्षेत्र में स्वामी सत्यदेवजी के ३२ ग्रन्थ हैं।[4] हिन्दी-यात्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों में से आप एक हैं। अभी तक यात्रा-साहित्य के क्षेत्र

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान—श्रीमती विपुलादेवी का लेख—७ अप्रैल, १९५७, पृ० २५, कालम १, (नई दिल्ली)

२. वही, पृ० २६, कालम ४

३. स्वतन्त्रता की खोज में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५६३

४. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

में आपके—अमरीका दिग्दर्शन (१९११), मेरी कैलाश-यात्रा (१९१५), अमरीका भ्रमण (१९१६), मेरी जर्मन-यात्रा (१९२६), यात्री-मित्र (१९३६), यूरोप की सुखद स्मृतियाँ (१९३७), ज्ञान के उद्यान में (१९३७), नई दुनियाँ के मेरे अद्‌भुत संस्मरण (१९३७), अमेरिका प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी (१९३७), स्वतन्त्रता की खोज में (१९५१), मेरी पाँचवीं जर्मनी यात्रा (१९५५) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

१. अमरीका दिग्दर्शन—स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार देवनागरी प्रेस, कलकत्ता से सन् १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ था। २६५ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने अमरीका जाने के मार्ग में आई हुई सभी कठिनाइयों का बहुत ही सुन्दर तथा तथ्यपूर्ण वर्णन दिया है। इस पुस्तक में स्वामीजी ने शिकागो की रात्रि तथा रविवार, बिजली की रेलगाड़ी, जिनेवा झील की सैर, कारनेगी विश्वविद्यालय, अमेरिका में विद्यार्थी-जीवन, सियेटल का एक दुकानदार, न्यूयार्क नगरी में गेरी बाल्डी, मिस पारकर का स्कूल, अब्राहम लिंकन की शतवर्षी, अमेरिका की स्त्रियाँ, वाशिंगटन, शिकागो विश्वविद्यालय, अमरीका में योग की चर्चा, धार्मिक स्वतन्त्रता के पुजारी अमरीकन, अमरीका में समाज-संगठन की शिक्षा आदि विषयों पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किए गए हैं। प्रायः यह सभी लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुके हैं। यह ग्रन्थ स्वामीजी के देशभक्ति के भाव से भी भरा है। अमेरिका-यात्रा का संक्षिप्त-विवरण ही इसमें दिया गया है। देखिए एक उद्धरण—

"भगवान् सूर्यदेव की स्वर्णमयी किरणें डेक पर खड़े यात्रियों को सियेटल नगर की ओर आह्वान करती थीं। पैसेफिक महासागर भी अग्निबोट के साथ खेलता हुआ मन्द-मन्द मुस्कराता था और उस मुस्कराहट में रंग-बिरंगे इन्द्र-धनुष की आभा यात्रियों का मन मोहे लेती थी।"[1]

२. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामीजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार सन् १९१५ ई० में सत्यग्रन्थमाला, काशी से प्रकाशित हुआ था। इसका नवीन संस्करण सन् १९३७ ई० सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से प्रकाशित हुआ। १४६ पृष्ठों का यह ग्रन्थ चार खण्डों में विभक्त है। सन् १९१५ ई० में स्वामीजी ने काठगोदाम से अलमोड़ा, तकुला से बागेश्वर, कयकोट, श्यामधुरा, तेजम, जोहार, बागडवार होते हुए तिब्बत तक की यात्रा की थी। इस ग्रन्थ में उसी यात्रा का विस्तृत वर्णन है। पुण्यभूमि कैलाश और मानसरोवर की प्रदक्षिणा के साथ-साथ हिमालय के श्वेत भवन का बहुत ही सुन्दर वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयों का वर्णन भी स्वामीजी ने बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। वर्णन तथा वर्णित

---

१. अमरीका दिग्दर्शन—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ८६

विषय की दृष्टि से यात्रा-साहित्य का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। कैलाश-यात्रा का यह वर्णन बहुत ही मनोरम है। इस ग्रन्थ पर मद्रास के प्रसिद्ध पत्र 'हिन्दू' दैनिक ने लिखा है : "यह छोटी पुस्तक लेखक की कठिन किन्तु पवित्र कैलाश-यात्रा की दैनन्दिनी है। स्वामी सत्यदेव एक सजीव लेखनी के अधिकारी हैं और कभी-कभी वह अपने स्पष्ट चित्रणों के द्वारा पाठक को उठाकर भव्य हिमालय के सौन्दर्य की गोद में बिठा देते हैं। वह अपनी यात्रा की बहुत-सी छोटी-छोटी किन्तु रुचिकर घटनाओं तथा साहसिक कृत्यों का उल्लेख भी करते हैं और हमको हिमालय-यात्रा की मुग्धता तथा उसकी कठिनाई का भी बोध कराते हैं।"[१] एक उदाहरण देखिए—

"आनन्द से मस्त जा रहा था जहाँ प्यास लगती, झरनों का स्वच्छ जल पी लेता। पर्वतेश्वर हिमालय के सुरम्य दृश्यों को देख-देख मन मुदित हो रहा था। देवदारु उन्नत मुख किए सुमधुर स्वर से सर-सर नाद कर मेरे चित्त को आह्लादित करते थे।"[२]

३. **अमरीका-भ्रमण**—सत्यदेवजी की यह पुस्तक सत्यग्रन्थमाला कार्यालय, फर्रुखाबाद से प्रकाशित हुई थी। इसका प्रथम संस्करण हमें देखने को नहीं मिल सका है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९१६ ई० में हुआ था। यात्रा-साहित्य सम्बन्धी १२० पृष्ठों की यह पुस्तक एक उपन्यास के रूप में लिखी गई है। अमेरिका के बीहड़ एवं सर्द मैदानों में बिना गर्म कपड़ों के स्वामीजी ने किस प्रकार रातें बिताई और क्योंकर बिना किसी साधन के पैदल २,३०० मील की यात्रा की, इसका रोचक वर्णन इस ग्रन्थ में है। इस भ्रमण में आपको नौ महीने लगे। यह भ्रमण सियेटल (अमरीका) से प्रारम्भ हुआ था और इसका न्यूयार्क में अन्त हुआ था। स्वामीजी ने अपने भ्रमण में अमेरिका के लोगों को भारत की वर्त्तमान दशा से किस तरह परिचित कराया है, इसका भी विवरण दिया गया है। इस पुस्तक में आपने अमरीका की सामाजिक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति का सच्चा हाल लिखने का प्रयत्न किया है। इसमें

---

१. "The small book is a diary of the authors arduos pilgrimage to the Holly Kailash. Swami Satya Deva wields a facile pen and sometimes he transports the reader and plants him right in the centre of the grand mountain scenery on the Himalyas by the vividness of his descriptions. He narrates many an interesting anecdote and adventure on his journey, which give one a clear idea of the thrills as well as the difficulties of mountaineering on the Himalyas".

—'Hindu' Daily—Madras.

(यूरोप की सुखद स्मृतियाँ के पुस्तकान्त से उद्धृत)

२. मेरी कैलाश-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १२७

अपनी प्रतिदिन की सरस एवं मनोरंजक बातों का उल्लेख भी किया गया है। रोचक शैली में लिखा हुआ यह सुन्दर यात्रा-ग्रन्थ है। इसका एक उद्धरण देखिए—

"जंगलों के बीच से प्रकृति की शोभा देखता हुआ मैं चुपचाप जा रहा था। सब संसार शान्त था। हाँ, प्रकृति अपनी वाणी से इस शान्ति को भंग करती थी। ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया, शब्द की महिमा बढ़ती गई। पक्षियों ने अपना राग आरम्भ किया, वन-बिलारों का चीत्कार भी पहाड़ियों में सुनाई देने लगा।"[1]

४. मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामीजी का यात्रा-सम्बन्धी यह चौथा ग्रन्थ है। इसका द्वितीय संस्करण सन् १६२६ ई० में सत्यग्रन्थमाला कार्यालय, देहरादून से प्रकाशित हुआ था। सत्यदेवजी ने यह यात्रा विशेष रूप से अपने नेत्रों की चिकित्सा कराने के लिए की थी। इस ग्रन्थ में स्वामीजी ने जर्मनी की यात्रा का बड़े मनोरम ढंग से वर्णन किया है, जिसमें जर्मन की प्यारी राइन नदी का वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। देखिए—

"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेशकर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी की सारी जीवन-यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद और रम्य भाग है। यहाँ प्राचीन गढ़ियों में खण्डहर, विचित्र पर्वत-शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की बेलें और अद्भुत कन्दराएँ इतनी हैं कि जिनके कारण राइन नदी प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई है।"[2]

५. यात्री-मित्र—इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १६३६ ई० में सत्यग्रन्थमाला, ज्वालापुर से हुआ है। स्वामीजी ने इस पुस्तक में विशेषत: यात्रा के समय साथ ले जानेवाली आवश्यक सामग्रियों तथा यात्रा के अन्य अनुभवों का सुन्दर वर्णन किया है। यह पुस्तक यात्रियों के लिए बहुत सुन्दर है। इनकी इस पुस्तक पर समालोचना करते हुए मद्रास का प्रसिद्ध दैनिक 'हिन्दू' लिखता है: "स्वामी सत्यदेव उनको जो भारत अथवा भारत के बाहर भ्रमण करने के इच्छुक हों उपदेश देने की पूर्ण योग्यता रखते हैं, क्योंकि उन्होंने विभिन्न देशों का विस्तृत पर्यटन किया है। वह यात्रियों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों को जानते हैं। इस पुस्तक में वह इच्छुक यात्रियों को असंख्य ऐसी बातें बताते हैं जो उनके लिए काफी लाभदायक सिद्ध होंगी।"[3]

---

१. अमरीका-भ्रमण—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १५

२ मेरी जर्मन-यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५५

३. "Swami Satya Deva is well qualified to advice those who intend to traval extensively either in India or abroad; for he has travelled widely in different countries, he knows the needs and difficulties that occur to travellers. In this book he gives innumerable tips to intending travellers which he dare say, will be very useful to them."

—'Hindu'—Daily—Madras.

(यूरोप की सुखद स्मृतियाँ पुस्तक के अन्त से उद्धृत)

६. **यूरोप की सुखद-स्मृतियाँ**—सत्यदेवजी का यह ग्रन्थ प्रथम बार अगस्त सन् १६३७ ई० में ज्वालापुर से प्रकाशित हुआ था। वास्तव में यह 'मेरे यूरोप के अनुभव' नामक ग्रन्थ का ही दूसरा रूप है। इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने स्वयं ही 'स्वतन्त्रता की खोज में' लिखा है : " 'मेरे यूरोप के अनुभव' ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद से छपी थी और बिलकुल तैयार हो गई थी, किन्तु देश का वातावरण उस समय भयावह होने के कारण प्रेस-मालिकों ने उस सुन्दर छपी हुई पुस्तक को जला दिया और उसकी एक प्रति केवल मेरे पास रह गई। उसके कुछ भाग तो मैंने 'यूरोप की सुखद-स्मृतियों' में सम्मिलित कर दिये और शेष लेख दूसरी यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक में सम्मिलित कर दिए जाएँगे।"[१] सत्यदेवजी ने इस ग्रन्थ में सन् १६२७ ई० से सन् १६३० ई० तक के अपनी तीसरी यूरोप-यात्रा के अनुभव विस्तृत रूप से दिए हैं और सन् १६३४ ई० की चौथी बार की यूरोप-यात्रा में जो कुछ ज्ञान एवं अनुभव उन्हें मिला उसका भी इसमें ही चयन किया गया है। पुस्तक से यात्रा के अनुभवों का लाभ उठाया जा सकता है, इस दृष्टि से एवं यात्रा-साहित्य की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका एक उद्धरण देखिए—

"हम यदि स्वतन्त्र हों, तो संसार में सबसे अधिक धाक हमारी हो। जिनका अतीत गौरवपूर्ण है, जिनका साहित्य सुरभि-स्रोत है और जिनकी वसुन्धरा ऐसी रत्नगर्भा है और फिर जो एशिया और यूरोप का मुख्यद्वार है। ओ हो ! कितना प्रचण्ड प्रभाव हमारा दुनियाँ पर पड़ सकता है !"[२]

७. **ज्ञान के उद्यान में**—४५४ पृष्ठों की पुस्तक है जो सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से प्रथम बार सितम्बर १६३७ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्वामीजी की इस पुस्तक में उनके चालीस निबन्ध संगृहीत हैं, जो मुख्यतः समय-समय पर हिन्दी मासिक पत्र-पत्रिकाओं में निकले हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि उनका संशोधन कर, नया रूप दे, इसमें संगृहीत किया गया है। साथ-ही-साथ चरित्र की विस्तृत व्याख्या कर राष्ट्रीय विषयों-सम्बन्धी निबन्धों को भी इसमें समाविष्ट कर दिया गया है। पुस्तक के तीसरे खण्ड—'बाग की बहार' में विशेषतः यात्रा-सम्बन्धी वर्णनात्मक ज्ञानवर्धक निबन्धों जैसे लुनेता में हवाखोरी, नई दुनियाँ से पुरानी दुनियाँ में, यूरोप में मेरा प्रथम पर्यटन, अल्मोड़ा के शिखरपुर, गढ़वाल के गिरिश्रृंगों पर की सामग्री भी प्रस्तुत कर दी गई है। यहाँ पर इस पुस्तक से हम एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

"आखिर वह आह्वान आया। समुद्रदेव ने अपने शीतल पवन के झकोरों द्वारा मनीला के नर-नारियों, वृद्ध वनिताओं, निर्धन धनवानों को सप्रेम बुलाया और नगर

---

१. स्वतन्त्रता की खोज में—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० २६६

२. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १०८

निवासी सहर्ष समुद्रदेव के आसन की ओर चल खड़े हुए। वह एक सुन्दर दृश्य था। पासिग नदी के पुल पर से होकर समुद्र-तट की ओर जानेवाली सड़क के किनारे खड़ा होकर मैं उस दृश्य को देखने लगा।"[1]

८. **नई दुनियाँ के मेरे अद्भुत संस्मरण**—स्वामीजी की, इस पुस्तक का प्रकाशन सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से सन् १९३७ ई० में हुआ था। इसमें सत्यदेवजी ने अमरीका-भ्रमण के देखे, सुने और अनुभव किए हुए दुःख-सुख के स्वप्नों को सँजोया है। पैदल भ्रमण के कष्टों, विश्वविद्यालयों की शिक्षा, रमणीक कुंजों की शीतल पवन का आनन्द, ओरेगन के मनोहर दृश्यों, कैलीफोर्नियाँ के उपवनों, वहाँ की खूनी सर्दी आदि को मनोरंजक और हृदयग्राही संस्करणों में अंकित किया है। अमरीका में पाँच वर्ष रहकर वहाँ की शिक्षा, दीक्षा एवं जीवन के अनुभवों को स्वामीजी ने संस्करण के रूप में लिपिबद्ध किया है।

९. **अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी**—परिव्राजकजी के इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३७ ई० में सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से हुआ था। स्वामीजी ने इस ग्रन्थ में अपनी अमरीका-यात्रा का विवरण कहानी-रूप में लिपिबद्ध किया है। अपने इस प्रवास में इन्होंने खूब ही भ्रमण किया, वहाँ की दशा को अच्छी तरह देखा-भाला। महान कष्ट सहे। रास्ते की कूद-फाँद से लेकर रेल-यात्रा तक का विवरण इन्होंने अपनी कहानी में दे दिया है। इनका यह प्रवास भारत से जापान के रास्ते हुआ था।

१०. **स्वतन्त्रता की खोज में**[2] :—स्वामीजी की यह पुस्तक ज्ञानधारा कार्यालय, ज्वालापुर से सन् १९५१ ई० में प्रकाशित हुई थी। ५६८ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी की आत्मकथा वर्णित है, परन्तु उनकी आत्मकथा है भारत-जर्मनी और अमरीका की विगत पचास वर्षों की प्रमुख घटनाओं की सजीव झाँकी। स्वामीजी ने जितनी यात्राएँ की हैं, जितने व्यक्तियों के सम्पर्क का उन्हें अवसर मिला है और जितने अनुभव उन्हें हुए हैं उनके कारण यह आत्मकथा न केवल रोचक बन पड़ी है, प्रत्युत देश-विदेश के अनेक चित्रों का अलबम बन गई है। इसमें स्वावलम्बन का जीता-जागता उदाहरण मिलता है। स्वामीजी की यह आत्मकथा-समाज के अनुभवों का आगार है। इस पुस्तक में हमारे राष्ट्र के उस युग के इतिहास की झाँकियाँ मिलती है, जब धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन जनता में नवीन जाग्रति पैदाकर उसे प्रगतिशील बना रहे थे और जब भयंकर बाधाओं के विरुद्ध लड़ने की भावना मनुष्यों में जाग्रत हो रही थी। स्वामीजी का यह ग्रन्थ अत्यन्त आकर्षक कहानी के पट खोलता है जिसमें साहस और अद्भुत-पराक्रम की

१. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० २८८

२. लेखक को यह पुस्तक स्वामीजी के व्यक्तिगत सम्पर्क से प्राप्त हो सकी थी

पुट खूब दी हुई है। साथ ही अपने संस्कृत के सद्गुणों को खोये बिना विदेशी संस्कृतियों की अति गम्भीर और नैतिक-शिक्षाएँ सहज-बुद्धि से कैसे प्राप्त होती हैं, इसका भी वर्णन दिया गया है। स्वामीजी के इस ग्रन्थ में महान् उपयोगी तथ्य यह है कि पाठक अपनी राष्ट्रीय मूल-चेतना को बनाए रखते हुए भी विदेशी विचारों, प्रगतियों और अनन्त आंदोलनों का रसास्वादन कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में उन्होंने बचपन से लेकर सन् १९५० ई० तक की अपनी जीवन-यात्रा का वर्णन किया है। इस पुस्तक के विषय में शंकरदेव विद्यालंकार ने लिखा है: "स्वामीजी ने अपनी प्रेरणापूर्ण आत्मकहानी प्रोत्साहक और प्रवाहयुक्त भाषा में लिखी है। स्वदेश-विदेश में परिभ्रमण करते हुए वे सामयिक, ऐतिहासिक घटनाओं, व्यक्तियों तथा संस्थाओं के चरित्रों व कार्यों की मीमांसा खुले दिल से करते हैं। अपनी इस आत्मकहानी में स्वामीजी ने अपनी जीवन-यात्रा पर तथा भारत के पिछले ५० वर्षों की अनेक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।[1] इस ग्रन्थ पर 'नागपुर-टाइम्स' दैनिक पत्र के सहायक सम्पादक पं० अनन्तगोपाल शेवड़े ने नागपुर रेडियो से ३ फरवरी १९५२ को समीक्षा की थी, उनके शब्दों में : "यह है तो आत्मकथा, पर किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं। जीवन रूपी कुरुक्षेत्र में किए गए धर्म-युद्ध की यह एक राजनीतिक संन्यासी के मुँह से कही गई कहानी है।...जीवन में इतनी सिद्धि तो एक प्रखर कर्मयोगी ही पा सकता है। यह कथा इसी कर्मयोगी के प्रयोगों का इतिहास है।"[2] स्वामीजी की इस पुस्तक के सम्बन्ध में बम्बई से प्रकाशित होनेवाले 'ट्रिब्यून' नामक दैनिक पत्र ने लिखा था : "एक प्रकार से स्वामीजी की आत्मकथा हमारे राष्ट्रीय संघर्ष का सजीवन इतिहास है। इस आत्मकथा में बहुत-से पृष्ठ अत्यन्त शिक्षाप्रद और नवीन स्फूर्ति देनेवाले हैं।[3]" इस प्रकार हम यह देखते हैं कि स्वामीजी की जीवन-यात्रा-सम्बन्धी यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है।

११. **मेरी पाँचवीं जर्मनी-यात्रा**—स्वामी सत्यदेवजी ने यह पुस्तक सन् १९५५ ई० में लिखी है। इसका प्रकाशन सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर से हुआ है। आपने यह यात्रा केवल अपनी आँखों का इलाज कराने के लिए की थी। इस यात्रा में स्वामीजी अधिक-भ्रमण न कर सके, क्योंकि उनकी दोनों आँखें बेकार हो गई थीं। सरल-भाषा में यह जर्मनी-यात्रा वर्णित की गई है।

---

१. गुरुकुल-कांगड़ी-पत्रिका में शंकरदेव विद्यालंकार का लेख, फाल्गुन सं० २००८

२. नागपुर टाइम्स (दैनिक पत्र)—में पं० अनन्तगोपाल शेवड़े द्वारा प्रकाशित—१० फरवरी, १९५२

३. 'Tribune,' 24th February, 1952.

"The Swami's life is, in a sense, the history of our national struggle. There are many very instructive and thought provoking pages in this book."

पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक'

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८० ई० में भाद्रपद कृष्णाष्टमी को हुआ था। आपके पूज्य पिता श्री ब्रजबिहारीलाल वकील थे। ये मोहान जिला उन्नाव में रहते थे। पं० कन्हैयालालजी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा कुछ विशेष न हो सकी और न इन्होंने कोई परीक्षा ही दी। फिर भी पंडितजी को संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, गुजराती और पंजाबी का पूर्ण ज्ञान है और अरबी, फारसी, मराठी का भी साधारण ज्ञान रखते हैं। आप सन् १९०७ ई० से लेकर सन् १९१६ ई० तक डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में धार्मिक शिक्षक का कार्य करते रहे। शिक्षक के कार्य और कालेज की सेवाओं से मुक्त हो आप काशी आए और पाँच हजार डोमों में जो क्रिश्चियन हो गए थे, सुधार का कार्य करने लगे और उन्हें पुनः हिन्दू बनाया। आप कट्टर आर्य-समाजी रहे हैं और सदैव धर्म का उपदेश देते रहे हैं। मिश्रजी ने देश-विदेश सभी स्थानों का बहुत अधिक भ्रमण किया है और सभी स्थानों की जनता को अपने उपदेशों से प्रभावित किया है। आज-कल आप भारतीय राष्ट्र-मण्डल, बम्बई के अध्यक्ष-पद पर सुशोभित हैं। पंडितजी हिन्दी के प्रेमी और हिन्दू-धर्म के भक्त हैं। आर्य-समाज के उपदेशक होने के साथ-साथ आप कट्टर देश-सेवक भी हैं। देश-सेवा के कार्य आपने पंजाब-केशरी लाला लाजपतराय के साथ किए हैं। मेध नामक हरिजनों में ये सदैव सुधार करते रहे हैं। आज भी आप भारतीय राष्ट्रमण्डल की सेना के साथ-साथ धार्मिक कार्यों में पूर्ण रूप से सहायता करते हैं।[1]

कृतियाँ—साहित्यिक क्षेत्र में मिश्रजी ने अभी तक 'हमारी जापान-यात्रा' (१९३१), मेरी अबीसीनिया-यात्रा (१९३५) और ईराक की यात्रा (१९४०), नामक यात्रा-ग्रन्थ प्रकाशित किए हैं।[2] अन्य-स्थानों के यात्रा-विवरण ये प्रकाशित नहीं करा सके हैं।

हमारी जापान-यात्रा—पंडित कन्हैयालाल मिश्र की यह पुस्तक सर्वप्रथम सन् १९३१ ई० में गोला दीनानाथ, वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। १४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में मिश्रजी ने जापान की राजनीति, धर्मनीति एवं समाजनीति पर प्रकाश डालते हुए देशभक्ति, राजभक्ति एवं पारस्परिक प्रीति का चित्र अंकित किया है। इसके अतिरिक्त इसमें सुमात्रा, जावा, बाली, हांगकांग, अमोई, क्लांगशी, शंघाई और जापान के प्राचीन तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक समाचार और उक्त स्थानों में हिन्दू सभ्यता के उन चिह्नों पर जो अब तक मिलते हैं, पूर्णरूप से प्रकाश डाला है। इस यात्रा-वर्णन में जापान के सभी नगरों का सचित्र विवरण वर्णित किया गया है और साथ ही जापान का इतिहास, भूगोल भी दे दिया है। इस यात्रा-वर्णन की बहुत-सी पंक्तियाँ शिक्षाप्रद आदर्श-वाक्यों की भाँति व्यवहृत होने के योग्य हैं।

---

१. लेखक के नाम आए पं० कन्हैयालाल मिश्र के अनेकों व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. लेखक को ये सभी पुस्तकें सुश्री सुधा मिश्र (दादा) की कृपा से प्राप्त हो सकीं हैं

मेरी अबीसीनियाँ-यात्रा—यह ७२ पृष्ठों की पुस्तक है, जो आर्य-विद्या-सभा काशी से सन् १६३५ ई० में प्रकाशित हुई थी। मिश्रजी ने इस पुस्तक में अन, फ्रेंच, शुमाली कोस्ट, ब्रिटिश शुमाली लैंड और अबीसीनिया की विस्तृत यात्रा का विवरण दिया है। यहाँ के ऐतिहासिक समाचारों और स्थानों पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। फ्रेंच शुमाली कोस्ट का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"संध्या समय नगर के लोग इन वाटिकाओं में घूम-फिरकर बबूलों के फूलों की सुगन्धि लेते और उन फूलों की सुन्दरता देखकर आह्लादित होते हैं।[1]

ईराक की यात्रा—यह २५४ पृष्ठों की पुस्तक है जो श्रीमती सुशीलादेवी मिश्र द्वारा अर्दली बाजार, बाँदा से सन् १६४० ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें ईराक की यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया गया है। विशेष रूप से पसनी बन्दर (बिलोचिस्तान), गवादर बन्दर, मसकत बन्दर, मथुरानगर, भूसना, सुरपुर या सूर, बेहरिन द्वीप, दबई बन्दर, बसरा बन्दर, बगदादनगर, करकुकनगर, मौसलनगर आदि स्थानों अर्थात् अरब और ईराक की यात्रा के सभी स्थानों पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। अदारी-स्त्रोत का वर्णन करते हुए मिश्रजी ने लिखा है—

"इस स्त्रोत को देख हम लोग आगे मोटर में बैठकर चल पड़े। मार्ग के दोनों ओर स्वाभाविक स्त्रोत की नहर बह रही थी और दोनों ओर खजूरों के वृक्ष वायु के साथ मिलन करते दिखाई पड़ते थे।"[2]

श्री शिवनन्दन सहाय

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८२ ई० में जिला मुजफ्फरपुर के धरहरवा नामक ग्राम में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा आपको उर्दू और फारसी में मिली। १२ वर्ष की आयु से ये दरभंगा आ गए और वहीं से हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् इनका विवाह डिप्टी-कलेक्टर श्री रामेश्वरप्रसादजी की सुपुत्री के साथ हो गया। फिर इन्होंने जी० बी० बी० कालेज (जो तब भूमिराय ब्राह्मण कालेज के नाम से प्रसिद्ध था) में अध्ययन प्रारम्भ किया। कुछ ही दिनों बाद ये चेचक से पीड़ित हुए और हजारीबाग के डबलिन विश्व-विद्यालय मिशन कालेज (जो अब सेण्ट कोलम्बस कालेज के नाम से प्रसिद्ध है) में पढ़ने के लिए भेज गए। इस विश्वविद्यालय से सहायजी ने बाइबिल की कई परीक्षाएँ अनेक पुरस्कारों-सहित उत्तीर्ण कीं। इण्टरमीडिएट भी हजारीबाग विश्वविद्यालय से पास किया। इसके पश्चात् टी० एन० जे० कालेज, भागलपुर से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १६०६-१० ई० के अकाली-युग में सरकार की ओर से आप सहायक अधीक्षक

---

१. मेरी अबीसीनिया-यात्रा—पं० कन्हैयालाल मिश्र, पृ० १७

२. ईराक की यात्रा—पं० कन्हैयालाल मिश्र, पृ० १५६

नियुक्त हुए। इसके बाद दरभंगा में जिला-जज के कार्यालय में हैडक्लर्क का स्थान मिला। इस नौकरी के बाद इनकम-टैक्स विभाग की ओर से रांची, चम्पारन और मुजफ्फरपुर गए। फिर ये कोर्ट-आफ-वार्ड के मैनेजर नियुक्त हुए। मैनेजरी छोड़कर आप असिसटेंट सेटिलमेण्ट आफिसर और फिर डिप्टी-कलेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। आपने सन् १९२०, २२, ३६, ४२ और ४४ में भारत के अनेक पर्वतीय स्थानों का पैदल भ्रमण किया। आप स्वभाव से भ्रमणशील हैं। पर्वतीय स्थानों के अतिरिक्त वर्मा, लंका, तिब्बत, अफगानिस्तान आदि का भी आपने पैदल भ्रमण किया है। इन स्थानों के अतिरिक्त नन्दन बन, कौरव वन, आदि पुण्य क्षेत्रों का भी धार्मिक दृष्टिकोण से भ्रमण किया है। आज-कल आप अपने ग्राम धरहरवा में ही रहते हैं।[1]

शिवनन्दन सहायजी को हिन्दी से विशेष प्रेम है। आप बहुत ही धार्मिक व्यक्ति हैं, इसका प्रमाण यही है कि आपने अनेक धार्मिक स्थानों का भ्रमण पैदल ही किया है और आज भी वर्ष में ६-७ माह धार्मिक स्थानों पर ही निवास करते हैं।

कृतियाँ—कैलाश-दर्शन—२०८ पृष्ठों की इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण सन् १९४० ई० में लहेरियासराय, पटना से प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में सहायजी ने अपनी कैलाश-यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है। रास्ते के मार्गों उन पर पड़नेवाली कठिनाइयों आदि का भी विवरण दे दिया गया है। अन्तिम पृष्ठों में कैलाश के धार्मिक महत्त्व पर भी लिखा गया है।

श्री शिवप्रसाद गुप्त

जीवनी—स्वर्गीय श्री शिवप्रसादजी गुप्त प्रतिष्ठित, कुलभूषण, दानवीर, अत्युदार स्वभाव, देशभक्त, लोकप्रिय सज्जन थे। वाराणसी की सीमा में पैर रखते ही उनके द्वारा संस्थापित और पोषित सुप्रसिद्ध संस्था काशी विद्यापीठ का नाम याद आ जाता है। इनका जन्म सन् १८८३ ई० के आषाढ़ मास की कृष्णाष्टमी बुधवार को काशी में हुआ था। इनके जन्म से पूर्व इनके माता-पिता की कई सन्तानें गत हो चुकी थीं। अपने कई पुत्र-पुत्रियों की अकाल-मृत्यु के कारण इनकी माताजी घर छोड़कर स्थानीय चौकाघाट पर राजा शिवलाल दुबेजी के बगीचे में वहाँ के प्रबन्धक की फूस की कुटिया में जा बसी थीं। इस सम्बन्ध में गुप्तजी ने स्वयं ही लिखा है : "मुझे जिलाने तथा स्वस्थ रखने के लिए मेरे माता-पिता ने नाना प्रकार के कष्ट उठाए व बन-बन की खाक छान डाली, जब मैं प्रायः तीन वर्ष का हुआ तब मेरी माताजी मुझे लेकर फैजाबाद चली गईं जहाँ मेरे पिताजी रहते थे। वहाँ भी वे एक जगह नहीं रह पाईं। पहले शायद हम लोग अयोध्याजी के मन्दिर में रहते थे। फिर हम लोग फैजाबाद के रेलघर के पास मुदहा नामक गाँव में रहने लगे।[2] उस समय

---

१. लेखक के नाम आए श्री शिवनन्दनसहायजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. देखिए : 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में दी हुई लेखक की संक्षिप्त जीवनी

की प्रचलित प्रथा के अनुसार इन्हें भी फारसी पढ़ना पड़ा था। लड़कपन में ये नटखट और शरीर थे। इनके पूज्य पिता प्रायः रुग्ण रहा करते थे। सन् १८९१ ई० के चैत्र मास में उनकी सांसारिक लीला समाप्त हो गई। उस समय शिवप्रसादजी केवल आठ वर्ष के थे। इतनी कम अवस्था में सिर पर से पूज्यपाद पिताजी का साया उठ जाने से गुप्तजी पिता के वात्सल्य-स्नेह तथा शासन के अनुभव से भी वंचित रह गए। उनकी स्मृति केवल मातृ-स्नेह से ही परिपूर्ण रह सकी। काशी में इनके बड़े चाचा मोतीचन्द जी० सी० आई० ई० थे, जो अवस्था में इनसे केवल सात वर्ष बड़े थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इनका जीवन एक प्रकार की स्वच्छन्दता से बीतने लगा। बचपन से ही इन्हें रामायण, शुकसागर व शिवपुराण की कथाओं को सुनने का शौक था। हिन्दी से उन्हें अनन्य प्रेम था, इसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा भी है : "अभी तक हमें नागरी अक्षरों का परिचय न था। महाजनी अक्षरों के सहारे कुछ टोय-टायकर दानलीला, हनुमान चालीसा आदि पढ़ लेते थे। १२-१३ वर्ष की अवस्था में मैंने 'वीरेन्द्रवीर' या 'कटोरा भर खून' पढ़ डाली थी। इसी की बदौलत मुझे हिन्दी पढ़ना आ गया।"[1] आजमगढ़ से गुप्तजी को अंग्रेजी की शिक्षा मिली। जयनारायण स्कूल से इन्होंने ऐण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। काशी से प्रयाग पढ़ने चले गए और वहाँ एफ० ए० पास कर बी० ए० में भरती भी हुए, पर कुछ विशेष कारणोंवश इन्हें सन् १९१० ई० में पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी।

आपने काशी के अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब की भी सेवा की, यहीं पर बहस-मुबाहिसों द्वारा भाषण करने की रीति व ढंग सीखा और अभ्यास किया। सन् १९०४-५ ई० से ही ये राजनीतिक आन्दोलनों में दिलचस्पी लेने लगे और १९०४ ई० की मुम्बईवाली कांग्रेस में प्रतिनिधि बन गए (वहाँ से वापस आने पर इन पर पंचनद-केशरी लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के राजनीतिक मत का प्रभाव पड़ा और वह दिन-दिन दृढ़ होता गया। इसके बाद इन्होंने अपनी शक्ति के अनुसार पूज्यवर मालवीयजी की सेवा का विचार करके उनके साथ कार्य करना आरम्भ किया। मालवीयजी के साथ गुप्तजी ने बंगाल, बिहार, उत्तर-प्रदेश, पंजाब व राजपूताना का भ्रमण किया। सन् १९१३ ई० में भाद्र कृष्ण ९ दधिकान्दव के दिन उनकी पूजनीय माता का देहान्त हो गया। विदेश-भ्रमण की उनकी प्रबल इच्छा बहुत पहले से ही थी, पर माताजी के जीवन-काल में वे इतना साहस न कर सके। ये स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। श्री श्रीप्रकाशजी ने इनके विषय में ठीक ही कहा है : "श्री शिवप्रसादजी गुप्त को बाल्यावस्था से ही देश की स्वतन्त्रता की खोज थी। उनके देश में अंग्रेजों का आधिपत्य और समाज में अंग्रेजी भाषा के प्रचार से जैसे मार्मिक कष्ट होता था और वे अपनी शक्ति-भर और अपनी बुद्धि-भर अपने सब साधन ऐसे कार्य में लगाने के लिए उपस्थित थे जिससे देश का राजनीतिक बन्धन

---

१. देखिए—'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में दी हुई लेखक की संक्षिप्त जीवनी

टूटे, देश का सांस्कृतिक उत्थान हो। अंग्रेजों का देश से बाहर जाना, अंग्रेजी भाषा मे लिखना-पढ़ना-बोलना बन्द होना, वे अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए अनिवार्य समझते थे।"[1] गुप्तजी का हृदय विशाल था। पं० विश्वनाथ शर्मा के शब्दों में, गुप्तजी का व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता दिखाई देता है। वे लिखते हैं : "गुप्तजी की दानशीलता की छाप काशी ही नहीं, सारे भारत की संस्थाओं पर रही है। वे सदा मुक्तहस्त होकर संस्थाओं तथा व्यक्तियों की सहायता किया करते थे। यदि यह कहा जाए कि 'दाहिना हाथ किसको देता है बायें हाथ को नहीं मालूम' तो यह उन्हीं पर घटित होता है। भारत माता का विशाल मन्दिर जिसकी एक-एक ईंट उनके अपने रुपये से निर्मित है, इसका एक नमूना है।"[2] शिवप्रसादजी स्पष्टवादी और स्वतन्त्र विचार रखनेवाले व्यक्ति थे। इनकी इस विशेषता का वर्णन करते हुए शर्माजी ने लिखा है : "अखिल भारतीय कांग्रेस कार्य-समिति का सदस्य और कोषाध्यक्ष होते हुए भी उन्होंने महात्मा गान्धी से स्पष्ट कह दिया था, "मैं अहिंसा को नीति मानता हूँ, हृदय से तो मेरा हिंसा ही में विश्वास है। जो लोग आपके सामने मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक होने का दावा करते हैं वे पाखण्ड करते हैं।" ऐसा था उनका विचार-स्वातन्त्र्य और स्पष्टवादिता।[3]

कृतियाँ—गुप्तजी ने यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' नाम से लिखी है। साढ़े चारसौ पृष्ठों की यह पुस्तक ज्ञानमण्डल प्रकाशन, काशी से सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हुई थी। शिवप्रसादजी की यह विदेश-यात्रा काशी से अप्रैल सन् १९१४ ई० को आरम्भ हुई थी। उसके इक्कीस महीने यात्रा करके गुप्तजी स्वदेश लौटे। यह पुस्तक चार खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में मिस्र के, दूसरे में अमेरिका के, तीसरे में जापान के और चौथे में पर्य्यटन का वर्णन दिया गया है। इस यात्रा में गुप्तजी के इक्कीस महीने किस प्रकार व्यतीत हुए, इसका वर्णन उन्होंने पुस्तक में स्वयं ही दे दिया है। आप लिखते हैं : "जहाज व रेल के सफर को छोड़कर पन्द्रह दिन मिस्र में, ६ मास इंगलिस्तान व आयरलैण्ड में, ६ मास अमेरिका में, ढाई मास जापान में, दो मास कोरिया व चीन में, व तीन मास सिंगापुर की जेल में।"[4]

आपका विचार यूरोप के अन्य देशों में घूमने का भी था, परन्तु यूरोप का पिछला घोर युद्ध उसी बीच में छिड़ गया जब आप इंगलिस्तान में ही थे। इस कारण

---

१. देखिए : 'काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ'—श्री श्रीप्रकाश, पृ० १९२, संवत् २००३

२. देखिए : 'आज' साप्ताहिक विशेषांक में पं० विश्वनाथ शर्मा का लेख—१७ फरवरी, १९५७, पृ० १९, कालम १

३. देखिए : 'आज' साप्ताहिक विशेषांक में पं० विश्वनाथ शर्मा का लेख—१७ फरवरी, १९५७, पृ० १९, कालम ३

४. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'—में स्वयं गुप्तजी द्वारा दी गई संक्षिप्त जीवनी से उद्धृत

आपका उन देशों में भ्रमण असम्भव हो गया। इस पुस्तक के लिखे जाने का कारण भी गुप्तजी ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में दे दिया है। उन्होंने लिखा है: "अपनी पत्नी के दुःख को कम करने के लिए मैंने उनसे वादा किया था कि मैं तुम्हें रोज-रोज का समाचार लिखा करूँगा, पर डाक तो रोज आती ही नहीं, इसलिए रोज पत्र भेजना असम्भव था। मैंने यह देखकर स्थिर किया कि रोज का वृत्तान्त सप्ताह में एक बार जब डाक आती है, घर भेजा करूँगा। यही इस पुस्तक के लिखे जाने का आदि कारण है।"[1] इस पुस्तक में गुप्तजी ने अपनी यात्रा का पूर्ण विवरण विस्तृत रूप से विभिन्न चित्रों के साथ दिया है। पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। इनका यह यात्रा-विवरण हिन्दी यात्रा-साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय योग है। अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र में बोस्टन नगर में जहाँ इंग्लैण्ड के आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिए पहले-पहल स्वाधीनता की लहर उठी थी, इस स्थल पर पहुँचकर गुप्तजी के हृदय में जो विचारधारा उठी उसकी बानगी का एक उद्धरण देखिए :—

"गुलामी के पंजे में पड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता की लड़ाई जब प्रारम्भ होती है तब तो वह प्रथम-प्रथम थोड़े ही मनुष्यों के द्वारा हुआ करती है। किन्तु यदि स्वतन्त्रता की विजय हुई तो यही छोटा दल देशभक्तों के नाम से इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होता है और आनेवाली जातियाँ इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, इनका अनुसरण करती हैं और ये युवकों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाते और पूजे जाते हैं। यदि गुलामी का जुआ हटाने की चेष्टा करनेवाले वीरों की हार हुई तो वे ही बागी पुकारे जाते हैं और भविष्य जाति जालिमों के डर के मारे उनके नाम से डरती है। अपने को प्रतिष्ठित समझनेवाले लोग इन्हीं देशभक्तों को दुष्ट, दुरात्मा, पापी कहकर पुकारते हैं और उनसे घृणा करते हैं। हाँ! काल की विचित्र गति है।"[2]

श्री कृष्णवंश सिंह बाघेल

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८५ ई० में रीवाँ के प्रसिद्ध बाघेल वंश में हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम लाल हरिवंश बहादुरसिंह और माता का नाम श्रीमती गुलाबकुमारी देवी था। आपको संस्कृत आदि की प्रारम्भिक शिक्षा घर ही पर पंडित रामेश्वरप्रसाद पाण्डेय द्वारा दी गई थी। रीवाँ के प्रसिद्ध विद्वान् जगन्नाथ शास्त्री से इन्होंने साहित्य का अध्ययन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष पं० बालकृष्ण झा एवं काशी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् गोस्वामी दामोदर शास्त्रीजी से इन्होंने संस्कृत की शिक्षा ग्रहण की थी। वैदिक साहित्य एवं दर्शन का इन्होंने अपने-आप ही अध्ययन किया है। आपने कैलाश,

१. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में स्वयं गुप्तजी द्वारा दीगई संक्षिप्त जीवनी से उद्धृत

२. 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ६३

काश्मीर, गंगोत्री-यमुनोत्री, बदरी-केदार और दक्षिण-भारत की सफल यात्राएँ की हैं। दर्शन, विज्ञान, साहित्य एवं देशाटन से आपको विशेष प्रेम रहा है। इस समय ७३ वर्ष की आयु होने पर भी सदा की भाँति आप प्रातः पर्वतीय घाटियों में २-३ मील का भ्रमण अवश्य करते हैं। आजकल आप रीवाँ में ही रहते हैं।[१] आप हिन्दी-प्रेमी हैं। पुस्तकों से आपको अत्यधिक प्रेम है। पूर्व, पश्चिम, भारत एवं नैपाल-यात्रा की आपकी विशेष इच्छा है। साहित्य, धर्म, दर्शन के आप विशेष व्याख्याता हैं, अध्यापन-कार्य में विशेष रुचि है और भारतीयता के आप प्रबल समर्थकों में से हैं। अध्ययन और अनुभव-लेखन ही अब आपका कार्य है। आप युवावस्था से ही अश्वारोहण, साइकिल चलाने एवं आखेट-भ्रमण में विशेष दक्ष रहे हैं। अपनी इसी दक्षता का परिचय आपने दो व्याघ्रों को मारकर दिया था। निरामिष भोजी होने के साथ-साथ पान, तम्बाकू और सिगरेट तक से आपको विशेष घृणा है।[२]

कृतियाँ—हिन्दी-यात्रा-साहित्य सम्बन्धी आपकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं[३] :

१. काश्मीर और सीमाप्रान्त
२. तिब्बत में २३ दिन
३. हिमालय के कुछ स्थान

काश्मीर और सीमाप्रान्त—बाघेलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४४ ई० में भरतपुर, गोविन्दगढ़, रीवाँ (विन्ध्य-प्रदेश) से हुआ था। ११५ पृष्ठों की इस पुस्तक में बाघेलजी ने जम्बूनगर, अनन्तनाग, पहलगाँव, अमरनाथ, चन्दनवाड़ी, वायुजग-पंचतरणी की यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है। साथ ही काश्मीर के दुर्ग, रामबाग चश्माशाही, शालामार, हारवन, खीर भवानी, गन्धरबल, गुलमर्ग, बारामूला, कोहाला, रावलपिण्डी आदि का भी सक्षेप में वर्णन किया है। पुस्तक वर्णनात्मक शैली में लिखी गई है। प्रकृति के चित्रण बड़े सुन्दर बन सके हैं। देखिए एक उद्धरण :—

"वसुन्धरादेवी चारों ओर लहलहाते हुए धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर (किनारे) का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थीं। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रही थी। जहाँ भर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच में सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदी-सा पानी। माल-भूमि के गाँवों का दृश्य भी चित्ताकर्षक था।"[४]

---

१. लेखक के नाम आए श्री कृष्णवंशसिंह बाघेलजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर
२. वही
३. लेखक को ये सभी पुस्तकें बाघेलजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हो सकी हैं
४. 'काश्मीर और सीमाप्रान्त'—कृष्णवंश सिंह बाघेल, पृ० ३७

तिव्वत में २३ दिन—बाघेलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९५३ ई० में भरतपुर, रीवाँ से हुआ था। १२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में बाघेलजी ने अलमोड़ा से लेकर तकलाकोट, खोंचरनाथ, कैलाश-पर्वत, मानसर, गुसुल-गुम्फा, दर्जिल, तीर्थपुरी एवं तिव्वत के अन्य प्राकृतिक मार्गों की पद-यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है। यह विवरण डायरी-शैली में लिखा गया है। इस यात्रा-वर्णन में तिव्वत के स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा, भोजन-व्यवस्था और उनकी तपस्या पर भी प्रकाश डाला गया है। कैलाश के सुन्दर दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है :—

"भगवान भुवन-भास्कर अपनी सुनहली किरणें विखेर रहे थे, जिससे मानसर की प्रत्येक तरंगें सुनहरी हो रही थीं। इन लम्बी और शान्त तरंगों के बीच कैलाश-शिखर अपने रूपों से प्रतिबिम्बित हो रहा था और अपने रजत आवरण को उतारकर सुवर्णमय वस्त्र धारण कर रहा था।"[1]

हिमालय के कुछ स्थान—६५ पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन बाघेलजी द्वारा भरतपुर, रीवाँ से १९५४ ई० में हुआ था। इस पुस्तक में बाघेलजी ने हिमालय के कुछ पर्वतीय स्थान शिमला, गढ़वाल, अलमोड़ा, केदारनाथ, वदरीपुरी, आदि की पद-यात्रा का सुन्दर वर्णन डायरी-शैली में दिया है। इस यात्रा-विवरण में प्रकृति की विचित्रता, दुर्गम और भयंकर मार्गों की कठिनाइयों एवं अद्भुत दृश्यावलियों का वर्णन भी किया गया है। एक रम्य दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है :—

"सामने चमचमाता हुआ हमारे आगे ही से शनैः-शनैः ऊपर को उठता हुआ तुषार, दायें और बायें उत्तुंग गगन-भेदी शिखर की चोटी से गंगा का प्रपात जो ऊपर खुला और नीचे हिम से ढका था। इससे भी बढ़कर पास ही सरोवर की सुषमा ? इस सर का दृश्य अत्यन्त दिव्य था—प्रकृति की यह झाँकी सर्वत्र सुलभ नहीं।"[2]

श्री सन्तराम

जीवनी—आपका जन्म सन् १८८६ ई० में फाल्गुन कृष्ण ४ को पंजाब-प्रान्त के होशियारपुर नगर से लगभग ढाई मील की दूरी पर पुरानी बसी नामक ग्राममें हुआ था। आपके पिता का नाम श्री रामदास तथा माता का श्रीमती मालिनीदेवी था। आप सात भाई और एक वहन थे। भाइयों में आपका नम्बर चौथा है। आपके पिता यारकन्द और लद्दाख के व्यापारी थे। पुरानी वसी में कोई स्कूल न होने के कारण आप गाँव से एक मील की दूरी पर बजवाड़ा के स्कूल में पढ़ने जाया करते थे। पंजाब के

---

१. तिब्वत में तेईस दिन—पृ० ७०
२. हिमालय के कुछ स्थान—कृष्णवंश सिंह वाघेल 'पृ० ५७

किसी भी सरकारी स्कूल में हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध न होने के कारण आपको आरम्भ से ही उर्दू पढ़नी पड़ी। पाँचवीं कक्षा में आप प्रथम आए।[1] आपको छात्रवृत्ति भी मिली। जालन्धर से मैट्रिक पास करके आप गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर में भरती हुए और वहाँ से सन् १६०६ ई० में बी० ए० पास किया। बी० ए० में आपका एक विषय फारसी भी था, जिसमें आप प्रथम आए और कालेज से पारितोषिक प्राप्त किया। कालेज के तीसरे वर्ष तक आपको नागरी अक्षरों तक का ज्ञान न था। संस्कृत से एक प्रकार की घृणा तथा फारसी से प्रगाढ़ प्रेम था। आपके विचार से सबसे मधुर भाषा फारसी, सबसे सुन्दर देश ईरान तथा सबसे बड़े कवि सादी, उमर खय्याम और फिरदौसी आदि थे। आप स्वप्न देखा करते थे कि कब ईरान जाकर दजला और फरात के तट पर बैठकर खजूर खाएँगे और ब्याह करके वहीं बस जाएंगे। किन्तु संयोगवश रुचि ने ऐसा पलटा खाया कि संस्कृत भाषा की मधुरता और भारत की सुन्दरता के आगे फारसी तथा ईरान हवा हो गए।[2]

उस समय आर्यसमाज का प्रमुख पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में निकला करता था। आप उस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करते थे। कुछ दिनों बाद संपादक ने यह घोषणा कर दी कि अमुक तिथि से यह पत्र हिन्दी में निकलेगा, अतः जो पाठक हिन्दी न जानते हों, वे नागरी अक्षर सीख लें। उसी पत्र को पढ़ने के लिए आपने नागरी अक्षर सीखना आरम्भ कर दिया। कठिनाई तो पड़ी, किन्तु वह कठिनाई अनुराग को दबा न सकी। हिन्दी में निकलनेवाले 'सद्धर्म-प्रचारक' को आप धीरे-धीरे पढ़ने लगे। अंग्रेजी से टूटी-फूटी हिन्दी में अनुवाद भी करने लगे। पत्र-व्यवहार भी हिन्दी में होने लगा। आर्य-भाषा हिन्दी का सीखना प्रत्येक आर्य-हिन्दू का कर्त्तव्य है, ऋषि दयानन्द के इस उपदेश का आप पर बहुत प्रभाव पड़ा और उसी प्रभाव से आपकी रुचि उर्दू से हटकर हिन्दी की ओर हुई।[3] बी० ए० पास करने के बाद आपने अमृतसर जिले के चमाल डी० बी० स्कूल की दो वर्ष तक हेडमास्टरी की। फिर डेढ़ वर्ष तक बजवाड़ा स्कूल में अध्यापकी की। उसके अनन्तर सतलज फारेस्ट कम्पनी के गोदाम-विभाग में नौकरी करके शिमला के आगे रामपुर शहर में चले गए। गोदाम का कार्य करते हुए आपने कोष की सहायता से कई हिन्दी-ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन किया। आपने जालधर से निकलनेवाली पत्रिका 'पांचाल-पण्डिता' और लाहौर से निकलनेवाले 'चाँद' तथा 'सद्धर्म-प्रचारक' में पहले-पहल लेख लिखना आरम्भ किया। कुछ दिन पीछे आप द्विवेदीजी के पास 'सरस्वती' में छपने के लिए लेख भेजने लगे। द्विवेदीजी इनके लेखों को काट-छाँटकर तथा सुधार करके छाप दिया करते थे। आपने लिखने की शिक्षा द्विवेदीजी से ही पाई। वे पत्रों द्वारा आपको समझाते रहते

---

१. हिन्दी के निर्माता (भाग २)—डा० श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ५७
२. वही, पृ० ५८
३. वही, पृ० ५८-५६

थे। सन् १९१४ में आपने 'उषा' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली, जो डेढ़ वर्ष चलकर बन्द हो गई। इसके अनन्तर आपने बलरामपुर के आर्य स्कूल में हेडमास्टरी कर ली। उसे भी छोड़कर आपने एक मित्र के साथ लाहौर जिले के पट्टी नामक स्थान में कृषि-आश्रम खोला। वहाँ पर प्रायः सभी देशों से कृषि-सम्बन्धी ग्रन्थ मँगाकर आपने पढ़े। वहाँ दो वर्ष रहने के पश्चात् ये अपने ग्राम पुरानी बसी में आकर एक कृषक की भाँति वाटिका में सपरिवार रहने लगे। डेढ़ वर्ष बाद आप कन्या महाविद्यालय की मुख पत्रिका 'भारती' का संपादन करने जालंधर चले गए। केवल डेढ़ वर्ष तक चलकर 'भारती' बन्द हो गई।[1]

सन् १९२४ ई० में कालेज से आपका सम्बन्ध टूट गया। इसी वर्ष आपकी धर्मपत्नी श्रीमती गंगादेवी का देहान्त हो गया। तब से आपने किसीकी नौकरी न करके स्वतन्त्र रूप से कार्य करने का निश्चय कर लिया है। उस समय से पुस्तकों की रायल्टी, लेखों के पुरस्कार तथा पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की कापियाँ जाँचने के पारिश्रमिक से आपकी जीविका चल रही है।[2] अब तक आपने ४०-५० पुस्तकें लिखी हैं और सरस्वती, माधुरी, बाल-सखा, सुधा, विश्वमित्र, कर्मयोगी, चाँद आदि प्रमुख पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर सैकड़ों लेख लिखे हैं। पहले आप नाम के आगे 'गोहिल' लिखा करते थे, बाद में उसे त्याग दिया। जाति-पाँति तोड़क-मण्डल आपने स्थापित किया। मण्डल से 'क्रान्ति' उर्दू में और 'युगान्तर' पत्र हिन्दी मे आपने अपने सम्पादकत्व में निकाला। स्त्री का देहान्त हो जाने पर आपने निश्चय किया था कि पुनर्विवाह नहीं करेंगे, किन्तु सोलह वर्ष के एकमात्र पुत्र वेदव्रत की मृत्यु से आपको महान् कष्ट हुआ और अन्त में मित्रों के आग्रह से १४ दिसम्बर सन् १९२९ ई० को अहमदाबाद के निकट बरोडानगर में एक महाराष्ट्र-महिला श्रीमती सुन्दरबाई प्रधान से आपने विवाह कर लिया। उनकी सहायता से आपको मराठी तथा गुजराती का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान हो गया। दोनों भाषाओं की कुछ पुस्तकों का अनुवाद भी आपने हिन्दी मे किया है।[3]

सन्तरामजी हिन्दी के अनन्य प्रेमी हैं। हिन्दी की इन्होंने बहुत सेवा की है और आज भी इसीमें लगे हुए हैं। हिन्दी की इसी सेवा के कारण आपको 'पद्म-भूषण' की उपाधि भी मिल चुकी है। आपका व्यक्तित्व आपके लेखों में निखर उठता है। 'बालक' ऐसी शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक इस बात का एक उदाहरण है जिस पर मेरठ के एक ट्रस्ट ने उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक समझकर एक 'स्वर्ण-पदक' प्रदान किया था। 'अलबरूनी का भारत' में भी आपका व्यक्तित्व

---

१. हिन्दी के निर्माता—(भाग २)—डा० श्यामसुन्दरदास—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृ० ५९

२. वहीं, पृ० ९०

३. वहीं, पृ० ९०-९१

झलक उठा है जिसके ऊपर आपको पजाब सरकार की ओर से १२,०० रु० का पारि-तोषिक भी मिल चुका है।

हिन्दी यात्रा-साहित्य मे इनकी एक पुस्तक 'स्वदेश विदेश यात्रा' नाम से है।

कृतियाँ—स्वदेश-विदेश-यात्रा—१७२ पृष्ठो की पुस्तक है, जो इण्डियन प्रेस, प्रयाग से सन १९४० ई० मे प्रकाशित हुई थी। सन्तरामजी ने इस पुस्तक मे तीन यात्राएँ सगहीत की है। इसमे काश्मीर और कुल्लू की यात्रा का वृत्तात तो सन्तरामजी का लिखा हुआ हे और 'आस्ट्रेलिया-यात्रा' श्रीमती रामेश्वरी नेहरू का। इसमे आखोदखी बातो का विवरण दिया गया है। इनकी यात्राओ का यह वणन बडा ही मनोरम है। इनकी दूसरी पुस्तक 'इत्सिग की भारत यात्रा' नाम से भी है। यह इनका अनुवादित ग्रन्थ है। ३४९ पृष्ठो का यह ग्रन्थ इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग से सन १९२५ ई० मे प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ पर पजाब सरकार की ओर से आपको ६०० रुपए का पुरस्कार भी मिला था। हिन्दी की सभी प्रमुख पत्रिकाओ मे आपके यात्रा-सम्बन्धी अनेको लेख निकले हैं। इस प्रकार सन्तरामजी की हिन्दी यात्रा साहित्य के प्रति की गई यह सेवा महत्त्वपूर्ण और अवि-स्मरणीय है। कुल्लू यात्रा का एक उद्धरण देखिए—

"काँगडा उपत्यका के पहाड और घाटियाँ, नदियाँ और चट्टानें, हिमाच्छादित शैल शिखर और बन-वैभव ये सब मिलकर यात्री के मन का अपनी ओर आकर्षित करते है। यहा खेतिया केसरिया वस्त्र धारण किए पवतो की गोद मे लहलहा रही है और अलबेली नदियाँ तथा मधुर कण्ठवाले पक्षी गान-नृत्य मे लीन हो नवगत दशक को अनिवचनीय आनन्द प्रदान करते है।[1]"

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

जीवनी—पण्डित जवाहरलाल नेहरू काश्मीरी ब्राह्मण हैं। आपका जन्म १४ नवम्बर, १८८९ ई० को प्रयाग मे हुआ था।[2] अपने माता-पिता के आप इकलौते पुत्र हैं। आपके पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू को सारा भारतवष ही नही, वरन् सारा विश्व जानता है। जिस समय पण्डित मोतीलालजी सयुक्त प्रान्त के प्रधान वकील थे, उनकी वकालत खूब चलती थी, महीने भर मे कम से-कम तीस-चालीस हजार रुपये की आमदनी थी, रुपया बरस रहा था और उनका निवास-स्थान 'आनन्द भवन' गवर्नर की कोठी को मात करता था। उन्हीं दिनो मे पण्डित जवाहरलालजी ने जन्म लिया था। कहा जा सकता है कि वे फूलो मे पैदा हुए और गदेलो मे पले।

---

१ स्वदेश-विदेश यात्रा—सतराम, पृ० ७२

२ राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू—प० मातासेवक पाठक एव प० विश्वम्भरनाथ जिज्जा (पृ० २३, दिसम्बर १९४८)

अंग्रेजी में कहावत है कि योग्य पिता का पुत्र भी योग्य ही होता है (वर्दी सन ऑफ ए वर्दी फादर), इस उक्ति का पण्डित जवाहरलालजी ज्वलंत उदाहरण हैं।[1] पण्डित जी की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। आगे की शिक्षा के लिए सन् १६०५ ई० में आप विलायत गए। वहाँ वे हैरो स्कूल[2] में पढ़ने लगे। यहाँ दो वर्ष पढ़ने के बाद सन् १६०७ ई० के अक्तूबर में उन्होंने कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश किया। तीन वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् सन् १६१० ई० में इन्होंने वहाँ से प्रकृति-विज्ञान में द्वितीय श्रेणी की ससम्मान डिग्री प्राप्त की। इसके बाद इनर टेम्पुल से सन् १६१२ ई० गरमी में बैरिस्टरी पास की और वर्ष के अन्त में भारत वापस आए।[3] आपका विद्यार्थी जीवन अधिकतर इंग्लैण्ड में ही बीता है। प्रारम्भ में आपने इलाहाबाद में (सन् १६१३-२०) आठ वर्ष तक बैरिस्टरी की। परन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था। शीघ्र ही सन् १६२० ई० में देश भर में महात्मा गांधी का जयकार गूँजने लगा और असहयोग-आन्दोलन की आँधी चल निकली। पण्डित नेहरू के देशभक्तिपूर्ण हृदय पर महात्मा गांधी के व्यक्तित्व और कार्यक्रम का अपूर्व प्रभाव उत्पन्न हुआ। विलायती रंग में रँगे हुए पिता के पुत्र पं० जवाहरलालजी गांधीजी के पक्के शिष्य बन गए और चलती हुई बैरिस्टरी को लात मारकर त्याग दिया।

आपका विवाह फरवरी १६१६ ई० में लखनऊ के सुप्रसिद्ध वकील पण्डित जगतनारायणजी मुल्ला की कन्या श्रीमती कमला नेहरू के साथ हुआ था।[4] कमलाजी भी सच्ची देशसेविका थीं। वे अपने कर्मठ पति के राजनीतिक आन्दोलनों और कार्यों में अन्त तक सहयोग देती रहीं। सन् १६१७ ई० में होमरूल और १६१६ में किसान-आन्दोलन में नेहरूजी ने भाग लिया। इसी वर्ष प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले राष्ट्रीय अंग्रेजी दैनिक 'इण्डिपेंडेण्ट' समाचार-पत्र के आप डाइरेक्टर भी चुने गए। आप १६२३ ई० में हिन्दुस्तानी सेवादल कान्फ्रेन्स, मद्रास के सभापति और दिसम्बर १६२७ ई० में रिपब्लिकन कान्फ्रेन्स के सभापति और दिसम्बर १६२८ ई० में आल-इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सभापति बनाए गए थे। फरवरी १६२८ ई० में आप जिनेवा की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में होनेवाली साम्राज्य-विरोधिनी सभा में भारत कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर गए थे। वहाँ से आप रूस में भी गए और बोल्शेविज़्म के अनुयायी होकर लौटे। जवाहरलालजी के वैवाहिक जीवन का अन्त २८ फरवरी, १६३६ ई० को हुआ जब कमलाजी ने स्विटज़रलैण्ड के बाडेन वाइलर स्थान में शरीर छोड़ दिया।[5] वास्तव में यदि यह कहा जाय कि आपका शरीर तो

---

१. राष्ट्रपति जवाहर, प्रकाशक—गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, पृ० ११-१२, १६३० ई०
२. नोट—इस स्कूल में केवल धनवानों के बालक ही पढ़ते थे।
३. राष्ट्रपति जवाहर, पृ० १२-१३ के आधार पर
४. वही, पृ० १३-१४ के आधार पर
५. नेहरू-अभिनन्दन ग्रन्थ—आर्यावर्त्त प्रकाशन, पृ० २२०, कलकत्ता १६४६

ब्राह्मण का है, किन्तु मन क्षत्रिय का तो यह सत्य होगा। जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है तब से आप भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री पद पर आसीन हैं और देश-सेवा में रत रहते हैं।

आप सच्चे देश-भक्त हैं। देश-भक्ति की अग्नि उनके हृदय में पहले से ही धकक रही थी। उसे जल उठने के लिए सिर्फ असहयोग-आन्दोलन ही यथेष्ट था। तभी से वे गांधीजी के पक्के शिष्य बनकर देश के एक प्रमुख नेता गिने जाने लगे थे। असहयोग-आन्दोलन सम्बन्धी पुत्र के विचारों ने पिता को भी बदल दिया। जवाहर-लालजी के साथ पण्डित मोतीलाल भी असहयोग की ओर झुक गए। इसी देश-भक्ति के कारण १९२१ ई० के दिसम्बर में आपको ६ महीने के लिए पहली बार जेल जाना पड़ा। इसके बाद आपको कई बार जेल की यात्राएँ करनी पड़ीं। देश-भक्ति के परिणाम-स्वरूप ही पण्डितजी ने अपने आनन्द-भवन के सारे सांसारिक आनन्द छोड़कर—उस पर लात मारकर इधर-उधर लूक-धूप, आँधी-मेह और जाड़े-पाले में घूमते हुए राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों को झेला। उन्होंने इसके लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है। आपके जीवन का मूल-मन्त्र है—"कर्मण्येवाधि-कारस्ते मा फलेषु कदाचन।" आपका सिद्धान्त है :—

कर्म है अपना जीवन प्रान,
कर्म है मातृ-भूमि का मान।
कर्म में बसते हैं भगवान,
कर्म पर आओ हों बलिदान।

कृतियाँ—पण्डितजी की कई पुस्तकें हैं, पर यात्रा-साहित्य पर उनके केवल दो ग्रन्थ 'रूस की सैर' और 'आँखों-देखा रूस' ही प्रकाशित हैं। इन्होंने संसार के अनेक देशों की यात्राएँ की हैं परन्तु इसकी दोनों यात्राओं का वर्णन ही लिपि-बद्ध किया है। यह दोनों पुस्तकें हिन्दी में लिखी गई हैं।

रूस की सैर—२०६ पृष्ठों का यह ग्रन्थ हिन्दुस्तान प्रेस से सन् १९२९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में नेहरूजी ने अपनी यात्रा के साथ-साथ रूस की रमणीयता और मास्को के चमत्कार का विवरण पूर्णरूप से दिया है। यात्रा-विवरण के साथ ही अपने विचारों को भी व्यक्त किया गया है।

आँखोंदेखा रूस—१३५ पृष्ठों की यह पुस्तक नवयुग प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में प्रकाशित (नेहरूजी के) इस पुस्तक में उनके द्वारा लिखित एवं हिन्दुस्तान के विभिन्न पत्रों में प्रकाशित यात्रा के लेखों का संग्रह है। इस संग्रह के बहुत-से लेख बहुधा मद्रास के पत्र 'हिन्दू' में निकले थे। इनमें से कुछ लेख रेलगाड़ियों में यात्रा करते हुए लिखे गए और कुछ वैसे। सच तो यह है कि सब-के-सब चलते-चलाते मेरी दूसरी प्रकार की सरगर्मियों के बहाव में

जिनमें मेरे समय का अधिक भाग व्यतीत हुआ, लिखे गए हैं।[1] इस ग्रन्थ में रूस की सभी चमत्कारी चीजों का आँखोंदेखा वर्णन लिखा गया है, विशेषकर मास्को की यात्रा का वर्णन बहुत विस्तृत है। मास्को की यात्रा में उन्होंने लिखा है—

"विदेशों के साथ क्रियात्मक और सांस्कृतिक सम्बन्धों की सभा ने १९२७ ई० के नवम्बर में रूस की स्वाधीनता की दसवीं वर्षगाँठ के उत्सव पर हमें मास्को में आमन्त्रित किया था। यह यात्रा नीरस, आनन्दशून्य और शुष्क थी।"[2]

श्री महेशप्रसाद मौलवी

जीवनी—मौलवी महेशप्रसादजी का जन्म १७ नवम्बर, १८९० ई० को इलाहाबाद जिले के फतेहपुर ग्राम में हुआ था और मृत्यु २९ अगस्त, १९५१ ई० को रसूलाबाद (प्रयाग) में हुई, अर्थात् मृत्यु के समय वे लगभग ६१ वर्ष के थे। महेशप्रसादजी मुसाफिर विद्यालय, आगरा के मुख्य अध्यापक थे। इनके विषय में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो यहाँ तक लिखा है : "मुख्य अध्यापक क्या, वस्तुतः वे ही एकमात्र अध्यापक थे, जो अरबी पढ़ाने के साथ-साथ विद्यालय की सारी देखभाल करते थे। तरुणाई में भाई साहब को किसी समय शायरी का शौक भी हुआ था। उस वक्त उन्होंने अपना उपनाम 'साधु' रख लिया था। मैंने उनकी उर्दू की दो-एक कविताएँ ही छपी देखीं। लेकिन मालूम होता है यह जवानी की सनक-भर थी, जो जल्दी ही उतर गई। महेशप्रसादजी ने मैट्रिक पास किया था। साधनों के अभाव से आगे पढ़ने में कठिनाई थी। भाई साहब ओरियण्टल कालेज की मौलवी आलिम कक्षा में दाखिल हो गए। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने मौलवी आलम कक्षा में नाम लिखाया था। वे पहले हिन्दू थे जिन्होंने अरबी की सर्वोच्च परीक्षा मौलवी फाजिल पंजाब विश्वविद्यालय से पास की। हिन्दू मौलवी फाजिल पाकर विश्वविद्यालय ने उन्हें तुरन्त अपना लिया, लेकिन उनकी जो कदर होनी चाहिए थी, वह आखिर तक नहीं हुई।"[3]

महेशप्रसादजी गांधी-युग के आरम्भ होने के पहले से ही स्वदेशी के भक्त थे और हाथ के कते या कर्घे से बुने मोटे-झोटे कपड़े पहनते थे। उनकी सादगी सदा अक्षुण्ण रही, लेकिन इस सादगी में दिखावे का नाम नहीं था। वे केवल हमारे भाषा के ही अध्यापक नहीं थे वरन् आदर्श के पथ-प्रदर्शक भी थे। उनकी मोटी चुटिया हमेशा खुली रहती थी, क्योंकि वे टोपी नहीं पहनते थे। इनके सम्बन्ध में राहुलजी ने तो यहाँ तक लिखा है : "अपने बारे में तो कह सकता हूँ कि मेरे जीवन को सबसे अधिक प्रेरणा जिस पुरुष से मिली, वह भाई महेशप्रसादजी थे। एक समय मैंने इस

---

१. आंखोंदेखा रूस—(भूमिका से) पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० ५
२. आंखोंदेखा रूस—पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० १५
३. विशेष विवरण के लिए देखिए, राहुल सांकृत्यायन-कृत 'अतीत से वर्तमान' ग्रन्थ, पृ० ७४-८१

कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए अपने 'कुरानसार' (इस्लाम धर्म की रूपरेखा) ग्रन्थ में मंगलाचरण के तौर पर दो अर्थोंवाला श्लोक रचा था। पीछे अनीश्वरवादी हो जाने पर ईश्वर की ध्वनि लानेवाले उस श्लोक को मैंने पुस्तक में नहीं रखा और न अब वह सारा श्लोक ही याद है। उसके कुछ अंश थे—

"...शुष्कं पर्णं तदिव संतत रवे पृथिव्यामरत,
प्रेणोत्थाय विदित विभवो—
...नौमितं श्री महेशं।"

सचमुच भाई साहब से मिलने से पहले मैं सूखे पत्ते की तरह निरुद्देश्य भटकता था। पीछे भी यद्यपि भटकना बन्द नहीं हुआ, किन्तु मेरे जीवन को सोद्देश्य बनाने का श्रेय मौलवी महेशप्रसाद को है।"[1] मौलवी साहब ने समय-समय पर अरबी और फारसी साहित्य के सम्बन्ध में सरस्वती में अनेक लेख लिखे हैं। आपको इन भाषाओं के साहित्य से इतना अधिक अनुराग था कि आपने अरब आदि देशों में जाकर तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया। समुचित साधनों का अभाव होते हुए भी आप सन् १९२६ के मई महीने में ईरान गए और करीब दो महीने तक वहाँ का भ्रमण किया।

कृतियाँ—मौलवी महेशप्रसाद ने हिन्दी-यात्रा-साहित्य पर केवल दो पुस्तकें लिखी हैं। इन दो पुस्तकों में से 'मेरी ईरान-यात्रा' इनका मौलिक ग्रन्थ है और 'सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण' अनुवादित है।

मेरी ईरान-यात्रा—मौलवी-साहब की यह पुस्तक आलिम फाजिल बुकडिपो, बनारस से छपी थी। २६३ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने अपने ईरान-प्रवास का विस्तृत विवरण दिया है। मौलवी साहब कराँची से जहाज द्वारा ईरान गए थे और करमान होते हुए स्थल मार्ग से क्वेटा होकर भारत लौटे थे। इस मार्ग का तथा मार्गगत भिन्न-भिन्न स्थानों का जो विशद विवरण आपने दिया है, वह रोचक तथा शिक्षाप्रद है। परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो ईरान अपने से बहुत दूर तथा बहुत विचित्र जान पड़ता है वह इसके पढ़ने से अपने पास और अपना-सा जान पड़ने लगता है। पुस्तक बहुत ही मनोरंजक है।

सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण—यह मूल अरबी सुलेमान नामी एक मुसलमान सौदागर का यात्रा-विवरण है। महेशप्रसाद 'साधुजी' ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है। यह अनुवादित यात्रा-ग्रन्थ संवत् १९७८ में प्रथम बार नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। इससे पूर्व इस यात्रा-विवरण का अनुवाद हमारे देश की किसी भी भाषा में नहीं किया गया था। ऐतिहासिक यात्रा-विवरण की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का ग्रन्थ है। इसमें सुलेमान सौदागर की सारी यात्राओं का विवरण

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—राहुल सांकृत्यायन-कृत 'अतीत से वर्तमान' ग्रन्थ, पृ० ७४-८१

संगृहीत है। १२९ पृष्ठों में लिखा गया यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्राचीन यात्रा-विवरण माना जाता है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

जीवनी—बौद्ध-साहित्य और दर्शन के विश्वविख्यात विद्वान् त्रिपिटकाचार्य महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का जन्म विक्रम संवत् १९५० की वैशाख कृष्ण अष्टमी को आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) जिले में हुआ था। आपने अपनी जीवनी के सम्बन्ध में स्वयं ही लिखा है : "मेरी कुलवन्ती अपने माँ-बाप की एकमात्र सन्तान थीं और वह भी नाना के १०-१२ वर्ष पल्टन की नौकरी से नाम कटाकर चले आने की के बाद की। ब्याह हो जाने पर भी माँ अक्सर अपने मायके पन्दहा ही रहती थीं, और वहीं मेरा जन्म (रविवार ९ अप्रैल, १८९३ ई०) हुआ।"[1] आपका बचपन का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। गाँव में आपने उर्दू के माध्यम से मिडिल तक शिक्षा प्राप्त की और बाद में काशी में संस्कृत का अध्ययन किया। काशी से लौट आने के थोड़े ही दिनों बाद गृह-त्याग कर दिया और संस्कृत विद्या का सांगापांग अध्ययन किया। आपने तिब्बत, यूरोप और रूस आदि विभिन्न देशों की यात्राएँ की हैं।

राहुलजी आधुनिक साधुओं के ढोंग से ऊबकर आर्य-समाज में दीक्षित हुए थे। बाद में आपने एक आर्य-समाज विद्यालय में फारसी-साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया। उसके बाद आपने बौद्ध-संन्यासी होकर देश-विदेश में भ्रमण किया। आपके अपूर्व अनुसन्धानों से देश के इतिहास और हिन्दी-साहित्य को काफी लाभ हुआ है। अनेक धर्मों, आन्दोलनों आदि में सम्मिलित होकर आपने देश और हिन्दी की स्तुत्य सेवा की है। हिन्दी के लिए आप गणेश और व्यास दोनों के सम्मिलित प्रतिरूप हैं। आप अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित हैं। बौद्ध-साहित्य के आप विशेषज्ञ माने जाते हैं। बिहार-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने, सन् १९३८ ई० में अपने सोलहवें अधिवेशन (राँची) का अध्यक्ष चुनकर आपको सम्मानित किया। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन के अध्यक्ष भी आप सन् १९४७ ई० में हो चुके हैं।[2] राहुलजी का गद्य-साहित्य आलोचना, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, भाषा-विज्ञान, राजनीति, इतिहास, संस्कृति एवं यात्रा-साहित्य आदि अनेक विषयों को अपने में समेटने में समर्थ हो सका है। साहित्यिक व्यक्तित्व की इस विशालता के मूल में उनका विस्तृत जीवन-अनुभव गम्भीर अध्ययन एवं प्रखर बुद्धि कार्य करती रही है। निश्चय ही वह महाप्राण और महापण्डित हैं। राहुलजी के पाण्डित्य का पक्ष उनका विस्तृत अनुभव-ज्ञान है। वे एक सच्चे घुमक्कड़ हैं, उनके

---

१. मेरी जीवन यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १

२. बिहार की साहित्यिक प्रगति (द्वितीय खण्ड), पृ० ९५, बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का १६वां रांची अधिवेशन, अभिभाषण, १९३८

जीवन का अधिकांश घूमने में व्यतीत हुआ है। जीवन की अनेक यात्राओं से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है; फलतः उनका स्वतन्त्र जीवन, दर्शन बन चुका है जो किसी भी मतवादों में घिरकर नहीं रह सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा भी है : "सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं में मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है।"[१] लोक-जीवन, लोक-भाषा और लोक-साहित्य के प्रति राहुलजी का अत्यधिक अनुराग है। आपका स्पष्ट मत है : "भाषा, साहित्य, कला, संगीत के मूल में अगर देखा जाए तो मालूम होता है कि इस सबकी सृष्टि जनगण ने की है और उसे प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जनगण की सृष्टि बड़ी मनमोहक, मधुर और गम्भीर होती है, यह आप आज भी जन-काव्य से समझ सकते हैं।"[२]

राहुलजी का व्यक्तित्व एकदम अनोखा और असाधारण है। इस सम्बन्ध में डा० भगवतशरण उपाध्याय का कथन पठनीय है : "इतनी जिज्ञासु मेधा, सजग सक्रियता, असीम साहस, आकर्षक, सरलता और उद्दाम-पौरुष के साथ इतनी नम्रता एकत्र मैंने अन्यत्र नहीं देखी।···श्री राहुल का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल और आकर्षक है, यद्यपि उनकी मेधा की गहराइयाँ बहुत हैं, उनका हृदय सर्वथा बाहरी तल पर है, जिसे समझने में किसीको कभी धोखा नहीं हो सकता।···इन मानों को हृदय में रखकर जब मैं जन-संसार पर दृष्टि करता हूँ तब व्यक्तित्व की ऊँचाई उसे रोक नहीं पाती, वह उनके ऊपर से निकल जाती है।"[३] राहुलजी उच्च कोटि के दार्शनिक भी हैं, इसका प्रमाण उनके दार्शनिक-ग्रन्थ हैं—दर्शन-दिग्दर्शन, कुरानसार, बुद्धचर्या, धम्मपद आदि।

कृतियाँ—राहुलजी की विभिन्न विषयों पर अनेकों पुस्तकें हैं। यात्रा-वर्णन सम्बन्धी निबन्ध लिखनेवाले साहित्यिकों में राहुलजी का नाम अग्रगण्य है। इन निबन्धों में उनकी भाषा तथा शैली अत्यन्त सीधी, सरल तथा सुबोध होने पर भी प्रभावोत्पादक रहती है। अपनी कृतियों में देश-विदेश के अनुभवों का जब यह वर्णन करते हैं तो उनकी शैली और भी रसात्मक हो जाती है। वास्तव में इस रसात्मकता का आधार उनका अपना अनुभव रहता है। हिन्दी-यात्रा-साहित्य को उन्होंने बहुत-कुछ सामग्री प्रदान की है।

राहुलजी के यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ रचनाक्रम से निम्नलिखित हैं:—

तिब्बत में सवा बरस (१९३३ ई०), मेरी यूरोप यात्रा (१९३५ ई०), मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७ ई०), मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९ ई०), मेरी जीवन-यात्रा

---

१. किन्नर देश में—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८४-८५

२. नया पथ—अगस्त, १९५३, पृ० २७

३. हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—में उद्धृत, देवीशरण रस्तोगी, पृ० २८४, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली १९५२

(१९४६ ई०), किन्नर-देश में (१९४८ ई०), राहुल-यात्रावली (१९४९ ई०), घुमक्कड़-शास्त्र (१९४९ ई०), दार्जिलिंग परिचय (१९५० ई०), यात्रा के पन्ने (१९५२ ई०), रूस में २५ मास (१९५२ ई०), हिमालय-परिचय (१९५३ ई०), कुमाऊँ-परिचय (१९५५ ई०), गढ़वाल-परिचय (१९५५ ई०)।

तिब्बत में सवा बरस—महापण्डित राहुलजी की यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी यह पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १९३३ ई० में शारदा मन्दिर, दिल्ली से प्रथम बार प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक को राहुलजी ने दस मन्जिल (अध्याय) में विभाजित किया है:

भारत के बौद्ध-खण्डहरों में, नैपाल, सरहद के पार, ब्रह्मपुत्र की गोद में, अतीत और वर्तमान तिब्बत की झाँकी, ल्हासा में, नववर्ष उत्सव, व्सम्‌यस की यात्रा, ग्रन्थों की तलाश एवं वापसी। इस प्रकार इस पुस्तक में राहुलजी ने अपनी तिब्बत यात्रा एवं ग्रन्थों की खोज का पूर्ण विवरण दिया है—

मेरी यूरोप-यात्रा—राहुल सांकृत्यायनजी की इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९३५ ई० में साहित्य सेवक-संघ, छपरा से प्रकाशित हुआ था। दूसरे संस्करण का प्रकाशन सन् १९४५ ई० में किताब महल, इलाहाबाद से हुआ जिसमें १६८ के स्थान पर १४३ पृष्ठ ही रह गए। इस पुस्तक में राहुलजी ने कोलम्बो से प्रस्थान करके यूरोप-दर्शन, लन्दन-टावर, कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय, आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय, पेरिस, जर्मनी आदि की सैर का रोचक वर्णन लिपिबद्ध किया है। अपनी सागरीय यात्रा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"जब जहाज ऊँची लहरों पर उठता है, तब सिर में थोड़ा-सा चक्कर आता है, परन्तु जिस समय लहर नीचे से निकल जाती है उस समय जहाज के पतन के साथ दिल एकदम गिर ही नहीं पड़ता, बल्कि मालूम होता है एक ठण्डी हवा का झोंका कलेजे के एक-एक छिद्र में जल्दी से घुस गया।"[1]

मेरी तिब्बत यात्रा—राहुलजी की यह पुस्तक सन् १९३७ ई० में छात्र-हितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। १६८ पृष्ठों की इस यात्रा-पुस्तक में राहुलजी की तिब्बत के कई स्थानों जैसे ल्हासा, चाङ्, सक्य, जेनम्, नैपाल आदि की यात्राओं का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसके दो-तीन अध्याय सरस्वती पत्रिका में भी प्रकाशित हो चुके हैं। पुस्तक डायरी-शैली में लिखी गई है। चित्रों से अलंकृत है।

मेरी लद्दाख यात्रा—राहुलजी की यह पुस्तक सन् १९३९ ई० में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। १४६ पृष्ठों की इस पुस्तक में राहुलजी ने

---

१. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५

अपनी लद्दाख की यात्रा का सुन्दर वर्णन अंकित किया है। काश्मीर और तिब्बत की पर्वतीय दृश्यावली का वर्णन बहुत अच्छा किया गया है। एक उद्धरण देखिए—

"जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भाँति कुटिल गति की जेलहम, दूर तक, शहर के बाहर भी सेव, बादाम आदि के बागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर बँगले, हरी घासों से ढके लम्बे-लम्बे क्रीड़ाक्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियाँ देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।"[1]

मेरी जीवन-यात्रा—५६४ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १६४६ ई० में किताब महल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हुई थी। राहुलजी ने इस पुस्तक में अपनी 'जीवनी' न लिखकर अपनी 'जीवन-यात्रा' लिखी है। १४ मार्च, १६४० ई० को जब राहुलजी हज़ारीबाग जेल में नज़रबन्द कर दिए गए तब २६ महीने के समय को काटने के लिए उनके पास कोई साधन न था, न पुस्तकें ही थीं। उन्होंने लिखा भी है—"मैंने दिन काटने के लिए सोचा, चलो पुरानी स्मृतियाँ ही अंकित कर डालो। १६ अप्रैल, १६४० ई० से मैंने लिखना शुरू किया और १४ जून तक लिखता गया। इन दो महीनों में मैंने १८६३ से १६३४ तक की यात्रा को अपनी स्मृति से कागज पर उतारा है।"[2] इस प्रकार राहुलजी ने अपनी इस पुस्तक में अपनी बाल्य और तारुण्य अवस्था में की गई दक्षिणी भारत, अयोध्या, लाहौर, आगरा, चित्रकूट, कुर्ग, छपरा, नेपाल, बक्सर एवं हिमालय आदि की यात्राओं का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। इनकी जीवन-यात्रा पर पुस्तक पूर्ण प्रकाश डालती है। अपनी पहली यात्रा की अभिरुचि के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है: "दोनों ही वक्त या तो नाना की बगल में या उनकी गोद में, मैं बैठा रहता। कहानियों के सुनने में जितना रस आता, उससे कम नाना की शिकार और यात्रा की बातों में न था। भारत के भूगोल को पढ़ने का मुझे पीछे मौका मिला, किन्तु कामठी अकोला-बुलडाना-औरंगाबाद, बम्बई-शिमला ही नहीं कोचीन बंदर और कौन-कौन पचासों नाम में सुन चुका था, सब मुझे याद थे।"[3]

किन्नर देश में—महापंडित राहुलजी की यह पुस्तक प्रथम बार इण्डिया पब्लिशर्स, प्रयाग द्वारा सन् १६४८ ई० में प्रकाशित हुई थी। ४४६ पृष्ठों का यात्रा-सम्बन्धी यह बड़ा ग्रन्थ है। राहुलजी ने इसमें किन्नर देश की (मई-अगस्त, १६४८) यात्रा का विवरण देने के साथ ही हिमालय के इस उपेक्षित भाग का परिचय भी दे दिया है। इस यात्रा में उन्होंने नवीन भारत (स्वतन्त्रता के बाद) के नव निर्माण की दृष्टि से वस्तुओं का वर्णन किया है। हिमालय के इस अंचल की नवीन ज्ञातव्य बातें भी राहुलजी द्वारा प्रकाश में आ सकी हैं। इस पुस्तक में किन्नर प्रदेश की यात्रा के

---

१. मेरी लद्दाख यात्रा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० ५३
२. मेरी जीवन यात्रा (प्राक्कथन से उद्धृत), राहुल सांस्कृत्यायन
३. मेरी जीवन-यात्रा, राहुल सांस्कृत्यायन, पृ० २६

वर्णन के अतिरिक्त राहुलजी ने वहाँ की भाषा पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही अपनी यात्रा में कुछ किन्नर-गीतों का संकलन भी किया था जिन्हें पुस्तक में संगृहीत कर दिया है। यात्रा-साहित्य की यह उत्तम पुस्तक है। किन्नर देश के सम्बन्ध में आपने लिखा है—

"किन्नर देश के बारे में मेरा यही विचार है, यदि भारत पीछे नहीं हटा, और पीछे हटना असम्भव है, क्योंकि वहाँ मृत्यु घात लगाए हुए है, तो यह किन्नर देश इस शताब्दि के अन्त में देवलोक वन के रहेगा।"[1]

राहुल यात्रावली—राहुलजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४९ ई० में किताब महल, इलाहाबाद से हुआ था। ४३६ पृष्ठों की इस पुस्तक को तीन खण्डों में (मेरी लद्दाख-यात्रा, मेरी लंका-यात्रा, तिब्बत में सवा वर्ष—नामक शीर्षकों में) विभाजित किया गया है। मेरी लद्दाख-यात्रा खण्ड में मेरठ, पंजाब, मुलतान, सीमान्त राज्य, पुंछ राज्य एवं काश्मीर तथा जोजीला की यात्रा का वर्णन दिया गया है। लंका-यात्रा खण्ड में लंका की राजधानी अनुराधापुर, पुलस्त्यपुर, काण्डी आदि प्रसिद्ध नगरों की यात्रा के वर्णन, साथ ही वहाँ की जनता एवं भिक्षुओं का वर्णन भी लिपिबद्ध किया गया है। तीसरा यात्रा-खण्ड 'तिब्बत में सवा बरस' है। इसमें भारत के बौद्ध खण्डहरों, कन्नौज, कौशाम्बी, सारनाथ, वैशाली, लुम्बिनी से लेकर नेपाल, शीगर्ची, ग्यांची, ल्हासा का यात्रा-वर्णन दिया गया है। इसमें तिब्बत की यात्रा के साथ ही ग्रन्थों की खोज का विवरण दिया गया है। राहुलजी की यह यात्रा एक अलग पुस्तक के रूप में सन् १९३३ ई० छप चुकी है। इसका विवरण मैं इससे पूर्व दे चुका हूँ। कुती के प्रस्थान करते समय देखे गए दृश्य का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है—

"अब हम बड़े मनोहर स्थान में जा रहे थे। चारों ओर उत्तुंग शिखरवाले हरियाली से ढके पहाड़ थे जिनमें जहाँ-तहाँ झरनों का कल-कल सुनाई देता था। नीचे फेन उगलती कोसी की वेगवती धार जा रही थी। नाना प्रकार के पक्षियों के मनोहर शब्द सारी दून को जादू का मुल्क सिद्ध कर रहे थे।"[2]

घुमक्कड़-शास्त्र—राहुलजी की यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९४९ ई० में प्रकाशित हुई थी। १६० पृष्ठों की यह पुस्तक वास्तव में घुमक्कड़-शास्त्र ही है। इस शास्त्र का लक्ष्य घुमक्कड़ी का अंकुर पैदा करना ही नहीं, वरन जन्मजात अंकुरों की पुष्टि, परिवर्धन तथा घुमक्कड़ी के लिए मार्ग-प्रदर्शन करना भी है। घुमक्कड़ों के लिए उपयोगी सभी बातें इस शास्त्र में सूक्ष्म रूप से लाई गई हैं। इस यात्रा-ग्रन्थ में घुमक्कड़ी को ही दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना गया है। भ्रमण

---

१. किन्नर देश में—राहुल सांकृत्यायन
२. राहुल यात्रावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २२९

देश-दर्शन एवं यात्रा-प्रेमियों के लिए यह बहुत सुन्दर पुस्तक है। घुमक्कड़ी को अत्यधिक महत्त्व देते हुए वे लिखते हैं—

"घुमक्कड़ी एक रस है, जो काव्य के रस से किसी तरह भी कम नहीं है। कठिन मार्गों को तय करने के बाद नए स्थानों में पहुँचने पर हृदय में जो भावोद्रेक पैदा होता है, वह एक अनुपम चीज है। उसे कविता के रस से हम तुलना कर सकते हैं, और यदि कोई ब्रह्म पर विश्वास रखता हो, तो वह उसे ब्रह्म-रस समझेगा : "रसो वैसः रसंहि लब्ध्वा आनन्दी भवति।"[1]

दार्जिलिंग परिचय—यह पुस्तक सन् १९५० में आधुनिक पुस्तक भवन, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। २५० पृष्ठों की इस पुस्तक में हिमालय के यात्रियों के सर्वांगीण पथ-प्रदर्शन के लिए एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव था, जिस कमी की पूर्ति राहुलजी-जैसे साहित्यिक पर्यटक ने की है। इसमें राहुलजी ने स्थानीय इतिवृत्त, भूगोलादि और अपनी हिमालय एवं दार्जिलिंग की यात्राओं के साथ-ही-साथ यात्रा की अन्य आवश्यक बातें भी दी हैं।

यात्रा के पन्ने—राहुलजी का ४४० पृष्ठों का यह ग्रन्थ साहित्य सदन, देहरादून से प्रथम बार सन् १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में राहुलजी की तीसरी तिब्बत-यात्रा का वर्णन है। नेपाल, काठमांडू, तिब्बत की यात्राएँ इसमें संगृहीत हैं। इस पुस्तक में यात्राओं के साथ ही प्रवास-काल में लिखे हुए वे पत्र भी संकलित हैं, जो उन्होंने यूरोप से श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन को लिखे थे। इसमें आबू, अजमेर, मेवाड़ की भूमि, चित्तौड़, उज्जैन, दशार्ण, ग्यारसपुर, उदयगिरि, चैत्यगिरि (साँची), बीना, ढाका, मोतीहारी, बेतिया, छपरा, माझी की यात्राएँ भी वर्णित की गई हैं। तिब्बत का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"तिब्बत में तो हरियाली के लिए आँखें तरसती हैं। नदियों की विस्तृत उपत्यकाएँ कहीं-कहीं रेगिस्तान का स्मरण दिलाती हैं और किसी-किसी जगह तो उसी तरह बवण्डर लाखों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह रखते रहते हैं। उपत्यकाओं के किनारे पर छोटे-छोटे पहाड़ बिलकुल नंगे-जैसे होते हैं।"[2]

रूस में २५ मास—यात्रा-साहित्य-सम्बन्धी ४१७ पृष्ठों की यह पुस्तक सितम्बर सन् १९५२ ई० में आलोक प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित हुई थी। राहुलजी की यह यात्रा १७ अगस्त, १९४७ को समाप्त हो गई थी; पर इसका विवरण चार वर्ष बाद लिखा गया। राहुलजी की यह तीसरी रूस-यात्रा थी। इस पुस्तक में ईरान, तेहरान, रूस, लेनिनग्राद आदि की यात्राओं का पूर्ण विवरण दिया गया है।

---

१. घुमक्कड़ शास्त्र—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २९
२. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १३८

हिमालय परिचय—राहुलजी की ५६९ पृष्ठों की यह पुस्तक लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद से सन् १९५३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में हिमालय के व्यापार एवं यातायात का वर्णन है। इस वर्णन के साथ-साथ प्रसिद्ध ग्रामों, नगरों जैसे केदारनाथ, वदरीनाथ, देवप्रयाग, श्रीनगर आदि स्थानों की यात्राओं का भी विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह यात्रा-साहित्य की सुन्दर पुस्तक है।

कुमाऊँ-परिचय—हिमालय-परिचय की भाँति हा राहुलजी ने कुमाऊँ-परिचय पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक में कुमाऊँ और मानसरोवर के तीर्थों तथा दूसरी दर्जनों यात्राओं के अतिरिक्त इस भूभाग के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है।

गढ़वाल-परिचय—उपर्युक्त पुस्तक की भाँति ही इस पुस्तक में भी केदार-खण्ड की प्राचीन मही, उसके गिरिनाद सर, मार्ग-विश्राम स्थान, प्राकृतिक सुषमा का भी राहुलजी ने यात्रा के साथ-साथ वर्णन किया है।

राहुलजी का यात्रा-साहित्य प्रचुर है और हिन्दी में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सेठ गोविन्ददास

जीवनी—आपका जन्म आश्विन शुक्ल दशमी, सन् १८९६ ई० में दशहरे के दिन हुआ था। आपके पूज्य पिता सेठ जीवनदास थे। इनके जन्म के समय इनके पितामह जीवित थे, जिन्होंने पौत्रोत्सव बड़े समारोह से मनाया और एक लाख से अधिक रुपया खर्च किया। गोविन्ददासजी का जन्म अत्यन्त सुसम्मान्य एवं धनी परिवार में हुआ था; अतएव महल के संगमरमर के फर्शों पर रखे हुए चाँदी के पालने की मखमली गद्दियों पर लिटा-लिटा और झुला-झुलाकर—पारे के कटोरे और सोने के चमचे से दूध पिला-पिलाकर गोविन्ददास राजा गोकुलदास महल में बड़े किए जाने लगे। पाँच वर्ष की अवस्था से इनकी शिक्षा घर पर ही अध्यापकों द्वारा हुई। साढ़े ग्यारह वर्ष की आयु में ही जयपुर के अन्तर्गत सीकर राज्य के पोद्दार सेठ लक्ष्मीनारायणजी बिहानी की पुत्री गोदावरीदेवी से गोविन्ददासजी का विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त युवावस्था में सेठजी के पितामह राजा गोकुलदास का देहावसान हो गया। माता ने उन्हें धर्मनिष्ठ और सच्चरित्र तो अवश्य बनाया, किन्तु व्यवसाय में दक्ष न कर सकीं। उधर अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन करने के कारण गोविन्ददास की प्रवृत्ति व्यवसाय से हटकर साहित्य की ओर बढ़ चली थी। अंग्रेजी वेशभूषा में यह रहते थे और टेनिस, बिलियर्ड का इन्हें शौक था। सेठजी ने अंग्रेजी और हिन्दी भाषा के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह किया और कुछ ही दिनों के उपरान्त शारदा भवन पुस्तकालय की स्थापना की। सन् १९१७ ई० से ये नाटक-रचना की ओर प्रवृत्त हुए। इसके साथ ही ये सन् १९१९ ई० में सागर में मध्य प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् और मध्य-प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने गए। सन् १९२० ई० से इन्होंने असहयोग

आन्दोलन के कार्य का बीड़ा उठाया और अपने नगर के ही नहीं वरन् प्रान्त के एक सफल एवं सर्वमान्य नेता सिद्ध हुए। सन् १९२३ ई० में केन्द्रीय असेम्बली के लिए ये निर्विरोध चुन लिए गए और सन् १९२४ ई० से पण्डित मोतीलाल नेहरू के साथ असेम्बली में कार्य आरम्भ किया। कई बार जेल गए और जेल-जीवन का अधिकांश समय साहित्य-सेवा में ही लगाया। कर्त्तव्य, प्रकाश, नवरस, हर्षकुलीनता, विश्वास-घात, स्पर्द्धा, विकास, दलित कुसुम, बड़ा पापी कौन, सिद्धान्त, स्वातन्त्र्य और ईर्षा आदि नाटक सेठजी ने जेल में ही लिखे थे। परिवारवाले इनसे इतना असंतुष्ट थे कि इन्हें घर की सारी सम्पत्ति से त्यागपत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। सन्. १९३४ ई० में जेल से छूटने पर वे केन्द्रीय असेम्बली में पुनः निर्वाचित हुए।[१] आजकल भी आप केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य हैं।

सेठ गोविन्ददासजी का व्यक्तित्व त्याग और निष्ठा का व्यक्तित्व है। ऐसा व्यक्तित्व जो स्वार्थ, छल एवं क्रोध से परे है। इनका व्यक्तित्व कई रूपों में एक साथ ही निखर उठा। इनके व्यक्तित्व को दृढ़ लोकोपयोगी एवं मंगलमय बनाने में इनकी राजनैतिक, साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रुचि का विशेष हाथ रहा है। लखपति के घर में जन्म लेकर भी अहम् एवं दम्भ उन्हें छू नहीं गया है।[२] यही उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता का एकमात्र प्रतीक है। देश की स्वतन्त्रता के लिए एक साधारण व्यक्ति के रूप में आकर आज भी आप अज्ञानता, गरीबी, भुखमरी एवं अशिक्षा को दूर करने के लिए प्रयत्नशील हैं। स्वतन्त्रता के युद्ध में पाँच बार जेल जाकर आपने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया है, साथ ही जेल में रहकर हिन्दी-साहित्य का सृजन करते रहे। प्रेम, ईमानदारी, त्याग, पौरुष, शान्ति, सन्तोष, मित्रता को ये सदा अपनाए रहे। इन्हीं कारणों से इनका व्यक्तित्व खरे स्वर्ण की भाँति चमकता रहा है। खद्दर की धोती, कुर्त्ता और पैरों में साधारण पम्प-शू डाले सेठजी लक्ष्मी-पुत्र होकर भी सरस्वती के साधक बने रहे। आपकी रचनाओं में आपका व्यक्तित्व निखर उठा है। आदर्शों का मोह उन्हें आज भी है। इसी कारण आपकी रचनाओं में देश-भक्ति, अस्पृश्यता निवारण, ग्राम्य-जीवन, समाजवाद, शिक्षा, दार्शनिक चिन्तन आदि की ठोस भावना स्थल-स्थल पर मिलती है। आपका व्यक्तित्व गहन एवं गम्भीर है। हिन्दी के प्रति आपको प्रारम्भ से ही मोह रहा है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनवाने में इनका पूरा सहयोग रहा है, इसीलिए राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने कहा भी है: "हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने (सेठजी ने) जो-कुछ किया है, वह इतिहास में अमर रहेगा। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मलाया, मिस्र, यूनान, इटली, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस, इंग्लैण्ड, कैनेडा, अमेरिका, हवाई द्वीप, चीन, जापान, श्याम, बर्मा आदि देशों की यात्रा इनकी शान्ति और सद्भावना यात्रा

---

१. सेठ गोविन्ददास—डा० रत्नकुमारीदेवी के ग्रन्थ के आधार पर
२. लेखक के व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर

थी। विदेश की इन यात्राओं को सेठजी ने तीन ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया है। इन यात्रा-ग्रन्थों में उनके व्यक्तित्व का निखार बराबर भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की मान्यताओं के प्रति विदेशियों को उत्साहित और आकर्षित करता है।[1]

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर सेठजी की तीन पुस्तकें हैं—हमारा प्रधान उपनिवेश, (१६३८), सुदूर दक्षिण-पूर्व (१६५१) और पृथ्वी-परिक्रमा (१६५४)।

१. हमारा प्रधान उपनिवेश—सन् १६३७-३८ ई० में पूर्व और दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर सेठजी ने अपनी प्रथम यात्रा-पुस्तक 'हमारा प्रधान उपनिवेश' नाम से लिखी थी। जहाजी यात्रा की इस पुस्तक में सेठजी ने दक्षिण अफ्रीका की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए हैं और ऐसी खरी बातें कही हैं जिनका राजनैतिक जाग्रति पर काफी प्रभाव पड़ा है। वहाँ की अनेकों दिलचस्प घटनाओं का भी इसमें विवरण दिया गया है। पुस्तक के सम्बन्ध में सबसे बड़ी समझ में न आनेवाली बात है उसका शीर्षक 'हमारा प्रधान उपनिवेश'। भारत का न तो कोई उपनिवेश है और न वह उपनिवेश में विश्वास रखता है। आज जब देश स्वतन्त्र है और उसकी मूलनीतियों का स्पष्टीकरण दृढ़ता-पूर्वक किया जा चुका है तो सेठजी का यह शीर्षक असंगत-सा जान पड़ता है। उप-निवेश से सेठजी का मतलब उन्हींके शब्दों में देखिए : "हिन्दुस्तानियों का यदि कोई देश उसका प्रधान उपनिवेश बन सकता है तो पूर्वी अफ्रीका। इसके कारण हैं—यह देश भारतवर्ष के बहुत नज़दीक है, काफी जमीन यहाँ बसने और आज़ाद होने के लिए पड़ी हुई है तथा यहाँ की जलवायु भारतीयों के अनुकूल हैं।"[2] पुस्तक में जहाजी यात्रा का चित्र अंकित किया गया है।

२. सुदूर दक्षिण-पूर्व—१७१ पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन आदर्श प्रकाशन, जबलपुर से सन् १६५१ ई० में हुआ था। यह सेठजी की दूसरी यात्रा-पुस्तक है। इसमें सेठजी ने सन् १६५२ ई० में की गई यात्रा का वर्णन किया है। न्यूज़ीलैण्ड में सन् १६५२ ई० में कामनवेल्थ पार्लमेण्टरी परिषद् की जो सभा हुई थी उसमें सेठजी भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के नेता थे। इस प्रतिनिधिमण्डल के अन्य सदस्य थे श्री चमनलालशाह, श्री वैंकटरमन, श्री बरुआ और श्री सिधवा। सुदूर दक्षिण-पूर्व में सेठजी सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और फीजी गए थे। लगभग पाँच सप्ताह के इस भ्रमण की उन पर गहरी छाप थी। इन पाँच देशों के भ्रमण के पश्चात् सेठजी की यह धारणा भी दृढ़ हो गई जो उनकी अफ्रीका यात्रा के समय बनी थी कि किसी भी देश का पूरा ज्ञान समाचार-पत्रों या वहाँ से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों के

---

१. लेखक के नाम आए सेठ गोविन्ददासजी के व्यक्तिगत पत्र, वार्तालाप एवं सम्पर्क के आधार पर

२. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८६ (सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली से प्रकाशित), १६५६, संपादक, डॉ० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट०

अध्ययन से नहीं हो सकता। इस पुस्तक में सेठजी कोरे भावुक दर्शक नहीं हैं। उन्होंने इन देशों की समस्याओं का गहरा अध्ययन किया है और उनका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। विश्लेषण के साथ-ही-साथ उन्हें हल करने के उपाय भी दिए हैं। अपनी इस हवाई यात्रा का सेठजी ने चित्रों के साथ बड़ा सुन्दर विवरण दिया है। प्रकृति वैभव का एक चित्र देखिए—

"भगवान् सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक वृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमें एक भी सिकुड़न, एक भी शल, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता था।"[1]

पृथ्वी-परिक्रमा—सेठजी की यह नवीनतम कृति है। ३४४ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९५४ ई० में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। इसमें सेठजी की मिस्र, यूनान, इटली, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन, कैनाडा, अमरीका, हवाई जापान, चीन, स्याम और वर्मा आदि देशों की यात्राओं का विस्तृत एवं विशद वर्णन है। इस पुस्तक में सेठजी ने देश-विदेश की दर्शनीय वस्तुओं—वहाँ के इतिहास, वहाँ की राजनीतिक व सामाजिक स्थिति, वहाँ के उद्योग, कला आदि का ही वर्णन नहीं किया, वहाँ की आत्मा को भी चित्रित करने का प्रयत्न किया है। 'पृथ्वी-परिक्रमा' जिन देशों में लेखक गया उन देशों की इमारतों एवं स्मारकों का विवरण मात्र ही नहीं वरन् उन देशों का संक्षिप्त राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास भी है। सेठजी ने अपनी अधिकांश यात्रा वायुयान द्वारा ही की है इसलिए अल्प समय में ही वे विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण कर सके। 'उस पुरातन भूमि में जहाँ कभी पानी नहीं बरसता' शीर्षक से लिखते हुए सेठजी ने मिस्र के पिरामिडों की रोमांचकारी गाथा पर प्रकाश डाला है। 'सुकरात की ज्ञानधारा पर' शीर्षक से उन्होंने यूनान की महान् सांस्कृतिक परम्परा को पुनर्जीवित कर दिया है, सुकरात के प्राणदण्ड की करुण-कहानी भी उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से दोहरा डाली है। इटली उनके शब्दों में 'वह देश है जो सदा कलाकारों को प्रिय रहा है,' इसी प्रकार स्विटजरलैण्ड को वह यूरोप का ऐसा देश मानते हैं जिसे प्रकृति ने सबसे अधिक रमणीयता दी है। फ्रांस को उन्होंने विलासिता के वैभव का केन्द्र माना है। ब्रिटेन को संसार के सबसे बड़े शहर-वाला देश माना है। कैनाडा के सम्बन्ध में सेठजी की धारणा है कि वह तो झीलों का देश है। अमरीका में उन्हें ऐसा जान पड़ा है कि वह गगनचुम्बी प्रासादों के प्रांगण में है। अमरीका को उन्होंने संसार का सर्वश्रेष्ठ देश पाया। इसके बाद पूर्व के सबसे उन्नत देश जापान, माओत्सेतुंग के नवचीन, संसार के सबसे अधिक धार्मिक वायुमण्डलोंवाले देश स्याम और पगोड़ों के देश वर्मा के उनके संस्मरण हैं। इस

---

१. सुदूर दक्षिण-पूर्व, सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१

पृथ्वी-यात्रा में सेठजी की अनुभूति एक शुद्ध साहित्यकार की अनुभूति है, जैसा कि इन शीर्षकों से ही विदित है। पुस्तक में सेठजी ने जहाँ जो कुछ सराहनीय पाया वहाँ उसकी प्रशंसा की और जिसे उन्होंने आपत्तिजनक समझा उसकी उन्होंने कड़ी आलोचना की। दक्षिण भारत की मासिक पत्रिका 'कल्पना में पृथ्वी परिक्रमा' पुस्तक का परिचय निम्न शब्दों में दिया गया है : "लेखक (सेठजी) ने संसार के अनेक देशों का भ्रमण किया और उसे अत्यन्त रोचक ढंग से पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है, अपने कमरे में बैठे हुए भी इस पुस्तक की सहायता से पृथ्वी-परिक्रमा साकार हो उठती है।"[1] पुस्तक को चित्रों से खूब सजाया गया है जिससे स्थान-स्थान के दृश्यों की झाँकी भी मिलती है। स्थल-स्थल पर सेठजी ने अपने व्यक्तिगत कार्यक्रमों के वर्णन देकर इस यात्रा-ग्रन्थ को नीरस होने से बचा लिया है, किन्तु कहीं-कहीं उनमें अत्यधिक विस्तार और अनावश्यक विवरण का दोष भी विद्यमान है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय वासुदेव मावलंकरजी लिखते हैं : "पुस्तक में न केवल लेखक द्वारा विश्व के विभिन्न भागों की यात्रा का विवरण दिया गया है वरन् उन देशों के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन पर लेखक ने अपना मत भी सरल भाषा में व्यक्त किया है।......एक प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक को विश्व-इतिहास का एक ठोस भाग कहा जा सकता है।......जिन-जिन देशों में लेखक गया उनके लिए तो यह एक 'इनसाइक्लोपीडिया' ही है।......पुस्तक से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक देश के इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला इत्यादि का परिश्रम-शील अध्ययन किया गया है।"[2] सेठजी का यह सुन्दर ग्रन्थ है। स्विटज़रलैण्ड की प्राकृतिक दृश्यावली के एक दृश्य को देखिए—

"ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती-खिलखिलाती झीलें, पुष्पों एवं हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जगल और नए-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटज़रलैण्ड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि वह एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[3]

डा० धीरेन्द्र वर्मा

जीवनी—आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपदा सोमवार सं० १९५४ (सन् १८९७ ई०) को बरेली में हुआ था। आप सक्सेना कायस्थ हैं। आपके पिता का नाम श्री खानचन्द तथा माता का नाम कमलादेवी है। इनका मूल निवास-स्थान शकरस जिला बरेली है। आपके पिता आर्यसमाजी विचार के थे, जिसका प्रभाव आपके

---

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ २९४ ; संपादक—डॉ० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०
२. देखिए, 'पृथ्वी-परिक्रमा' की भूमिका
३. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोविन्ददास, पृ० ९०

विचारों तथा शिक्षा आदि पर विशेष रूप से पड़ा। हिन्दी आपने अपनी माताजी से सीखी। आपकी शिक्षा संस्कृत से प्रारम्भ की गई थी।[1] कई वर्षों तक पुराने ढंग से आपको संस्कृत, व्याकरण पढ़नी पड़ी। स्कूली शिक्षा देहरादून के डी० ए० वी० स्कूल में आरम्भ हुई। सन् १९१४ ई० में आपने क्वीन्स हाई स्कूल, लखनऊ से हिन्दी में विशेष सम्मान के साथ हाई-स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे की शिक्षा के लिए आप प्रयाग गए और सन् १९१६ ई० में म्योर सेण्ट्रल कालेज से एफ० ए०, सन् १९१८ ई० में बी० ए० तथा सन १९२१ ई० में संस्कृत लेकर एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की। एम० ए० करने के बाद दो वर्ष तक आपको डी० लिट्० के लिए सरकारी स्कालरशिप १०० रुपया प्रतिमास मिलती रही। यह समय आपने व्रज-भाषा पर खोज करने के लिए सामग्री एकत्र करने तथा भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने में बिताया। सन् १९२२ ई० में आपका विवाह हुआ और सन् १९२४ ई० में आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक नियुक्त हुए। कई वर्ष तक आप विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के संचालन करने में लगे रहे। साथ-ही-साथ खोज का कार्य भी चलता रहा। सन् १९३४ ई० में आप भाषा-शास्त्र तथा प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान (एक्सपेरीमेण्टल फोनेटिक्स) के अध्ययन के लिए यूरोप गए और सन् १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। तब से मार्च १९५९ तक आप प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर सुशोभित थे परन्तु अब वहाँ से आपने अवकाश ग्रहण कर लिया है। आजकल आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित होनेवाले हिन्दी विश्वकोष के प्रधान सम्पादक हैं। हिन्दी-शोध कार्य में वर्माजी का व्यक्तित्व पूर्णरूप से निखर सका है। आपने इस क्षेत्र में हिन्दी के अनेक विद्वान् उत्पन्न किए हैं। आपको यदि 'हिन्दी रिसर्च का पितामह' कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। आप बड़े ही धीर, गम्भीर धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति हैं। जीवन में कर्तव्यशीलता को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

कृतियाँ—आपने कई पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु हिन्दी-यात्रा साहित्य में आपकी एक पुस्तक 'यूरोप के पत्र' नाम से प्रकाशित हुई है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और आचार्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने सन् १९३४ ई० में यूरोप-यात्रा की थी। इस यात्रा में उनके साथ प्रयाग विश्वविद्यालय के दो अन्य अध्यापक भी गए थे। ये पत्र आपने अपने पिताजी को यूरोप के विभिन्न स्थानों जैसे—पेरिस, स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी आदि से लिखे थे। भारत में ये पत्र हिन्दी की प्रसिद्ध 'सुधा' मासिक पत्रिका में अक्तूबर १९३६ ई० से जनवरी १९३८ तक बराबर छपते रहे। इसके ६ वर्ष बाद इन पत्रों को संगृहीत करके डॉ० वर्मा ने इसका प्रकाशन साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग से किया। पुस्तक के ९२ पृष्ठों में यूरोप-

---

१. हिन्दी के निर्माता, भाग २—डा० श्यामसुन्दरदास, पृ० १०८-९

यात्रा के ये सारे पत्र संकलित किए गए हैं। ये पत्र यात्रा-साहित्य के दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अपने लन्दन के पत्र में आपने लिखा है:—

लन्दन ईस्टर, अप्रैल, १९३५

"ईस्टर की छुट्टी में मैं लन्दन घूमने चला आया हूँ। सुबह साढ़े आठ बजे पेरिस से चलकर शाम को साढ़े चार बजे लन्दन पहुँचा।······चौड़ी सड़कों, सुन्दर चौराहों, रंग-बिरंगी रोशनी और शानदार इमारतों में पेरिस लन्दन से कहीं अधिक बढ़कर है। गौर से देखने से आदमी कुछ अवश्य भिन्न मालूम होते हैं, मानों काशी के गोल, मोटे, शौकीन आदमियों के स्थान पर मेरठ, मुजफ्फरपुर के जाट-गूजरोंवाले अक्खड़ देश में आप पहुँच गए हों। मौसम यहाँ भी पेरिस-सा ही है। कभी धूप, कभी बूँदा-बाँदी।"[1]

स्वामी सत्यभक्त

जीवनी—स्वामी सत्यभक्तजी का जन्म कार्तिक शुक्ला ७ वि० सं० १९५६ शुक्रवार, तदनुसार १० नवम्बर सन् १८९९ ई० को शाहपुर (सागर मध्य प्रदेश) में हुआ था। इनके पिता का नाम नन्हूलालजी था, जो स्वर्गवासी हो चुके हैं। शैशव-काल में ही मातृ-वियोग होने से इन्हें दमोह आना पड़ा। वहीं आपका प्रारम्भिक शिक्षण हुआ। संस्कृत की शिक्षा सागर तथा वाराणसी में हुई। जन्म से आप परवार जैन हैं, पर इस समय अपने को सत्य समाजी कहते हैं। न्यायतीर्थ की उपाधि प्राप्त करने के बाद २४ फरवरी १९१९ को वाराणसी के स्याद्वाद विद्यालय में आप अध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ शास्त्री कक्षा के विद्यार्थियों को पढ़ाया। सन् १९२० ई० के अन्त में इन्दौर में अध्यापक हुए और छः वर्ष तक वहाँ रहे।[2] ये प्रचण्ड-सुधारक हैं, जिसके प्रमाण में अन्तर्जातीय-विवाह किया है। इनकी पत्नी का नाम बीणादेवी है, जो जैन-धर्म विशारद होने के साथ-साथ संस्कृतज्ञा भी हैं। सन् १९१७ ई० में आपने जैन मध्यमा कलकत्ता विश्वविद्यालय से, और सन् १९१८ ई० में प्राचीन न्याय-मध्यमा बिहार विश्वविद्यालय से और सन् १९१९ में जैन न्यायतीर्थ की परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की थी।[3] सन् १९२४ ई० में आपने जाति-पाँति तोड़ने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में इन्दौर विद्यालय के संचालकों ने आपको जाति-पाँति का आन्दोलन बन्द करने या विद्यालय छोड़ने का नोटिस दिया। आपने त्याग-पत्र देकर सन् १९२६ ई० में विद्यालय छोड़ दिया। कुछ समय आर्थिक संकट रहा, फिर धीरे-धीरे कई पत्रों का सम्पादन भी आपने किया। आपने जाति-पाँति तोड़ने, समाज की हरएक कुप्रथा को नष्ट करने, विधवा-विवाह का प्रचार करने के

---

१. यूरोप के पत्र—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ०, २७

२. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यभक्तजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. सम्मेलन के रत्न—सम्पादक सिद्धिनाथ दीक्षित 'सन्त', पृ० ४, प्रयाग

प्रचण्ड आन्दोलन किए। प्रतिवर्ष सैकड़ों रुपए खर्च करके गाँव-गाँव में प्रचार के लिए भ्रमण किया। लेखों, कहानियों, कविताओं और प्रवचनों का तूफान-सा ला दिया।[१]

आप धार्मिक व्यक्ति हैं। धार्मिक क्रान्ति के प्रयत्न में जो गम्भीर मनन-चिन्तन करना पड़ा उससे आप सर्वधर्म समभावी बन गए। तब आपने धर्म-समभाव, जाति समभाव विवेक और हर तरह के समाज-सुधार को आधार बनाकर सन् १९३४ ई० में सत्य-समाज की स्थापना की। १ मई सन् १९३६ ई० को जीविका के कार्य से निवृत्त होकर सत्याश्रम की स्थापना के लिए २ मई, १९३६ ई० को आप वर्धा आ गए।[२] आपने अपनी सम्पत्ति से सब धर्मों की मूर्तिवाला सर्वधर्म समभावी सत्य-मन्दिर, सत्येश्वर प्रेस, सत्य-सन्देश ग्रन्थमाला, ग्रन्थालय, रहने आदि के लिए सत्याश्रम का भवन बनवाया और सरकार से संस्था की रजिस्ट्री करवा दी। आपका सारा जीवन ज्ञानसाधना और सत्य-प्रचार की समस्या में बीता है, परन्तु १९३६ ई० से सत्याश्रम का जीवन तो घोर तपस्या का जीवन है। इनके व्यक्तित्व का पूर्ण विवरण लालजी भाई सत्यस्नेही ने दिया है। उन्होंने कहा है कि स्वामी सत्यभक्तजी के बारे में लिखा जाता है : "सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली विद्वान्, महान विचारक, तार्किक और अनुभवी, सफल सम्पादक, प्रचण्ड आलोचक, सुलेखक, सुकवि, कथाकार, नाटक-कार, मर्मस्पर्शी चुटकियों के लेखक, प्रखरवक्ता, वादवीर, सामाजिक और धार्मिक क्रान्तिकारी, महान् दार्शनिक और दर्शन-निर्माता, राजनीति और विश्व की अर्थ-व्यवस्था के मर्मवेत्ता, योजनापटु, विज्ञान और धर्म के······विज्ञानवेत्ता, अन्ध श्रद्धा के नाशक, विश्व की एकता के लिए बिलकुल नवीन, मानव-भाषा के आविष्कारक, लिपि और टेलीग्राफी के संशोधक, विश्व-प्रेमी, परम साधु, दृढ़ निश्चयी, मानसिक, वाचनिक और शारीरिक श्रम की मूर्त्ति, सत्येश्वर के पैगम्बर, स्वयं बुद्ध, एक नूतन धर्मतीर्थ के प्रवर्तक और युग-मानव हैं स्वामी-सत्यभक्त।"[३] इसी आधार पर उन्हें युगपैगम्बर की उपाधि से भूषित किया जाता है।

कृतियाँ—स्वामीजी ने जैन-धर्म पर भी एक लेखमाला लिखी है। आपने 'नई दुनियाँ' एवं 'संगम' पत्र भी निकाले हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी यात्रा-साहित्य पर स्वामीजी के दो ग्रन्थ 'मेरी अफ्रीका यात्रा' एवं 'सत्यलोक-यात्रा' प्रकाशित हो चुके हैं।

मेरी अफ्रीका-यात्रा—स्वामीजी की यह पुस्तक सत्याश्रम, वर्धा से जुलाई सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुई थी। ३३३ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने अपनी अफ्रीका-यात्रा के सूक्ष्म और मनोरंजक वर्णनों के साथ-ही-साथ जीवन की

---

१. लेखक के नाम आए स्वामी सत्यभक्तजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. वही—लेखक

३. स्वामी सत्यभक्त—लालजी भाई सत्यस्नेही, पृ० ७-८, सत्याश्रम वर्धा—१९५६

विभिन्न समस्याओं पर हुई चर्चाओं को भी मर्मस्पर्शी शैली में संगृहीत कर दिया है। सत्य प्रचार के लिए सन् १९५१ ई० के अन्त में आप अफ्रीका गए थे। वहाँ चार मास रहे। युगांडा और केन्या में आपके सौ से अधिक प्रवचन हुए। बेलजियम राज्य के रुहेंगिरि, नील नदी के उद्गम के पास जिंजा भी आप गए थे। उनकी यह यात्रा सत्य-प्रचारार्थ ही हुई थी। विविध स्थानों पर स्वामीजी ने जो चर्चा आदि की उसका विवरण भी इस यात्रा-पुस्तक में ही सम्मिलित है। इस प्रकार यह पुस्तक स्वामीजी के प्रवास-वर्णन से ही पूर्ण नहीं वरन् ज्ञान-चर्चा की दृष्टि से भी महत्त्व की है। स्वामीजी की यह यात्रा जल-मार्ग से हुई थी। वास्तव में स्वामीजी की यह पुस्तक न तो यात्रा की ही सर्वांगपूर्ण पुस्तक हो सकी है और न सत्य-समाज के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रतिफलन कर सकी है। फिर भी इस ग्रन्थ में अफ्रीका की यात्राओं का जो वर्णन दिया गया है वह मनोरंजक एवं विचारोत्तेजक है। नील नदी की जन्म-भूमि का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"यह विक्टोरिया झील से निकलकर युगांडा में बहती है; फिर सूदान में प्रवेश करती है। सूदान के इस किनारे से उस किनारे तक उसके अन्तस्तल को प्लावित करती हुई सैकड़ों मील बहकर मिस्र में प्रवेश करती है। मिस्र में तो यह देवी की तरह पूजी जाती है। इसे मिस्र की ही नहीं अफ्रीका की गंगा कहना चाहिए।"[1]

सत्यलोक-यात्रा[2]—स्वामी सत्यभक्तजी की यह पुस्तक भी सत्याश्रम, वर्धा से नवम्बर, १९५२ ई० में प्रकाशित हुई थी। १४३ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने आध्यात्मिक जगत की धर्म समभावपूर्ण और निराशा में भी आशा तथा उल्लास पैदा करनेवाली मनोहर यात्रा का विवरण दिया है। यह स्वामीजी की मर्यादित भावुकता का परिणाम है। इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने स्वयं ही लिखा भी है—

"यह सत्यलोक यात्रा भावना को ईश्वरवाद के गुणों का सहारा देनेवाली, बुद्धि को अनीश्वरवाद के गुणों का स्वाद चखानेवाली और दोनों वादों के दोषों से जीवन को मुक्त रखनेवाली है।"[3] एक अन्य उद्धरण देखिए—

"स्फटिक की सीढ़ियाँ, गम्भीर होने पर भी जल-तल के नीचे चमकदार पृथ्वी तल के दर्शन, चारों तरफ से निकलनेवाली किरणें, और किरणों के द्वारा पदार्थों का अन्तर्बाह्य विश्लेषण, आदि बातें चकित करनेवाली थीं। मैं चकित होकर कुण्ड के सौन्दर्य और प्रभाव को देखता रह गया।"[4]

---

१. मेरी अफ्रीका यात्रा—स्वामी सत्यभक्त, पृ० ८४-८५

२. लेखक को यह पुस्तक स्वामीजी की व्यक्तिगत कृपा से प्राप्त हुई है।

३. सत्यलोक यात्रा (प्रस्तावना में), स्वामी सत्यभक्त, पृ० ७

४. सत्यलोक यात्रा—स्वामी सत्यभक्त, पृ० २५

कर्नल सज्जनसिंह

जीवनी—आपका जन्म नवम्बर सन् १६०० ई० में हुआ था। डेली कालेज, इन्दौर में रहकर सन् १९१२ ई० तक शिक्षा प्राप्त की। सन् १९१८ में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण होकर १ जुलाई, १९१९ से १ मार्च, १९४५ ई० तक ओरछा राज्य की सेवा करते रहे। मार्च १९५० में स्वर्गीय महाराज वीरसिंहदेव गद्दी पर बैठे और ये उनके प्राइवेट सेक्रेटरी बने। १९३० ई० में कन्ज़रवेटर वन-विभाग और १९३२ से माल मन्त्री तथा अगस्त सन् १९३६ ई० से १ मार्च १९४५ तक मुख्य मन्त्री के पद पर रहे। पेंशन हो जाने के पश्चात् ४ वर्ष नीमच में रहे और नवम्बर, १९४९ ई० से मंडसौर में ही रहते हैं। घर पर रहकर अपनी ४० एकड़ भूमि का कार्य देखते हैं। यात्रा की प्रेरणा ठाकुर साहब को अंग्रेजी की पुस्तकों से मिली। स्वर्गीय ओरछेश की कृपा से आपको यात्रा करने में बहुत सहायता मिली थी।"[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य में कर्नल सज्जनसिंहजी की एक पुस्तक 'लद्दाख यात्रा की डायरी' नाम से है। १८० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५५ ई० में सस्ता-साहित्य-मण्डल, नई दिल्ली से हुआ था। इस पुस्तक की एक लम्बी कहानी है—सन् १९३६ ई० के जून की बात है। ठाकुर साहब उन दिनों ओरछा राज्य के दीवान थे। एक दिन शिकार से लौटे तो एक महिला ने उन पर चुटकी ली : "और सब ट्राफी आप हिन्दुस्तानियों के बस की है, पर लद्दाख का शिकार और उसमें भी योविस अमोन (जंगली भेड़न्यान) को मारने का बूता आपका नहीं है।" बस, उसी क्षण ठाकुर साहब ने ठान लिया कि ओविस अमोन का शिकार जरूर करना है, और उनका यह संकल्प १९३९ ई० में चरितार्थ हुआ। 'लद्दाख-यात्रा की डायरी' को हिन्दी यात्रा-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान मिलेगा। विशिष्ट इसलिए कि एक तो वह एक शिकारी की यात्रा-डायरी है, और इसमें १८,००० फुट की ऊँचाई पर शिकार खेलते समय के सब दाव-पेच वर्णित हैं, और दूसरे इसमें वह सब सामाजिक सूझ-बूझ मौजूद है जो कि एक साहित्यिक कृति में अपेक्षित है। कभी सिंहजी की न्यान, शापू तथा भरल का अजोट बाँधते उनको ढूँकते और फिर उनके खून के चिह्न तथा खाद ढूँढते पाते हैं और कभी वह लद्दाख के गोम्बा और उनमें रहनेवाले लामा और चौमी एवं वहाँ के विकट आर्थिक जीवन की चर्चा कर रहे हैं। पुस्तक में कभी ठाकुर साहब तिब्बत की सबसे बड़ी झील पंगुगरसी (१६० मील लम्बी) के सौंदर्य का बखान करते हैं और दूसरे ही क्षण वह उन हठधर्मी आर्यसमाजियों को आड़े हाथों लेते हैं जिन्हें वहाँ की गरीबी से कोई सरोकार नहीं और जो उनकी उस दीन अवस्था की उपेक्षा करते हुए उनको हिन्दू बनाने की फिराक में रहते हैं। पुस्तक में यह सब इतने सरल सुगम ढंग से कहा गया है कि कृत्रिमता लेशमात्र भी न आ पाई

१. लेखक के नाम आए कर्नल सज्जनसिंह के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

है। इस पुस्तक का सर्वोपरि गुण इसकी ऋजुता है। लेखक ने जो देखा-सुना उसको बिना तोड़े-मरोड़े यहाँ वर्णन कर दिया है। पुस्तक पढ़ने में एक अच्छे-खासे रोमांचक उपन्यास का आनन्द देती है। इसमें उन्होंने अपनी शिकारी यात्रा का विशद विवरण दे दिया है। यह पुस्तक लद्दाख प्रदेश की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत कर देती है। प्रभावशाली शैली में लेखक के वर्णन बहुत ही रोचक बन पड़े हैं। १६ वर्ष पूर्व की यात्रा को लेखक ने पुस्तक का आकार दिया है। इससे पूर्व लद्दाख-यात्रा की यह डायरी श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् (टीकमगढ़) से निकलनेवाले पाक्षिक पत्र 'मधुकर' में जून सन् १९४३ से १९४७ ई० तक लगातार निकलती रहती थी।

ठाकुर सज्जनसिंहजी की इस पुस्तक के अतिरिक्त एक दूसरी शिकार-सम्बन्धी यात्रा की पाण्डुलिपि भी तैयार है, पर अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है।[1] लद्दाख-यात्रा की डायरी का एक उद्धरण देखिए—

"सामान के तम्बू लग चुके थे और आग का धुआँ हो रहा था। वह छोल तक का तालाब अब सुन्दर दिखाई दे रहा था। किनारे पर याक (सुरागाय) चर रही थीं। लगभग चार बजे हम भी तालाब के किनारे डेरों पर पहुँच गए। हमने सुरागायें पहले-ही-पहले देखी थीं। फोटो लिए। जल का रंग गहरा नीला दिखाई दे रहा था और चारों ओर की जल के सहारे की छोटी-छोटी वनस्पति के रंग-बिरंगे फूल ऐसे मालूम दे रहे थे मानो अच्छा कालीन बिछा था।"[2]

प्रोफेसर मनोरंजन

जीवनी—हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रो० मनोरंजन का पूरा नाम मनोरंजन-प्रसाद सिंह है। आपका जन्म शाहाबाद जिले के प्रसिद्ध गाँव डुमराँव में विक्रम संवत् १९५७ (सन् १९०० ई०) में कार्तिक कृष्ण द्वितीया को हुआ था। आप सन् १९२८ ई० में एम० ए० उत्तीर्ण कर कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में अध्यापक नियुक्त हुए। एक ही वर्ष बाद सन् १९२९ में काशी विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्रोफेसर होकर चले गए। काशी विश्वविद्यालय में आपने सन् १९३९ ई० तक अध्यापन कार्य किया। उसी वर्ष राजेन्द्र कालेज (छपरा) में प्रिंसिपल हुए और तब से आप उसी पद पर हैं।"[3] आप हिन्दी के अनन्य प्रेमी और देशभक्त हैं। राष्ट्रीयता से पूर्ण होने के कारण असहयोग-आन्दोलन के समय आपकी लिखी कविताएँ लोगों का कण्ठहार बन गई थीं। अध्यापन कार्य में रहकर आप और भी अधिक सरल प्रकृति के हो गए हैं। व्यंग्य

---

१. लेखक के नाम आए कर्नल सज्जनसिंहजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. लद्दाख-यात्रा की डायरी—कर्नल सज्जनसिंह, पृ० ७२

३. देखिए—बिहार की साहित्यिक प्रगति—बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, १८वें अधिवेशन का अभिभाषण, १२ अप्रैल, १९४२, द्वि० सं०, पृ० १२१, पटना—१९५६

और विनोदप्रियता में आप निपुण हैं। साहित्य में आपने बहुत कार्य किया है। मधुर कण्ठ-स्वर ने आपके व्यक्तित्व को और भी ऊँचा पद प्रदान किया है। आप सन् १९४२ ई० में बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अठारहवें अधिवेशन (मोतीहारी) के अध्यक्ष हुए। उक्त सम्मेलन के पूर्णियाँ अधिवेशन में आप कवि-सम्मेलन के भी सभापति हो चुके हैं। भोजपुरी कवि के रूप में आप बहुत प्रसिद्ध हैं। आप बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की सामान्य समिति के भी मान्य सदस्य हैं।

कृतियाँ—आपकी लिखी हुई कई पुस्तकें हैं। पहली रचना सन् १९१० ई० में साप्ताहिक 'शिक्षा' में छपी। देश के असहयोग-आन्दोलन के समय आपकी लिखी 'फिरंगियों' शीर्षक भोजपुरी कविता जन-जन के कण्ठ में बस गई और उससे आपकी ख्याति खूब हुई। फिरंगियों के बाद आपकी दूसरी रचना 'कुँअरसिंह' प्रकाशित हुई। इसका एक छन्द ही उदाहरण के लिए यथेष्ट है—

सब कहते हैं कुँअरसिंह भी बड़ा वीर मर्दाना था,
अस्सी वर्षों की हड्डी में जागा जोश पुराना था।

इसके प्रकाशन से आपकी स्थिति हिन्दी संसार में और भी अधिक फैल गई। आपके साहित्यिक निबन्ध और संस्मरण जो बड़े सरस और मनोरंजक हैं, पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हैं। आपकी कविता की भाषा बहुत सरल और मुहावरेदार होती है, किन्तु उसमें व्यंजित भाव बड़े सरल एवं अनूठे होते हैं। आपके विडम्बना-काव्य हिन्दी में हास्य रस के बड़े रोचक नमूने हैं। आप अपनी कविताओं को बहुत ही मधुर स्वर में हृदयग्राही ढंग से सुनाते हैं।

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर प्रोफेसर मनोरंजनजी की केवल एक पुस्तक प्रकाशित है। 'उत्तरा खण्ड के पथ पर' नामक यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ ई० में पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना से हुआ था। यह सुन्दर साहित्यमाला का २३वाँ पुष्प है। जब यह पुस्तक लिखी गई थी, तब हिन्दी में पर्वत-यात्रा पर कुछ इनी-गिनी यात्रा-पुस्तकें ही प्राप्य थीं। यह पुस्तक यात्री की दिनचर्या के रूप में लिखी गई हैं। सहृदय लेखक कवि होने के कारण अपनी कविता की बानगी भी यत्र-तत्र प्रसंगानुकूल देते चलते हैं। कविताओं के कारण यह पुस्तक बड़ी ही मनोरंजक एवं सरस हो गई है। इसमें मनोरंजनजी की सन् १९३३ ई० की ग्रीष्मावकाश की बदरी-केदार की पद-यात्रा का सुन्दर वर्णन निहित है। मनोरंजनजी की इस पुस्तक के कुछ अंश काशी के साप्ताहिक 'सनातनधर्म' और कलकत्ता के मासिक 'विशाल-भारत' में भी प्रकाशित हुए थे। इस पुस्तक के लिए एक वाक्य में यह कहा जा सकता है: "यह उपन्यास की तरह मनोरंजक और कोश की भाँति उपयोगी है।" एक उद्धरण देखिए—

"मैंने एक बार बाहर आकर देखा। चाँदनी खिली हुई थी। रजनी नीरव

थी, निस्तब्ध। पहाड़ की ऊँची चोटी पर चाँद के प्रकाश में पेड़ों के पत्ते हिल रहे थे। पास की गंगा की चपल तरंगों पर चन्द्रमा की किरणें नाच रही थीं और सामने जा रहा था धुँधला-सा अस्पष्ट उत्तराखण्ड का पथ।[1]

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

जीवनी—आपका जन्म कार्तिक कृष्ण ८ अष्टमी सं० १९५९ (सन् १९०२ ई०) में अलीगढ़ जिले की इगलास तहसील के अन्तर्गत अहिवासी नगला गाँव में हुआ था।[2] ब्रह्मचारीजी बहुत छोटी अवस्था में ही अपने घर-बार को छोड़कर विरागी बन गए थे। मथुरा, वृन्दावन, गोकुल तथा बुलन्दशहर जिले के खुर्जा नामक नगर में अध्ययन करने के उपरान्त आपने राजनीति में प्रवेश किया। सन् १९२०-२१ ई० में जब असहयोग-आन्दोलन आरम्भ हुआ तो ब्रह्मचारीजी ने गाँव-गाँव घूमकर प्रचार कार्य किया। उसी आन्दोलन में आप सर्वप्रथम जेल भी गए। वहाँ आपका प्रान्त के राजनैतिक नेताओं से पूर्ण परिचय हुआ। जेल-यात्रा से मुक्त होकर आप अपनी शास्त्रों की योग्यता बढ़ाने काशी चले आए और वहीं आप साहित्य-सेवा करते रहे। कुछ दिन आप काशी के दैनिक 'आज' में भी रहे। आपको साहित्य-क्षेत्र में सन्तोष नहीं हुआ। भगवत-प्राप्ति की तीव्र इच्छा से आप सब-कुछ छोड़कर हिमालय में तपस्या करने और सम्पूर्ण जीवन वहीं बिताने के उद्देश्य से गंगा के किनारे-किनारे पैदल चल दिए। ऋषिकेश तक पैदल ही गए। फिर नर्मदा तट पर कुछ दिन बिताकर अन्त में तीर्थराज प्रयाग में आ गए और सन् १९२६-२७ ई० से अब तक वहीं विराजमान हैं। सन् १९३१ ई० में झूसी में आपने एक 'युद्धवीर आश्रम' की स्थापना की। वहीं से आपने 'युद्धवीर' पत्र निकाला, जो पहले अर्द्ध साप्ताहिक था, पीछे दैनिक हो गया। सन् १९३२ ई० में आप पहाड़ों में वास करने के लिए गंगा किनारे-किनारे प्रयाग से बदरीनाथ तक पैदल ही गए। वहाँ आपने पाँच खण्डों में 'श्री चैतन्य-चरितावली' पुस्तक लिखी जिससे आपकी बड़ी ख्याति हुई। सन् १९३६-३७ में ई० में झूसी में आपने एक अखिल भारतवर्षीय विराट महासंकीर्तन यज्ञ कराया। झूसी में आपका बड़ा ही रमणीक आश्रम है, वह हरा-भरा तथा लता-वृक्षों से परिपूर्ण है। अभी तक आपने कई बार कैलाश से मानसरोवर तक की यात्राएँ की हैं। आजकल भी आप झूसी में ही रहते हैं।[3]

जीवन के ध्येय के लिए ब्रह्मचारीजी कहा करते हैं : "जीवन अग्निमय होना

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २७

२. लेखक के नाम आए व्यवस्थापक, संकीर्तन भवन झूसी, इलाहाबाद के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. लेखक के नाम आए श्री ब्रह्मचारीजी के संक्षिप्त परिचय के आधार पर—इस संक्षिप्त परिचय पत्रिका के लेखक प्रो० राजेन्द्रसिंह एवं श्री कृष्णानन्द जी मिश्र हैं

चाहिए, जिस जीवन में उत्साह नहीं, साहस नहीं, निर्भयता नहीं, धर्म के लिए सर्वस्व त्यागने की शक्ति नहीं वह जीवन, जीवन नहीं कहा जा सकता। जीवन तो वह है जिसमें दृढ़ता हो, कर्त्तव्य की भावना हो और अपने को निछावर करने का, मर-मिटने का अदम्य उत्साह भरा हो। वास्तव में उनका जीवन अग्निमय है, वे निरन्तर अपने साधन, भजन और लोक-सेवा के कार्यों में संलग्न रहते हैं। वे बार-बार कहा करते : "मामनुस्मर युद्धाय च" भगवान् का स्मरण भी करो और साथ ही युद्ध भी करते रहो। संक्षेप में वे एक कुशल सम्पादक, सिद्धहस्त लेखक, राष्ट्रकवि, मँजे हुए देशसेवक, गम्भीर राजनीतिज्ञ, सर्वमान्य धार्मिक नेता, परम भावुक भक्त, सरल सरस संत, व्यवहार-कुशल और अथक परिश्रम करनेवाले महान् व्यक्ति हैं।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर ब्रह्मचारीजी की एक पुस्तक 'बदरीनाथ-दर्शन'[2] नाम से है। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण शान्तानन्दनाथ, ज्ञानमन्दिर, हरिद्वार से प्रकाशित हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण संवत् २०११ में संकीर्तन-भवन, भूसी प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में ब्रह्मचारीजी ने श्री बदरीनाथ-यात्रा का विवरण बड़े विस्तार और पूरे ब्यौरे के साथ दिया है। पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में बदरीनाथ तथा तत्सम्बन्धी तीर्थों का माहात्म्य पौराणिक आख्यानों के आधार पर बताया गया है। ४०६ पृष्ठों की इस पुस्तक में यह खण्ड १६५ पृष्ठों का है। इससे इसके विस्तार का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पौराणिक कथाएँ यों भी रोचक होती हैं, और उस पर श्री ब्रह्मचारीजी के वर्णन की शैली भी आकर्षक है। दूसरे खण्ड में इन तीर्थों का परिचय कराया गया है। इसका आधार भी भौगोलिक एवं पौराणिक है। साथ ही रावलों के कार्यकाल एवं वहाँ के वर्तमान प्रबन्ध पर भी दृष्टिपात किया गया है। पुस्तक के अन्तिम खण्ड में ब्रह्मचारीजी की बदरीनाथ आदि उत्तराखण्ड के तीर्थों की यात्रा का सविस्तर विवरण दिया है। इस प्रकार इस पुस्तक से न केवल तीर्थयात्रियों को ही विशेष जानकारी प्राप्त होगी, वरन् धार्मिक जिज्ञासुओं को भी लाभ होगा। ब्रह्मचारीजी ने यात्रा-सम्बन्धी सभी बातें अधिकतर विस्तार और प्रामाणिक ब्यौरे के साथ दी हैं। इस ग्रन्थ से यात्रियों का पथ-प्रदर्शन हो सकता है। लोकपाल-यात्रा में प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मचारीजी ने लिखा है—

"यह स्थान अत्यन्त शीतल है। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। इतने ऊँचे चढ़ने पर भी ऊँचे पहाड़ों का अन्त नहीं। श्री बदरीनाथ के पर्वत, कागभुशुण्ड की चोटी, यहाँ से सब दिखाई देते हैं। यहाँ खड़े होकर जब मनुष्य चारों ओर वर्फ से ढके हुए पहाड़-ही-पहाड़ देखता है तो उसकी दृष्टि चकाचौंध हो जाती है।"[3]

---

१. प्रो० राजेन्द्रसिंह एवं श्रीकृष्णानन्द मिश्र

२. लेखक को यह पुस्तक श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी की कृपा से ही प्राप्त हो सकी है

३. श्री बदरीनाथ दर्शन—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ० १६७

श्री केदाररूप राय

जीवनी—आपका जन्म ९ अक्तूबर, १९०२ ई० को जोधपुर के एक कुलीन-वंश में हुआ था। आपके पिता स्वर्गीय विजयरूपजी माथुर तत्कालीन जोधपुर-राज्य के कोषाध्यक्ष थे। श्री केदाररूपजी के शिशुकाल में ही इनके पूज्य पिताजी ने सांसारिक जीवन से विरक्त होकर संन्यास ले लिया था। आपकी माता अत्यन्त धर्मनिष्ठ थीं। इस तरह पिता के वरद् हस्त के अभाव में माता के निर्देशन में ही आपने शिक्षा प्राप्त की। आपकी आरम्भिक शिक्षा स्थानीय 'सर प्रताप हाई स्कूल' में हुई। बाद में आपने 'दरबार हाई स्कूल' में शिक्षा ग्रहण की। अपनी हाई-स्कूल तक की शेष शिक्षा आपने क्रमशः 'रामजस हाई स्कूल, दिल्ली' और 'अंजुमन हाई स्कूल, बम्बई' में पूरी की। इसके बाद आर्थिक स्थिति के प्रतिकूल प्रभाव के कारण आपको सरकारी नौकरी का आश्रय लेने को बाध्य होना पड़ा। १ अक्तूबर १९२१ ई० को आपने जोधपुर राज्य की सेवा आरम्भ की। आरम्भ में आपने निम्नलिखित विभागों में उल्लेखनीय कार्य किया—

१. कन्ट्रोलर, हिज़ हाइनेस—जोधपुर (हाउसहोल्ड)

२. प्राइवेट सेक्रेटरी—टू हिज़ हाइनेस—जोधपुर

३. मिनिस्टर—इन वेटिंग टू हिज़ हाइनेस—जोधपुर

उक्त विभागों में कार्य करने के पश्चात् आपने जोधपुर राज्य के अन्य दायित्वपूर्ण पदों का कार्य-भार सँभाला। सन् १९३१ ई० में आप जोधपुर अतिथि-गृह के अधीक्षक बना दिए गए। कालान्तर में आपने 'स्टेट होटल' और 'स्टेट गैरेज' के अधीक्षक के पद पर भी कार्य किया। सन् १९४३ ई० में आप जोधपुर नगर-पाालिका के मन्त्री नियुक्त किए गए। बाद में स्थानीय संस्थान (लोकल बाडीज़) के निर्देशक (डाइरेक्टर) के रूप में भी आपने कार्य किया। सन् १९४७ ई० में जोधपुर राज्य के मुख्य चुनाव-अधिकारी पद पर भी रहे। आपने राजस्थान में सर्व-प्रथम वयस्क मताधिकार के आधार पर जोधपुर नगरपालिका के प्रथम चुनाव में भी आफिसर इन्चार्ज के रूप में कार्य किया। बाद में आप जोधपुर रेडियो-स्टेशन के डाइ-रेक्टर बना दिए गए। आपके कार्य-कौशल से प्रसन्न होकर जयपुर महाराजा ने १९३६-३७ ई० में अपना उपसैनिक सचिव नियुक्त कर दिया। सन् १९४७ ई० में आपको जयपुर महाराजा की रजत जयन्ती के अवसर पर आफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी नियुक्त किया गया। यही पद आपको मार्च, '५६ में राजस्थान के निर्माण के अवसर पर भी मिला।

राजस्थान प्रान्त के बनने के बाद आपने जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही आदि राज्य के उपचुनाव अधिकारी का कार्य भी किया। सन् १९५३ ई० में आप उदयपुर डिवीज़न के सिविल सप्लाइज़ विभाग, राजस्थान के डिप्टी-कमिश्नर बनाए गए। दिसम्बर १९५३ ई० में आपको इसी विभाग में इसी पद के अधीन हैडक्वार्टर

जयपुर भेज दिया गया। जनवरी १९५६ ई० में आपको सिविल सप्लाइज़ का प्रशास-कीय अधिकारी बना दिया गया। वर्तमान समय में अप्रैल, '५७ से आप राजस्थान के राज्यपाल के उपसचिव हैं।[1]

आप आरम्भ से ही व्यवहार-कुशल और कार्य-प्रवीण रहे हैं और आपका वर्तमान पद आपमें विद्यमान इसी योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिन संघर्षों में से होकर आपकी प्रतिभा निखर सकी है, वह आपकी उत्कट लगन और निःस्वार्थता का श्रेष्ठ निदर्शन है। विकास और उन्नति के जिन संघर्षों में से होकर आपको गुजरना पड़ा है उसका एकमात्र श्रेय आपके प्रतिभावान व्यक्तित्व और व्यवहार-कुशलता को है। आपके इसी प्रतिभावान व्यक्तित्व और कार्यक्षमता की योग्यता के कारण स्वयं महाराजा साहब ने आपको विलायत-यात्रा के लिए भेजा था।

कृतियाँ—केदाररूप रायजी द्वारा लिखित हिन्दी-यात्रा साहित्य पर 'हमारी विलायत-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १९२६ ई० में प्रभाकर प्रिण्टिंग प्रेस, जोधपुर (मारवाड़) में मुद्रित हुई थी। इसको लेखक ने स्वयं ही प्रकाशित कराया है। विलायत-यात्रा सम्बन्धी २५६ पृष्ठों की इस पुस्तक का सम्पादन श्री प्रतापचन्द्र माथुर ने किया है। इसमें लन्दन-यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया गया है; साथ ही लन्दन शहर और वहाँ के प्रायः सभी दर्शनीय स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। यह यात्रा २१ मार्च, १९२५ ई० से प्रारम्भ हुई थी और १० अक्तूबर १९२५ को समाप्त। वर्णनात्मक शैली में लिखी गई यह यात्रा सुन्दर बन पड़ी है। इसमें बम्बई से जहाज द्वारा यात्रा प्रारम्भ करने से लेकर एडन, लाल सागर, स्वेज़, सय्यद बन्दर, इटली की पर्वतश्रेणी, मार्सेल्स, कैले, इंगलिश चैनल, विम्बलडन तक का विस्तृत वर्णन दिया गया है। फिर लन्दन के दृश्यों में—बाजार, सड़कें, ब्रोम्पटन, पिकेडली, स्ट्रीस्स, ब्रिज, सभा, बकिंघम पैलेस, गिरजाघर, पार्क, चिड़ियाखाना, म्यूज़ियम, होटल तथा चाय की दुकानें, सवारियाँ, रेलवे, खेल-तमाशे, नाटक-सिनेमा, समुद्र शोभा, भोजन और आमोद-प्रमोद आदि सभी दृश्यों का आनन्द-लाभ कर इन वर्णनों को अलग-अलग लिपिबद्ध किया गया है। लेखक स्काटलैण्ड भी घूमा है और उसका वर्णन भी कुछ पृष्ठों में दे दिया गया है। चित्रों से पुस्तक और भी महत्त्वपूर्ण बन गई है। समुद्र-शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"आकाश और समुद्र के पाट जुड़े हुए-से मालूम होते थे जिनके बीच, समुद्र जल के भीतर, छिपते हुए सूर्य का प्रतिबिम्ब और फिर अरुण अस्ताचल की परछाईं बहुत ही भली मालूम होती थी। यों तो शाम का समय प्राकृतिक शोभायुक्त हो होता है, परन्तु समुद्रगत शाम की शोभा कुछ निराली ही होती है। वह लहरों का

१. लेखक के नाम आए (जोधपुर के) रामचन्द्र पवार के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

उठना और विलीन हो जाना, वह गगनमण्डित लालिमा का पानी में क्रीड़ा करना और ठण्डी-ठण्डी वायु का चलना व जिधर दृष्टि डालिए उधर ही उसी नीलवर्ण समुद्र-ही-समुद्र का दिखाई देना, अनुपम शोभा व आनन्द दे रहा था।"[१]

पण्डित सूर्यनारायण व्यास

जीवनी—पद्मभूषण ज्योतिर्विज्ञानाचार्य पण्डित सूर्यनारायण व्यास, उज्जयिनी नगरी के सिद्धान्तवागीश विद्वद्वर महामहोपाध्याय (स्व०) पं० नारायणजी व्यास के ज्येष्ठ पुत्र हैं। पं० नारायणजी व्यास का नाम ही इस प्रदेश के प्रत्येक व्यक्ति को असीम श्रद्धा और समादर से पूर्ण कर देता है और प्रखर प्रतिभा एवं विद्वत्ता का प्रतीक बना हुआ है। इन महर्षि प्रतिम मनीषी के यहाँ पण्डित सूर्यनारायणजी का जन्म ११ फरवरी, १६०२ ई० को प्रकृति की सुकुमार देन के रूप में हुआ था। शैशव-काल से ही अपने अभिजात कुल की परम्परा के अनुरूप इनकी प्रतिभा प्रकाश में आई है। व्यासजी को देश के (विलीन) विशिष्ट राजा-महाराजाओं से (जिनमें काश्मीर, बड़ौदा, ग्वालियर, होल्कर, जामनगर, उदयपुर, प्रतापगढ़, धार, भोपाल, रतलाम आदि प्रमुख है) सदैव स्नेह और सम्मान मिला है। इस पर भी सम्मान और वैभव की विशिष्टता ने आपको दिग्भ्रान्त नहीं किया। जनसाधारण के सभी वर्गों से समान रूप से आपका सम्पर्क रहता आया है। पण्डितजी देश-प्रसिद्ध विद्वान्, विख्यात लेखक, संशोधक और विविध भाषाओं के मर्मज्ञ हैं। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आपने बहुत सेवाएँ की हैं। सन् १६४१ ई० में आपको मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सर्वप्रथम अध्यक्ष निर्वाचित होने का सम्मान सुलभ हुआ था और सन् १६४३ ई० में आप अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के हरिद्वार अधिवेशन में विज्ञान-परिषद् के अध्यक्ष निर्वाचित हुए थे। सन् १६३० ई० के साहित्यिक जागरण में भी समस्त प्रान्त में कार्य किया। १६३४ ई० के सत्याग्रह में आपने निर्भीकता से कार्य किया। आजकल व्यासजी साहित्य-साधना में अपना समय उज्जैन-स्थित अपने भारती-भवन में व्यतीत करते हैं, जो उज्जैन के आगन्तुकों के लिए एक तीर्थ-स्थान बना हुआ है।[२] व्यासजी व्यापक अध्ययन तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा के साथ ही मनोमोहक व्यक्तित्व रखते हैं। प्रकाश-स्तम्भ की भाँति पुरुषार्थ और स्वाभिमान ही व्यासजी के अवलम्ब रहे हैं। उनमें मानवता और कला का विकास भी उच्चस्तर पर हुआ है। आरम्भ से ही ये राष्ट्रीय-भावना से प्रभावित रहे हैं। इतिहासप्रिय हैं और ऐतिहासिक साहित्य से मोह है। ज्योतिष

---

१. हमारी विलायत यात्रा—केदाररूपराय, पृ० १०

२. लेखक के नाम आए पं० सूर्यनारायण व्यासजी के व्यक्तिगत पत्रों से एवं व्यासजी द्वारा लेखक के नाम भेजे गए ५५वीं वर्ष-ग्रन्थि के उपलक्ष में अभिनन्दन-समिति, उज्जयिनी द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त परिचय के आधार पर

पर पूर्ण अधिकार है और इससे सम्बन्धित अनेकों लेख भी लिखे हैं। मार्च १९४३ से जनवरी १९५५ ई० तक 'विक्रम' पत्रिका का लगातार सम्पादन किया जिसमें १६ पृष्ठों का सम्पादकीय लेख सदैव निकलता रहा। आज भी आपके पास अप्रकाशित बहुत-सा साहित्य लिपिबद्ध पड़ा हुआ है। परन्तु छपाने का मोह न होने के कारण वह अप्रकाशित है।"[1] आप में मौलिक चिन्तन है, और पुरातन और अभिनव साहित्य में समान अभिरुचि है। आप देश के गौरव को बढ़ानेवाली प्रवृत्तियों में सदैव अग्रणी रहे हैं, विख्यात विद्वान् स्वर्गीय जायसवाल की भाँति प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री ज० स० करन्दीकरजी ने 'टाइम्स आफ इण्डिया' में बहुत सही कहा था : "व्यासजी जीवित विश्वकोष हैं।" इसी प्रकार पत्रकारिता के क्षेत्र में आपके द्वारा सम्पादित तथा संचालित 'विक्रम' (मासिक) ने जो यश, प्रतिष्ठा और मौलिक प्रतिभा का वर्चस्व प्रतिष्ठित किया वह अविस्मरणीय है। साहित्य-क्षेत्र के सभी मनीषियों, पत्रकारिता के आचार्यों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। विक्रम और कालिदास आपके प्रिय विषय हैं, इन पर आप अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। इतिहास-प्रथित नगरी अवन्ति में उत्पन्न होने तथा ऐतिहासिक वंश से सम्बन्धित होने के कारण आपका मालव-भूमि के प्रति विशेष अनुराग स्वाभाविक ही है। आप उज्जैन में स्थापित 'विक्रम विश्वविद्यालय' के मूल प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक हैं। साथ ही विक्रम कीर्ति मन्दिर और कालिदास स्मृति मन्दिर की स्थापना में भी पण्डितजी का प्रयत्न रहा है। व्यासजी मालव लोक-साहित्य परिषद् के अध्यक्ष हैं, नागरी प्रचारिणी सभा के स्थायी सदस्य हैं। लगभग ४० वर्षों से लेखन-कार्य कर रहे हैं। लगभग २,५०० लेख और अन्य ग्रन्थ लिखकर साहित्य-क्षेत्र में व्यासजी ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। अपने कार्य की सच्चाई, विद्वत्ता, निर्भीकता, निर्लिप्तता, स्वाभिमान आदि के कारण व्यासजी का नगर और प्रदेश में प्रमुख स्थान है। यश और प्रतिष्ठा विस्तृत हैं। उज्जयिनी अतीत काल से विद्वानों, कवि-कोविदों और महापुरुषों को जन्म देती रही है, उस यश की परम्परा को व्यासजी आज भी अक्षुण्य बनाए हुए हैं।[2]

कृतियाँ—व्यासजी ने कई पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक 'सागर-प्रवास' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४० ई० में पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना से हुआ था। पुस्तक में व्यासजी ने सन् १९३७ ई० में किए गए स्विटज़रलैंड, आस्ट्रिया, जर्मनी, हालैण्ड, फ्रान्स, इटली सारे यूरोप का भ्रमण जिसको उन्होंने स्वयं देखा है, वर्णित किया है। इसके साथ ही व्यासजी ने एडन, पोर्ट सूडान, स्वेज कैनाल, पोर्ट सईद, भूमध्य सागर, मार्सेल्स, जिनेवा, भूरिक, सेल्सवर्ग, लूसर्न, बन और लूजान के सौन्दर्य के जीते-जागते

---

१. लेखक द्वारा लिए गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर—३ मार्च, १९५९—उज्जैन

२. पं० सूर्यनारायण व्यास के व्यक्तिगत सम्पर्क एवं वार्तालाप के आधार पर—
उज्जैन ३ मार्च, १९५९

चित्र भी अपने ग्रन्थ में लिपिबद्ध कर दिए हैं। पण्डितजी का व्यक्तित्व पुस्तक में बड़े सुन्दर रूप से विकसित हुआ है। आपमें आत्म-गौरव है, स्वत्व-प्रेम है, सादगी है, सरलता है और है कुत्सित मनोवृत्तियों के प्रति घृणा। आपकी भ्रमण-सम्बन्धी प्रत्येक बात से सूक्ष्म निरीक्षण की योग्यता झलकती है। आपने 'सागर-प्रवास' में भारतीय आत्माभिमानी रूप को सिद्ध कर दिया है। यूरोप जाकर भी स्वतन्त्र विचारधारा का व्यक्ति धोती, कुर्त्ता, टोपी और शाकाहार का प्रयोग वे रोक-टोक कर सकता है। प्रकृति के आप परम उपासक हैं। समुद्र पर तरंग-विहार, आकाश में राकेश की सुषमा तथा तारों की झिलमिल, गगनचुम्बी पर्वतों पर हिम अथवा हरीतिमा का रम्य आलोक, स्रोतों का निरन्तर मधुर संगीत ऐसे ही अनेक वर्णनों से पुस्तक ओत-प्रोत है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में कर्नल सर कैलाशनारायण हक्सर, सी० आई० ई० ने कहा है : "पण्डितजी की यूरोप-यात्रा के समय (सन् १९३७ ई०) की राजनीतिक परिस्थिति पुस्तक के महत्त्व को विशेष रूप से बढ़ाती है। इटली एबीसीनिया को हड़प चुका है। पुस्तक एक ऐसे यूरोप का चित्र है जो उस रूप में देखने में कभी न आएगा।"[1] महाराजकुमार मानसिंह ने पुस्तक की विशेषता का वर्णन करते हुए पुस्तक में लिखा है : "सागर-प्रवास जैसा सुन्दर नाम है वैसी ही सुन्दर यह पुस्तक भी है और जैसी इसकी भाषा मधुरता से भरी हुई है वैसी ही यह सुन्दर चित्रों से भी परिपूर्ण है। अलावा इसके जिस प्रकार सागर में अनेक लहरें देखने में आती हैं, उसी प्रकार यह पुस्तक भी विचाररूपी रंगों का समुद्र है। आश्चर्य यह होता है कि लेखक महोदय ने तीन-चार मास की यात्रा में इतना देख डाला और केवल देखने का ही नहीं किस बारीक दृष्टि से देखा जो पढ़ते समय पाठक के सामने ज्यों-के-त्यों आ जाते हैं।"[2]

पुस्तक के सम्बन्ध में व्यासजी ने स्वयं ही लिखा है : "पहले मैंने यात्रा के अनुभवों को 'स्वराज्य' में लिखना शुरू कर दिया था। यह वर्णन अब भी अधूरा है, केवल आस्ट्रिया से स्विटजरलैण्ड तक का ही। स्वराज्य के अतिरिक्त कुछ लेख 'सुधा' और 'सरस्वती' में भी निकले थे। इस पुस्तक में उन्हींको संगृहीत कर चार-पाँच नए लेखों के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।"[3] व्यासजी के कुछ अन्य लेख मसूरी-यात्रा पर भी निकल चुके हैं। आल्प्स पर्वतमालिका का प्राकृतिक दृश्य उपस्थित करते हुए व्यासजी ने लिखा है :

"उन पर्वतमालाओं पर भी वही प्रकृति की अभिरामता का स्वर्गीय दृश्य उपस्थित था। लक्षावधि बिजलियाँ, सुन्दर घनी हरियाली और विविध रंग के बड़े-

---

१. सागर-प्रवास की भूमिका से उद्धृत—ले० सूर्यनारायण व्यास

२. वही

३. वही

छोटे भवन बने हुए थे। यह हिममण्डित मुकुटधारिणी आल्प्स पर्वतमालिका हरित वनराजि में ऊपर से नीचे तक सहस्रश: वास-भवनों को अपने हृदय-प्रदेश में नगीनों की तरह जड़े हुए है। और रात में तो आकाश का समस्त नक्षत्रसमूह मानों इनसे होड़ लगाने इस जगह उतर आता है।"[1]

श्री रामवृक्ष 'बेनीपुरी'

जीवनी—बेनीपुरीजी का जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले के बेनीपुर गाँव में पौष कृष्ण पंचमी शनिवार, विक्रम संवत् १९५८, जनवरी १९०२ ई० में हुआ था। आपके पिता श्री फूलवन्तसिंह और पितामह श्री यदुनन्दनसिंह साधारण किसान थे। इनके माता-पिता का बचपन में ही स्वर्गवास हो गया था। इनकी शिक्षा का आरम्भ बेनीपुर से ही हुआ। बेनीपुरीजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपनी ननिहाल वंशीपचरा में हुई थी। आप भिन्न-भिन्न स्कूलों में अध्ययन करते हुए जब मैट्रिक में पहुँचे तो असहयोग-आन्दोलन छिड़ जाने के कारण सन् १९२० ई० में पढ़ाई छोड़ बैठे। आप प्रारम्भ से ही तुलसीदास-कृत रामचरितमानस का पारायण करते थे और उसीके फलस्वरूप आपकी रुचि साहित्य की ओर हुई। प्रारम्भिक प्रवृत्ति कविता की ओर ही हुई। आपने प्राचीन काव्यों का अध्ययन स्वतः किया। आपका रचनाकाल संवत् १९८० से आरम्भ होता है। १५ वर्ष की आयु में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन से विशारद की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और इसके पूर्व से ही अपनी कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करा रहे थे।[2] बेनीपुरीजी हिन्दी-साहित्य के प्रेमी और देश-भक्त हैं। आपका साहित्यिक कार्यक्षेत्र विशाल है। आप सफल सम्पादक, सिद्धहस्त लेखक और प्रसिद्ध समाज-सेवक हैं। गौरांग-प्रभुओं के समय में आपने बारह बार जेल-यात्राएँ कीं। साढ़े-सात वर्ष जेल में बिताए।[3] तरुण भारत, किसान-मित्र, गोलमाल, बालक, युवक, कैदी, लोक-संग्रह, कर्मवीर, योगी, जनता, तूफान, हिमालय, जनवाणी, चुन्नू-मुन्नू आदि पत्र-पत्रिकाओं का आपने सम्पादन किया है। आप बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के जन्म से ही, उसके प्रधान संचालकों में रहे हैं। पाँच वर्ष तक सम्मेलन के प्रधान मन्त्री पद पर रहे और सन् १९५१ ई० में इसके बाईसवें अधिवेशन (आरा) के अध्यक्ष हुए थे। आपके मन्त्रित्व काल में ही सम्मेलन-भवन का सर्वांगपूर्ण निर्माण हुआ और सम्मेलन की ओर से छोटा नागपुर में हिन्दी का प्रचार और प्रचार-कार्य संगठित रूप से सम्पन्न हुआ था। भारतीय सांस्कृतिक मण्डल के सदस्य के रूप में आपने दो बार यूरोप की यात्रा की

---

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३०-३१

२. बेनीपुरी ग्रन्थावली—भाग १ के आधार पर

३. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण १९५१, पृ० २४२

है।[1] इसके अतिरिक्त बेनीपुरीजी अनेकों सम्मेलनों के सहकारी मन्त्री, संयुक्त मन्त्री और प्रधान भी रह चुके हैं। सन् १९२९ ई० में ये अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेल के प्रचार मन्त्री पद पर थे। सन् १९२० ई० से १९४६ ई० तक आप पटना शहर कांग्रेस कमेटी के सभापति रहे। साथ ही सन् १९५० ई० में सोशलिस्ट पार्टी (बिहार के पार्लियामैण्टरी बोर्ड) के अध्यक्ष भी रह चुके हैं।[2] आप कांग्रेस के कर्मठ कार्यकर्त्ता एव देश-सेवी हैं। आजकल आप पटना की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'नई धारा' का सम्पादन कर रहे हैं।

कृतियाँ—बेनीपुरीजी की साहित्यिक कृतियाँ बहुत-सी हैं। हिन्दी-साहित्य को इन्होंने बहुत-कुछ दिया है। इधर आप अपनी सभी रचनाओं का सुसज्जित संस्करण 'बेनीपुरी ग्रन्थावली' के नाम से निकाल रहे हैं, जिसके दस खण्ड सज-धज के साथ क्रमशः प्रकाशित होंगे। इस ग्रन्थावली के अब तक दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। बेनीपुरीजी ने कहानी, उपन्यास, नाटक (एकांकी-रूपक), संस्मरण, निबन्ध, भाषण, जीवनियाँ, टीकाएँ, बाल-साहित्य तथा यात्रा-भ्रमण सम्बन्धी सभी प्रकार का साहित्य लिखा है। हिन्दी यात्रा-सम्बन्धी साहित्य में उनकी केवल दो पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं: 'पैरों में पंख बाँधकर' एवं 'उड़ते चलो उड़ते चलो'। दो पुस्तकें और भी हैं 'पेरिस नहीं भूलती' एवं 'मेरे तीर्थ' परन्तु अभी तक ये दोनों पुस्तकें प्रकाशित नहीं हो सकी हैं।[3] यात्रा-साहित्य के प्रकाशित दोनों ग्रन्थों की शैली भी इनकी अपनी निजी है। वह अधिकांश प्रतीकात्मक है। इसमें नवीनता की ओर झुकाव अधिक जान पड़ता है। प्रमुखतया ये प्रयोगवादी या प्रतीकवादी शैली का प्रयोग करते हैं। इनके यात्रा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में विषय का प्रतिपादन मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर हुआ है। ये अधिकतर संस्मरणात्मक गद्य-शैली में हैं, उनमें कहानी की-सी रोचकता है। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालकमण्डल के आप प्रमुख सदस्यों में से हैं। आपकी 'माटी की मूरतें' भारत सरकार की साहित्यिक अकादमी द्वारा भारत की सभी भाषाओं में अनूदित हो रही हैं। भारत सरकार ने इस पुस्तक पर २००० रु० और 'बेटे हों तो ऐसे' नामक बालोपयोगी पुस्तक पर ५०० रु० के पुरस्कार देकर आपको सम्मानित किया है।[4]

पैरों में पंख बाँधकर—२७० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन लोकसेवक प्रकाशन, वाराणसी से सन् १९५२ ई० में हुआ था। बेनीपुरीजी ने इस पुस्तक में

---

१. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण, १९५१, पृ० २४२

२. बेनीपुरी ग्रन्थावली—भाग १ के आधार पर

३. लेखक के नाम आए श्री रामवृक्ष बेनीपुरीजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

४. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हि० सा० सम्मेलन के अभिभाषण १९५१, पृ० २४२

अपनी इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, स्विटजरलैण्ड एवं पेरिस की हवाई-यात्रा का सुन्दर वर्णन दिया है। यह सम्पूर्ण यात्रा डायरी-शैली में लिखी गई है। झील के दृश्य को देखकर वे लिखते हैं :—

"तो सामने झील लहरा रही है—हाँ, लहरा रही है, देखिए न सामने लहर-ही-लहर तो है और उन लहरों को चीरती हुई वह अग्निबोट तो दूर निकल गई है, किन्तु आस-पास कितनी नावें दौड़ रही हैं। रंग-बिरंगे गन्दोले, मानों चिड़ियाँ रंगीन पंखों को फैलाये लहरों पर चक्कर काट रहीं। झील के उस पार पहाड़ियाँ। पहाड़ों पर वर्फ की धारियाँ—मानों शिवशंकर धारोवाल की धारीदार की कम्बल ओढ़कर वैठे हों। चोटियों के ऊपर बादल उड़ रहे, कभी चोटियों को ढँक देते। कभी चमका देते। पहाड़ियों की कई पाँतें मानों, स्वर्ग की सीढ़ियाँ हों।"[१]

उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी की यह पुस्तक १५ अगस्त, सन् १९५४ ई० को प्रभात प्रेस, पटना से प्रकाशित हुई थी। २९९ पृष्ठों की इस पुस्तक में बेनीपुरीजी ने अपनी हवाई-यात्रा को डायरी-रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें विशेषकर फ्रान्स, इंग्लैण्ड, स्विटजरलैण्ड और इटली का यात्रा-वर्णन दिया गया है। अपनी यात्रा में देखे गए विदेशी दूतावास और रंगभूमि, चिड़ियाखाना, फूलवाड़ी, रंगमंच, वेनिस का देहात आदि सभी स्थानों का सुन्दर और विस्तृत वर्णन बेनीपुरी-जी ने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। बादलों का वर्णन करते हुए ये लिखते हैं:—

"ये बादल, भूरे बादल, एक-पर-एक लदे बादल, रुई के समुद्र-से, गाले के समुद्र-से लग रहे हैं। और, यह लालिमा क्षण-क्षण, पल-पल रंग बदल रही है। क्या कोई कैमरा भी उसके इस परिवर्तनशील सौन्दर्य को पकड़ सकता है—फिर कलम क्या करे।"[२]

श्री योगेन्द्रनाथ सिनहा

जीवनी—श्री योगेन्द्रनाथ सिनहा का जन्म सन् १९०३ ई० में विहार के शाहाबाद जिले में हुआ था। सन् १९२० ई० में इन्होंने प्रथम श्रेणी में मैट्रीकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण होकर १५ रुपए मासिक की डिवीजनल छात्रवृत्ति पाई। ये आई०एस० सी० भी प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुए और सम्पूर्ण पटना विश्वविद्यालय में तृतीय होने के कारण इन्हें २५ रु० मासिक छात्रवृत्ति दी गई। इन्होंने भौतिक-विज्ञान में बी० एस-सी० (आनर्स) की डिग्री प्राप्त की। इन्हें द्वितीय श्रेणी की विशेषता मिली (उस वर्ष प्रथम श्रेणी किसीको नहीं मिली थी)[3] और विश्वविद्यालय-भर

१. पैरों में पंख बांधकर—श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २५८
२. उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० १०
३. दुनिया की सैर—प्राक्कथन से उद्धृत—ले० डा० सच्चिदानन्द सिंह, बैरिस्टर, डी० लिट०, पृ० ९, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना—सन् १९४१ ई०

में ये द्वितीय थे। सन् १९२५ ई० में ये एम० एस-सी० की पढ़ाई पूरी कर चले थे, पर उसी वर्ष इन्होंने बिहार-उड़ीसा के वन-विभाग की प्रतियोगिता परीक्षा दी, और उसमें उत्तीर्ण होनेवालों में सर्वप्रथम रहे। नौकरी मिल जाने के कारण इन्हें कालेज की पढ़ाई छोड़नी पड़ी।[1]

सिनहाजी को यात्राओं से विशेष रुचि रही। देहरादून के जंगल कालेज में दो वर्ष शिक्षा पाने के बाद ये सन् १९२८ ई० में फारेस्ट आफिसर नियुक्त हुए। तब इनकी यात्रा की इच्छा ने विशेष जोर मारा। विदेश यात्रा की इनमें विशेष आकांक्षा थी। हिन्दुस्तान ये अच्छी तरह से घूम चुके थे।[2]

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-साहित्य पर इनकी 'दुनियाँ की सैर' नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक है जो लहेरिया सराय, पटना से सन् १९४१ ई० में प्रकाशित हुई थी। ३१४ पृष्ठों की इस पुस्तक में लेखक ने सारी दुनिया की सैर का विवरण दिया है। यह पुस्तक लेखक ने पहले अंग्रेजी में 'राउण्ड दी वर्ल्ड' के नाम से प्रकाशित कराई थी। पुस्तक का अधिकांश भाग लेखक द्वारा अपने मित्रों को विदेश से भेजे गए पत्रों का संग्रह है, जो बड़े सुसंगठित रूप में लिखा गया है। क्योंकि पुस्तक की भूमिका में सिनहाजी ने स्वयं ही लिख दिया है : "इन दोस्तों का आग्रह था कि मैं जिस-जिस देश में जाऊँ वहाँ का पूरा वर्णन इनको लिखता रहूँ।"[3] पत्रों की स्वाभाविक भाषा में इंग्लैण्ड, फिनलैण्ड, स्वीडन, बर्लिन, अमेरिका, जापान, सिंगापुर आदि देशों की यात्रा का वर्णन और लेखक पर उसका प्रभाव विदित होता है। समयाभाव के रहते हुए भी लेखक ने संसार की परिक्रमा करके अपनी बहुत बड़ी आकांक्षा की पूर्ति की है। स्विटजरलैण्ड का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"दक्षिण की ओर गगनचुम्बी अनन्त हिमाच्छादित आल्पस पर्वत और शेष सभी जगह पहाड़ियाँ, जिनके बीच-बीच घाटियाँ और झीलें हैं। इन घाटियों में जहाँ-तहाँ गाँव या अलग-अलग मकान बिखरे हुए हैं।"[4]

श्री यशपाल

जीवनी—यशपालजी हिन्दी के जाने-माने प्रगतिशील कथाकार हैं। आपका जन्म सन् १९०४ ई० में कांगड़ा नामक पर्वतीय प्रदेश में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल-कांगड़ी में हुई थी। वहाँ उन्होंने सातवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की। गरीबी के वातावरण में उन्हें उसी जीवन में तिरस्कार मिला जिसकी प्रतिहिंसा उनके मन में हुई। पुनः डी० ए० वी० स्कूल, लाहौर में भरती हुए और १९१९ में रौलट

१-२. दुनिया की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० १०

३. वही, भूमिका से—लेखक योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ५

४. दुनिया की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ६४

ऐक्ट आन्दोलन के बाद फीरोज़पुर अपनी माताजी के पास चले गए। वह वहाँ पर आर्यकन्या पाठशाला में अध्यापिका थीं। लाला लाजपतराय द्वारा संस्थापित नेशनल कालेज, लाहौर से उन्होंने बी० ए० और प्रभाकर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। पं० उदयशंकर भट्ट आपको प्रारम्भ से ही लिखने के लिए प्रोत्साहन देते रहते थे। इसी कारण सन् १९२० से वे बराबर लिखने लगे। प्रारम्भ में उन्हें नाटक खेलने की बड़ी रुचि रहती थी। पहले ये सरदार भगतसिंह और सुखदेव-जैसे क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में थे, क्योंकि ये दोनों ही इनके सहपाठी थे। ये कांग्रेस के अनुयायी कार्यकर्ता थे परन्तु १९१९ में गांधीजी द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन के स्थगित किए जाने पर कांग्रेस के प्रति इनमें विरक्ति की भावना जागी। आप अपनी राजनीतिक और साहित्यिक प्रवृत्ति को एक ही समझनेवाले हमारे विशिष्ट कलाकार हैं। आपने राजनीतिक आन्दोलनों के कारण जेल-यात्रा भी की है। यशपालजी को बंगला, फ्रेंच, इटैलियन, रशियन और उर्दू का भी पूर्ण ज्ञान है। आपने 'विप्लव' नामक पत्र भी निकाला परन्तु १९४१ में पुनः गिरफ्तार हो जाने के कारण विप्लव बन्द हो गया। १९४७ ई० में विप्लव का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ।

यशपालजी हिन्दी के उन लेखकों में हैं जो साहित्य को साधन मानते हैं तथा साहित्य के द्वारा क्रान्ति की भूमिका तैयार करने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दी के गौरवशाली कथाकारों में वे एक हैं। इनके लेखन का अपना ढंग है। वे विदेशी क्रान्तिकारी लेखकों की परम्परा में भारतीय अग्रदूत हैं। उनके लेखन का दृष्टिकोण व्यापकता तथा अनुभूति की सत्यता बड़े-बड़े लेखकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। ये बहुत ही सरल स्वभाव के मिष्टभाषी व्यक्ति हैं। आजकल आप अपने विप्लव कार्यालय, शिवाजी मार्ग, लखनऊ में ही रहते हैं।

कृतियाँ—हिन्दी के यात्रा-सहित्य पर यशपालजी की दो पुस्तकें हैं : 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और 'राहबीती'।

लोहे की दीवार के दोनों ओर—३४५ पृष्ठों की यह पुस्तक जुलाई १९५३ ई० में विप्लव कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में अपनी राजनीतिक यात्रा के साथ ही यशपालजी ने सोवियत देश और पूँजीवादी देशों के जीवन और व्यवस्था का आँखोंदेखा तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। यूरोप-यात्रा में लोहे की दीवार के उस ओर के वर्णन में मास्को के स्टेडियम, स्कूल, थियेटर, बाजार, लेनिन पुस्तकालय, प्रवदा प्रेस, कला-भवन, अस्पताल, मास्को विश्वविद्यालय एवं अन्य सांस्कृतिक प्रासादों का वर्णन किया। लोहे की दीवार के इस ओर के वर्णन में वियना और लन्दन को विशेष महत्त्व दिया गया है। विदेश-यात्रा में देखे गए सारे देशों के वर्णनों को अपनी प्रतिभा और विशुद्ध कला के द्वारा राजनैतिक निबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गुर्जी देश के दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सभी चोटियाँ बर्फ से ढकी हुई थीं। भाग्य से सूर्य भी निकला हुआ था। छोटी-बड़ी अनेकों बर्फीली चोटियों के जमघट में चोटियों के कुछ भाग सूर्य के सम्मुख

होने के कारण उज्ज्वल और कुछ विमुख होने के कारण श्यामल जान पड़ रहे थे। कुछ चोटियों से सुनहरी, कुछ से गुलाबी और कुछ से नीली आभा झलक रही थी और कुछ श्वेत थीं। दर्शक को निर्वाक कर देनेवाला एक अद्भुत सौन्दर्य।"[1]

राहबीती—यशपालजी की यह पुस्तक दिसम्बर, १९५६ में विप्लव कार्यालय, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। १७९ पृष्ठों की इस पुस्तक में यशपालजी ने अपनी पूर्वी यूरोप की यात्रा का वर्णन किया है। चैकोस्लोवेकिया की राजधानी प्राग से लेखक को कांग्रेस में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला था। इस निमन्त्रण को पाने के बाद ही यशपालजी ने आकाश-यात्रा की तैयारी की। इस यात्रा में वे रोम, रूमानिया, काबुल आदि स्थानों को गए थे। इसका विवरण भी पुस्तक में दिया गया है। पोस्टडाम का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

"नाज़ियों को पराजित करती हुई पोस्टडाम के मार्ग से ही बर्लिन की ओर बढ़ी थी। इस नगर पर घनघोर बम-वर्षा हुई थी। नगर के चौक में पुराने विशाल, प्रशस्त, गगनचुम्बी गिर्जे आज भग्न और झुलसे हुए कंकालों की भाँति दिखाई देते हैं। किसी गुम्बद का एक पार्श्व गोलों की मार से उड़ जाने के कारण कंकाल के खुले टूटे हुए जबड़े के समान जान पड़ता है। राजप्रासाद की छतें उड़ गई हैं। स्थान-स्थान पर टूटी हुई दीवारें मात्र खड़ी हैं। उन प्रकाण्ड कंकालों से मूक रोदन आकाश की ओर उठता जान पड़ता है। उस प्रकाण्डता में दैन्य कितना हृदय द्रावक था!"[2]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

जीवनी—राष्ट्रीय जागरण और सांस्कृतिक उत्थान के कवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १९०८ ई० में मुंगेर जिलान्तर्गत सिमरिया गाँव में हुआ था। १९३२ ई० में आपने पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० (ऑनर्स) परीक्षा पास की। आप विभिन्न सरकारी कार्यों के अतिरिक्त अध्यापक का भी कार्य कर चुके हैं और सम्प्रति राज्यपरिषद् के सदस्य हैं। सन् १९३५ ई० तक आपकी ख्याति हिन्दी जगत् में हो चुकी थी। बिहार प्रान्तीय कवि-सम्मेलन, छपरा के ये सभापति भी हुए। इन्हें राजनीति, इतिहास एवं दर्शन से विशेष प्रेम है। दिनकरजी हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला और उर्दू का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। आप सन् १९५२ ई० से केन्द्रीय संसद् के सदस्य हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के संचालकमण्डल, केन्द्रीय सरकार द्वारा संगठित राजभाषा आयोग, सेन्ट्रल बोर्ड ऑफ फिल्म सेन्सर (बम्बई), प्रोग्राम एडवाइज़री कमेटी (आल इण्डिया रेडियो, दिल्ली) और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के भी मान्य सदस्य हैं। आपकी रचना 'कुरुक्षेत्र' पर साहित्यकार संसद्

---

१. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० २२२

२. राहबीती—यशपाल, पृ० ११८

(प्रयाग) ने एक हजार रुपये, उत्तर प्रदेश सरकार ने बारह सौ रुपये, भारत सरकार ने दो हजार रुपये के पुरस्कार प्रदान किए हैं, और नागरी प्रचारिणी सभा ने द्विवेदी पदक प्रदान किया है।[1] दिनकरजी कवि-हृदय व्यक्ति हैं। भारतीय संस्कृति से इन्हें विशेष प्रेम है और इसी कारण इन्होंने गहरा अध्ययन भी किया है। सन् १९२१ ई० से ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आपकी ममता थी तथा आपकी रचनाओं में सहज ही राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। इनका व्यक्तित्व इनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से झलकता है।

कृतियाँ—दिनकरजी के काव्य एवं निबन्ध सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ हैं परन्तु हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी केवल एक पुस्तक 'देश-विदेश' नाम से प्रकाशित हुई है। १२८ पृष्ठों की यह पुस्तक उदयाचल प्रकाशन, पटना से सन् १९५७ ई० में प्रकाशित हुई थी। दिनकरजी ने इस पुस्तक में अपनी देश और विदेश दोनों प्रकार की यात्राएँ संगृहीत कर दी हैं। देशीय यात्राओं में काश्मीर की सैर और सौराष्ट्र का भ्रमण वर्णित है तथा विदेशीय स्थानों की यात्राओं में यूरोप-यात्रा, पोलैण्ड-यात्रा आदि का विवरण दिया गया है। इस यात्रा में वहाँ के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन, भाषा और साहित्य एवं वहाँ के मनोरंजन सम्बन्धी आयोजनों पर भी प्रकाश डाला गया है तथा अपनी यूरोप-यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया गया है। काश्मीर के कमल की शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"कमलों की जैसी शोभा काश्मीर में है, वैसी देश में अन्यत्र, शायद ही कहीं होगी। मानसबल के किनारे बैठे-बैठे मन में अनायास यह भाव उठा कि, हो-न-हो, कालिदास ने काश्मीर में ही कमल की पूरी महिमा समझी होगी और यहीं उनके भीतर यह अनुभूति उत्पन्न हुई होगी कि कमल भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुष्प है।[2]

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१० ई० में अपनी माता के घर गाजीपुर के दुबिदा ग्राम में हुआ था। जन्म-काल की सही तिथि माता-पिता को भी ज्ञात नहीं थी, अतः इन्होंने स्वयं ही अपना जन्म-काल ३ जून सन् १९१० ई० निर्मित कर लिया। पैतृक वंश जिला बलिया के अंजियार ग्राम का है। वहीं आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। इनके पूज्य पिता पण्डित रघुनन्दन उपाध्याय वैदिक संस्कृति और दर्शन के प्रसिद्ध वेत्ता और कट्टर आर्यसमाजी थे। बलिया में ही उन्होंने वकालत आरम्भ की थी, बाद में प्रयाग हाईकोर्ट में बहुत दिन रहे और वहीं सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट होकर जीवन-यात्रा समाप्त की।

---

१. बिहार की साहित्यिक प्रगति—खण्ड २, बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अभिभाषण, १९५९
२. देश-विदेश—रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० २५

भगवतशरणजी अपने पिता की अकेली सन्तान हैं। गांधीजी के बुलाने पर आप सन् १९२२ ई० में स्कूल छोड़कर असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। देश की पुकार के कारण गिरफ्तार भी हुए और सरकार की आज्ञाओं तथा कानूनों के उल्लंघन-फलस्वरूप इन्हें डेढ़ वर्ष का कारावास भी हुआ। उस समय इनकी आयु १३ वर्ष की थी, शायद भारत के सबसे अधिक नवयुवक कैदी यही थे। जेल से छूटकर इन्होंने संस्कृत का गूढ़ अध्ययन किया। संस्कृत के व्याकरणिक सूत्रों के साथ ही गीता और उपनिषद् का भी खूब अध्ययन किया। उपनिषद् के अध्ययन के बाद से मानव की नश्वरता और शक्ति पर विश्वास करने लगे। बाद में इन्होंने वाराणसी, प्रयाग और लखनऊ की शिक्षा-पद्धति पर अन्दोलन उठाया। भारत-भ्रमण करने के साथ ही कला, म्यूज़ियम तथा ऐतिहासिक स्थानों का दर्शन किया। २४ जनवरी सन् १९४४ ई० को पटना में पत्नी का देहान्त हो गया। उसी समय से वाराणसी विश्वविद्यालय के शिक्षकों के सहयोग से 'रिसर्च जनरल' का सम्पादन किया। साथ ही हिन्दी, अंग्रेजी और अमरीकन पत्रिकाओं में लिखना आरम्भ किया। तीन वर्ष पश्चात् वाराणसी विश्वविद्यालय छोड़कर १९४० ई० में उत्तर प्रदेश सरकार की सेवा के लिए आप प्रान्तीय म्यूज़ियम के आरक्योलाजिकल विभाग के आफिस-इंचार्ज के पद पर आए। फरवरी १९४४ ई० में सरकारी नौकरी छोड़कर बिड़ला कालेज, पिलानी में इतिहास के प्रोफेसर के पद पर नियुक्त हुए और ३ वर्ष बाद कालेज छोड़ दिया, इसके बाद मालाबार की एक नैयरवंशीय अम्बेरडर ए० सी० नुम्बियर की पुत्री देवकी अम्मा (जो कि अब बिड़ला आर्ट कालेज, पिलानी की प्रिंसिपल हैं) से विवाह किया। इनकी पत्नी भारतीय ऐतिहासिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रथम महिला हैं जिन्होंने लड़कों के कालेज का सम्पूर्ण भार ग्रहण किया। फिर उपाध्यायजी फ्रांस की एक प्रसिद्ध ऐटामिक वैज्ञानिक संस्था द्वारा पेरिस में भाषण के लिए बुलाए गए। इसके पश्चात् अमरीका एवं यूरोप में इतिहास, भारती संस्कृति तथा कला पर भाषण दिए। विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं के मेहमान के रूप में इन्होंने विदेश का भ्रमण किया और ऑनरेरी डिगरियाँ प्राप्त कीं। एक बार सम्पूर्ण संसार और अमरीका का तथा दो बार यूरोप का, तीन बार मिडिल ईस्ट आदि का भ्रमण किया। हैदराबाद में रहकर ऐशियन स्टडीज़ इन्स्टीच्यूट का निर्माण और कुछ वर्षों तक उनका संचालन किया। एशिया में अपने ढंग का यह एक ही इंस्टीच्यूट है, जो ईजिप्ट, बेबीलोन और असीरिया के इतिहास और संस्कृति तथा भारत की संस्कृति पर शोध-कार्य के लिए निर्मित हुआ है। जनवरी १९५७ ई० से आप नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में भारत सरकार की द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में तैयार किए जानेवाले हिन्दी विश्वकोष के सम्पादन का कार्य कर रहे हैं। आप हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, फ्रेंच, ईजिप्शियन तथा असीरियन, बंगला, मराठी, गुजराती को पूर्ण अधिकार से लिखनेवाले एवं अच्छे वक्ता हैं।*

---

*लेखक के नाम आए डा० भगवतशरण उपाध्याय के व्यक्तिगत पत्रों एवं सम्पर्क के आधार पर

कृतियाँ—डा० भगवतशरणजी की अब तक हिन्दी और अंग्रेजी में ७५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कुछ अब भी अप्रकाशित हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर आपकी ६ पुस्तकें हैं—

१. विश्वयात्री
२. वह दुनियाँ
३. लाल चीन
४. कलकत्ता से पेकिंग
५. भारत-भ्रमण[1]
६. सागर की लहरों पर (६ भागों में)[2]

विश्वयात्री—उपाध्यायजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४७ ई० में ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना से हुआ था। यह पुस्तक ऐतिहासिक आधारों से अधिक पूर्ण होने के कारण यात्रा-साहित्य के विशेष महत्त्व की नहीं है।

वह दुनियाँ—डा० भगवतशरण उपाध्याय की यात्रा-साहित्य पर यह दूसरी पुस्तक है। सन् १९५२ ई० में यह आलोक प्रकाशन, बीकानेर से प्रकाशित हुई थी। २३८ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने इसराइल, कनाडा, संयुक्त-राष्ट्र अमरीका, इंग्लैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड, वेलिजयम, फ्रांस, स्विटजरलैण्ड, ग्रीस, मिस्र आदि देशों के रेखाचित्र दिए हैं। इन यात्रा-स्थलों के रेखाचित्रों में सांकेतिक स्कैच का रूप अधिक है, यात्रा-विवरण सम्बन्धी वृत्तान्त कम। इन यात्रा-सम्बन्धी स्मरणात्मक रेखाचित्रों के शीर्षक बड़े ही आकर्षक हैं। यूरोप और अमरीका की दुनियाँ के रात और दिन और सन्ध्याएँ, लेक सक्सेस, फशिंग मेडो, न्यूयार्क की कालोनी, नई दुनिया की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, रोम और ग्रीस तथा पाशाओं के देश, पिरामिडों की छाया आदि के रेखाचित्र बड़े सुन्दर और कलात्मक बन पड़े हैं।

लालचीन—उपाध्यायजी की इस पुस्तक का प्रकाशन १९५३ ई० में दीनानाथ भार्गव तीरथराज प्रेस, इलाहाबाद से हुआ था। इसमें लालचीन की संक्षिप्त यात्रा वर्णित की गई है। पुस्तक यात्रा-साहित्य के अधिक महत्त्व की नहीं है, इसलिए विस्तृत विवरण नहीं दिया जा रहा है।

कलकत्ता से पेकिंग—भगवतशरणजी की यात्रा-सम्बन्धी इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५५ ई० में राजपाल एण्ड संस, दिल्ली से हुआ था। १७३ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी पेकिंग-यात्रा के रोचक संस्मरणों को लिपिबद्ध किया है। यह पत्रात्मक शैली में लिखी गई है। इसमें हांगकांग, कान्तोन, पेकिंग, शंघाई, कलकत्ता आदि विभिन्न स्थानों से लिखे गए पत्र संगृहीत हैं। इस सम्बन्ध में पुस्तक

---

१. यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है—लेखक
२. यह पुस्तक आजकल प्रेस में है—लेखक

के 'दो शब्दों' में उन्होंने लिखा है : "सन् १९५२ ई० में मैं भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से शान्ति-सम्मेलन में शामिल होने चीन गया था। वहाँ से मैंने अपने मित्रों, स्वजनों को कुछ पत्र लिखे थे। पत्र पानेवाले सभी प्रकार के व्यक्ति थे—अपने परिवार के लोग, मित्र, सम्बन्धी, सरकारी अफसर, कवि, लेखक, उपन्यासकार। कुछ पत्र डाक से डाले गए, कुछ लिखकर पास रख लिए गए। यह 'कलकत्ता से पेकिंग' उन्हीं पत्रों का संग्रह है, उन सभी पत्रों का जो उस काल लिखे गए।[1] पुस्तक सुन्दर है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त को लिखे गए एक पत्र का उद्धरण देखिए—

पेकिंग
२ अक्तूबर, १९५२

कविवर,

कई दिन पहले लिखना चाहता था, पर पेकिंग का समारोह कुछ ऐसे बवण्डर-सा है कि एक बार उससे छू जाने से फिर उसीमें खो जाना पड़ा है। पर आज, जो कई दिनों से गुनता आया था, लिखना ही पड़ा। उचित तो यह था कि कुछ नरम-तरल लिखता, कुछ मर्म की बात, जिससे आपके स्निग्ध आर्द्र मन को ठेस न लगे। पर वह काम मेरा नहीं आपका है—कल्पनाओं की दोला जिसका आधार है, मलय का स्पर्श जिसकी रज्जु है, मकरन्द की सुरभि जिसकी हिलोर है। मैं तो आज की बात लिखने जा रहा हूँ। आज के इस पेकिंग की जिसके आँगन में दूर देशों के तपस्वी, साधक और जनसेवक, कवि और चिंतक एक चित्त से विश्व में युद्ध का विरोध और शान्ति का आह्वान करने आए हैं। जानता हूँ कवि, आपको भी शान्ति की यह अर्चना अभिमत है।[2]

आपका ही
भगवतशरण

डॉ० सत्यनारायण

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१० ई० में हुआ था। १९२१-२२ ई० में आपने एक चर्खा प्रतियोगी के रूप में भारत-भ्रमण किया। ६ मास तक आप साबरमती आश्रम में भी रहे। बेलगाँव-कांग्रेस में स्वयं महात्मा गांधी ने आपको अच्छा कातने की प्रतियोगिता के इनाम-स्वरूप एक स्वर्ण पदक प्रदान किया। डा० पट्टाभि सीतारमैया के साथ आपने गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास (तेलगू प्रान्त) का

---

१. कलकत्ता से पेकिंग (दो शब्द से)—डा० भगवतशरण उपाध्याय

२. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ११९

और फिर कोलम्बो तथा पांडिचेरी का भ्रमण किया। सन् १९२५ से १९२९ ई० तक आपने काशी विद्यापीठ में अध्ययन किया। सन् १९३० में आपने साइकिल पर कोलम्बो और मिस्र होते हुए नेपल्स (इटली), आस्ट्रिया और जर्मनी (जहाँ आपने अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट प्राप्त की) और रूस की यात्रा की।[1] सन् १९२५ से १९२९ ई० में जब आप काशी विद्यापीठ के विद्यार्थी थे, आपने अपनी पहली पुस्तक 'एशिया की क्रान्ति' लिखी थी जो बाद में जब्त हो गई थी। सन् १९३५ ई० में आप आस्ट्रिया, हंगरी और कई स्विस न्यूज़ एजेन्सियों के प्रतिनिधि की हैसियत से नूरेनबर्ग की नरसी पार्टी कांग्रेस में सम्मिलित हुए। अबीसीनिया पर हुए इटली के आक्रमण के समय आप वहाँ शाही मेहमान और एक पत्रकार के रूप में उपस्थित थे। सन् १९३६ ई० में आप भारत लौटे। आपको हिन्दी से अनन्य प्रेम है। आप घुमक्कड़ स्वभाव के हैं।

कृतियाँ—सत्यनारायणजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर भी कई पुस्तकें लिखी हैं। यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों में अब तक आपकी यूरोप के झकोरे में, रोमांचक रूस में, युद्ध यात्रा तथा अजाने रास्ते प्रकाशित हो चुकी हैं। 'रोमांचक रूस में' नामक पुस्तक का प्रकाशन बँगला में भी हो चुका है तथा अन्य यात्रा-वर्णन जर्मनी में भी प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त टैंकयुद्ध, हवाई युद्ध, चढ़ाई के मोर्चे पर, जीवन-संघर्ष तथा अपराजित अबीसीनिया नामक अन्य पुस्तकें भी आपने लिखी हैं परन्तु इनमें यात्रा-वृत्तान्त नहीं है। इनके यात्रा-ग्रन्थों का परिचयात्मक वर्णन निम्न प्रकार का है।

यूरोप के झकोरे में—इस पुस्तक का प्रथम संस्करण वर्तमान संसार कार्यालय, चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता से सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ था। दूसरा संस्करण हिन्दी विश्वभारती कार्यालय, चारबाग, लखनऊ से १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह वास्तविक रूप में न उपन्यास है, न भ्रमण-वृत्तान्त ही। इसका नाम केवल चित्र दिया जा सकता है—यह पुस्तक स्मृति-पट का चित्र है। यह 'आवारे की यूरोप यात्रा' के नाम से भी प्रकाशित हुई। इसमें उसीका रूपान्तर है तथा कई अंश बिलकुल ही नए जोड़ दिए गए हैं। राइन, हाइडिलबर्ग, डेनमार्क आदि की यात्राओं एवं अन्य भ्रमण-वृत्तान्तों को इसमें संगृहीत किया गया है। ३११ पृष्ठों की यह सुन्दर पुस्तक है, जो पाँच खण्डों में विभाजित है।

रोमांचक रूस में—सत्यनारायणजी की यह पुस्तक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई में नाथूराम प्रेमी द्वारा प्रथम बार सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुई थी। यह एक भ्रमण कहानी के रूप में लिखी गई है। इनकी यूरोप यात्रा नेपल्स में समाप्त होती है। दोनों यात्राओं की वर्णन-शैली भी कुछ एकसी है।

---

१. विशालभारत—जनवरी, १९४१

युद्ध-यात्रा—यह पुस्तक सन् १९४० ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। ४०८ पृष्ठों की इस यात्रा-पुस्तक में सत्यनारायणजी ने अपनी युद्ध-यात्रा वर्णित की है। डॉ० साहब अबीसीनिया युद्ध के समय एक पत्रकार की हैसियत से अबीसीनिया गए थे। अफ्रीका की जंगली जातियों के बीच, जो प्रतिक्षण अजनबियों को मार डालने को तैयार रहती थी, सत्यनारायणजी ने टट्टू पर चढ़कर युद्ध-क्षेत्र की यात्रा की थी। इस यात्रा-ग्रन्थ में उसीका मनोरंजक वर्णन है। इस सचित्र पुस्तक में युद्ध का जो रोमांचकारी चित्रण किया गया है वह बड़ा ही सच्चा है।

अजाने रास्ते—यह पुस्तक जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। इसमें कीर्तिलब्ध लेखक और उत्साही पर्यटक ने यात्रा की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है। यह एक अल्हड़ पर्यटक की जीती-जागती रोमांसमयी भ्रमण-कहानी है। यात्रा-सम्बन्धी इस पुस्तक में युद्धोत्तर यूरोप के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की आँखोंदेखी घटनाओं को लेखक ने एक कथानक का रूप देकर पुस्तक को उपन्यास से भी अधिक आकर्षक एवं मनोरंजक बना दिया है। नारवे का वर्णन करते हुए सत्यनारायणजी ने लिखा है—

"नारवे का यह अंचल हमें एक विराट चित्रालय सरीखा दीखता है। समुद्र का नील वक्षस्थल पटभूमि बनाता है। कलाकारों की-सी नीरवता धारण किए पहाड़, उस पर वृक्ष और जंगलों की कूची फेरा करते हैं।[1]

श्री अज्ञेय

जीवनी—आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। पिता डॉ० हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० पुरातत्व विभाग में हैं तथा कर्त्तारपुर (पंजाब) के निवासी हैं। वे कसिया, गोरखपुर में जब खुदाई का काम करा रहे थे तब वहीं ७ मार्च, १९११ ई० को अज्ञेयजी का जन्म हुआ था। अज्ञेयजी अपने पिताजी के साथ अनेक प्रान्तों में रह चुके हैं और वहाँ के स्कूलों में पढ़ चुके हैं। सन् १९२५ ई० में एक मद्रासी मास्टर से पढ़कर प्राइवेट मैट्रिक पास किया, तदनन्तर इण्टर की परीक्षा भी मद्रास से पास की। बी० एस-सी० की परीक्षा सन् १९२९ ई० में लाहौर से पास की। एम० ए० में अंग्रेजी लेकर डेढ़ वर्ष तक पढ़ चुके थे कि जब नवम्बर, १९३० ई० में क्रान्तिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार हो गए। लिखने की रुचि तभी से है जब से विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। सन् १९२४ ई० में प्रथम कहानी इलाहाबाद की स्काउटिंग पत्रिका 'सेवा' में छपी थी। जेल में बहुत-सी कहानियाँ तथा कविताएँ लिखीं जो क्रमशः १९३२ से पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं।[2]

---

१. अजाने रास्ते—डा० सत्यनारायण, पृ० ३

२. इक्कीस कहानियाँ—सम्पादक राय कृष्णदास एवं वाचस्पति पाठक, पृ० ३११, पंचम संस्करण—सं० २००५, प्रयाग

वह हमारे समक्ष कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक, आलोचक, निबन्ध-लेखक, गद्यगीत-लेखक, पत्रकार, यात्रा-साहित्य लेखक एवं उच्चकोटि के मनोविश्लेपक के रूप में आते हैं। हिन्दी मासिक पत्रिका 'विशाल भारत' के भूतपूर्व सम्पादक भी आप रह चुके हैं। केवल 'विशाल भारत' ही नहीं वरन् सैनिक, आरती तथा प्रतीक जैसे पत्रों का सम्पादन भी आपने किया है। आज भी आप 'प्रतीक' का सम्पादन कर रहे हैं। अज्ञेयजी ने हिन्दी साहित्य के सभी क्षेत्रों में रचनाएँ की हैं, विशेपकर उपन्यास तथा काव्य की। अज्ञेयजी प्रधानतया प्रतीकवादी हैं। प्रयोगवाद के प्रवर्तक हैं और अपने प्रयोग सम्बन्धी विचारों और उस परम्परा की कविताओं को प्रकट करनेवाले प्रतीक नामक साहित्यिक पत्र निकालते रहे हैं। आप लाक्षणिक कलाकार है। इनकी व्यंजना लक्षणा पर आरूढ़ रहती है। प्रकृति की उड़ती हुई चित्रावली में ये नवीन शैली के चित्रकार के समान चित्र उपस्थित करने में समर्थ हैं। उनकी शक्ति व्यापकता में नहीं, निगूढ़ता में है। अज्ञेयजी का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है, उन्होंने हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य की नवीनतम चेतना की अवतारणा की है। अपने युग के महान कलाकारों से प्रेरणा लेना निन्द्य नहीं है। स्वयं प्रेमचन्द ने तालस्ताय, गोर्की, डिकेन्स आदि कलाकारों से प्रेरणा ग्रहण की थी। विचारणीय है कि प्रेरणा का यह स्रोत भारतीय जन-चेतना का परिष्कार करने में सहायक सिद्ध होगा या नहीं। अज्ञेयजी की प्रेरणा के स्रोत टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस, बोदलेयर, मलार्मे, प्रस्त, इजरा पाउण्ड, जीनपाल साजे आदि कलाकार हैं।[1]

कृतियाँ—अज्ञेयजी की हिन्दी-साहित्य में बहुत-सी कृतियाँ हैं। आपकी रचनाओं में कल्पना की संकेतात्मकता और बौद्धिकता अधिक रहती है, भावात्मक प्रवाह एवं अनुभूति की सर्वसुलभ अभिव्यक्ति कम। शैली के निखार की दृष्टि से 'अज्ञेय' का कृतित्व महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी गद्य को बौद्धिक सूक्ष्मता प्रदान की है। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अरे यायावर रहेगा याद' नाम से है। २२८ पृष्ठों का यह ग्रन्थ सन् १९५३ ई० में सरस्वती प्रेस, वाराणसी से प्रकाशित हुआ था। इसमें अज्ञेयजी ने अपने जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ स्वीकार किया है। अपनी विभिन्न यात्राओं को रेखाचित्र, स्केच और अलंकृतियों का रूप देकर प्रस्तुत किया है। मार्ग के दृश्यों के चित्रों से पुस्तक अलंकृत है। कोंसर-नाग का दृश्यविधान चित्रित करते हुए वे लिखते हैं—

"कोंसरनाग की जिस ढाल पर हम चढ़े थे, उसकी शिरोरेखा वह मर्यादा-रेखा थी। सौन्दर्य को, रंगमय रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे, सामने था विराट् और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया केवल आलोक और निरालोक। यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर जहाँ-

---

१. आलोचना—अंक २, पृ० ७

तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्रलोहित रंगत थी ही, जल में दूध-धुली नीलिमा भी थी ही और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को शिम-शीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बर्फ की चादर में सन्य सोचित गैरिक भाव भी था ही, किन्तु बोध को जो चीज पकड़ती थी, वह दृश्य रंग नहीं, रंगों की अनुपस्थिति में केवल रेखाओं और तलों का वहाव, अन्योन्य-संवर्धक कोणों का रखाव, ऊँचाई, निचाई और गहराई, निराडम्वर महानता···।[1]

श्री लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी'

जीवनी—प्रेमीजी का जन्म वैशाख शुक्ल द्वादशी, २० मई सन् १६१० ई० को लखनऊ में हुआ था। आप स्वर्गीय लाला सुन्दरलाल टण्डनजी के पौत्र तथा स्वर्गीय लाला सरयूप्रसाद टण्डनजी के पुत्र हैं।[2] इनके पूज्य पिता रामायण के बड़े भक्त थे। इन्हें काव्य और संगीत में उनसे ही वहुत प्रोत्साहन मिला।[3] आपने सन् १६३३ ई० में लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए० एवं सन् १६३४ ई० में साहित्य-सम्मेलन से विशारद की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् वकालत की शिक्षा आरम्भ की परन्तु सन् १६३५ ई० में एल-एल० बी० फाइनल में अनुत्तीर्ण होने के कारण इन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। आपने सन् १६३८ ई० में हिन्दी-साहित्य विषय में प्रयाग केन्द्र से सम्मेलन की रत्न परीक्षा एव सन् १६३६ ई० में नागपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद आप कालीचरण इण्टर कालेज, लखनऊ में हिन्दी के प्रधानाध्यापक हो गए। प्रेमीजी को हिन्दी-साहित्य से विशेष प्रेम है। स्वभाव से घुमक्कड़ कवि एवं चित्रकार हैं। यात्रा एवं संगीत इनकी प्रधान रुचि है।[4] धार्मिक भावना से आप पूर्ण हैं, इसका प्रमाण 'संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान' नामक पुस्तक है। आजकल आप अध्यापन कार्य से अवकाश ग्रहण कर पंजाबी टोला, लखनऊ में ही रहते हैं और बहुत दिनों से अस्वस्थ हैं। अस्वस्थ होते हुए भी आप साहित्य-सेवा में लगे हुए हैं। छरहरे बदन के साथ ही आप बड़े ही मिष्टभाषी और सरल स्वभाव के हैं।

कृतियाँ—टण्डनजी 'प्रकाश' एवं 'खत्री हितैषी' मासिक पत्रों तथा 'पंच-परमेश्वर' और 'होनहार' पाक्षिक पत्रों के भूतपूर्व सम्पादक हैं। हिन्दी में साहित्यिक और आलोचनात्मक बहुत-सी पुस्तकें उन्होंने लिखी हैं, परन्तु यात्रा-साहित्य पर आपकी तीन पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। इन पुस्तकों में प्रेमीजी ने अपनी विभिन्न यात्राओं के लेखों को संगृहीत किया है। इसमें से कुछ लेख सन् १६४०-४१ ई० की

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० ११२

२. लेखक के व्यक्तिगत वार्तालाप के आधार पर

३. सम्मेलन के रत्न—सिद्धिनाथ दीक्षित 'सन्त', पृ० २०६

४. लेखक द्वारा लिए गए व्यक्तिगत इण्टरव्यू के आधार पर

'सुधा' पत्रिका में भी निकले थे। इनके यात्रा-साहित्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं : संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ (१९४३), संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान (१९४५) तथा प्रमुख भारतीय तीर्थ-स्थान (१९५०)।

संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ—टण्डजी की यह पुस्तक सन् १९४३ ई० में गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। एक वर्ष बाद ही इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ था। २४२ पृष्ठों की इस यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक में टण्डनजी ने वस्तुतः भिन्न-भिन्न समय में छपे हुए १२ लेखों को संगृहीत किया है। यह एक प्रकार से उनकी आपबीती सुखद घटनाओं का वर्णन है। इसमें उन्होंने हरिद्वार, यमुनोत्तरी-गंगोत्तरी, केदारनाथ, बदरीनाथ, देहरादून, मसूरी, नैनीताल, अल्मोड़ा, विन्ध्याचल, चुनारगढ़ एवं चित्रकूट का यात्रा-विवरण दिया है। यात्रा-प्रेमी होने के साथ-साथ आप एक कुशल कवि और चित्रकार भी हैं, अतः कोई भी मर्मस्पर्शी दृश्य आपकी दृष्टि से बच नहीं सका है। जहाँ शब्दचित्र पर्याप्त नहीं समझा गया है, वहाँ कैमरे से काम लिया गया है, जो पाठकों के सम्मुख दृश्यों को प्रत्यक्ष कर देता है। पर्वतीय स्थानों का विवरण बहुत ही सुचारु रूप से दिया गया है। सरल और रोचक भाषा-शैली में उनके वर्णन बहुत ही सुन्दर हैं।

संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान—टण्डनजी की यात्रा-साहित्य सम्बन्धी यह पुस्तक भी गंगा ग्रन्थागार से सन् १९४५ ई० में प्रकाशित हुई थी। १७० पृष्ठों की इस पुस्तक में टण्डनजी ने संयुक्त प्रान्त के विभिन्न तीर्थ-स्थानों का विस्तृत वर्णन किया है। विशेषतः काशी, सारनाथ, अयोध्या, प्रयाग, नैमिषारण्य, मिश्रिख, मथुरा, गोला गोकर्णनाथ, देवीपाटन, गढ़मुक्तेश्वर और रामघाट आदि तीर्थ-स्थानों की यात्राओं का वर्णन है। पुस्तक की भूमिका डॉ० दीनदयालुजी गुप्त (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) द्वारा लिखी गई है। पुस्तक की विशेषता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : "प्रस्तुत पुस्तक में टण्डनजी ने संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थानों का विवरण दिया है, जो रोचक, सूचनात्मक और ज्ञानप्रद है।"[1] बिठूर के दीपदान का मनोरम दृश्यविधान अंकित करते हुए टण्डनजी ने लिखा है :

"खासकर सायंकाल के पश्चात् जब लोग दीपक जलाकर तथा फूल के दोने सजाकर गंगाजी में बहाते हैं, तो एक अपूर्व सुन्दरता उत्पन्न होती है। उस रंग-बिरंगे दृश्य को लोग घाट से बैठकर या नौका-विहार करते समय देखते हैं। रात के समय उस पार के जलते हुए दिए तथा अग्नि बहुत सुन्दर लगते हैं।"[2]

प्रमुख भारतीय तीर्थ-स्थान—टण्डनजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५० ई० में जी०आर०भार्गव एण्ड संस, चन्दौसी से हुआ था। ४८ पृष्ठों की इस पुस्तक में

---

१. संयुक्त प्रान्त के तीर्थ स्थान की भूमिका से उद्धृत—डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट०

२. संयुक्त प्रान्त के तीर्थ-स्थान—लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी', पृ० १२०

प्रेमीजीने वदरीनाथ-धाम, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर एवं द्वारकापुरी आदि तीर्थ-स्थानों का विस्तृत-विवरण दिया है। इसके साथ ही इन तीर्थ-स्थानों की प्रमुख चट्टियों, कुण्डों, मठों, तालावों, मन्दिरों का भी संक्षेप में वर्णन किया गया है। यह पुस्तक तीर्थ-स्थलों की ऐतिहासिक सूचनाएँ ही अधिक देती है। साहित्यिक यात्राएँ इसमें नहीं हैं। चित्रों के कारण यह सुन्दर वन पड़ी है। इसका एक उद्धरण दृष्टव्य होगा—

"चक्रतीर्थ या धर्मतीर्थ दर्भ शयन के निकट सेतु के तट पर, महेन्द्र पर्वत के निकट हैं। समुद्र पार करने के पूर्व यहीं राम-सेना टिकी थी। यहीं पर विभीषण की राम से प्रथम भेंट हुई थी। यहीं गालव ऋषि ने भगवान विष्णु के चक्र द्वारा राक्षस से छुटकारा पाया था"[१]

श्री यशपाल जैन

जीवनी— श्री यशपाल जैन का जन्म जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) के विजयगढ़ नामक कस्बे में १ सितम्बर, सन् १९१२ ई० को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा अपने कस्बे में ही हुई। अनन्तर प्रयाग विश्वविद्यालय से सन् १९३५ ई० में बी० ए० और सन् १९३७ ई० में एल-एल० बी० पास किया। लिखने की ओर रुचि सन् १९३१ ई० से ही उत्पन्न हो गई थी। सबसे पहली कहानी सन् १९३४ ई० में 'हंस' (बनारस) में छपी थी। उससे पूर्व एक सामाजिक उपन्यास लिखा, जिसकी पाण्डुलिपि खो गई। विश्वविद्यालय छोड़ने तक अनेक कहानियाँ, गद्यगीत तथा कविताएँ विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हो चुकी थीं।

वकालत पास तो की, पर उस ओर रुचि न थी, अतः पत्रकारिता के क्षेत्र में आ गए। सन् १९३७ ई० में दिल्ली से प्रकाशित मासिक-पत्र 'जीवन-सुधा' का सम्पादन किया, जिसमें कहानियों एवं कविताओं के अतिरिक्त 'निराश्रिता' नामक उनका उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। सन् १९३८ ई० में प्रथम कहानी-संग्रह 'नव-प्रसून' के नाम से निकला। पत्र का 'लेखकांक' निकाला जो अपने ढंग का निराला था। कुछ काल तक 'सस्ता साहित्य-मंडल' के कार्य में योग देकर सन् १९४० ई० में 'मधुकर' पाक्षिक पत्र का सम्पादन करने टीकमगढ़ (विन्ध्य-प्रदेश) चले गए। वहाँ रहकर सम्पादन-कार्य करते हुए साढ़े आठ-सौ पृष्ठों का 'प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ' निकाला और उसके द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थों की प्रचलित परम्परा को नया मोड़ दिया। उस ग्रन्थ के अतिरिक्त श्री नाथूरामजी प्रेमी के दिवंगत पुत्र हेमचन्द्र मोदी के विभिन्न व्यक्तियों से संस्मरण लिखवाकर उनका संग्रह प्रकाशित करवाया। स्टिफन ज्विग के 'विराट' नामक उपन्यास का अनुवाद किया।

सन् १९४६ ई० में पुनः दिल्ली लौट आए। दिल्ली आकर फिर 'मंडल' में कार्य करने लगे। सन् १९५१ ई० में दूसरा कहानी-संग्रह 'मैं मरूँगा नहीं' हिन्दी-

---

१. प्रमुख भारतीय तीर्थस्थान—लक्ष्मीनारायण टण्डन 'प्रेमी', पृ० ३०

ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ। इन्होंने दो-ढाई सौ कहानियाँ लिखी हैं, अनेक व्यक्तियों के रेखाचित्र। आजकल आप सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली में ही कार्य कर रहे हैं।[1] जैनजी को हिन्दी से विशेष प्रेम है। ये बहुत-सी साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं। जैनजी सदैव इस बात के अभिलाषी रहते हैं कि उनके द्वारा समाज को कुछ-न-कुछ लाभ पहुँचता रहे। यशपालजी सिद्धहस्त लेखक हैं। साहित्य-सेवा के लिए ही उन्होंने अपना जीवन अर्पण किया है।

कृतियाँ—स्वभाव से घुमक्कड़ होने के कारण जैनजी ने यात्रा-साहित्य पर भी कुछ रचना प्रारम्भ कर दी हैं। अभी तक यात्रा-साहित्य पर आपके दो ग्रन्थ प्रकाशित हो सके हैं—'जय अमरनाथ' (१६५५) और 'उत्तराखण्ड के पथ पर' (१६५८)। इसके अतिरिक्त आपकी विदेशों के संस्मरणों की दो पुस्तकें 'रूस में पैंतालिस दिन' तथा 'यूरोप की परिक्रमा' शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली हैं।[2]

जय अमरनाथ—जैनजी की यह पुस्तक सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली से सन् १६५५ ई० में प्रकाशित हुई थी। ११८ पृष्ठों की इस पुस्तक में जैनजी ने दिल्ली से श्रीनगर, श्रीनगर से चन्दनपाड़ी, कुट्टाघाटी, शेषनाग, वायुजन होते हुए काश्मीर-स्थित सुविख्यात तीर्थ अमरनाथ की यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दिया है। मैदान, बन-पर्वत की चढ़ाई के साथ-साथ वहाँ के भव्य और निराले हिममण्डित दृश्यों एवं यात्रा-मार्ग की कठिनाइयों के रोमांचकारी अनुभवों का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है। अन्त में अमरनाथ के धार्मिक महत्व पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रीनगर के सौन्दर्य पर मुग्ध हो आप लिखते हैं—

"प्रकृति रानी ने अपना सब-कुछ यहाँ की भूमि और उसपर बसनेवाले नर-नारियों पर न्योछावर कर दिया है। यहाँ की नदियों, घाटियों, झरनों, झीलों, बाग-बगीचों आदि ने इसे वह रूप प्रदान किया है, जो विश्व में अनूठा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टिकर्ता ने किसी बहुत ही उदात्त क्षण में इस भू-प्रदेश का निर्माण किया होगा। प्रकृति सौन्दर्य की वह खान है।"[3]

उत्तराखण्ड के पथ पर—इस दूसरी पुस्तक का प्रकाशन भी सस्ता साहित्य-मण्डल, दिल्ली से सन् १६५८ ई० में हुआ था। ११५ पृष्ठों में यशपालजी ने हिमालय में स्थित भारत के दो प्रसिद्ध तीर्थों, केदार-बदरी की यात्रा का रोचक और सजीव वर्णन किया है। यात्रा के प्रथम-चरण में ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला, देवप्रयाग, गुप्त काशी, गौरीकुण्ड और त्रियुगीनारायण तक ये गए। यात्रा के द्वितीय चरण में तुंग-नाथ, गोपेश्वर, बदरीनाथ आदि की यात्रा की है। इनका उद्देश्य न केवल धर्मचर्चा

---

१. लेखक के नाम आए यशपाल जैनजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. लेखक के नाम आए यशपाल जैनजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. जय अमरनाथ—यशपाल जैन, पृ० १०८

है, वरन् पुरुष प्रकृति के सान्निध्य में क्या पा सकता है, यह बताने का उन्होंने बड़ा सफल प्रयत्न किया है। अनेक रोचक एवं रोमांचकारी संस्मरणों से पुस्तक भरी पड़ी है। बीहड़ मार्गों पर चलते हुए भी ऐसा लगता है जैसे प्रपातों का कलकल निनाद घर बैठे ही कानों में अमृत बरसा रहा हो। प्रकृति की छटा और महिमा के दर्शन करने को मन लालायित हो उठता है। इसमें यशपालजी ने २५ दिन तक बराबर पर्वतों, वनों, नदियों, प्रपातों तथा देश के विभिन्न भागों के सहस्रों यात्रियों के साथ यात्रा करने के बाद अपने हृदय पर पड़ी हुई यात्रा की छाप को भी अंकित करने का प्रयास किया है। पुस्तक के परिशिष्ट अंश में मोटर एवं पैदल यात्रा के मार्गों का भी निर्देश किया गया है तथा साथ ही पर्वतीय चट्टियों की जानकारी भी दी गई है। शंकराचार्य की साधना-स्थली की लावण्यमयी सुन्दरता को अंकित करते हुए जैनजी ने लिखा है—

"कहीं हरियाली अपनी शोभा दिखाती है तो कहीं नदी अपनी छटा से यात्रियों को मुग्ध करती है, कहीं पर्वत अपनी विशालता से लोगों को अपनी ओर खींचते हैं तो कहीं निर्झर अपना कल-कल निनाद सुनाते हैं, कहीं पक्षियों की चहचहाहट कानों में अमृत बरसाती है तो कहीं फूलों की मुस्कराहट दिल में गुदगुदी पैदा करती है। निहारे जाओ प्रकृति को, सराहे जाओ उसकी कला को।"[1]

श्री भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'

जीवनी—आपका जन्म बिहार प्रान्त के हज़ारीबाग शहर में ४ अक्तूबर, सन् १९१२ ई० को हुआ था। आप कायस्थ हैं। आपका घर हज़ारीबाग जिले के बेहराडीह ग्राम में हैं। इनके पूज्य-पिता मुंशी चण्डीप्रसाद हज़ारीबाग सेण्ट कोलम्बस कालेजियेट स्कूल में शिक्षक थे। इनके जन्म के कुछ ही दिन बाद इनके पिताजी की बदली 'चतरा' हो गई, अतएव भुवनजी की बाल्यावस्था वहीं व्यतीत हुई। सन् १९२१ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन में इनके पिता ने नौकरी छोड़ दी और वे स्थानीय नेशनल हाई स्कूल में शिक्षक हो गए। कुछ दिनों बाद मुंशी चण्डीप्रसादजी ने अपनी बदली गिरीडीह नेशनल स्कूल में करवा ली, परन्तु वह स्कूल बहुत दिनों तक न चल सका और इस प्रकार भुवनजी के पिताजी की नौकरी जाती रही। पिताजी के साथ ही भुवनजी भी गिरीडीह चले आए थे और वहीं पढ़ रहे थे। पिताजी की नौकरी छूट जाने के कारण इनकी पढ़ाई भी ठीक न चल रही थी, अतएव सन् १९२२ में आप अपने चाचाजी के पास राँची जिले के खूँटी नामक स्थान पर चले गए। खूँटी में ही आपकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई और वहीं से इन्होंने इंगलिश मिडिल की परीक्षा पास की। इसके बाद पढ़ने के लिए राँची चले आए। रांची से ही इन्होंने मैट्रिक तथा इन्टर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। बी० ए० की शिक्षा के लिए आपको

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—यशपाल जैन, पृ० १०३

पटना जाना पड़ा। पटना में ही सन् १९३२ ई० में इनका विवाह मुंगेर जिले के श्री चतुर्भुजसहायजी की द्वितीय पुत्री श्रीमती कैलाशकुमारी देवी के साथ हुआ। १९३४ में आपने बी० ए० पास किया। बी० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् कुछ दिन एकाउण्टेण्ट जनरल बिहार और उड़ीसा के कार्यालय में अपर डिवीज़न क्लर्क का कार्य किया। सन् १९४४ ई० में इन्होंने सबारडीनेट एकाउण्टस् सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण की। उस समय इस परीक्षा में बहुत कम लोग उत्तीर्ण होते थे। परीक्षा पास करने बाद आप २०० रुपए मासिक पर आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट हो गए। दो वर्ष तक आपने आडिट के सम्बन्ध में सारे बिहार का दौरा किया। सन् १९५० ई० में आप कण्ट्रोलर एवं आडिटर जनरल आफ इण्डिया द्वारा इंसपैक्शन एकाउण्टेण्ट के पद पर नियुक्त किए गए। इस पद पर भारत के विभिन्न एकाउन्टेन्ट जनरल के दफ्तरों की जाँच के लिए आपको उड़ीसा, नागपुर तथा भोपाल आदि का भ्रमण करना पड़ा। इसके पश्चात् आप पुनः राँची आए। सन् १९५२ में ६ महीने की पी० डब्ल्यू० डी० की ट्रेनिंग के लिए आप देहरी आनसोन भेजे गए। ट्रेनिंग से लौटने पर आप दामोदर उपत्यका निगम में असिस्टेन्ट एकाउन्टस् आफिसर बनाकर पंचेत डैम भेजे गए। एक वर्ष कार्य करने के बाद वे इसी डैम में एडीशनल एकाउन्टस् आफिसर हो गए। दामोदर उपत्यका निगम में तीन वर्ष कार्य करने के पश्चात् आपने ६ माह राँची में काम किया। राँची से आप जनवरी १९५७ में सिन्दरी खाद कारखाने के रेसिडेण्ट आडिट आफिसर होकर आए, जहाँ वे अभी तक हैं।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़ने की भुवनजी की विशेष रुचि है। इसी कारण आपने पाँच महीने की छुट्टी लेकर योरुप का भ्रमण किया था। हिन्दी-साहित्य के आप अनन्य प्रेमी हैं। कहानी लिखने का आपको कालेज के दिनों से ही शौक था। इनकी कुछ कहानियाँ सामयिक पत्रों में निकली थीं। मई १९३५ में 'जीवन की झलक' नामक कहानी प्रेमचन्दजी ने हंस में छापी थी। मई '३५ के बाद प्रेमचन्दजी जब तक जीवित रहे तब तक हंस की प्रतियाँ इनके पास निःशुल्क भेजते रहे।[2] हिन्दी यात्रा-साहित्य में भुवनजी की 'आँखोंदेखा यूरोप' नामक पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५८ ई० में सिन्दरी (बिहार) से हुआ है। २३२ पृष्ठों की इस पुस्तक में भुवनजी द्वारा यूरोप-यात्रा बड़े रोचक ढग से वर्णित की गई है। पाँच माह की छुट्टी लेकर यह यूरोप की यात्रा की गई है। इसमें आपने इंगलैण्ड, फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, नार्वे, डेनमार्क, स्विडन तथा फिनलैण्ड की यात्रा विशेष रूप से वर्णित की है। इस यात्रा-ग्रन्थ में आपने इंगलैण्ड के मौसम की अस्थिरता, लन्दन में भोजन-प्रबन्ध, मशीन की करामात तथा पार्लियामैण्ट भवन, गिरजाघर, सिनेमा, थिएटर, अजायबघर, विण्डसर का महल आदि का बहुत सुन्दर वर्णन प्रस्तुत

---

१. लेखक के नाम आए श्री भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन' के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

२. वही—लेखक

किया है। इस पुस्तक का कुछ अंश आपने अपने प्रवास में ही लिखा था। यात्रा-सम्बन्धी इनके कुछ अंग्रेजी लेख 'ए लीफ फ्राम माई यूरोपियन टूर डायरी' शीर्षक से 'सिन्दरी न्यूज' नामक मासिक पत्रिका में (सितम्बर, नवम्बर एवं दिसम्बर, १९५७ ई० में) प्रकाशित हुए थे। एक लेख उन्हीं दिनों 'सर्च लाइट' नामक दैनिक पत्रिका के मैगज़ीन खण्ड में भी प्रकाशित हुआ था।[1] वेनिस के सम्बन्ध में भुवनजी ने लिखा है :—

"वेनिस की सुन्दरता प्रकृति की देन नहीं है। यहाँ न तुषारमण्डित मनो-मुग्धकारी पर्वत-प्रदेश ही है, न आकर्षक समुद्र तट। लहराती नदियों का सौन्दर्य भी इसके पास नहीं है। इनकी सारी सुन्दरता मनुष्य के बाहुबल द्वारा अर्जित है। विघ्न-बाधाओं से लड़ते हुए यहाँ के निवासियों ने कला और सौन्दर्य से परिपूर्ण एक ऐसा नगर निर्माण किया है जिसके जोड़ का नगर संसार में दूसरा कोई नहीं है। इसकी ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, इसके अजायबघर तथा इसके नक्काशी के काम देखते ही बनते हैं।"[2]

श्री रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

जीवनी—आपका जन्म काशी में सन् १९१४ ई० के अप्रैल मास में हुआ था। आपके पूज्य-पिता पंडित रघुनाथहरि खाडिलकरजी थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा महाराष्ट्र विद्यालय, काशी में सन् १९१९ ई० से सन् १९२४ ई० तक हुई। माध्यमिक शिक्षा सन् '२४ से १९३१ तक हरिश्चन्द्र कालेज में हुई। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी से सन् १९३५ ई० में आपने बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की थी।

काशी के दैनिक 'आज' पत्रकारिता का कार्य खाडिलकरजी ने सितम्बर, १९३५ ई० से प्रारम्भ किया था। जनवरी, १९३६ ई० में सम्पादकीय विभाग में आपकी नियमित नियुक्ति भी हो गई। अगस्त सन् '४२ ई० में 'आज' के बन्द होने पर नए दैनिक पत्र 'खबर' का सितम्बर से दिसम्बर, १९४२ ई० तक आपने सम्पादन किया। इसके बाद नए दैनिक 'संसार' का भी सन् १९४३ से आपने सम्पादकत्व ग्रहण किया। आप अक्तूबर १९४३ ई० से जुलाई १९४४ ई० तक बम्बई में साप्ताहिक 'संसार' के सम्पादक और प्रेस के मैनेजर पद पर आसीन रहे। भारत-रक्षा कानून में आपको ३०० रु० का अर्थदण्ड भी देना पड़ा था। अगस्त, १९४४ ई० से जुलाई १९४५ तक एक वर्ष 'संसार' द्वारा लिए गए लखनऊ के हिन्दी दैनिक 'अधिकार' का भी सम्पादन आपके द्वारा हुआ। इसके अनन्तर संसार के कार्य-हेतु आप काशी वापस आए। इसके बाद ही सन् १९४७ ई० के सितम्बर मास में 'नेशनल

---

१. लेखक के नाम आए श्री भुवनजी के १७-९-५९ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

२. आँखोंदेखा योरुप—भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन', पृ० १३७

हैराल्ड' के प्रबन्धकों द्वारा प्रकाशित नए हिन्दी दैनिक 'नव जीवन' के सम्पादकीय विभाग का संघटन करने के लिए आपको लखनऊ आना पड़ा। परन्तु सन् १९४८ ई० के अप्रैल मास में आप 'आज' में सहायक सम्पादक के पद पर पुनः वापस आ गए। जनवरी, १९५५ ई० में 'आज' के सम्पादक श्री पराड़करजी की मृत्यु होने पर उसके सम्पादक पद पर आपकी नियुक्ति हुई। फरवरी, १९५६ ई० से 'आज' की प्रकाशक समिति-ज्ञानमण्डल लिमिटेड के डाइरेक्टर भी आप ही हैं, साथ ही जनवरी १९५७ ई० से अब तक ज्ञानमण्डल के अध्यक्ष पद पर भी आप सुशोभित थे। 'आज' से त्यागपत्र देकर आप काशीवास कर रहे हैं।

आपने १९४५ ई० तक कई प्रमुख अंग्रेजी पत्रों में बनारस के संवाददाता का कार्य किया था। कुछ समय तक नागपुर के अंग्रेजी दैनिक 'नागपुर टाइम्स' में भी आपने कार्य किया था। सन् १९५३ ई० में काशी पत्रकार-संघ के आप अध्यक्ष रहे। सन् १९५४ ई० में उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के उपाध्यक्ष पद पर भी आप रह चुके हैं। १९५३ से आप उत्तरप्रदेशीय अर्द्धसरकारी प्रेस सलाहकार समिति में हैं। सन् '५४ से अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन की स्थायी समिति और उसकी परराष्ट्र सम्बन्धी उपसमिति के भी आप सदस्य हैं। सन् '५४ से ही रेडियो पर सामयिक समाचारों के समीक्षक भी आप हैं। सन् १९५६ एवं १९५७ में क्रमशः आप पूर्वी उत्तरप्रदेश (प्रथम एवं द्वितीय) पत्रकार सम्मेलन बलिया, आजमगढ़ के अध्यक्ष थे।[1] हिन्दी के प्रति आपको अनन्य प्रेम है और इसी कारण हिन्दी पत्रकारिता में आप सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

कृतियाँ—साहित्य के क्षेत्र में अभी तक आपके परमाणु बम, रेडियो, कीमती आँसू, कल की दुनियाँ, गांधी हत्याकाण्ड, हाइड्रोजन बम, आधुनिक पत्रकार कला, गंगा की आधुनिक कहानी, हालैंड में पचीस दिन और बदलते रूस में नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से केवल 'हालैंड में पचीस दिन' तथा 'बदलते रूस में' यात्रा-विवरण हैं।

हालैण्ड में पचीस दिन—१५९ पृष्ठों की पुस्तक है, जो ज्ञानमण्डल प्रकाशन, वाराणसी से सन् १९५४ ई० में प्रकाशित हुई थी। उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा यह पुरस्कृत भी हो चुकी है। इसमें खाडिलकरजी ने डच सरकार द्वारा दिए गए निमन्त्रण पर की गई यात्रा का विवरण दिया है। यह यात्रा इन्होंने भारतीय पत्रकार दल के साथ की थी। इस यात्रा के लिए इन्हें ३१ मार्च सन् १९५४ ई० को वाराणसी से कलकत्ता के लिए प्रस्थान करना पड़ा था। वहाँ से आम्सटर्डम होते हुए आप हालैण्ड गए थे। हालैण्ड में यात्रा के लिए निकलने पर देखे और समझे हुए विभिन्न चित्रों और तथ्यों को यथाक्रम पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप

१. लेखक के नाम आए खाडिलकरजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

से यूट्रेक्ट औद्योगिक मेले, सार्वजनिक समारोह, सुन्दरतम शहर राटरडम, विद्या-केन्द्र लायडन, रेडियो नगरी हिल्वर सम, ग्रार्न हेम, जाइडर बाँध, सबसे बड़ा नगर ग्राम्सटर्डम, फूलों की नगरी कुकेनहाफ, ग्राइण्डहावन का वर्णन किया गया है। फूलों की नगरी कुकेनहाफ का वर्णन प्रस्तुत करते हुए खाडिलकरजी ने लिखा है—

"आज दिन भर घने बादल छाए रहे। वर्षा भी बीच-बीच में हो जाती थी—पर फूलों के बगीचे के बीच मन वर्षा से अप्रसन्न नहीं था। सावन का असली मज़ा आज हमें आया। कुकेनहाफ का पुष्प-सौन्दर्य सचमुच देखनेवाली चीज़ है, पर यह सौन्दर्य देखकर मन में हज़ारों तरह के विचार भी उठे। मनुष्य ने फूलों के बीजों पर हज़ार तरह के प्रयोग कर और उनमें संकर कर यह सौन्दर्य पैदा किया। इसमें काले इलियों का भी सौन्दर्य था और श्वेत शुभ्र टुलियों का भी था। विचार आया कि सौन्दर्य क्या संकर में ही हो सकता है? इस संकर सौन्दर्य से प्रकृति का सौन्दर्य कम ही कहना होगा।"[1]

बदलते रूस में—पुस्तक का प्रकाशन ज्ञानमण्डल, वाराणसी से सन् १९५८ ई० में हुआ है। १४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में खाडिलकरजी ने अपनी रूस-यात्रा का वर्णन किया है। यह रूस की यात्रा केवल आठ दिन के लिए ही की गई थी। पुस्तक दो खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में यात्रा का वर्णन है और दूसरे खण्ड में रूस के पिछले ४० वर्षों का इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक रोचक है, पर अधिक साहित्यिक नहीं। भारत और रूस के बदलते सम्बन्ध के विषय में उन्होंने लिखा है—

"सम्पन्न अमेरिका रूस से वैसे ही डर रहा था जैसे कोई रईस रातभर तस्करों के भय से जागता ही रहता है। कम्युनिज़्म का होना उसे दिन-रात डरा रहा था। जो भी पंचाक्षरी कहता है कि हम इस भूत को भगा सकते हैं उसको वह अपना डालर मुक्त हस्त से लुटाने लगा। पर एशिया अफ्रीका के गरीब देशों की तरफ डालर इस तरह फेंकने लगा जैसे कोई चिड़ियों के झुंड के सामने दाना फेंकता है।"[2]

श्री राजबल्लभ ओझा

जीवनी—आपका जन्म सन् १९१६ ई० में उत्तरप्रदेश के पूर्वी सीमान्त के निकट बलिया जिले में हल्दी थाने के अन्तर्गत गंगा तट पर स्थित हुलास छपरा नामक छोटे-से ग्राम के एक सम्पन्न एवं विनम्र सरयूपारीण ब्राह्मण-परिवार में होलिकोत्सव के दिन हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम पंडित रामप्रसाद ओझा

---

१. हालैंड में पचीस दिन—रा० र० खाडिलकर, पृ० ७७
२. बदलते रूस में—रा० र० खाडिलकर, पृ० ८५

और पूज्य माता का नाम शिवा था। पिताजी पुलिस-विभाग के कार्यकर्ता होने के साथ-साथ ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण और मानवीय गुणों को ग्रहण करनेवाले व्यक्ति थे। उनके इन गुणों का पूर्ण प्रभाव ओझाजी पर भी पड़ा है। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण पाठशाला में ही हुई। हिन्दी और अंग्रेजी मिडिल की सातवीं कक्षा के विद्यार्थी जीवन-काल में ही क्रमशः आपके माता-पिता का हैजा और मियादी ज्वर में देहावसान हो गया। पिताजी द्वारा दत्त आदर्श के कारण ही आप जनकवि तुलसीदास तथा जन-साहित्य में विशेष रुचि ले सके। बाल्यकाल (१९२०-२१ ई०) से ही ये राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभावित हुए और उसीके फलस्वरूप (१९३०-३१ ई०) के आन्दोलन में नेताओं के भाषण सुनने के लिए छात्रावास छोड़कर जाने लगे। कई अवसरों पर हड़ताल कराने के आरोप में बलिया के राजकीय हाई स्कूल से इन्हें निष्कासित भी किया गया। इन घटनाओं से देशभक्ति की भावना अधिक पुष्ट हुई। परिवार के सदस्य यही सोचते थे कि गांधी के आन्दोलन से लड़का हाथ से निकल गया; क्योंकि उनकी इच्छा इन्हें एक अधिकारी पद पर देखने की थी। ओझाजी ने बलिया से इलाहाबाद आकर डी० ए० वी० स्कूल में अध्ययन शुरू किया। वहीं आर्य-समाज के सुधार-सम्बन्धी कार्यों से प्रभावित होकर इन्होंने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध साहस के साथ-साथ स्पष्ट मत व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। हाई स्कूल के अध्ययन-काल में ये पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा अन्य देशों के स्वाधीनता-संघर्षों की कथा एवं सुलभ सोवियत साहित्य पढ़ा करते थे। द्वितीय श्रेणी में हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने पर घरवालों को बड़ी निराशा हुई। इस समय तक ये स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने लगे थे। परिवार के कई युवा सदस्यों की मृत्यु के कारण इनकी आर्थिक स्थिति खराब हो चली थी। ऐसे समय में इनके स्वर्गीय ज्येष्ठ बन्धु पं० जगन्नाथ ओझा और चचेरे बड़े भाई पंडित केदारनाथ ओझा ने यह सोचकर कि कहीं यह पूर्णतया आन्दोलनकारी न बन जाय, इन्टर की शिक्षा के लिए इनका नाम क्रिश्चियन कालेज, इलाहाबाद में लिखवा दिया। वहाँ भी इन्होंने शिक्षकों का अपार स्नेह प्राप्त किया। उस समय ये आलोचनात्मक निबन्ध और कविताएँ भी लिखते थे, ये विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। कालेज-जीवन में इन्होंने पाठ्य-पुस्तकों की अपेक्षा साहित्य और राजनीति का व्यापक अध्ययन करने का प्रयास किया। मार्क्सवादी साहित्य से ये अधिक प्रभावित हुए और इन्होंने अपना यह मत बना लिया कि समाजवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही आधारभूत मानवीय अधिकारों की रक्षा सम्भव है। राजनीतिक उथल-पुथल से सम्बन्धित साहित्य पढ़ने के साथ ही कई क्रान्तिकारियों से भी इनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। १९३६ ई० में किसी प्रकार इन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे पढ़ने के लिए प्रयत्नशील हुए परन्तु पुनः क्रान्तिकारी मित्रों के प्रभाव में आ पढ़ाई छोड़ बंगाल-भ्रमण करने चले गए। इसी बीच इन्हें दैवी प्रकोपों से ग्रसित होना पड़ा और गाँव में आग लग जाने से घर की सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, बाद में बाढ़ के फलस्वरूप घर एवं जमीन गंगा के गर्भ में समाहित हो गई। ऐसी स्थिति में

शिक्षा का क्रम टूट गया, पर स्वाध्याय का क्रम बराबर चलता रहा। इसके पश्चात् ओझाजी ने बंगाल एवं उत्तरप्रदेश में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ वर्ष आप राज्य के शिक्षा-विभाग में भी कार्य कर चुके हैं। सन् १९४५ ई० से इन्होंने विधिवत् पत्रकारिता को अपनाया। इससे पूर्व भी कई पत्रों से इनका सम्पर्क था। श्रमजीवी पत्रकारों के आन्दोलन को संगठित करने में इनका विशेष योगदान रहा। आप उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के तीन वर्ष तक महामन्त्री भी रह चुके हैं और इस समय तीसरी बार प्रादेशिक संघटन के अध्यक्ष हैं। आजकल आप लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले दैनिक पत्र 'नव जीवन' के सह-सम्पादक पद पर सुशोभित हैं। ओझाजी हिन्दी के अनन्य उपासक एवं बड़े ही सहृदय तथा सरल व्यक्ति हैं। मिठास इनके एक-एक शब्द से टपकती है।[1]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य में ओझाजी की एक पुस्तक 'बदलते दृश्य' नाम से प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९५४ ई० में हिन्दी भवन, इलाहाबाद से हुआ था। २६४ पृष्ठों की इस पुस्तक में ओझाजी की २२ अप्रैल, १९५१ से लेकर १ जून, १९५१ अर्थात् ४१ दिनों की विदेश-यात्रा डायरी-शैली में वर्णित की गई है। लेखक ने ब्रिटिश सरकार के आमन्त्रण पर उत्तरप्रदेशीय श्रमजीवी पत्रकार यूनियन के प्रतिनिधि रूप में यात्रा की थी। ब्रिटेन तक ही सीमित न रहकर वे पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में भी गए। अपने इस भ्रमण में उन्होंने जो कुछ देखा-सुना, जो कुछ अनुभव किया उसे बड़े ही रोचक एवं सजीव चित्रों सहित यात्रा-संस्मरण के रूप में 'बदलते दृश्य' में पिरोहा है। बदलते दृश्य अर्थात् भावना और यथार्थ, काव्य और विज्ञान का मणिकांचन संयोग, दृश्य का प्राबल्य, शब्दचित्र की शोख शाब्दिक चटक-मटक और रंगीनियों में अपना सानी नहीं रखता। पेरिस, स्विटज़रलण्ड, इंग्लैण्ड तथा स्काटलैण्ड का कोई सौन्दर्य-स्थल, सांस्कृतिक स्मारक, पुस्तकालय, अजायबघर, इमारत तथा कारखाना नहीं छूटा जो कि दर्शनीय होने पर भी ओझाजी ने न देखा हो। उनकी स्पन्दनशील आत्मीयता, दिल की धड़कन, उसकी गति, कलाकार की द्रवणशीलता, उदारता, जीवन्त चेतन' का निदर्शन होकर उनके चित्रों के वर्णन में मनोहारी और हृदयहारी हो उठी है दृश्यविधानों के सूक्ष्म परिवेक्षण एवं सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालने के साथ ही ओझाजी ने जीवन के खतरनाक चौराहे पर खड़े पश्चिमी यूरोप के जन-जीवन के त्रास, दैन्य, विवशता और निर्लज्जता के परिपार्श्व में पड़ी साम्राज्यशाही की ऊँघती, घटती मदहोशी का सजीव चित्र अंकित किया है। वास्तविकता इसकी प्रमुख विशेषता है। उपन्यास की-सी कुतूहलता के साथ अनेक स्थलों पर काव्य का-सा आनन्द भी मिलता है। स्विटजरलैण्ड की टुन झील का थोड़े-से शब्दों में कितना सुन्दर वर्णन है :—

---

१. लेखक द्वारा लिखे गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर

"जब टन झील के किनारे पहुँचे, तो वहाँ ऐसा प्रतीत हुआ जैसे प्रकृति एक प्रेमिका के रूप में पुष्पों का शृंगार किए पर्यटकों के स्वागतार्थ खड़ी है। हवा के कारण बलखाती हुई झील की लहरें उठ-उठकर उन नौ बर्फीली चोटियों की ओर संकेत कर रही थीं, जिनकी शृंखलाएँ इनके बाएँ और दाएँ फैली हुई हैं।"[1]

श्री अमृतलाल नागर

जीवनी—आपका जन्म १७ अगस्त, सन् १९१६ ई० को लखनऊ के चौक मोहल्ले में हुआ था। इनके पूर्वज प्रयाग के रहनेवाले थे, सन् १८९५ ई० में अमृतलालजी के पितामह पंडित शिवरामजी लखनऊ आए। ये पंडित मदनमोहन मालवीय के बाल-मित्र थे; साथ ही इलाहाबाद बैंक के संस्थापकों में से एक। नागरजी के पूज्य पिता पंडित राजाराम नागर, पी० एम० जी० कार्यालय में कार्य करते थे। ये नाटक लिखने एवं अभिनय करने में निपुण थे। पंडित माधव शुक्ल (सन् १९१२) के साथ इनको नाटक खेलने का चस्का लगा हुआ था।

नागरजी की शिक्षा स्थानीय (लखनऊ) कालीचरन कालेज में हुई। अपने शिक्षण-काल (सन् १९३१) में ही नागरजी का विवाह आगरा में श्रीमती सावित्रीदेवी से हुआ। सन् १९२८ ई० में आए साइमन कमीशन का इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और ये साहित्यकार बन गए। सन् १९३४ में आपने हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे की शिक्षा के लिए इन्होंने लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में शरण ली, परन्तु १९३५ ई० में पूज्य पिता की मृत्यु के कारण शिक्षा का क्रम टूट गया, पर स्वाध्याय का क्रम चलता रहा। साहित्यकारों में प्रत्यक्ष रूप से पं० रूपनारायण पाण्डे तथा महाकवि निराला से, तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रसाद, शरद तथा प्रेमचन्द से आप प्रभावित हुए हैं। आपने १९ अप्रैल, १९४० से २० अक्तूबर, १९४७ तक सिनेमा-संसार में रहकर क्वारा बाप, मीरा, कल्पना, राजा, किसी से न कहना, पराया धन, आगे कदम, उलझन एवं संगम आदि विभिन्न फिल्मों में कथाकार एवं संवाद-लेखक के रूप में कार्य किया। नागरजी को अंग्रेजी, बंगला, मराठी, गुजराती, तामिल का अच्छा ज्ञान है। ७ दिसम्बर, १९५३ से ३१ मई, १९५६ तक आप ए० आई० आर० में ड्रामा प्रोड्यूसर भी रह चुके हैं। गप्पें मारना, नाटक करना, शाम को बूटी छानना, लम्बी सैर को जाना एवं बटेरबाजी इनके शौक हैं। इन्हीं कारणों से मित्र-मण्डली इन्हें विचित्राध्यक्ष कहती है। प्रातः ६ बजे से उठकर १ घण्टे मालिश कराना, साढ़े सात से १२ तक लेखक को बोलकर लिखाना, २ घण्टे आराम करना, ढाई बजे से ५ बजे तक नोट्स लेना और साढ़े पाँच से मित्र-मण्डली में चले जाना ही इनका नित्य का कार्य है। निद्रा के आलिंगन से पूर्व जासूसी उपन्यास पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं। स्वभाव से आप हँसमुख और विनोदी व्यक्ति हैं। आजकल लखनऊ में ही रहते हैं।[2]

---

१. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० २१८

२. लेखक द्वारा लिये गए व्यक्तिगत इन्टरव्यू के आधार पर

कृतियाँ—हिन्दी उपन्यास और कहानी-क्षेत्र में नागरजी की अनेकों कृतियाँ हैं। परन्तु यात्रा-साहित्य पर नागरजी की केवल दो पुस्तकें हैं। एक मूल रूप से यात्रा पर लिखी गई है, दूसरी अनुवादित है।

१. गदर के फूल

२. आँखोंदेखा गदर (अनुवादित)।

गदर के फूल—नागरजी की यह यात्रा-पुस्तक १९५९ ई० में सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश से प्रकाशित हुई थी। इसमें नागरजी ने अपने उपन्यास की सच्ची ऐतिहासिक सामग्री का भ्रमण करके संकलन किया है। इनकी यह यात्रा ४ जून से १९ जुलाई, १९५७ तक रही। सन् १८५७ ई० की राज्य-क्रान्ति सम्बन्धी सामग्री के लिए आपने अवध-क्षेत्र में यात्राएँ की थीं और गदर सम्बन्धी रोचक महत्त्वपूर्ण अंशों, किंवदंतियों को एकत्रित कर ऐतिहासिक उपन्यास का रूप दिया। नागरजी की अवध प्रान्तीय यही यात्रा 'गदर के फूल' के रूप में प्रकाश में आई। २९२ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने बाराबंकी, दरियाबाद, भयारा, जहाँगीराबाद, कुर्सी, महादेवा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, गोंडा, बहराइच, नेपालगंज, दुविधापुर, सीतापुर, मितौली, खैराबाद, नेमिषारण्य, रायबरेली, उलमऊ, मीरागोविन्दपुर, शंकरपुर, हरदोई, उन्नाव, लखनऊ आदि स्थानों की ऐतिहासिक यात्रा का विवरण दिया है। अवध प्रदेश की इस ऐतिहासिक यात्रा में नागरजी ने हर जगह पहुँचकर वहाँ के अधिक-से-अधिक आयु-वाले व्यक्तियों से वहाँ के गदर के समाचार लिए और उन वृद्धों की स्मृतियों को अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठों पर अंकित किया है। भ्रमणार्थ गए हुए सभी स्थानों का नागरजी ने बहुत सुन्दर वर्णन वर्णित किया है। पुस्तक ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण है; साथ ही यात्रा के वर्णन बड़े रोचक बन पड़े हैं। इसका कारण नागरजी की अपनी विशिष्ट शैली और विवरण प्रस्तुत करने का चुभता हुआ ढंग है, जो हिन्दी साहित्य में अपना अलग सम्माननीय स्थान रखता है। नेमिषारण्य के पण्डों का वर्णन करते हुए नागरजी ने लिखा है—

"काशी, अयोध्या, मथुरा, मदुरा, चिदम्बरम्, कन्याकुमारी—कोई जगह हो, पण्डे गन्दगी फैलानेवाली बरसाती मक्खियों की तरह बुरे लगते हैं। ब्राह्मणवाद इन पण्डे-पुरोहितों के स्वार्थवश होकर घृणित और जघन्य हो गया है। अन्ध-निष्ठा इस देश के लिए कालकूट विष के समान रही है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन सभी धर्मों के पोपों ने इस देश के ज्ञान पर अच्छी झाड़ू फेरी है।[१]"

आँखोंदेखा गदर—इस मराठी पुस्तक के मूल लेखक विष्णु भट्ट गोडशे वरसईकर थे। 'माझा प्रवास'—नामक इस पुस्तक का नागरजी ने हिन्दी में अनुवाद किया है। इस अनुवादित ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९४८ ई० में नागरजी द्वारा प्रकाशित हुआ था। परन्तु जनता की माँग और गदर शताब्दि के अवसर पर इस ऐतिहासिक यात्रा-ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण सन् १९५७ ई० में पुस्तक-निकुंज,

१. गदर के फूल—अमृतलाल नागर, पृ० १७०

लखनऊ से प्रकाशित हुआ। १७६ पृष्ठों की इस पुस्तक में वरसईकर का आँखोंदेखा गदर का वृत्तान्त वर्णित है। वेदशास्त्र सम्पन्न गोडशे भिक्षुक ब्राह्मण थे। गरीबी और कर्ज से मजबूर हो ग्वालियर की रानी द्वारा मथुरा में आयोजित एक महायज्ञ में भाग लेकर मोटी दक्षिणा पाने के लोभ से गोडशे शास्त्री ने इतनी लम्बी यात्रा की थी। किन्तु उनके दुर्दैव से इस यात्रा में उन्हें सन् सत्तावन के सैनिक विद्रोह का अनुभव ही दान-दक्षिणा के रूप में मिला और गोडशे खाली हाथ ही घर लौटे। १६०७ ई० में मराठी में इसका प्रकाशन चित्रशाला प्रेस, पूना से हुआ था। इस यात्रा-ग्रन्थ में इतिहास की अमूल्य सामग्री, प्रत्यक्ष अनुभव बड़ी कुशलता के साथ लिपिबद्ध किए गए हैं। द्रव्यार्जन की लालसा से गदर ही के क्षेत्र में उन्हें पैदल यात्रा करनी पड़ती है। गदर के लुटेरों से बार-बार उनका साक्षात्कार हुआ है। मानवता और दानवता के दृश्य उनके जीवन में साथ-साथ ही आए हैं। इन तमाम थकानेवाले दृश्यों के बाद भी उनमें भ्रमण-तीर्थाटन की इच्छा बराबर तीव्र ही बनी रही, भ्रमण की उत्कट अभिलाषा ज़रा भी कम न हो सकी।

पुस्तक एक सूत्र में बँधी आगे बढ़ती है। प्रत्येक घटना और दृश्य का वर्णन बड़ा ही सजीव और मार्मिक तथा आकर्षक है। मूल पुस्तक की भाषा बड़ी सरल और लच्छेदार थी। इस पुस्तक को नागरजी ने बड़ी सरल हिन्दी और विशिष्ट शैली में अनुवादित किया है।

श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'

जीवनी—आपका जन्म सन् १६१८ ई० आषाढ़ पूर्णिमा को मलाही, चम्पारन (बिहार) में हुआ था। नारायणजी ने भारतेन्दुजी के समान आठ वर्ष की आयु में ही (अपनी मातृभाषा भोजपुरी में) एक पद्य रचकर परिवार और पाठशाला के गुरुजनों पर प्रकट कर दिया था कि उनके संस्कारों में काव्यात्मा का प्रकाश और धमनियों में साहित्य का रक्त है। तभी से वे कविजी कहे जाने लगे। फिर शिक्षा-दीक्षा हुई, देशाटन तथा विविध व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव। शक्ति बढ़ती गई, प्रतिभा निखरती गई। लाहौर में आपकी बी० ए० तक शिक्षा हुई। आप भूतपूर्व महिला कालेज, गुजरानवाला (पंजाब) में प्रोफेसर-पद पर भी रह चुके हैं। प्रोफेसरी छोड़ ये पत्रकारिता की ओर बढ़े। नारायणजी का पत्रकार जीवन लाहौर से प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम वे पंजाब की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'शान्ति' के प्रधान सम्पादक हुए थे जिसमें वे 'कवि कलन्दर की कलम' से स्तम्भ के अन्तर्गत हास्य और व्यंग्य की सामग्री देते थे। बाद में उन्होंने लाहौर से ही निकलनेवाले दैनिक 'हिन्दी-मिलाप' के सम्पादकीय विभाग में भी कार्य किया था। लाहौर से बम्बई बुलाए जाकर उन्होंने सन् १६४४ ई० से सन् १६४६ ई० तक वहाँ के सुप्रसिद्ध हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' के उपसम्पादक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। बम्बई के पाठकों को प्रतिदिन कालम 'वक्र-दृष्टि' नामक स्तम्भ में लिखे गए 'श्री नेत्र' के व्यंग्य नहीं भूल सकते। यह 'त्रिनेत्र' श्री नारायणजी ही थे। सन् १६४४ ई० में कलकत्ता के 'लोकमान्य' के

सम्पादकीय विभाग में रहकर भी इन्होंने प्रतिदिन 'हजामत' नामक स्तम्भ में 'उल्टा उस्तरा' के नाम से जो व्यंग्य-बाण बरसाए थे, वे चिरस्मरणीय हैं। आजकल नारायणजी विहार सरकार के समाज-शिक्षा बोर्ड द्वारा प्रकाशित 'जन-जीवन' पत्र का सम्पादन करते हैं।[1]

कृतियाँ—श्री ब्रजकिशोर 'नारायणजी' हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। हिन्दी के प्रति इन्हें अनन्य प्रेम है। उपन्यास, कथा, नाटक एवं बाल-साहित्य और यात्रा-साहित्य को भी इन्होंने मूल्यवान् देन दी है। हिन्दी बाल-साहित्य के कवि और लेखक के रूप में भी ये अत्यधिक सफल सिद्ध हुए हैं। 'आ री निंदिया', हँसी-खुशी, गोप-गपोड़े, ताक धिनाधिन और पेटू पांडे नामक पुस्तकें बाल-जगत् में बहुत अधिक लोकप्रिय हुई हैं। 'हँसी-खुशी' पर इन्हें भारत सरकार द्वारा ५०० रुपये का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। ये अपनी अनेकों कृतियों से हिन्दी के कुशल कवि, कथा, उपन्यासकार, व्यंग्य लेखक एवं सम्पादक के रूप में सुपरिचित हैं। सन् १९३५-३६ ई० में इनकी कविताएँ, लेख आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे, किन्तु पुस्तकाकार कविता-संग्रह 'सिंहनाद' हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा १९४० ई० में लाहौर से निकला था। इनकी पुस्तकें यशस्विनी, आज का प्रेम एवं नारायणी हैं। हाल ही में 'राष्ट्र के लिए' एवं 'रीता' उपन्यास भी प्रकाशित हुआ है। इनकी सम्पादित पुस्तकें भी ११-१२ के लगभग हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य पर नारायणजी ने तीन ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु अभी तक प्रकाशित केवल एक ही हो सका है। ये तीन ग्रन्थ 'नन्दन से लन्दन', 'सात समुन्दर पार', 'यूरोप कुछ ऐसे, कुछ वैसे' हैं। ये तीनों ग्रन्थ अपनी यूरोप-यात्रा पर ही लिखे गए हैं। इनमें से 'नन्दन से लन्दन' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है परन्तु दूसरे अन्य ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही हैं।

नंदन से लंदन—ब्रजकिशोर 'नारायण'जी का १९८ पृष्ठों का यह ग्रन्थ सन् १९५७ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तालय, काशी से प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में नारायणजी के विदेश (यूरोप) भ्रमण का सरल वृत्तान्त है। नारायणजी अपनी यूरोप-यात्रा के लिए ६ मई, १९५५ ई० को पटना से प्रस्थित हुए और १५ जून, १९५५ ई० को बम्बई से उनका जल-जहाज खुला। कराँची, अदन, स्वेज, काहिरा, पोर्ट सईद और जिब्राल्टर होते हुए वे ३ जुलाई, १९५५ ई० को लंदन पहुँचे। स्वर्गादपि गरीयसी जन्म-भूमि भारत से लंदन तक की यह यात्रा-पुस्तक नंदन से लंदन इन्हीं १९ दिनों की डायरी है। 'सपना साकार हुआ' शीर्षक भूमिका में नारायणजी ने इस भ्रमण के सांस्कृतिक उद्देश्य, आर्थिक व्यवस्था, मतलबी यारों की पलायन वृत्ति, मित्रों के सहयोग, सरकारी अफसरों की साहबी मनोवृत्ति, राजनीतिक व्यक्तियों की स्वार्थपरक मनोभावना, जहाज में जगह का उपबन्ध आदि बातों का बहुत ही निर्भीक और रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। 'नंदन से लंदन' नामक प्रथम यात्रा-ग्रन्थ में उनकी कर्ज लेकर की गई यात्रा का ऐसा रोचक और मनोरंजक वर्णन है, जिसको

---

१. लेखक के नाम आए श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'जी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति को एक जीवन्त-प्रेरणा प्राप्त होती है। नारायणजी की भूमिका पुस्तक की खूबी में चार चाँद लगा देती है। हिन्दी के यात्रा-साहित्य की ही नहीं प्रत्युत भारतीय यात्रा की यह प्रथम पुस्तक है जिसमें जहाजी जीवन के प्रत्येक पक्ष पर दृष्टि डाली गई है। जहाज के व्यक्तियों, कार्रवाइयों, कार्य-क्रमों और खूबियों, खराबियों का ऐसा विशद और हृदयहारी वर्णन किया गया है कि एक ही साँस में पुस्तक समाप्त हो जाती है। चित्रों से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। पुस्तक में सुबह के नाश्ते से लेकर बालडान्स तक की एक-एक बात और घटना का जो निरीक्षण किया गया है वह सर्वथा अछूता, अनूठा और अद्भुत है। नंदन से लंदन का वातावरण अधिकतर जहाज में ही केन्द्रीभूत है, इसलिए वहाँ के जीवन का वर्णन पढ़कर पाठक उसके सूक्ष्म रहस्यों से अवगत हो जाता है। साथम्पटन से लंदन की यात्रा का वर्णन करते हुए नारायणजी ने लिखा है—

"केबिन की खिड़की से कुहासे और बादलों भरे आसमान को देखकर इंग्लैण्ड के मौसम की सारी अफवाहें सच साबित हो रही हैं।...चैनल में छोटे-बड़े जहाजों, समुद्री वायुयानों और मोटर-किश्तियों का ताँता लगा हुआ है। धुँधलके और वर्षा की हल्की फुहारों से पुलकित होकर हमारा जहाज मन्दगामी हो रहा है। यात्री गर्म सूट पर बरसाती पहन-पहनकर चहलकदमी करने लगे हैं। इंग्लैण्ड में चल रही रेलवे हड़ताल की आशंका से सभी यात्रियों की हालत पतली है।[1]"

सात समुन्दर पार—व्रजकिशोर 'नारायण'जी की यह पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है परन्तु लेखक के नाम आए श्री 'नारायण'जी के व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से यह ज्ञात हो सका है कि यह पुस्तक 'सात समुन्दर पार' कला-निकेतन पटना—४ द्वारा इस वर्ष के अन्त तक छप जाएगी।[2] परन्तु १६-८-५६ के पत्र में नारायणजी ने यह सूचित किया है कि यह पुस्तक सात समुन्दर पार प्रेस में चली गई है, और इसी वर्ष प्रकाशित हो जाएगी, ऐसी आशा है।[3]

यूरोप कुछ ऐसे, कुछ वैसे—नारायणजी की यह पुस्तक भी अभी प्रकाशित नहीं हो सकी है। परन्तु लेखक के नाम आए व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट ज्ञात हो सका है कि यह पुस्तक यूरोप 'कुछ ऐसे कुछ वैसे' अभिज्ञान प्रकाशन, रांची (बिहार) द्वारा इस वर्ष के अन्त तक छप जाएगी।[4] परन्तु १६-८-५६ के पत्र में नारायणजी ने यह सूचित किया है कि यूरोप 'कुछ ऐसे, कुछ वैसे' छप रही है। एक-दो फर्मे छप भी चुके हैं। वह भी तीन-चार महीनों में बाजार में आ जाएगी। आते ही आपको भेजूँगा।[5]

---

१. नंदन से लंदन—व्रजकिशोर 'नारायण', पृ० १६१

२. एवं ४—लेखक के नाम आए श्री व्रजकिशोर 'नारायण'जी के २-८-५८ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

३. एवं ५—लेखक के नाम आए श्री व्रजकिशोर 'नारायण'जी के १६-८-५६ के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

श्री रामआसरे

जीवनी—आपका जन्म कानपुर के एक गरीब परिवार में १६ दिसम्बर, सन् १९२३ ई० में हुआ था। हाई स्कूल की विद्यार्थी अवस्था से ही राजनीतिक जीवन के कार्यकर्त्ता होने के कारण आपकी शिक्षा-दीक्षा अधिक न हो सकी। प्रारम्भ में आप कानपुर विद्यार्थी संघ (स्टूडेन्ट्स यूनियन) के और बाद में प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय विद्यार्थी फेडरेशन के मन्त्री भी रहे हैं। सन् १९४६ ई० से आप ट्रेड यूनियन में सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। सन् १९५४ ई० में प्रथम भारतीय ट्रेड यूनियन डेलीगेशन के साथ रामआसरेजी ने चीन और हांगकांग की यात्रा की। सन् १९५४ ई० में कानपुर के सूती उद्योग के श्रमिकों की एकता के सक्रिय सहायक के रूप में आप कार्य करते रहे। सन् १९५५ ई० में कानपुर की सूती मिल मजदूर सभा द्वारा संचालित ८२ दिन की आम हड़ताल के एक संगठनकर्त्ता थे। सन् १९५४ ई० से १९५७ ई० तक आप सूती मिल मजदूर सभा के प्रधानमन्त्री भी रहे। लेखक और अनुवादक आप साथ-साथ हैं। आप सामाजिक कार्यकर्त्ता एवं प्रादेशिक कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरियेट के सदस्य भी हैं। आजकल आप आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की उत्तरप्रदेशीय शाखा उत्तरप्रदेशीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रधान मन्त्री हैं।[1] आजकल भी आप कानपुर में ही रह रहे हैं। आप सक्रिय समाजसेवक हैं। मजदूरों की सेवा में आप विशेष कुशल कार्यकर्त्ता हैं और उसीमें दिन-रात रत रहते हैं।

कृतियाँ—रामआसरेजी ने अधिक साहित्यिक ग्रन्थ नहीं लिखे हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में रामआसरेजी की एक पुस्तक 'माओ के देश में' नाम से है। १३६ पृष्ठों की यह पुस्तक सन् १९५२ ई० में करेन्ट पब्लिशर्स, कानपुर के द्वारा प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक डायरी-शैली में लिखी गई है। रामआसरेजी ने इसमें माओ के देश का जो वर्णन किया है वह सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने वहाँ जो कुछ देखा, जो कुछ सुना और उससे उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसीको डायरी-शैली में लिखा गया है। यह यात्रा इन्हें अपने देश से "मई दिवस" के अवसर पर बीस ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ता अखिल चीनी मजदूर फेडरेशन के बुलाने पर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के उपसभापति कामरेड संतसिंह यूसुफ के साथ करनी पड़ी थी। वायुयान, जहाज, रेल, मोटर, बोट सभीके द्वारा किए गए भ्रमण का सुन्दर वर्णन रामदुलारे जी की हिन्दी को देन है। कैंटन-हैंकाऊ ट्रेन से यात्रा करते समय देखे गए दृश्यों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सवेरे बहुत तीखी ठंडी हवा ने नींद खोल दी। आँखें खुलीं तो बड़ा सुहावना दृश्य। ऊँचे-नीचे पहाड़ों की दूर तक कहीं-कहीं आसमान को चूमनेवाली लम्बी कतार, आकर्षक हरियाली से ढका हुआ हर हिस्सा। हमारी गाड़ी तेजी से चली जा

---

१. लेखक के नाम आए श्री रामआसरेजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

रही थी। यहाँ भी आसमान कहीं काले गहरे कहीं हल्के बादलों से ढका हुआ था। कभी फुहार पड़ती और कभी खुल जाती। गाड़ी पास ही हवा में हिलकोरे भरती, पहाड़ों को चीरती लाँघती वू नदी बह रही थी।"[1]

श्रीमती विमला कपूर

जीवनी—आपका जन्म शिमला में फरवरी सन् १९२३ ई० में हुआ था। आपका प्रारम्भिक जीवन शिमला की पहाड़ियों में ही बीता है। विवाह के पश्चात् कानपुर आकर आपने हाई स्कूल से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा पूरी की। इनका एवं इनके पति का अध्ययन लगभग साथ-साथ ही चलता रहा। पढ़ने-लिखने की रुचि इन्हें प्रारम्भ से ही थी। अध्ययन एवं लेखन की प्रेरणा इन्हें अपने पिता, ताऊ आदि से ही मिली थी। हिन्दी में एम० ए० करने के पश्चात् आजकल आप डी० ए० वी० कालेज, कानपुर से समाज-शास्त्र में एम० ए० कर रही हैं।[2] हिन्दी साहित्य से आपको विशेष प्रेम है। हिन्दी की साहित्यरत्न और प्रभाकर परीक्षाएँ भी आपने उत्तीर्ण की हैं। आप भारतीय महिला समाज, कानपुर की सेविका भी हैं। आपको यात्रा-साहित्य पर लिखने की प्रेरणा राहुलजी एवं माखनलाल चतुर्वेदीजी से मिली है।

कृतियाँ—अजाने देशों में—११८ पृष्ठों की यह पुस्तक साधना प्रकाशन, कानपुर से सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुई थी। विमलाजी की हिन्दी साहित्य में यह प्रथम पुस्तक है। इसमें उन्होंने अपनी यूरोप यात्रा का सम्पूर्ण विवरण पत्रों के रूप में संगृहीत किया है। पत्रों के रूप में उनका यह यात्रा-विवरण अनजाने सुन्दर-सुन्दर देशों के अनेक दृश्यों को मूर्त रूप में ला खड़ा करता है। यह यात्रा जहाज द्वारा की गई थी। इसमें इटली, लन्दन, स्विटज़रलैण्ड, जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, वारसा आदि स्थानों की यात्रा का वर्णन दिया गया है। जहाजी यात्रा का यह सुन्दर वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। कहीं-कहीं पर उनका यह वर्णन कविता का रूप ले लेता है। विमलाजी की लेखन शैली अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण है। देशों का भ्रमण करते हुए उन्होंने साहस, निष्ठा एवं कर्त्तव्यपूर्ण जीवन की मनोरम कल्पनाओं के साथ उन्हें लिपिवद्ध किया है। उनकी अभिव्यंजना में नारी-हृदय साकार दृष्टिगत होता है। सरल और स्पष्ट शैली में लिखी गई यह पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। हिन्दी यात्रा-साहित्य में महिलाओं के द्वारा रचित यात्रा-ग्रन्थों का अभाव है, इस दृष्टि से भी यह विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें से कतिपय लेख जब विमलाजी विदेश में ही थीं तभी विभिन्न भारतीय पत्रों—रामराज्य, कर्मवीर, सिटीजन, हंस, धर्मयुग, विश्वमित्र, बाल-भारती, सुमित्रा आदि में प्रकाशित हुए थे। यह यात्रा इन्होंने सन् १९५१ ई० में बर्लिन सम्मेलन के उत्सव के समय की थी। इसमें उन्होंने बर्लिन उत्सव के समय वहाँ देखी

---

१. माओ के देश में—रामआसरे, पृ० १५

२पू. लेखक के नाम आए श्रीमती विमला कर के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

हुई घटनाओं का वर्णन किया है। प्रकृति के क्षण-क्षण में परिवर्तित होते हुए दृश्य को देखकर वे लिखती हैं—

"हल्की सुनहरी रश्मियाँ चोटियों पर बिखरे हिमकणों से क्रीड़ा करने लगीं। प्रकृति का यह क्षण-क्षण परिवर्तित होता हुआ रूप इस समय बहुत ही रमणीय प्रतीत हो रहा था। जिस स्विटज़रलैण्ड की सौम्य वसुन्धरा अब तक हमारे लिए कल्पना-लोक का विषय बनी हुई थी उसीकी गोद में आज अपने को देख हृदय नव-नूतन भावनाओं से बना हुआ आलोड़ित हो उठा था।[1]

श्री मोहन राकेश, एम० ए०

जीवनी—मोहन राकेशजी का जन्म ८ जनवरी, सन् १६२५ ई० को अमृतसर में हुआ था। आप हिन्दी-संस्कृत में एम० ए० हैं और आजीविका के लिए लेखन के साथ-साथ अध्यापन-कार्य भी करते हैं।[2] मोटे चश्मे के भीतर से झाँकती छोटी-छोटी आँखें, गम्भीर और सौम्य स्वभाव, पर समय पर मुक्त हास्य, मध्यम कद और साधारण स्वास्थ्य—यह है श्री मोहन राकेशजी की तस्वीर जो नई कहानी तथा नाटक के क्षेत्र में न भुलाई जा सकनेवाली कीर्ति अर्जित कर चुके हैं।

कृतियाँ—साहित्यिक क्षेत्र में अभी तक आपके इन्सान के खण्डहर (१९५०), आखिरी चट्टान तक (१९५३), नये बादल (१९५७), जानवर और जानवर (१९५८), और आषाढ़ का एक दिन (१९५८) नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से 'आखिरी चट्टान तक' यात्रा-विवरण है, शेष सभी कहानी-संग्रह।

आखिरी चट्टान तक—१५२ पृष्ठों की पुस्तक है, जो प्रगति प्रकाशन, दिल्ली से जुलाई सन् १९५३ में प्रकाशित हुई थी। राकेशजी ने इस पुस्तक में यात्रा के लिए निकलने पर देखे और समझे हुए जीवन के विभिन्न चित्रों और सत्यों को यथाक्रम रोचक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। मलयालम भाषी प्रदेश की राकेशजी ने खूब यात्रा की है। इनकी यह यात्रा पैदल, मोटर, रेल और जहाज द्वारा पूर्ण हुई है। राकेशजी की कहानियों की तरह उनका यह यात्रा-विवरण भी साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय योग है। इनके एक दृश्य का वर्णन देखिए—

"तट के साथ-साथ सूखी पहाड़ियों की शृंखला थी, जो सामने फैली हुई रेत के कारण और भी वीरान लग रही थी। रेत सूर्यास्त काल की सुनहरी आभा में इस तरह चमक रही थी जैसे, उसके निर्माण के समय का रंग अभी ताजा हो। उस भूमि और उस वातावरण में एक आवेशको जन्म देनेवाली मासूमियत थी।[3]

---

१. अजाने देशों में—श्रीमती विमला कपूर, पृ० ७५

२. लेखक के नाम आए श्री मोहन राकेशजी के व्यक्तिगत पत्रों के आधार पर

३. आखिरी चट्टान तक—मोहन राकेशजी, पृ० १४८

श्री गोविन्दसिंह

जीवनी—गोविन्दसिंहजी का जन्म सन् १९३० ई० के दिसम्बर मास की ३० तारीख को हुआ था। अपने जन्म-स्थान का पता ये स्वयं ही नहीं जानते हैं। इनके जन्म के बाद ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया था। पिताजी ने इन्हें पाला-पोसा था और उन्हींके लाड़-प्यार के कारण ये केवल हाई स्कूल तक ही शिक्षा प्राप्त कर सके। सन् १९५० ई० में पूज्य पिता की मृत्यु के कारण इन्हें वाराणसी आना पढ़ा और तब से आज तक आप काशी में ही वास कर रहे हैं।[1] साहित्य की ओर इन्हें बचपन से ही रुचि थी। कथा-साहित्य गोविन्दसिंहजी ने खूब लिखा है। इनके १२० से अधिक लिखे उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, लिखना ही इनकी जीविका का आधार है। घर से कई बार भाग निकलने के कारण इनकी रुचि भ्रमण की ओर बढ़ी और महलों से फुटपाथों तक पर इन्होंने जीवन के क्षण व्यतीत किए। ये स्वभाव के मिलनसार एवं मित्रों के प्रति स्नेहभाव रखनेवाले हैं।[2]

कृतियाँ—हिन्दी यात्रा-साहित्य पर इनकी एक पुस्तक 'भारत में बुलगानिन' नाम से है। यह पुस्तक प्रकाश-गृह, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। २०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में गोविन्दसिंहजी ने मार्शल बुलगानिन और निकिता ख्रुश्चेव की भारत यात्रा का आँखोंदेखा कथात्मक यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है। एक प्रकार से यह कथात्मक विवरण, तीन घंटे की न्यूज रील के समान दिखाई देता है, जिसमें सोवियत नेताओं का भव्य स्वागत, उनके भाषण, भारत-भ्रमण के पूरे, शाब्दिक, क्षण-क्षण में बदलनेवाले चलचित्र सम्मुख आते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में यह अपने ढंग का पहला ही कथात्मक यात्रा-विवरण है, जो आद्योपान्त बड़ा ही साहित्यिक और मनोरंजक है। एक उद्धरण देखिए :—

"६ बजकर २५ मिनट।

घर्र-घर्र—रररर—जहाज की पंखी घूमी। उड़ा जहाज। विदा। भाखड़ा-नंगल बाँध विदा। तुम भारत की जनता की समृद्धि में सहायक बनो।

जहाज और ऊपर उठ रहा है। हिमालय की ओर बढ़ रहा है। हिमालय, हिमाच्छादित पर्वत—सफेद—चमकदार—सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। चमक रहा है एकदम चाँदी-सा। लगता है, चाँदी की परतें-ही-परतें बिछी हैं।[3]"

---

१. लेखक नाम आए श्री गोविन्दसिंहजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

२. श्री गोविन्दसिंहजी के व्यक्तिगत सम्पर्क से—लेखक

३. भारत में बुलगानिन—गोविन्दसिंह, पृ० ९२

हिन्दी यात्रा-साहित्य के अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों की कृतियों का प्रकाशन : क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय

लेखक ने अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों के युग का ग्रन्थों के प्रकाशन क्रमानुसार ही विस्तार दिखलाया है। उसके अनुसार यह युग सन् १८८३ ई० से प्रारम्भ होता है और क्रमशः सन् १९५८ ई० तक आता है। इस युग-विस्तार में ऐसे लेखक जिनकी जीवनी अप्राप्य है, लगभग तीन दर्जन हैं। जीवनी प्राप्त न हो सकने के कई कारण हैं, इनमें से कुछ का मैं उल्लेख करना चाहूँगा—

१. सबसे पहला कारण सामग्री की अति प्राचीनता है। वे कृतियाँ ही अपने सुरक्षित रूप में हमें प्राप्त नहीं हो सकीं, इससे लेखकों के परिचय आदि से सम्बन्धित जानकारी भी प्राप्त न हो सकी। अनेक दिवंगत लेखकों की जीवनी के सम्बन्ध में कोई भी सूचना प्राप्त न हो सकी।

२. दूसरा कारण यह है कि अनेक जीवित लेखकों की उदासीनता के फलस्वरूप हम अनेक आवश्यक सूचनाएँ भी प्राप्त नहीं कर सके। लेखक के व्यक्तिगत प्रयत्नों, यात्राओं और निवेदनों का ऐसे लेखकों ने कोई मूल्य नहीं समझा, कुछ ने गर्व के कारण और कुछ ने अपनी स्वाभाविक उपेक्षात्मक प्रवृत्ति के परिणामतः अपना परिचय नहीं दिया। नवोदित लेखकों का इस दिशा में तो उत्साह दिखलाई पड़ा परन्तु उनमें से भी लेशमात्र अनुभव रखनेवाले उपर्युक्त बातों के शिकार दिखलाई पड़े।

इन अप्राप्य जीवनीवाले लेखकों के नाम उनके ग्रन्थों के प्रकाशन क्रमानुसार इस प्रकार हैं—

हरदेवी (१८८३), भगवानदास वर्मा (१८८४), दामोदर शास्त्री (१८८५), लाला कल्याणचन्द्र (१८९०), साधुचरण प्रसाद (१८९१), पं० विगू मिश्र (१८९४), पं० श्रीराम शर्मा (जन्मकाल १८९५), पंडित रामशंकर व्यास (१९०७), धनपति लाल (१९१२), वेणी शुक्ल (१९२६), मेहता जैमिनी (१९२७), मंगलानन्द पुरी संन्यासी (१९२८), श्री गोपाल नेवटिया (१९३०), कृपानाथ मिश्र (१९३२), हरिकृष्ण झाझड़िया (१९३४), सत्येन्द्र नारायण (१९३५), धर्मचन्द सरावगी (१९३६), पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' (१९४१), रामचन्द्र शर्मा (१९४१), स्वामी प्रणवानन्द (१९४३), चक्रधर 'हंस' (१९४६), स्वामी रामानन्द

ब्रह्मचारी (१९४६), जी० डी० जोशी (१९४९), श्रीमती सत्यवती मलिक (१९५०), महेशप्रसाद श्रीवास्तव (१९५१), स्वामी स्वतन्त्रानन्द (१९५१), नवलकिशोर अग्रवाल (१९५२), डा० मुनिकान्त सागर (१९५३), श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार (१९५३), महावीरप्रसाद पोद्दार (१९५४), डा० जगदीशशरण वर्मा (१९५७), डा० परमेश्वरदीन शुक्ल (१९५७), रामकृष्ण बजाज (१९५७), प्रभाकर द्विवेदी (१९५८) आदि। इन लेखकों के ग्रन्थों का परिचयात्मक विवरण आगे दिया जाएगा।

सम्मिलित रूप से इन लेखकों के साहित्य में कुछ ऐसी बातें प्राप्त होती हैं जिनसे ज्ञानवर्द्धन के अतिरिक्त साहित्यगत विलक्षणता के भी संकेत प्राप्त होते हैं। देश दर्शन की अभिलाषा अनेक रूपों में यात्रा-साहित्य के कलेवर की सज्जा, अछूते विषयों का साहित्य में आगमन, विभिन्न समाजों की संस्कृति, प्रकृति के स्वाभाविक मनोमुग्धकारी चित्र और इन सबके अतिरिक्त विभिन्न लेखकों का अपना व्यक्तित्व दृष्टव्य है।

श्रीमती हरदेवी

हरदेवी की यात्रा सम्बन्धी 'लन्दन-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। इसका प्रकाशन सन् १८८३ई० में ओरिएन्टल प्रेस, लाहौर से हुआ था। १२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में हरदेवीजी ने अपनी लन्दन-यात्रा का सांगोपांग विस्तृत वर्णन दिया है। लाहौर से बम्बई और बम्बई से लन्दन किस प्रकार जहाज पहुँचा तथा रास्ते में उन्होंने जो कुछ देखा सभीका वर्णन इसमें दिया गया है। सूर्यास्त के समय का एक उद्धरण देखिए—

"अब सूर्य अस्त होने के निकट था। वृक्षों के जाल में सुनहरी किरणें फूल रही थीं। ऊपर चारों ओर से पक्षी अनेक भाँति की बोली बोल उड़-उड़कर अपने-अपने स्थान अर्थात् वृक्षों की शाखाओं में बैठते जाते हैं।"[1]

श्री भगवानदास वर्मा

ये कानपुर निवासी थे। यात्रा-साहित्य पर इनकी एक पुस्तक 'लन्दन का यात्री' है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८४ ई० में हरिप्रकाश यन्त्रालय से हुआ था। यह केवल २६ पृष्ठों की पुस्तक है। इस पुस्तक में लेखक ने अपनी लन्दन-यात्रा के साथ-साथ यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि कोई देश कैसा भी सभ्य क्यों न हो परन्तु प्रकृति सम्बन्धी व्यापार वहाँ भी वैसे ही होंगे जैसे किसी असभ्य देश में। इन्होंने लन्दन का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जिस प्रकार हमारे लखनऊ के बड़े-बड़े अमीरों और वसीकेदारों की सवारी में सड़कों पर हटो-बचो का गुल मचता है जिससे विदेशी मनुष्य को भी यह

---

१. लन्दन-यात्रा—हरदेवी, पृ० ५३

ज्ञात हो जाता है कि यह भी धनवान और बड़े आदमी हैं, वैसे ही इस देश में भी अधिकतर ढंग इसके दिखलाने के हैं कि हम भी अमीर हैं।"[1]

पं० दामोदर शास्त्री

शास्त्रीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य से सम्बन्धित दो पुस्तकें 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (१८८५), और 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' नाम से हैं। ये दोनों पुस्तकें बहुत प्राचीन हैं।

मेरी पूर्व दिग्मात्रा—शास्त्रीजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १८८५ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से हुआ था। इस पुस्तक में आपने अपनी पूर्वी स्थानों की यात्रा का विवरण दिया है। अजमेर की यात्रा का भी इसमें वर्णन किया गया है। अलीगढ़ की यात्रा में बाबू तोतारामजी से आपकी भेंट हुई थी। साहित्यिकों की इस भेंट का भी पुस्तक में विवरण दिया गया है। कानपुर की यात्रा में कान्यकुब्जों के गाँव कुकुरादेव का भी वर्णन है। पुस्तक कुल ५५ पृष्ठों की है। इसके अन्त में कुछ पद्य भी दिए गए हैं, जिनकी भाषा खड़ीबोली ही है; यद्यपि ब्रज से अधिक प्रभावित है।

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा—शास्त्रीजी की यह पुस्तक भी खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से ही सन् १८८६ ई० में प्रकाशित हुई थी। १०८ पृष्ठों की इस पुस्तक में शास्त्रीजी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया है। यह यात्रा-वर्णन प्रथम हिन्दी में है, फिर संस्कृत में तथा पुनः हिन्दी में पत्रों के रूप में दिया गया है। रामेश्वर मन्दिर, व्यंकटगिरि आदि की यात्राओं का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है।

लाला कल्याणचन्द्र

आप सनातनधर्म के बड़े श्रद्धालु और कानपुर के अमीरों में बड़े प्रतिष्ठित पुरुष थे।[2] आपने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'बदरीकेदार-यात्रा' नाम से सन् १८५६ ई० में लिखी थी। इसका प्रकाशन ब्रजभूषणलाल गुप्त (मैनेजर, ब्राह्मण पत्रिका, कानपुर) द्वारा भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९० ई० में हुआ था। इसमें कल्याणचन्द्रजी ने पहले केदारनाथ की यात्रा का वर्णन दिया है, फिर बदरीनाथ का। १८ पृष्ठों की इस पुस्तक की सारी यात्रा पद्यमय है, जो दोहा, जैकरी छन्द, चौपाई और सोरठे में लिपिबद्ध है। गणपति की वन्दना से पुस्तक आरम्भ करके सारे तीर्थों की क्रम से यात्रा वर्णित की गई है। पुस्तक बड़ी ही सरल और सरस शैली में

---

१. लन्दन का यात्री—भगवानदास वर्मा, पृ० ८

२. बदरीकेदार यात्रा—(भूमिका से) ले० ब्रजभूषणलाल गुप्त

लिखी गई है। यहाँ पर एक उद्धरण दृष्टव्य होगा जिसमें विभिन्न गंगाओं की यात्रा का वर्णन चौपाई में दिया गया है—

करि असनान दरस शिव केरा। छेत्रपाल चट्टी में डेरा ॥
चलि फिरि बीर गंगा में न्हाए। अलखनन्दा को संगम पाए ॥
पुनि आगे सुसुंडि गंगा है। दरसन किये पाप भंगा है ॥
अलकनन्दा के पार सहावन। नारायण कोटी है पावन ॥
लक्ष्मीनारायण जहँ राजै। विल्ववृक्ष निःकंटक छाजै ॥
पीपलकोटी में करि डेरा। आगे चलिए होत सवेरा ॥
पुनि श्री गरुड़ गंग में न्हैए। फिरि पाताल गंग में जैए ॥[1]

बाबू साधुचरण प्रसाद

कृतियाँ—बाबू साधुचरण प्रसादजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर 'भारत-भ्रमण' नामक एक अमूल्य ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार काशी से हुआ था, परन्तु प्रकाशन-सन् अज्ञात है। इसका प्राप्त संस्करण सम्वत् १९६६, शके १८३१ में खेमराज श्रीकृष्णदास ने श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से मुद्रित कर प्रकाशित किया था। इसमें भारतवर्ष के तीर्थ, शहर और अन्य प्रसिद्ध स्थानों के भूतकालिक और वर्तमानकालिक वृत्तान्त पूर्ण रीति से लिखे गए हैं। साधुचरणजी ने जिस क्रम से भारतवर्ष में भ्रमण किया उसी क्रम से पाँचों खण्ड विभाजित हैं।

पहली यात्रा सन् १८९१-९२ ई०
दूसरी यात्रा सन् १८९२ ई०
तीसरी यात्रा सन् १८९२-९३ ई०
चौथी यात्रा सन् १८९३ ई०
पाँचवीं यात्रा सन् १८९६ ई०

इसके प्रत्येक खण्ड में विस्तृत रूप से यात्राएँ वर्णित की गई हैं। इन यात्राओं के वर्णन के साथ-साथ प्रसंगवश आए चारों वेद, अठारहों पुराण, मनु आदि महर्षियों के धर्म-शास्त्र और महाभारत के उदाहरणों सहित वर्णनों को सम्पूर्ण किया गया है। पाँचों खण्डों की यात्रा का परिचय इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश का भाग, मध्यभारत, राजपूताना, अजमेर और मध्यप्रदेश के भागों की यात्राओं का वर्णन है।

द्वितीय खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश का भाग, अवध, पंजाब, काश्मीर और सिन्ध देश की यात्राओं का वर्णन है।

---

१. बदरीकेदार-यात्रा—लाला कल्याणचन्द्र, पृ० ११

तृतीय खण्ड में—बंगाल के चारों सूबे अर्थात् बिहार, बंगाल, उड़ीसा, छोटा नागपुर, स्वतन्त्र राज्य, नैपाल तथा भूटान और आसाम की यात्राओं का वर्णन है।

चतुर्थ खण्ड में—मध्य देश का भाग, बरार, बम्बई, मद्रास, हैदराबाद का राज्य मैसूर, कुर्ग आदि की यात्राओं का वर्णन इसमें दिया गया है।

पंचम खण्ड में—पश्चिमोत्तर देश के वदरिकाश्रम इत्यादि पहाड़ी देशों के वृत्तान्त लिखे गए हैं।

पुस्तक अत्यन्त विशाल तथा सामान्य ज्ञान की बातों से परिपूर्ण है।

पंडित बिगू मिश्र उपनाम बेणीमाधव कवि

वेणीमाधव कवि की यात्रा-साहित्य पर 'ब्रजयात्रा' नामक एक काव्य-पुस्तक सन् १८६४ ई० में बिहार-बन्धु छापाखाना, बाँकीपुर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में केवल ३२ पृष्ठ हैं। इन पृष्ठों में कविजी ने मधुवन, ललिताकुण्ड, मानसी-गंगा, विलक्षण वन, नन्दघाट, चीरघाट आदि का व्रजभाषा के माध्यम से कवित्त, दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया, चौपाई में वर्णन किया है। वर्णन काव्यमय होने के कारण सुन्दर बन पड़ा है। देखिए कुछ पंक्तियों की बानगी—

एक दिवस मम धाम में, इष्ट-मित्र सब आय।
देस-देस के तीर्थ को, चरचा कियो सुभाय ।।
तामैं चोवा राम वो, साहनाम जहँगीर।
कह्यौ चलौ यात्रा करें, मथुरा को धरि धीर ।।
सुनि गुनि मन आनन्द भए घरी न घर ठहरात।
करि सलाह तीनौ सुजन, चल्यौ धाम तजि प्रात ।।[1]

पण्डित श्रीराम शर्मा

पण्डित श्रीराम शर्मा बी० ए० का जन्म सन् १८६५ ई० में हुआ था। आप प्रसिद्ध और सिद्ध अचूक निशाना लगानेवाले शिकारी हैं। आपके लेखों का निशाना भी सीधा पाठकों के हृदयों पर जाकर बैठता है। अपने ढंग के आप एक ही लेखक हैं। आपका जीवन बड़ा संघर्षमय रहा है। आजकल आप हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र 'विशाल भारत' के सम्पादक पद पर हैं, और बल्का बस्ती आगरा में ही रहते हैं। बिगड़े स्वास्थ्य और हृदयरोग के साथ-साथ आपकी आँख भी खराब हो गई हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप 'विशाल-भारत' को बोलकर लिखाते हैं।[2] आप बड़े ही उदारहृदय और हिन्दी सेवी हैं। 'सैनिक' और 'प्रताप' का भी सम्पादन आप कर चुके हैं। हिन्दी में शर्माजी ने शिकार-सम्बन्धी साहसिक और रोमांचकारी यात्रा-साहित्य

---

१. ब्रजयात्रा—पं० बिगू मिश्र, पृ० १

२. लेखक के नाम आए पं० श्रीरामशर्माजी के व्यक्तिगत पत्र के आधार पर

का सर्वथा नवीन निर्माण कर, हिन्दी गद्य में ओजपूर्ण भाषा-शैली की प्रतिष्ठा की है। प्रभावोत्पादक घटना के वर्णनों के साथ-साथ दार्शनिक विवेचना आपकी लेखन शैली की विशेषता है। भाव-विश्लेषण मनोविज्ञान-सम्मत और भाषा विषयानुरूप होती है।

कृतियाँ—शिकारी यात्राओं से सम्बन्धित इनकी दो पुस्तकें अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। 'शिकार' और 'प्राणों का सौदा'।

शिकार—'शिकार' नामक पुस्तक साहित्य सदन, किरथरा (मैनपुरी) से सन् १९३२ ई० में प्रकाशित हुई थी। २६६ पृष्ठों की इस पुस्तक में आपने शिकार के सम्बन्ध में की गई यात्राओं एवं व्यक्तिगत अनुभवों की मनोहर और रोमांचकारी गाथाएँ लिखी हैं। शिकार अपनी इसी लोकप्रियता के कारण गुजराती और बंगला में भी अनुवादित हो चुका है। एक उद्धरण देखिए—

"मन की ऐसी ही परिस्थिति में कल्पना-पर्वत के उच्चतम शिखर पर जब भावनाएँ सुकुमार विचारों का एक ताना-बाना पूर रही थीं और जब आशा और निराशा वायु के झकोरे उन विचारों को हिला से रहे थे, तब मन का पेण्डुलम जगत्-जन्य ग्लानि की ओर बढ़ा और वे सुकुमार विचार ऐसे विलीन हो गए, जैसे नदी में बहता हुआ घड़ा पत्थर की चोट से टूटकर डूब गया हो।"[1]

प्राणों का सौदा—इस ग्रन्थ में शर्माजी ने देशी-विदेशी सच्ची साहसिक घटनाओं को मौलिक यात्रा-कथाओं का रूप देकर रुचिरता प्रदान की है। पुस्तक में प्रमुख रूप से विख्याति शिकारियों की शिकारी यात्राओं का सुन्दर वर्णन दिया गया है। शिकार की विचित्र और अद्भुत घटनाओं में सजीवता है।

पं० रामशंकर व्यास

व्यासजी ने यात्रा-साहित्य पर एक छोटी-सी ६३ पृष्ठों की 'पंजाब-यात्रा' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९०७ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना से हुआ था। यह पुस्तक व्यासजी की ९ सितम्बर, सन् १८९७ ई० से २० नवम्बर १८९७ ई० तक की पंजाब-यात्रा का वर्णन प्रस्तुत करती है। यह मुख्य रूप से डायरी-शैली में लिखी गई है। इसी यात्रा में आप हरद्वार की ओर भी गए थे, यह इनके निम्न दोहे से प्रकट होता है—

माननीय सरकार सह, आयो श्री हरद्वार।
करि तीरथ असनान व्रत, पायो जनम उधार॥
उनइस सौ चौअन सुभग, आश्विन दशमी श्याम।
व्यास रामशंकर बसें, काशि माननृप धाम॥[2]

---

१. शिकार—पं० श्रीराम शर्मा, पृ० १२९

२. पंजाब यात्रा, पृ० २०

इनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है यह काशी के निवासी थे और काशीनरेश के यहाँ रहते थे, शेष यात्रा गद्य में ही वर्णित है।

श्री धनपतिलाल

यात्रा-सम्बन्धी 'श्री द्वारिकानाथ यात्रा' नामक एक पुस्तक आपकी लिखी है। यह पुस्तक ३० नवम्बर, सन् १९१२ ई० को ब्राह्मण प्रेस, कानपुर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में कुल २० पृष्ठ हैं। इसमें सीधी-सादी उर्दू-मिश्रित बोली में द्वारिकानाथ यात्रा का सारा वृत्तान्त वर्णित है। साधारण भाषा में वर्णन दिया गया है। देखिए एक उद्धरण—

"द्वारिकाजी करीब-करीब बम्बई से ४ या ५ सौ मील के लगभग हैं। द्वारिकाजी में पहुँचकर पहले ही यात्री गौमतीजी का स्नान करते हैं।"[1]

श्री वेणी शुक्ल

वेणी शुक्लजी की केवल एक पुस्तक उपलब्ध है। 'लन्दन पेरिस की सैर' नामक इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२६ ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से हुआ था। १०७ पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी लन्दन और पेरिस की यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। इनकी यात्राओं को वर्णित करने की शैली निबन्धकार पं० बालकृष्ण भट्ट की तरह की है। एक उद्धरण देखिए—

"प्रयाग से दो स्टेशन बाद शंकरगढ़ लाइन के दोनों ओर विन्ध्याचल की मनोरम कैमूर श्रेणी आरम्भ हो जाती है, जिसके चित्रकूट आदि मनोरम स्थानों को भगवान् रघुकुलकमल दिवाकर ने वनवास के समय अपनी चरण-रज से पवित्र कर और भी रमणीक बना दिया है।"[2]

महता जैमिनीजी, बी० ए०

महता जैमिनीजी की यात्रा-साहित्य पर 'श्याम देश यात्रा' नामक एक पुस्तक है। ७९ पृष्ठों की यह पुस्तक प्रथम बार सन् १९२७ ई० में अरोड़वंस प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में जैमिनीजी ने श्याम देश की यात्रा का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

श्री मंगलानन्द पुरी संन्यासी

संन्यासीजी की यात्रा-साहित्य सम्बन्धी 'अफ्रीका-यात्रा' नामक एक पुस्तक है। ६८० पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२८ ई० में संन्यासीजी द्वारा ही हुआ था। यह पुस्तक एक व्यक्तिविशेष के यात्रा की कहानी है, पर केवल कहानी मात्र ही नहीं, वरन् इसमें समुद्र, जहाज विदेशी और स्वदेशी या नवीन प्रणाली (स्टीमर धूम्रपोत)

---

१. श्री द्वारिकानाथ यात्रा—धनपतिलाल, पृ० ११

२. लन्दनपेरिस की सैर—वेणी शुक्ल, पृ० ४

और पुरानी प्रणाली (पंखा जहाज) सभी का वृत्तान्त मिलता है। साथ ही समुद्र पार देशों में जाने से क्या-क्या लाभ होते हैं, आदि बातें भी दी गई हैं। जीवन-यात्रा के लिए उपयोगी कुछ शिक्षाएँ भी मिलती हैं जो अनुभव-सिद्ध हैं। पुस्तक छः खण्डों में विभाजित है। इसमें संन्यासीजी ने अपनी ५ बार की अफ्रीका महाद्वीप की यात्रा का वर्णन दिया है। पुस्तकांत में संन्यासीजी ने जिस समस्या का जिक्र किया है 'अर्थात् उपनिवेश बसाने की आवश्यकता,' वह वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रश्न को संन्यासी के ६८० पृष्ठों का मूल उद्देश्य समझना चाहिए। यही इस यात्रा-ग्रन्थ का मूल तत्त्व (Central Idea) है। इनकी यात्रा के लेख प्रमुख रूप से पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। इनकी मारिशस यात्रा 'मर्यादा' जुलाई १९१२ में भी छपी थी। हिन्दी के सभी प्रमुख पत्रों ने इस ग्रन्थ की बहुत प्रशंसा की है। मारिशस यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"मैंने भी रेलों की खूब सैर की थी। अतः रेलों पर से जिधर देखा उधर पहाड़-ही-पहाड़ दृष्टिगोचर हुए। पर वे निस्सन्देह वृक्षों, पौधों, जड़ी-बूटियों, फल-फूलों इत्यादि से ऐसे भरे पड़े हैं कि मानो प्रकृति ने इन्हें हरी चादर उढ़ा रक्खी है। पहाड़ी, झरने और नदियाँ बड़े स्वच्छ निर्मल जल को बहाए समुद्र की ओर चली जा रही हैं।"[1]

श्री गोपाल नेवटिया

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर नेवटियाजी की एक पुस्तक 'काश्मीर' नाम से प्रकाशित है। सन् १९३० ई० में हिन्दी मन्दिर, प्रयाग से इसका प्रकाशन हुआ था। पुस्तक में दिए हुए 'काश्मीर के कुछ संस्मरण' से पता चलता है कि १९२८ ई० के ग्रीष्म में वे तथा उनके कुछ साथी काश्मीर गए थे। नेवटियाजी ने काश्मीर-यात्रा के अपने भिन्न-भिन्न अनुभवों को एक कवि की सहानुभूति के साथ काश्मीर में संचित किया है। इस पुस्तक में उन्होंने अपनी विभिन्न स्थानों, जैसे शंकराचार्य मन्दिर, डल झील, मानसबल, पहलगाँव, चन्दनवाड़ी आदि की यात्राओं का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है। लेखक का कथन है : "काश्मीर को सर्वथा एक गाइड का रूप देना हमें पसन्द न था।" वास्तव में पुस्तक 'गाइड' की आवश्यकताओं की कुछ पूर्ति करती है या नहीं, यह तो तभी कहा जा सकता है, जब उससे गाइड होकर काश्मीर-यात्रा की जाय। परन्तु काश्मीर के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ इसमें संगृहीत हैं, वे अवश्य उपयोगी और मनोरंजक हैं। इस दृष्टि से परिच्छेद ७, ८, ९ और १० का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनमें 'काश्मीरी कला-कौशल' और 'काश्मीरी नर-नारी' अध्याय अधिक अच्छे हैं। 'काश्मीर' कवित्वमय है। काश्मीर भी कवित्वमय है। भावुक लेखक ने पुस्तक को सर्वथा एक गाइड न बनाकर उसमें अपने उन संस्कारों

---

१. अफ्रीका यात्रा—मंगलानन्द पुरी संन्यासी, पृ० ३८४

का चित्रांकन करने का प्रयत्न किया है जो शायद काश्मीर-दर्शन की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों से उत्पन्न हुए थे। जिन स्थलों पर सामान्य वर्णन मात्र ही अपेक्षणीय था, वहाँ भी कभी-कभी लेखक महोदय ने अपने भावोद्रेक का परिचय दिया है। प्रायः पुस्तक पढ़ने से गद्य-काव्य का आनन्द आ ही जाता है। परन्तु साथ ही जहाँ लेखक महोदय का कवि-प्रयास व्यक्त हो जाता है, वहाँ कृत्रिमता-सी भी मालूम होने लगती है, जिससे किसी विशेष अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। ऐसे प्रश्नसूचक वाक्यों की बहुलता और काश्मीर के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कवियों के उद्धरणों की भरमार इस प्रयास की सूचक है। लेखक ने 'काश्मीर' में यहीं-कहीं अपनी कविता भी उद्धृत की है। पुस्तक के पौने दो सौ चित्रों में से कोई-कोई तो ऐसे मनोरम हैं कि देखते रहने को ही तबियत चाहती है। परन्तु ये किसी क्रम से नहीं लगाए गए हैं। वर्णन के सामने ही वर्ण्य-विषयों के चित्र रहते तो अच्छा होता। देखिए एक उद्धरण—

"उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्पराशि पर और महादेवगिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमलवन पर खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है!"[1]

श्री कृपानाथ मिश्र

मिश्रजी की यात्रा-साहित्य पर 'विदेश की बात' नामक पुस्तक है। यह पुस्तक सन् १९३२ ई० मे इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुई थी। इसमें मिश्रजी ने अपनी विदेश-यात्रा का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है। उनकी यह यात्रा जहाज द्वारा की गई थी। मिश्रजी का जहाज अदन से मार्सेल होता हुआ कार्सिका नामक द्वीप तक जाता है। इस सागरीय यात्रा के वर्णन के साथ ही रास्ते के सभी स्थलों का वर्णन भी किया गया है। सन्ध्याकालीन एक दृश्य देखिए—

"सुदूर स्थित गिरिमालाओं के शृङ्ग पर, कार्सिका नामक अपरिचित द्वीप में भी, शंकर का उज्ज्वल रूप चमक रहा है। वहाँ के लता-गुल्म आदि दूर से रुद्राक्ष-माला की भाँति शोभायमान थे। कार्सिका का सौन्दर्य कठोरव्रतावलम्बी किशोरी की भाँति करुण तथा गम्भीर है।"[2]

श्री हरिकृष्ण झाझड़िया

हरिकृष्णजी की एक पुस्तक 'मेरी दक्षिण भारत यात्रा' नाम से है। यह पुस्तक सन् १९३४ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। झाझड़ियाजी ने इसमें दक्षिणी भारत के प्रमुख मन्दिरों का विशेष रूप से वर्णन दिया है। १२९ पृष्ठों की इस पुस्तक में भारतीय तीर्थों की पुण्यमयी धार्मिक यात्रा का यह वर्णन आस्तिक हिन्दू

---

१. काश्मीर—श्रीगोपाल नेवटिया, पृ० ५६

२. विदेश की बात—कृपानाथ मिश्र, पृ० ३०

जीवन की आध्यात्मिक उन्नति के लिए मार्ग-दर्शक है। प्रमुख तीर्थों के दर्शन करने के परिणामस्वरूप लेखक ने स्थान-स्थान पर तैयार किए लेखों का संकलन भी इस पुस्तक में कर दिया है।

श्री सत्येन्द्रनारायण

सत्येन्द्रनारायणजी की यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'दक्षिण भारत की यात्रा' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३५ ई० में श्रीनाथ साह द्वारा दुर्गाकुण्ड, काशी से हुआ था। ९८ पृष्ठों की इस पुस्तक में सत्येन्द्रजी ने अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के कुछ बीतते हुए क्षणों, कुछ उठते हुए विचारों और कुछ छूटते हुए स्थानों का रेखाचित्र मात्र खींचा है। पुस्तक सुन्दर है।

श्री धर्मचन्द सरावगी

यात्रा-साहित्य पर सरावगीजी की एक पुस्तक 'यूरोप में सात मास' नाम से प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक सरावगीजी ने अपनी यूरोप-यात्रा के बहुत दिन बाद लिखी। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९३६ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। ३४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में यात्रा करने के साथ-साथ यूरोप के दर्शनीय स्थानों, वहाँ की संस्थाओं एवं वहाँ के रीति-रिवाजों का भी वर्णन किया गया है। पुस्तक यात्रा के संस्मरणों के रूप में ही लिखी गई है।

पंडित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'

शास्त्रीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'मेरी काश्मीर यात्रा' नाम से है। सन् १९४१ ई० में यह पुस्तक चौधरी एण्ड सन्स, बनारस से प्रकाशित हुई थी। १५१ पृष्ठों की इस पुस्तक में युवक लेखक विरक्तजी ने स्वर्ग-वसुधा काश्मीर के दर्शनीय स्थलों के सुरुचिपूर्ण वर्णन के प्रत्येक अंश में मनोगत विचारों के शब्द-चित्र झलकाये हैं। काश्मीर सम्बन्धी जनश्रुति, मिथ्या भ्रमों का निराकरण तथा दृष्टव्य सुगम-दुर्गम स्थानों का सांगोपांग वर्णन करके आपने सर्वसाधारण को यात्रा-साहित्य का ज्ञान देने का प्रयत्न किया है। यात्रा-मार्ग के सारे दृश्यों—वहाँ के सामाजिक जीवन रहन-सहन का पूर्ण विवरण दिया है। विरक्तजी ने अपनी यात्रा के लिए अन्तिम शब्दों में लिखा है—"यह भारी यात्रा हमारे सुनहले जीवन के सुन्दर पृष्ठों पर विशुद्ध भावों से युक्त स्निग्ध मसि द्वारा लिखी गई है। यह भुलाई नहीं जा सकती है।"[1] इसमें साहित्यिक वर्णन की बहुलता है। काश्मीर की सौन्दर्यमयी आभा का वर्णन इस उद्धरण में देखिए—

"प्रान्तर भाग में सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल महीरूहों से आक्रान्त हो अपने कलित अंक में रसमूल लहरों को लिए हुए लहरा रहे थे। दोलायमान लहरों की कमनीयता को देखकर प्रतीत होता था मानो प्रकृति देवी अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही है।"[2]

---

१. मेरी काश्मीर यात्रा— पण्डित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १३७

२. वही, पृ० ४८

श्री रामचन्द्र शर्मा, बी० ए०

शर्माजी की यात्रा-साहित्य पर 'इंग्लैण्ड यात्रा' नामक एक पुस्तक है। (इस पुस्तक का प्रयत्न करने पर भी हमें तृतीय संस्करण ही मिल सका) इसका तृतीय संस्करण सन् १९४१ ई० एजूकेशनल पब्लिशिंग हाउस, काशी से प्रकाशित हुआ था। १०२ पृष्ठों की इस पुस्तक में शर्माजी ने अपनी इंग्लैण्ड यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दे दिया है।

स्वामी प्रणवानन्द

इनका नाम पहले श्री कनकदण्डी वेंकट सोमयाजुल था। इनके विषय में राहुलजी के ग्रन्थों से ही कुछ सूचनाएँ मिल सकी हैं, वे यहाँ दी जा रही हैं। राहुलजी ने लिखा है—"२२ फरवरी, १९३६ को जब शिवरात्रि के लिए आए यात्री लौटने लगे थे, इन्हीं यात्रियों में मेरे पुराने मित्र श्री कनकदण्डी वेंकट सोमयाजुल भी थे। अब वह लाहौर के डी० ए० वी० कालेज के १७ वर्ष पहले वाले सोमयाजुल नहीं, बल्कि कैलाश, मानसरोवर वासी स्वामी प्रणवानन्द थे। विद्यार्थी अवस्था में हम एक-दूसरे के बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध में आये थे। सोमयाजुल एक स्वावलम्बी छात्र थे, बी० ए० की अन्तिम परीक्षा में एक बार अनुत्तीर्ण हो जाने पर फिर उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। १९२९ तक अपने आन्ध्र प्रदेश में वह कांग्रेस का कार्य करते रहे, फिर योग-वैराग्य ने उनको अपनी ओर खींचा, और वह साधु हो गए। कैलाश की पहली यात्रा में लद्दाख से जाने के लिए मैंने भी कुछ परिचय-पत्रों द्वारा उनकी सहायता की थी। १७ वर्ष बाद आदमी में बहुत परिवर्त्तन हो जाता है और स्वामी प्रणवानन्द ने तो अब दाढ़ी और बाल बढ़ा रखे थे, लेकिन उनके पीछे उनकी चेतना छिप नहीं सकती थी। उनके और अपने १७ वर्ष के जीवन पर बहुत देर तक बातें होती रहीं। अब भी वह बात करने में संकोच का नाम नहीं जानते थे, हालाँकि अब वह समाधि लगानेवाले योगी थे। वह अध्यात्म जीवन के बड़े प्रशंसक थे, लेकिन मैं तो उस मंज़िल को पार कर चुका था, न मुझे अध्यात्म विद्या अपनी ओर खींच सकती थी न योग समाधि; लेकिन अब भी जब वह अपने और अपने गुरु के कई घण्टों साँस छोड़कर समाधि लगाने की बात कहते थे, तो मन करता था—काश, यह बात १० वर्ष पहले मालूम हुई होती, यदि उस समय मेरे पास बहुत समय था, शायद एक-दो वर्ष इसमें भी लगा देता।"[1] राहुलजी के शब्दों में आन्ध्र-तरुण श्री कनकदण्डी सोमयाजुल आज कैलाश मानसरोवर के स्वामी प्रणवानन्द नाम से विख्यात हैं और मानसरोवर के भौगोलिक अनुसन्धान में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की है।[2]

---

१. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८-९

२. अतीत से वर्तमान—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ८४

आपकी हिन्दी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी एक पुस्तक 'कैलाश मानसरोवर' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से हुआ था। ४४० पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने अपनी १० वर्ष की कैलाश और मानसरोवर की यात्राओं का खोजपूर्ण यात्रा-वर्णन दिया है जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मपुत्र, सिन्धु और करनाली के उद्गम स्थानों की खोज विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कैलाश-मानसरोवर का विस्तृत एवं रोचक वर्णन दिया गया है। साथ ही कैलाश और मानसरोवर के जीवन का एक जीता-जागता चित्र भी उपस्थित किया गया है। इन्होंने १९२८ में प्रथम बार कैलाश-मानस की यात्रा की थी। कैलाश और मानसरोवर के विस्तृत विवरण में आपने वहाँ के मानस-खण्ड, खनिज निवासी, धर्म, कृषि एवं आर्थिक स्थिति, शासन, मार्ग आदि का विवरण दिया है।

श्री चक्रधर 'हंस'

हिन्दी यात्रा-साहित्य में आपकी एक पुस्तक 'भारत के कुछ दर्शनीय स्थान' नाम से प्रकाशित हुई थी। इसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९४६ ई० में लाहौर से हुआ था। १२६ पृष्ठों की इस पुस्तक में 'हंस' जी ने अपनी विभिन्न स्थानों की यात्राओं को संगृहीत कर दिया है। इसमें ८ यात्राएँ वर्णित हैं। ये इस प्रकार हैं—श्री बदरी-केदार यात्रा, अल्मोड़ा की सैर, बनारस और सारनाथ, पाटलीपुत्र का भ्रमण, प्रयाग का खुसरोबाग, कलकत्ते का भ्रमण, कलकत्ते का अजायबघर, सक्खर का भ्रमण आदि। इनकी ये यात्राएँ सन् १९३२-३३ ई० की 'सरस्वती' में भी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभी यात्राएँ बड़े ही साहित्यिक रूप से लिखी गई हैं। चित्रों के कारण इसकी सुन्दरता द्विगुणित हो गई है। पर्वतराज हिमालय की शोभा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सामने पर्वतराज हिमालय की निराली शोभा और नीचे कलकलनादिनी अलखनन्दा की अनोखी छटा देखते ही बनती है। गर्मियों में यहाँ मन्द-मन्द पवन निरन्तर बहता रहता है जो जीवन में एक नवीन स्फूर्ति पैदा कर देता है। चारों ओर सरों, चीड़ और देवदारु के सघन जंगल जिनमें पक्षियों का कलरव अत्यन्त मनोहर मालूम देता था।"[1]

स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, एम० ए०

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर स्वामीजी की एक पुस्तक 'कैलाश-दर्शन' नाम से है। स्वामीजी की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४६ ई० में साधना कार्यालय, बीसलपुर, पीलीभीत से हुआ था। २२७ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने जौहार, बागेश्वर, गिरगाँव, भिलम, तिब्बत, दर्चिन, राक्षसताल, तकलाकोट, मसमौली, कोटेश्वर आदि स्थानों का विस्तृत यात्रा-वर्णन अंकित किया है। यात्रा-वर्णनों के साथ ही कैलाश-

---

१. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर 'हंस', पृ० १०

यात्रा की अनुभूतियों, स्मृतियों और अनुभव की चेतनाओं को जो उनके अन्तस को उद्वेलित कर रहीं थीं, शब्दचित्रों द्वारा उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। जौहार मार्ग का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"इसी रास्ते पर इन पर्वतों का प्रसिद्ध गाँव 'छौना-बिलौरी' जो एक पर्वतीय गीत में अमर हो चुका है—एक विवाह के योग्य आयुवाली कन्या गाती है—

छौनी बिलौरी जन दिया बौज्यू,
लागला बिलौरी का घाम।
हांथ की दांतुली हांथ में रौली,
लागला बिलौरी...... ॥

अर्थात् मुझे इस गाँव में मत देना, वहाँ की धूप मुझे लग जाएगी और घास काटने को जाऊँगी तो धूप लग जाएगी और मैं मर जाऊँगी। हांथ की दांतुली हांथ में रहेगी।"[1]

श्री जी० डी० जोशी

जोशीजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य पर अपनी एक 'साइकिल-यात्रा' नामक पुस्तक लिखी है। आपकी इस पुस्तक का प्रकाशन अप्रैल, सन् १९४९ ई० में हिमालय पब्लिकेशन्स, बम्बई से हुआ था। पुस्तक दो भागों में विभाजित है। इसमें आपने अपनी साइकिल-यात्रा का (जो उन्होंने दिल्ली से कलकत्ता तक की थी) वर्णन दिया है। पहले इनकी इस यात्रा के लेख सन् १९३२ ई० में 'सरस्वती' पत्रिका में निकले थे। पुस्तक एक कल्पित उपन्यास की भाँति रची गई है, असली यात्रा के पक्ष को अत्यन्त रोचक बना दिया गया है। इनकी यात्रा का एक उद्धरण देखिए—

"सूर्य भगवान् अपनी दोपहर की उष्णता छोड़कर शान्ति से थके-माँदे बटोही की तरह पश्चिम की ओर जा रहे हैं। उनकी दोपहर की जवानी का रोष अब सायंकाल के बुढ़ापे में परिवर्तित हो गया है।"[2]

श्रीमती सत्यवती मल्लिक

आप आदर्श पत्नी, सुसंस्कृत गृहस्थ और प्रेमी माता होने के साथ-साथ एक सफल कलाकार भी हैं। आपके पूज्य पिता श्री लाला चिरंजीलालजी श्रीनगर के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नागरिक रहे हैं। इनके सुशिक्षित पतिदेव श्रीयुत आर० एल० मल्लिक हैं। उन्हें साहित्य में सुरुचि है। वस्तुतः वे प्रगतिशील हैं।[3]

सत्यवतीजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य में 'काश्मीर की सैर' नामक एक यात्रा-पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५० ई० रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स,

---

१. कैलाश-दर्शन—स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी, पृ० ६
२. साइकिल यात्रा—जी० डी० जोशी, पृ० ७३
३. विशाल भारत—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी—जुलाई, १९४०, भाग-२६, अंक १

दिल्ली से हुआ था। ११० पृष्ठों की इस पुस्तक में उन्होंने अपनी काश्मीर की सैर का सुन्दर वर्णन किया है। वह इनकी जननी जन्मभूमि है, जिसकी झीलों, नदियों, हरे-भरे मैदानों एवं वन-प्रान्तों का स्वाभाविक वर्णन अपने प्रकृति-वैचित्र्य से पूर्ण है। वैरीनाग का वर्णन करती हुई मल्लिकजी ने लिखा है—

"पांचाल शिखर से यह चारों ओर ऊँचे-ऊँचे हिमाच्छादित पर्वतों से घिरी, धान के खेतों, नदी-नालों, जलाशयों और सुन्दर मधुर फलयुक्त फलों से पूरित, काश्मीर देश की विस्तृत घाटी दिखाई पड़ती है।"[1]

श्री महेशप्रसाद श्रीवास्तव

महेशप्रसादजी की यात्रा-सम्बन्धी 'दिल्ली से मास्को' नामक एक पुस्तक है। यह पुस्तक श्रीमती कृष्णाकुमारी श्रीवास्तव द्वारा सन् १९५१ ई० में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में महेशजी ने रूस जाने की प्रेरणा से लेकर अपनी यात्रा करने तक का पूरा विवरण दिया है। इसमें लंदन, बर्लिन, मास्को, लेनिनग्रेड आदि बड़े-बड़े विदेशी शहरों का समाचार तथा हवाई और सागरीय यात्रा का आवश्यक वर्णन किया है। यह यात्रा जहाज द्वारा प्रारम्भ की गई परन्तु हवाई जहाज द्वारा पूरी हुई थी।

परिव्राजकाचार्य स्वामी स्वतन्त्रतानन्द

स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा" नाम से है। स्वामीजी की यह पुस्तक सन् १९५१ ई० में वैदिक साहित्य सदन, दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। १९९ पृष्ठों की इस पुस्तक में स्वामीजी ने पूर्वी अफ्रीका और मारीशस आदि में भारतीयों का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष तथा वहाँ की यात्रा का सम्पूर्ण वृत्तान्त दिया है। विशेष रूप से इस पुस्तक में उन यात्राओं का वर्णन है जो स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी ने २१-१०-४९ से सन् ३१-१०-५० तक मारीशस, जंजीबार आदि द्वीपों तथा टांगान्याका, यूगैंडा और केनिया-कालोनी में वैदिक धर्म एवं भारतीय संस्कृति के प्रचारार्थ की थीं। साथ ही इसमें उन यात्राओं का भी संक्षेप में वर्णन करदिया गया है जो स्वामी स्वतन्त्रात-नन्दजी ने १९०१ ई० से सन् १९०४ ई० तक मलाया, वर्मा आदि देशों में की थीं। इस प्रकार स्वामीजी की समस्त यात्राओं का वर्णन इस ग्रन्थ में एकत्र मिल जाता है।

बैरिस्टर नवलकिशोर अग्रवाल

अग्रवालजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'देश-विदेश' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५२ ई० में पुस्तक सदन, कलकत्ता से हुआ था। आपने इस देश-विदेश नामक पुस्तक में अनेक यात्रा-घटनाओं के ५३ संस्मरण अंकित

---

१. काश्मीर की सैर—सत्यवती मल्लिक, पृ० ४

किए हैं। इन संस्मरणों में उनकी जागरूकता और सूझ-बूझ सर्वत्र विद्यमान है। विदेशों की राजनीतिक, ऐतिहासिक एवं सामाजिक झाँकी के साथ-साथ देश की भी एतद्विषयक घटनाओं का आँकलन रोचक शैली में किया गया है। देश-विदेश की ज्ञातव्य बातों से परिपूर्ण यह उपदेशपूर्ण यात्रा-पुस्तक है।

डा० मुनिकान्त सागर

हिन्दी यात्रा-साहित्य पर डा० मुनिकान्त सागरजी की दो पुस्तकें उपलब्ध हैं—खण्डहरों का वैभव (१९५३) और खोज की पगडंडियाँ (१९५३)।

१. खण्डहरों का वैभव—डा० मुनिकान्तजी की इस पुस्तक का प्रकाशन जून सन् १९५३ ई० को भारतीय विद्यापीठ, काशी से हुआ था। ४३६ पृष्ठों की इस पुस्तक में मुनिकान्तजी ने विशेषकर मध्यप्रदेश के पुरातत्त्वों का ही वर्णन दिया है, जिसे उन्होंने अपने पैदल भ्रमण में स्वयं देखा है। पुस्तक में जैन पुरातत्त्व, बौद्ध पुरातत्त्व और हिन्दू पुरातत्त्व का वर्णन अध्यायों में है। नवें अध्याय में महाकोशल की कृतियों में से चार पगडंडियों के मूल स्रोत की व्याख्या की गई है और अन्तिम दसवें अध्याय में श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य का विवेचन किया गया है। किन्तु इतने सीमित प्रदेश की यात्रा में प्रायः पग-पग पर उसने इस वैभव की जो दुर्गति देखी, उसे पढ़कर हृदय विकल हो उठता है। यह मुनिकान्तजी के अनेकों वर्षों की कठिन पुरातत्त्व साधना १० लेखों के रूप में प्रतिफलित हुई है। इसमें तीन लेख मध्यप्रदेश के जैन, बौद्ध और हिन्दू पुरातत्त्व से सम्बन्धित हैं और तीन लेख महाकोशल के पुरातत्त्व से। दो लेखों में प्रयाग संग्रहालय तथा विन्ध्यभूमि की जैन मूर्तियों का दिग्दर्शन है। शेष दो निबन्ध हैं 'जैन पुरातत्त्व' एवं 'श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य'। इसमें के कुछ लेखों का प्रकाशन 'विशाल भारत' में भी हुआ था। खण्डहर केवल शिल्प, कला, शिलालेख, मुद्रा, लिपि और गहनों, वर्तनों, अस्त्रों के समुच्चय नहीं होते वरन् भूगर्भ में निहित ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथ्यों एवं कला और सभ्यता के क्रमिक विकास की मौलिक परम्पराओं के सँजोये हुए कोष हुआ करते हैं। जहाँ पर किसी भी राष्ट्र का सोता हुआ, भूला हुआ इतिहास और उसका वैभव छटपटाया करता है। भारतीय खण्डहर हमारे देश के उस प्राचीन सांस्कृतिक वैभव के प्रतीक हैं, जिनका मूल्य हीरे-जवाहरातों से न आँका जाकर जीवन के आदर्शों से परखा जाता है। हमारी संस्कृति के चिरन्तन सत्य और जीवन के सातत्य खण्डहरों में समाए हुए हैं। मुनिकान्तजी ने यद्यपि इस पुस्तक में मध्यप्रदेश और विन्ध्यप्रदेश के ही खण्डहरों का वैभव वर्णन किया है, फिर भी जितना है, उसमें उनकी गहरी साधना, सूक्ष्म विचारणा और पारदर्शी विद्वत्ता का पूर्ण योग सम्मिलित है। इसे पढ़कर जैन, बौद्ध और हिन्दू काल की शिल्प, वास्तु, स्थापत्य कलाओं एवं शिलालेखों, मुद्राओं का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

२. खोज की पगडंडियाँ—सागरजी की २७५ पृष्ठों की यह पुस्तक अक्तूबर, सन १९५३ ई० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हुई थी। इसमें मुनिकान्तजी

ने मध्यप्रदेश, बिहार, विन्ध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और राजस्थान के कतिपय विशिष्ट स्थानों का ललित कला, लिपि और भौगोलिक यात्राओं का उल्लेख किया है। पुस्तक उपर्युक्त तीन भागों में विभक्त है। पुरातत्त्व और इतिहास सम्बन्धी तत्त्वों का बड़े रोचक ढंग से किया गया वर्णन पुस्तक की मुख्य विशेषता है। जैन और बौद्ध शिल्पों के वर्णन और निर्णय ही इस पुस्तक का प्रधान विषय है। क्योंकि हिन्दू-धर्म से प्रभावित चित्रकला पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। वैसे मुनिकान्तजी ने अपनी पैदल यात्रा के उन अनुभवों को जो उन्होंने पुरातत्त्व सम्बन्धी स्थलों को देखकर एकत्रित किए हैं, वर्णन किया है। ये यात्रा-वर्णन मुख्यतः ऐतिहासिक स्थानों, मन्दिरों, देवमूर्तियों, कला-शिल्पों के ही हैं। इस प्रकार यह पुस्तक न तो मौजी घुमक्कड़ का यात्रा-विवरण है और न पुरातत्त्व के एकान्तिक आराधक की नीरस माप-जोख। फिर भी इसमें दोनों के गुणों का सम्मिश्रण है। पुस्तक में स्वभावतः उनका अधिक ध्यान जैन ऐतिह्य और परम्परा की ओर गया है, क्योंकि जैन-तीर्थों की यात्रा का उन्हें अवसर भी अधिक मिला है और जैन-शास्त्रों के वे अच्छे ज्ञाता भी हैं। डाक्टर साहब ने इस ग्रन्थ में नालन्दा, विन्ध्याचल, मैहर और पटना की ही यात्राएँ दी हैं। ये यात्राएँ केवल भौगोलिक यात्रा न होकर ऐतिहासिक हो गई हैं। नालन्दा की यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"ठीक पौने नौ बजे हम लोगों ने नालन्दा की पुनीत भूमि पर पैर रखा। दूर से ही खण्डित लाल ईंटों के अवशेष दिखलाई पड़े। उन्हें देख मन पुलकित हो गया, हृदय गौरव-गरिमा से उछलने लगा। मानसिक वृत्तियाँ टूटे-फटे खण्डहरों से लिपट गई। मानस-पटल से तद्विषयक कल्पनाओं का स्रोत फूट पड़ा। प्रेरणाप्रद वातावरण से विगत स्वर्णिम सृष्टि का स्वतः अनुभव होने लगा।"[1]

श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार

श्रीनिधिजी की यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक 'शिवालिक की घाटियों में' नाम से है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९५३ ई० में आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली से हुआ है। इसमें शिकारी यात्राओं की एक निराली छटा दिखाई गई है। इस रचना में शिवालिक का वह चित्र है जो काव्य के परदे पर खींचा है। एक प्रकार से यदि उसे शिकारी की कहानी न कहकर किसी अनादि विरही की वांगमयी वेदना-ध्वनि कहा जाए तो उपयुक्त होगा। ग्रन्थ में गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है जो उसकी रोचकता को और भी बढ़ा देता है। विशेषतया शिकार किए बिना ही शिकार के समस्त उपयोगी आनन्दों को बन-पर्यटन द्वारा प्राप्त किया गया है। विश्राम-बेला का वर्णन करते हुए इन्होंने लिखा है—

"कब अस्ताचलगामी प्रियतम के विरह में मेघदूत नायिका-सी दिनश्री मलिन-वसना हो उठी। मेरा यह ध्यान तब भंग हुआ जब वन के किसी अज्ञात स्थान

---

१. खोज की पगडंडियाँ—मुनिकान्त सागर, पृ० १७४

में बैठी कोई विहंगर्म दूतिका वन घोषणा के वहाने मुझे यों सम्बोधन कर उठी—बोल उठा सायंकालीन मयूर। जाग उठीं वन-भूमियों में भय की छायाएँ। आ गई नीड़ विश्राम की बेला।"[1]

श्री महावीरप्रसाद पोद्दार[2]

पोद्दारजी की हिन्दी यात्रा-साहित्य पर एक पुस्तक है—'हिमालय की गोद में'। यह पुस्तक सस्ता साहित्यमंडल, नई दिल्ली से सन् १६५४ ई० में प्रकाशित हुई थी। १४७ पृष्ठों की इस पुस्तक में पोद्दारजी ने गंगोत्री-यमुनोत्री की यात्रा का सचित्र रोचक वर्णन दिया है। पोद्दारजी ने ये यात्राएँ पुस्तक प्रकाशन के नौ वर्ष पूर्व की थीं। गंगोत्री और यमुनोत्री की इस सुन्दर और बीहड़ यात्रा के सम्बन्ध में लेखक ने अपनी पुत्र-वधू कुमारी मृदुला (तब श्री विजयादेवी) को कई पत्र लिखे थे जिनमें से कुछ 'आरोग्य' मासिक में निकल चुके हैं, उन्हीं लेखों को संगृहीत कर पुस्तकाकार छपवाया गया है। इन पत्रों में यात्रा का क्रमबद्ध वर्णन है। पोद्दारजी ने इसमें हरद्वार, ऋषिकेश, यमुनोत्री आदि की यात्रा के सजीव वर्णन चित्रों के साथ दिये हैं। दृश्यचित्र उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है—

"नीचे से यमुना का मंद-मंद कलकल निनाद हल्के शोकगीत की भाँति सुनाई दे रहा था। यों पौन घण्टे के करीब उन्हें मौत के जबड़े में चलना पड़ा। सचमुच वह एक विलक्षण स्थिति ही थी। एक ओर मृत्यु मुँह खोले खड़ी थी, दूसरी ओर प्रफुल्लित और उल्लसित करनेवाला सुगंधित पवन था।"[3]

डा० जगदीशशरण शर्मा

डा० शर्मा की यात्रा-साहित्य पर 'ज्ञान की खोज में' नामक एक पुस्तक है। इस पुस्तक का प्रकाशन भारती साहित्य-मन्दिर, दिल्ली से सन् १६५७ ई० में हुआ था। १५१ पृष्ठों की इस पुस्तक को शर्माजी ने डायरी-शैली में लिखा है। दिल्ली वि०वि० से अपनी शिक्षा समाप्त कर उच्च शिक्षा प्राप्त करने जब उन्हें विदेश जाना पड़ा तो उन्होंने मार्ग में पड़नेवाले देशों का भ्रमण किया और उस भ्रमण से प्राप्त अपने विचारों को डायरी का रूप दिया है। पी-एच० डी० के लिए उन्हें पुनः विदेश की यात्रा का अवसर मिला। इस बार की यात्रा में उन्होंने देश-विदेश की सांस्कृतिक शिक्षा सम्बन्धी, आर्थिक और सामाजिक स्थितियों का अध्ययन किया। इस पुस्तक में डाक्टर साहब ने अपनी यात्राओं के अनुभवों को, जो उन्होंने अपनी सुशीला गृहिणी को पत्र-रूप में भेजा था, संकलित कर दिया है। देश-विदेशों के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन की चर्चा करके उन पर अपने विचार भी प्रकट

---

१. शिवालिक की घाटियों में—श्रीनिधि सिद्धान्तलंकार, पृ० १४
२. पोद्दारजी ने अपने जीवनी सम्बन्धी तथ्य देने की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई
३. हिमालय की गोद में—महावीरप्रसाद पोद्दार, पृ० ७३

किए हैं, साथ-ही-साथ अपने विदेश प्रवासकाल में अध्ययन और रहन-सहन पर भी प्रकाश डाला है। एक उद्धरण देखिए—

"हरे-हरे वृक्ष मदमाती हवा के झोंकों के साथ मस्ती से झूम रहे हैं। इनके इस तरह के झूमने में एक कशिश है, एक खिचाव है। अपनी खिड़की से टकटकी लगाए इनकी लीला देख रहा हूँ। चाँद भी अपने पूर्ण यौवन पर है चाँदनी मेरे कमरे में खिड़की की जाली से छन-छन कर आ रही है।"[1]

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल

डा० परमेश्वरदीन शुक्ल की हिन्दी यात्रा-साहित्य में केवल एक पुस्तक है। इस पुस्तक का नाम उन्होंने 'दुनिया की सैर—अस्सी दिन में' रखा है। उनकी यह पुस्तक सन् १९५७ ई० में सस्ता साहित्य-मंडल, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। शुक्लजी सरकारी कार्य से विदेशों की यात्रा पर गए थे। उन्हें लगभग सारा विश्व देखने का अवसर मिला। यह उनकी दूसरी विदेश-यात्रा थी। उनका ८० दिन का यह प्रवास ९६ पृष्ठों की पुस्तक में पत्रों के रूप में लिपिबद्ध है। इस प्रवास में वह अपने बच्चों को पत्र द्वारा वहाँ के बारे में सूचना देते रहे। वास्तव में यह उन्हीं पत्रों का संकलन है। शुक्लजी ने ८० दिन में ३२,५०० मील का भ्रमण किया। इस यात्रा में शुक्लजी ने विभिन्न देशों के असली जीवन की झाँकी देखी है। हवाई जहाज, कार, जहाज, सुरंग, रेल, पैदल सब साधनों से उन्होंने यात्रा की। ५ से १५ वर्ष के बच्चों को लिखे जाने के कारण ये पत्र बड़ी सरल और स्पष्ट भाषा में हैं। बाल-मस्तिष्क को जिस प्रकार की जानकारी की आवश्यकता हो सकती है और जिस शैली को वे भली-भाँति समझ सकते हैं, यथाशक्ति उसीका सहारा लिया गया है। यद्यपि उसमें चित्रमय वर्णन नहीं आ पाया है, लेकिन सुगम और सरल होने के कारण वर्णन रोचक है। इसमें विशेष रूप से इन्डोनेशिया, जापान, होनोलूलू, मिस्र, यूरोप, अमरीका आदि की यात्रा का विवरण दिया गया है।

श्री रामकृष्ण बजाज

आपकी हिन्दी यात्रा-साहित्य पर 'जापान की सैर' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १९५७ ई० में सस्ता साहित्य-मंडल, दिल्ली से हुआ है। ११७ पृष्ठों की इस पुस्तक में रामकृष्ण बजाजजी ने मनोरंजक रूप में अपनी जापानी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। श्री बजाज अन्तर्राष्ट्रीय कामर्स चेम्बर के टोकियो अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि होकर जापान गए थे। व्यापारी एवं उद्योगपति होने के कारण उन्होंने जापान के आर्थिक जीवन को पैनी दृष्टि से देखा है। जापान के दर्शनीय स्थानों का वर्णन दिया गया है। चित्रों के कारण पुस्तक की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। जापान के ज्वालामुखी विस्फोटों का वर्णन करते हुए बजाजजी ने लिखा है—

---

१. ज्ञान की खोज में—डा० जगदीशशरण शर्मा, पृ० १६

"यद्यपि इसमें से अनेक वर्ष हुए लावा नहीं निकलता है और यह ज्वालामुखी सुप्त हो गया है, फिर भी इसके पेट में से बड़ी मात्रा में धुआँ बराबर निकलता रहता है। इस पहाड़ के चारों तरफ की बनावट और प्राकृतिक दृश्य विशेष प्रकार के हैं, जो देखने लायक हैं।"[1]

श्री प्रभाकर द्विवेदी

प्रभाकरजी की यात्रा-साहित्य पर केवल एक पुस्तक 'पार उतरि कहँ जइहौं' नाम से प्रकाशित हुई है। इसका प्रकाशन सन् १६५८ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से हुआ था। २४७ पृष्ठों की इस पुस्तक में प्रभाकर की अवध के पूर्वी भाग में हुई एक यात्रा का वर्णन है। गोंडा—बस्ती जिले की मनोरमा नदी के तट पर यह यात्रा की गई थी। इस लघु यात्रा में प्रभाकर ने पार्श्ववर्ती लोकजीवन और लोकभूमि के चप्पे-चप्पे का भ्रमण किया है। जेठ की ठेठ दुपहरी में यात्रा करके भी इनका मन भोक्ता और मर्मी दोनों स्तरों पर काम करता रहा है, इसी कारण से स्थलीय संस्कृति इस भ्रमण-कहानी में अपनी निजता के साथ प्रस्फुटित हुई है। ग्राम-जीवन के ग्राम-गीतों से पूर्ण होने के कारण लेखक का मानवीय करुणा से आर्द्र, ऐकान्तिकता से निरीह-सा बना मन सारी या रचना में व्याप्त हो गया है। यद्यपि इस भ्रमण-कहानी में धारावाहिकता का सौन्दर्य इतना नहीं है जितना उसमें रमने का सौन्दर्य है। तट-कथा को कहते हुए उन्होंने लिखा है—

"यही नदी तट होगा, ऐसे ही खेत। चरवाहे और गोरू भी इसी प्रकार। सब समूह इसी प्रकार। फिर भी हर इकाई स्वयं में सम्पूर्ण होगी। हर इकाई की अपनी कथा होगी। सम्पूर्ण तट-कथा एक है किन्तु इस तट-कथा का एक विन्दु कथा कहने को लालायित होगा। कहाँ तक सुना जाय—कहाँ तक कहा जाय ? यह एक चिरंतन कथा है। यह मन की कथा है। मन की ही आकांक्षा वासना है। मन दीवारों में घिरकर बैठा रहे तो उसकी कथा वहीं तक है। पर इतना संकोची और गम्भीर है तो नहीं। यह तो सदैव उड़ता है। इसमें पंखों को कोई बाँध पाया है आज तक ? अगम-दुर्गम पथों का विजेता है यह मन। जानी-परिचित राहों को उपेक्षित करनेवाला है यह मन।

मन तू पार उतरि कहँ जइहौ।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच मुकाम न पइहौ[2]

१. जापान की सैर—रामकृष्ण बजाज, पृ० ६७

२. पार उतरि कहँ जइहौ—प्रभाकर द्विवेदी, पृ० २४१-२४२

: ६ :

हिन्दी यात्रा-साहित्य के लेखक और उनकी अनुवादित कृतियों का प्रकाशन : क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय

हिन्दी यात्रा-साहित्य में अनूदित ग्रन्थों की भी अपनी परम्परा रही है। सामान्यतया अनुवाद का अर्थ एक भाषा की कृति का दूसरी भाषा में लिपिवद्ध किया जाना है। अनूदित ग्रन्थों का महत्त्व अपनी प्रवृत्तियों और विशेषताओं के कारण यात्रा-साहित्य के अन्य रूपों, निबन्ध, कहानी, उपन्यास और काव्य आदि से कम नहीं माना जा सकता। इन अनुवादों में मूल कलाकृति के समान यद्यपि स्वाभाविकता एवं अन्य गुणों तथा रोचकता आदि का सन्निवेश नहीं हो पाया है तथापि अनुवादकों के प्रयत्न यात्रा-साहित्य में एक विशेष वर्ग का सूत्रपात कर सके हैं। प्रमुख अनुवादों की सूची कालक्रमानुसार प्रस्तुत की जा रही है।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा 'बर्नियर की भारत यात्रा' (१९०५), जगन्मोहन वर्मा द्वारा क्रमशः 'चीनी यात्री फाहियान', सुंगयुन और 'सुयेनच्वांग' का यात्रा-वर्णन (१९१९, १९२०, १९२३), गुलजारीलाल चतुर्वेदी द्वारा 'तिब्बत में तीन वर्ष' (१९२२), रूपनारायण पाण्डेय द्वारा 'भू प्रदक्षिणा' (१९२५,) मदनगोपाल द्वारा 'इब्नबतूता की भारत यात्रा' (१९३१), धन्यकुमार जैन 'रूस की चिट्ठी' (१९३१), रामचन्द्र वर्मा 'मानस सरोवर और कैलास' (१९३९)।

ऊपर तो अनूदित साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों और लेखकों का ही नाम दिया है, परन्तु इस सन्दर्भ में यह बात स्मरणीय है कि साहित्य के अन्य रूपों के समान यात्रा-साहित्य में भी विभिन्न भाषाओं से अनूदित ग्रन्थों का अभाव ही कहा जाएगा। जो अनुवाद उपलब्ध होते हैं वे बंगला और अंग्रेजी भाषा से ही किए गए हैं। प्रकार की दृष्टि से इनकी प्रवृत्ति अविकल अनुवादों के अधिक निकट है। अनुवादकों ने आंशिक आधार पर विस्तार अथवा संक्षिप्तीकरण का प्रयत्न नहीं किया है।

इनमें सामान्य प्रचलित भाषा द्वारा ही सजीव और विनोदपूर्ण विवरण दिए हैं। तथ्य की रक्षा और कलाकृति के समान वर्णनात्मकता के आग्रह के कारण भाषा और शैली के साहित्यिक तथा भावात्मक रूप का अतिरेक नहीं मिलता। इन अनूदित ग्रन्थों से हमें विभिन्न भाषाओं की यात्रा-साहित्य की परम्परा का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही ज्ञानवर्धन की सामग्री भी प्राप्त होती है। इनके माध्यम से प्रादेशिक संस्कृति अपने रूप में हमारे समक्ष आ जाती है। नाटक, उपन्यास, कहानी और

काव्य के समान इस बात की यात्रा-साहित्य के सम्बन्ध में भी आवश्यकता है कि विभिन्न भाषाओं के यात्रा-साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। जहाँ तक सामाजिक प्रभाव का प्रश्न है, इस प्रकार के साहित्य से प्रादेशिक संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ठ हो सकते हैं। साहित्यकारों के कृतित्व में प्रेरणा का अभेद्य सूत्र भी उनकी वैयक्तिक रुचि से कम महत्त्व नहीं रखता है। इससे साहित्य में विषयों की विविधता की सम्भावनाएं प्राप्त होती हैं।

बाबू गंगाप्रसाद गुप्त

डाक्टर फ्रैंक्विस बर्नियर ने भारत यात्रा पर एक पुस्तक 'वर्नियर ट्रेवल्स' लिखी थी, इसका अनुवाद हिन्दी में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने किया है। 'डा० बर्नियर की भारत यात्रा' नामक यह अनुवादित पुस्तक प्रथम बार सन् १६०५ ई० में कल्पतरु प्रेस, काशी से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में सन् १६५६ ई० से लेकर सन् १६६८ ई० तक मुगलराज्य में की हुई एक फ्रेन्च विद्वान् की भारत-यात्रा का वृत्तान्त दिया गया है। उस समय भारत में मुख्य रूप से मुगल वंश—दाराशिकोह, सुलतान शुजा, औरंगजेब, मुरादबख्श, जहानआरा बेगम, मीर जुमला आदि का राज्य था। गोलकुण्डा और सूरत में लूट का बाजार गर्म था। यात्राओं के साथ-ही-साथ उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी अवलोकन डा० बर्नियर ने किया है। साथ ही बादशाह औरंगजेब, उसके भाई, बहिनों तथा बेगमों का भी बहुत उत्तम और मनोरंजक वृत्तान्त इसमें दिया गया है। यह यात्रा-ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है। भाषा उर्दू-मिश्रित है। ऐतिहासिक यात्रा-ग्रन्थ होने के कारण महत्त्व का है। एक छोटा-सा उद्धरण देखिए—

"ये अमीर राज्य के स्तम्भ हैं। इनकी राजधानी अथवा दूसरे नगरों व सेना में बड़े-बड़े उच्चपद और अत्यन्त माननीय खिताब दिए जाते हैं। इनसे राज-दरबार की शान बनी रहती है।"[1]

श्री जगन्मोहन वर्मा

श्री जगन्मोहन वर्माजी ने हिन्दी यात्रा-साहित्य को समृद्धि प्रदान करने में अपना पूर्ण सहयोग दिया है। आपने भारत-भ्रमण किए हुए पश्चिमी यात्रियों के वर्णनों को हिन्दी में अनुवादित करके प्रस्तुत किया है। आपके हिन्दी अनुवादित यात्रा-साहित्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ हैं—

१—चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण

२—चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण

३—सुयेनच्वांग

---

१. बर्नियर की भारत यात्रा—डॉ० बर्नियर ; अनु० गंगाप्रसाद गुप्त, पृ० १

१. **चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण**—जगन्मोहन वर्माजी द्वारा अनुवादित यह ग्रन्थ देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प है। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम बार संवत् १९७३ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ था। १२३ पृष्ठों की इस पुस्तक में फाहियान की सम्पूर्ण भारत-यात्रा वर्णित की गई है। ऐसे यात्रियों में जिन्होंने भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न नगरों और देशों में भ्रमण किया और जो अपना यात्रा-विवरण लिखकर छोड़ गए हैं, फाहियान सबसे पहला चीनी यात्री है। उसने इस ग्रन्थ में शेन-शेन और ऊए से लेकर खुतन, सीहून, गांधार, तक्षशिला, पुरुषपुर, नगरहार, त्वेकिंग, पंजाब, मथुरा, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, गृधकूट पर्वत, गया, वाराणसी, सिंहल आदि स्थानों की यात्रा का वर्णन किया है। पाटलिपुत्र के सम्बन्ध में फाहियान ने लिखा है—

"मध्यप्रदेश में इस जनपद का यह सबसे बड़ा नगर है। अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं।"[1]

२. **चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण**—वर्माजी द्वारा अनुवादित यह ग्रन्थ देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला का द्वितीय पुष्प है। प्रथम बार संवत् १९७७ में इसका सम्पादन काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ था। सुंगयुन का यात्रा-विवरण बहुत छोटा ग्रन्थ है। इसमें सुंगयुन की तुर्किस्तान, हानमो, खुतन, यारकन्द, गांधार, तक्षशिला, गोपाल गुहा आदि की यात्रा वर्णित है। साथ ही सीमास्थ देशों के उद्यानादि का भी अच्छा वर्णन इसमें विद्यमान है। यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी ऐतिहासिक तत्त्व से पूर्ण है।

"चेनई के पास लोयांग नगर के उत्तर-पूर्व तुनह्वांगवासी सुंगयुन का घर था। इसीको भिक्षु हुईसांग के साथ महावीई वंश की विधवा महारानी ने अपना दूत बनाकर पश्चिम के जनपदों में बौद्ध-धर्म की पुस्तकों की खोज के लिए भेजा।"[2]

३. **सुयेनच्वांग**—जगन्मोहन वर्माजी ने इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद प्रथम बार सं० १९८० वि० में किया था। तभी इसका प्रकाशन हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। २५४ पृष्ठों की इस पुस्तक में सुयेनच्वांग ने भारत के भिन्न-भिन्न जनपदों और नगरों, जैसे प्रयाग, मगध, नालन्दा, राजगृह, खुतन आदि के, वहाँ की प्रकृति और प्रजा के तथा भारतवर्ष के आचार-व्यवहार के अच्छे वर्णन किए हैं। सुयेनच्वांग का यात्रा-वर्णन सबसे बड़ा और विशद है। उसने अपने यात्रा-विवरण का नाम 'सी-यू-की' रखा है जिसका अर्थ होता है, 'पश्चिम देशों की पुस्तक'। वह बारह खण्डों में विभक्त है और सैकड़ों जनपदों और नगरों के विस्तृत वर्णनों से भरी हुई है।

---

१. चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण—जगन्मोहन वर्मा, पृ० ७

२. चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण—जगन्मोहन वर्मा, पृ० १

पं० गुलजारीलाल चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी ने हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवाएँ की हैं। आपने तिब्बत-भ्रमण किए हुए जापानी यात्री के वर्णन को हिन्दी में अनुवादित करके प्रस्तुत किया है। 'तिब्बत में तीन वर्ष' नामक यह ग्रन्थ अंग्रेजी के 'थ्री इयर्स इन टिबेट' का अनुवाद है। इस ग्रन्थ के मूल लेखक जापानी यात्री ईकाई कावागुची हैं। चतुर्वेदीजी द्वारा अनुवादित इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्रथम बार सन् १९२२ ई० में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से हुआ था। हिन्दी पुस्तक एजेन्सी का यह २५वाँ पुष्प है। ५१८ पृष्ठों के इस ग्रन्थ में ईकाई कावागुची की तिब्बत यात्रा का सम्पूर्ण वर्णन दिया हुआ है। इस जापानी यात्री ने तिब्बत में तीन वर्ष रहकर लगभग सभी प्रदेशों में पर्यटन किया। अपने इस पर्यटन में बिदाई से लेकर नेपाल-यात्रा, तिब्बत की सबसे बड़ी नदी, हिमालय की कथा, शाक्य मन्दिर, लासा का पथ, सेरा कालेज, एवं पाँच महाद्वार का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही तिब्बत की बर्बरता, तिब्बत के धन के लेन-देन की व्यवस्था, वहाँ के छात्र-छात्राएँ, विवाह और विवाहित जीवन, विवाह की विभिन्न रीतियाँ, वहाँ का राजदण्ड, घोर अन्त्येष्टि और घोरतम चिकित्सा, गन्द से भरी राजधानी, लामा शासन, तिब्बत का व्यापार और कारीगरी, तिब्बत की स्त्रियाँ, राज्य-व्यवस्था का विस्तृत विवरण दिया गया है। अपने भ्रमण में कावागुची ने इनका सूक्ष्म निरीक्षण किया है। इन वर्णनों के अतिरिक्त प्रकृति के सुन्दर दृश्य-विधान में मनोरम हिमालय, बर्फिस्तान, पुण्यक्षेत्र मानसरोवर का भी अवलोकन कर उसके विवरण को लिपिबद्ध किया गया है। अनुवाद बड़ी सरल भाषा में किया गया है जो सुन्दर बन पड़ा है, जिसमें तथ्य सम्बन्धी बातें अधिक हैं। एक उद्धरण देखिए—

"पहाड़ी (डोलमा-ला) पर चढ़ने से कैलास पर्वत के उत्तरी अंशों की एक बरफीली माला दिखाई पड़ती है जिसे तिब्बती लोग गैल्पो नौरजिंगी फोपरोंग कहते हैं और जिसका अर्थ है—धन के स्वामी कुबेर का निवास-स्थान।"[1]

पं० रूपनारायण पांडेय

पाण्डेयजी हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हैं। इन्होंने हिन्दी को अनुवादित साहित्य भी प्रदान किया है। 'भू-प्रदक्षिणा' इसी प्रकार का एक यात्रा-ग्रन्थ है। पाण्डेयजी ने इस यात्रा-ग्रन्थ का अनुवाद सन् १९२५ ई० में किया था। इण्डियन प्रेस, प्रयाग से इसका प्रकाशन हुआ था। यह एक बंगला पुस्तक का अनुवाद है जिसके मूल लेखक बाबू चन्द्रशेखर सेन हैं। पाण्डेयजी ने इस पुस्तक का अनुवाद बड़ी सुन्दर और सरल भाषा में किया है। इसमें सम्पूर्ण भू-मण्डल की यात्रा का वर्णन लिपिबद्ध किया गया है, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। चीन और जापान का पर्यटन

---

१. तिब्बत में तीन वर्ष—अनु० *गुलजारीलाल चतुर्वेदी*, पृ० २७४

बहुत कम है। अमेरिका की यात्रा का वर्णन भी लम्बा नहीं है। परन्तु यूरोप के छोटे-बड़े प्रायः सभी देशों का सचित्र वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। विशेष रूप से लन्दन का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। लेखक ने अपनी यात्रा में दर्शनीय स्थानों, प्रसिद्ध पुरुषों और उल्लेखनीय संस्थाओं आदि का वर्णन बड़ी ही चटकीली भाषा में किया है। जहाँ-जहाँ पर उन्होंने विदेशियों के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विषयों पर लेखनी चलाई है, वहाँ उनके वर्णनों में पर्याप्त सजीवता आ गई है। उनसे हमारी ज्ञानवृद्धि भी होती है, अपनी त्रुटियाँ भी अपने नेत्रों के समक्ष आ जाती हैं। भिन्न-भिन्न देशों के निवासियों में जो बातें अच्छी हैं उनको ग्रहण करने की शिक्षा भी मिलती है। ग्रन्थ के वर्णन बड़े ही स्वाभाविक तथा प्रत्यक्षवत् हुए हैं। सामाजिक तथा प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बहुत ही चित्ताकर्षक तथा वास्तविक बन पड़ा है। पृथ्वी के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक की चित्र-विचित्र वस्तुओं के मनोहारी वर्णन तथा महत्त्वपूर्ण स्थानों और वस्तुओं के सुन्दर नयनाभिराम चित्रों के कारण ऐसा जान पड़ता है जैसे पाठक मूल वस्तु को ही अपनी आँखों से देख रहा है। पुस्तक के पृष्ठ उलटते ही धन-धान्य, व्यापार, व्यवसाय के केन्द्र, विशाल नगरों के दृश्य नेत्रों के समक्ष नृत्य करने लगते हैं। किस देश के लोगों का स्वभाव कैसा होता है, समाज में कैसे-कैसे फैशन प्रचलित हैं, ये सब बातें भू-प्रदक्षिणा से ज्ञात हो जाती हैं। यह प्रदक्षिणा सन् १८८९ ई० में हुई थी।

श्री मदनगोपाल

'इब्नबतूता की भारत-यात्रा'—इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद मदनगोपालजी द्वारा प्रथम बार संवत् १९८८ में हुआ था। यह अनुवादित यात्रा-ग्रन्थ काशी विद्यापीठ, बनारस से श्री मुकन्दीलाल श्रीवास्तव के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ में इब्नबतूता की यात्रा का सम्पूर्ण विवरण दिया हुआ है। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के तत्कालीन लेखकों और इतिहासकारों में शेख अब्दुल्ला मुहम्मद अथवा इब्नबतूता का नाम आदर सहित स्मरण किया जाता है। अपनी भारतीय यात्राओं द्वारा चौदहवीं शताब्दी की भारतीय सामाजिक अवस्था तथा मुस्लिम संस्कृति पर इब्नबतूता ने काफी प्रकाश डाला है। इस यात्री ने लगभग तीस वर्ष तक विभिन्न मुस्लिम प्रदेशों में पर्यटन किया और मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में भारत में भी लगभग ९ वर्ष तक रहा, अंत में मोरक्को के सुलतान की आज्ञा एवं कृपा से उसके अनुभव अरबी में लिपिबद्ध किए गए। मदनगोपालजी ने इस पुस्तक का अनुवाद विशेषतया उर्दू और अंग्रेजी के अनूदित ग्रन्थों के आधार पर किया है। उन्होंने अपने इस अनुवाद में इब्नबतूता के विवरण को सरल और सुबोध कर प्रस्तुत किया है। अनुवादक ने पुस्तक को उपयोगी बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। इब्नबतूता का मार्ग निर्दिष्ट करने के लिए प्रारम्भ में भारत का मानचित्र भी दिया गया है और अन्त में संदर्भ के लिए अनुक्रमणिका भी जोड़ दी गई है। पुस्तक की भूमिका भी बड़े महत्त्व की है, क्योंकि उससे इब्नबतूता

के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। पर लेखक महोदय के मुहम्मद तुगलक सम्बन्धी विचारों से सहमत होना अत्यन्त कठिन है। मुहम्मद के विषय में आधुनिक इतिहासकारों की धारणा बदलती जा रही है। स्मिथ अथवा एलफिन्सटन महोदय के विचार तो एकदम अग्राह्य सिद्ध किए जा चुके हैं। उसकी यात्रा का यह वर्णन कितने ही वर्ष पश्चात् केवल स्मृति के भरोसे लिखा गया जान पड़ता है। बहुत-सी बातें उसने ऐसी लिखी हैं जो केवल जनश्रुति पर ही अवलम्बित हैं और बहुत-सी बातें तो एकदम कपोल-कल्पित और निराधार हैं, उदाहरणार्थ इब्नबतूता कुतुबमीनार के विषय में लिखता है—

"भीतर से सीढ़ियाँ भी इतनी चौड़ी हैं कि हाथी तक ऊपर चढ़ जाता है, एक सत्यवादी पुरुष मुझ से कहता था कि मीनार बनते समय मैंने हाथियों को ऊपर पत्थर ले जाते हुए देखा था।"[1]

इसी प्रकार की अनेकों बातें कही गई हैं। अनुवाद के साथ-साथ जो फुटनोट दिए गए हैं वे सचमुच अत्यन्य लाभदायक हैं। इनसे लेखक एवं सम्पादक महोदय के विस्तृत अध्ययन और परिशीलन का भाव प्रकट होता है।

श्री धन्यकुमार जैन

धन्यकुमार जैन हिन्दी के बड़े प्रेमी हैं। उन्होंने बँगला के बहुत-से साहित्य को हिन्दी में अनुवादित कर जनता एवं साहित्य-प्रेमियों का उपकार किया है। 'रूस की चिट्ठी' बँगला में लिखी गई एक भ्रमण-कहानी है, जिसे आपने हिन्दी में अनुवादित किया है। इसके मूल लेखक श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं। इस पुस्तक का प्रकाशन प्रथम-बार सन् १९३१ ई० में विशाल भारत पुस्तकालय, कलकत्ता से हुआ था। १८० पृष्ठों की इस पुस्तक में रवीन्द्रनाथजी की चिट्ठियाँ संगृहीत हैं। ये चिट्ठियाँ रवीन्द्रनाथ ने मास्को, बर्लिन, अटलांटिक सागर से लिखकर अपने देश को भेजी थीं। अपनी सागरीय यात्रा के अनुभव, रूस की शिक्षा-व्यवस्था, रहन-सहन, कृषकों का वैज्ञानिक ढंग, भ्रमण आदि का विस्तृत विवरण आपने इस ग्रन्थ में दे दिया है। विशेष रूप से विदेशों की शिक्षा-व्यवस्था का ही वर्णन इस भ्रमण-कहानी में दिया गया है। रूस-यात्रा का उनका उद्देश्य यही ज्ञात होता है—"वहाँ जन-साधारण में शिक्षा-प्रचार का कार्य किस प्रकार चलाया जा रहा है और उसका फल क्या हो रहा है, थोड़े समय में यह देख लेना।"

पुस्तक के अन्तिम अंश परिशिष्ट भाग में रवीन्द्रनाथजी के श्रीनिकेतन के वार्षिकोत्सव पर ग्रामवासियों के प्रति दिए हुए भाषण भी संगृहीत कर दिए गए हैं।

---

१. इब्नबतूता की भारत-यात्रा—अनु० मदनगोपाल, पृ० ५०

सरल भाषा-शैली में अनुवादित पुस्तक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। मास्को का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

"मास्को की सड़कों पर सब तरह के आदमी चल-फिर रहे हैं। किसी में शान-शौकत नहीं, कोई फीट-फाट नहीं, देखने में मालूम होता है कि मानो अवकाश-भोगी समाज यहाँ से सदा के लिए विदा हो गया है। सभी अपने हाथ-पैरों से काम-धन्धा करके जिन्दगी बिताते हैं, बाबूगिरी की पालिश कहीं है ही नहीं।"[1]

श्री रामचन्द्र वर्मा

वर्माजी हिन्दी के प्रेमी और प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने बँगला से अनुवादित साहित्य भी हिन्दी में दिया है। 'मानससरोवर और कैलास' इसी प्रकार का ग्रन्थ है। इसके मूल लेऊक श्री सुशीलचन्द्र भट्टाचार्यजी हैं। ये बंगला के प्रसिद्ध लेखकों की श्रेणी में हैं। मानससरोवर और कैलास-यात्रा-ग्रन्थ का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सं० १६६६ में हुआ था। इसका प्रथम संस्करण हमें देखने को नहीं मिल सका। यह मनोरंजन पुस्तकमाला का ५२वाँ पुष्प है। २६० पृष्ठों के इस ग्रन्थ में दिया हुआ यात्रा-विवरण बंग भाषा की प्रतिष्ठित पत्रिका 'वसुमती' में खण्डशः छपा था। वर्माजी ने उसी यात्रा-विवरण के भावपक्ष और व्यवहारपक्ष—दोनों का उचित ध्यान रखकर इस पुस्तक का प्रणयन किया है। अलमोड़ा से धारचूला तपोवन, गर्वियांग, तकलाकोट, मानससरोवर और कैलास की यात्रा गई है। अपनी पद-यात्रा का विस्तृत वर्णन इसमें दे दिया गया है। जिस प्रकार इसमें उन सब दृश्यों का सजीव और स्पष्ट चित्रण हुआ है जो सुषुमा, भव्यता, विशालता, विचित्रता, पवित्रता इत्यादि की रहस्यमयी भावनाएँ जगाकर हमारे हृदय को अनुभूति की अत्यन्त रमणीक भूमि में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार उस विकट और दीर्घ यात्रा को निर्विघ्न और सुव्यवस्थापूर्वक समाप्त करने के लिए जितनी बातों का जानना आवश्यक है उतनी सब और कहीं-कहीं उससे बहुत अधिक भी—इसमें दी हुई मिलती हैं। इससे केवल प्राकृतिक दृश्य-वैचित्र्य के अन्वेषक ही नहीं वरन् धर्मपरायण तीर्थयात्री भी लाभ उठा सकते हैं। यात्रा-वर्णन के साथ-साथ इसमें कैलास-मानससरोवर आदि की ठीक-ठीक स्थिति का निर्देश करनेवाले प्रमाण भी रामायण, महाभारत एवं पुराणादि से दिए गए हैं तथा प्रत्येक दर्शनीय स्थान का पूरा विवरण सन्निविष्ट है। इसके अतिरिक्त पुस्तक में उन प्रदेशों के निवासियों के शील और आचार-व्यवहार का भी परिचय दिया गया है। यात्री को क्या-क्या वस्तुएँ अपने पास रखनी चाहिए, मार्ग में कितने टिकान पड़ते हैं और कहाँ किस प्रकार की सवारी आदि का सुभीता हो सकता है, ये सभी बातें भी, खर्च के व्यौरे के साथ, दे दी गई हैं। ललित सरल भाषा में प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के साथ-साथ प्रत्येक तीर्थ के ऐतिहासिक और पौराणिक

---

१. रूस की चिट्ठी—रवीन्द्रनाथ ठाकुर—अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० ८-९

तत्त्वों के अनुशीलन में ग्रन्थकार ने अपूर्व कृतित्व का परिचय दिया है। इस पुस्तक के परिचय में पण्डित रामचन्द्र शुक्लजी ने भी लिखा है—"पाठक देखेंगे कि भावपक्ष और व्यवहारपक्ष दोनों का उचित ध्यान रखकर इस पुस्तक का प्रणयन हुआ है। जिस प्रकार इसमें उन सब दृश्यों का सजीव और स्पष्ट चित्रण हुआ है जो सुषमा, भव्यता, विशालता, विचित्रता, पवित्रता इत्यादि की रहस्यमयी भावनाएँ जगाकर हमारे हृदय को अनुभूति की अत्यन्त रमणीय भूमि में पहुँचा देते हैं, उसी प्रकार उस विकट और दीर्घ यात्रा को निर्विघ्न और सुव्यवस्थापूर्वक समाप्त करने के लिए जितनी बातों का जानना आवश्यक है, उतनी सब—और कहीं-कहीं उससे बहुत अधिक भी—इसमें दी हुई मिलेंगी।"[1] यहाँ पर इस पुस्तक से हम क्रमशः भाषा और तथ्य सम्बन्धी दो उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें उपर्युक्त विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—

"चन्द्रमा के प्रकाश में उस जल में दो-चार चंचल सारस पक्षी इधर-उधर उड़ते हुए छोटी-छोटी मछलियों का शिकार कर रहे थे। इधर गुरेला मांधाता का तुषार-शोभित विस्तृत शरीर ज्योत्स्ना के प्रकाश में सफेद रंग की फेन-राशि के समान ह्रद की गोद में पड़ा हुआ था। मानो मान्धाता की अनंत काल-व्यापिनी तपस्या का अभी तक अन्त नहीं हुआ था।"[2]

कैलास का वर्णन करते हुए लिखा है—

"उस समय यह स्थान ताल-तमाल की वनराजि से घिरा हुआ था। यहाँ वृक्षों, लताओं, फलों और फूलों से सुशोभित सुरभित सुरम्य उपवन था। आर्ष्टिषेण मुनि सरीखे असंख्य योगियों और ऋषियों के साधनाश्रम यहाँ दिखाई पड़ते थे। उस समय देवों और गंधर्वों के सैकड़ों भक्त नित्य ही 'हर-हर महादेव' किया करते थे और देवाधिदेव महादेव के स्तुतिगान से यहाँ का आकाश गूँजा करता था।"[3]

★

१. मानससरोवर और कैलास (परिचय से), पृ० ४-५

२. मानससरोवर और कैलास—सुशीलचन्द्र भट्टाचार्य—अनु० रामचन्द्र वर्मा, पृ० १७१

३. मानससरोवर और कैलास—अनु० रामचन्द्र वर्मा, पृ० १९७

: ७ :

यात्रा-साहित्य (साहित्यिक मूल्यांकन)

प्रस्तुत अध्याय में हम यात्रा-साहित्य का साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे। समालोचना सम्बन्धी इस खण्ड में यद्यपि हमें थोड़ा-बहुत शास्त्रीय समीक्षा पद्धति का सहारा लेना पड़ेगा, तथापि हम समालोचना का उद्देश्य केवल रचना के सौन्दर्य-तत्त्व तक पहुँचना ही समझते हैं। इसी दृष्टि का उद्घाटन समालोचना का उद्देश्य है। अभिनवगुप्त ने समालोचना की परिभाषा में यही बात स्पष्ट की है—"अपने लोचन (ज्ञान या मन) द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या करता हुआ मैं काव्यालोक (ध्वन्यालोक) को जनसाधारण के लिए सविस्तार स्पष्ट करता हूँ।[1] चन्द्रिका (ध्वन्यालोक-लोचन पर लिखी गई उसकी व्याख्या) के रहते हुए भी लोचन के बिना लोक या ध्वन्यालोक का ज्ञान असम्भव है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने प्रस्तुत रचना में (पाठकों की) आँखें खोलने का सफल प्रयास किया है।"[2]

पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्त भी कृति के सौन्दर्य तत्व तथा उसकी अन्त-वृत्तियों का उद्घाटन करना चाहते हैं, अतः इस प्रस्तुत आलोचना का उद्देश्य केवल यही है कि हम यात्रा-साहित्य के काव्य-सौन्दर्य, उसमें निहित लेखक अथवा कवि के व्यक्तित्व, उसकी विभिन्न शैलियों का विवेचन, भाषा-सौन्दर्य आदि तत्त्वों को सम्मुख लावें, क्योंकि ये रचनाएँ किसी शास्त्रीय-पद्धति पर प्रस्तुत नहीं की गई हैं, इनका उद्देश्य तो सीधे-सादे मनोभावों, उद्गारों को अभिव्यंजित करना मात्र है, और हम उसी अभिव्यंजना तत्त्व की छानबीन कर लेना चाहते हैं। इस प्रयास में हम डाक्टर रामकुमार वर्माजी के इस कथन की व्यावहारिकता को स्वीकार करते हैं—"आवश्य-कता इस बात की है कि साहित्य की समीक्षा करने के लिए जो नियम या सिद्धान्त बनाए जाएँ, वे इतने व्यापक और लचीले हों कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रकृति के अनुरूप वे स्थानान्तरित होती हुई दृष्टि को अपने में समाहित कर सकें। समालोचना के सिद्धान्त वसन्तकालीन उस प्राकृतिक वैभव के अनुरूप हों, जिसमें प्रत्येक प्रकार के पुष्प का विकास हो सके; अथवा सूर्य का ऐसा आलोक हो, जिसमें प्रत्येक प्रकार

---

१. यत्किंचिद प्यनुरणान्स्फुटयामि काव्यलोकं स्वलोचन नियोजनया जनस्य—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २

२. वही, पृ० १६४

किं लोचनं बिनालोंकोभाति चन्द्रिक्यापिहि ।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ।।

के रंगों की अन्तर्व्याप्ति सम्भव हो।"[1] उक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए हमने केवल उन तत्त्वों पर दृष्टिपात किया है जिनमें लेखक की वृत्ति रमती हुई दिखलाई पड़ती है। प्रधानतया प्रकृति सौन्दर्य, दार्शनिक भावना तथा मनोरंजन वृत्ति ही ऐसे तत्त्व हैं जिनमें यात्री तन्मय होता हुआ दिखलाई देता है, अतः रसात्मक दृष्टि से इन्हीं अंगों का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

बाह्य रूप से शैली और भाषा का विश्लेषण कुछ शास्त्रीय पद्धति पर किया गया है; इसके लिए हमको यही माध्यम उपयुक्त प्रतीत हुआ, यद्यपि इसका उद्देश्य भी रसात्मक अनुभूति कराना ही स्पष्ट होता है। आगे के अध्याय में प्रस्तुत सामग्री में हमने कहीं-कहीं पर अनूदित साहित्य के उद्धरण भी ले लिए हैं; अनुभूति की व्यापकता तथा सार्वभौमिकता दिखलाने के लिए ही हमने ऐसा किया है। वास्तव में यात्री के सर्वांगीण व्यक्तित्व को सम्मुख लाना ही यहाँ पर हमारा उद्देश्य है।

स्वदेश-विदेश यात्रा

आलोच्य विषय को अपनी सुविधा के लिए हम दो स्थूल वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। यात्रा-साहित्य के लेखकों में मुख्यतः दो प्रकार के यात्री हैं, एक तो वे जो स्वदेश में ही विभिन्न यातायात के साधनों द्वारा यात्रा करते रहे हैं और द्वितीय वे जो दूर-दूर जाकर विदेश-यात्राओं का भी आनन्द उठाते रहे हैं। निश्चय ही द्वितीय प्रकार के लेखक जहाँ एक ओर स्वयं विशेष आनन्द उल्लास का उपभोग करते हैं वहाँ पाठकों को भी अधिक आकर्षित करते हैं? अवश्य ही विदेश-यात्राओं के विवरण अधिक मनोरंजक तथा कौतूहलवर्धक होते हैं। उनमें एक नवीनता की रोचकता साद्यन्त बनी रहती है।

लेखक के व्यक्तित्व की झलक भी इन सम्पूर्ण कृतियों में पूर्णतया दृष्टिगत होती है। उसकी व्यक्तिगत रुचि का संकेत भी हमें उसकी कृतियों में निरन्तर मिलता है और उसका जीवन-दर्शन भी हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है।

वैदिक युग से वर्तमान युग तक की आलोचना करते हुए हमने देखा है कि स्वदेश में ही यात्रा का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत रहा है, विदेश के क्षेत्र को सम्मिलित कर देने पर तो वह अत्यन्त अधिक विस्तृत हो जाता है। इन यात्राओं के साधन भी विविध रूप रहे हैं। पदातिक यात्रा से लगाकर आधुनिक राकेट-यात्रा तक के उदाहरण यात्रा-साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। भू, पर्वत तथा अन्तरिक्ष यात्रा के रोमांचकारी, हृदयहारी उदाहरण इस साहित्य में भरे पड़े हैं।

प्रधानतया उपर्युक्त प्रकार के यात्रा-रूपों की परीक्षा हम तीन दृष्टियों से करेंगे—१. प्राकृतिक,

२. दार्शनिक तथा

३. मनोरंजन मूलक।

---

१. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० २, साकेत प्रकाशन, इलाहाबाद—१६५५

१. प्राकृतिक दृष्टि—प्राकृतिक दृष्टि में पार्वत्य प्रकृति के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। हिमाच्छादित शृंगों, सरिताओं तथा झीलों का वर्णन प्रधानतया किया गया है। प्रकृति के सूक्ष्म रंगों, मेघों द्वारा उत्पन्न मोहक वातावरण, पुष्पों की फैली हुई विस्तृत क्यारियों और उनके मनोमुग्धकारी रंगों का वर्णन बड़ी ही मनोरम शैली में मिलता है। वनों की हरीतिमा, उनका व्यापक प्रसार, सघन गम्भीरता का चित्र लेखकों ने सफलता के साथ अंकित किया है। विभिन्न ऋतुओं के वर्णनों में लेखकों की वैयक्तिक झलक भी दृष्टिगोचर होती है। उनकी दार्शनिकता, विनोदवृत्ति, कला-प्रेम, संस्कृति आदि के स्पष्ट चित्र हमारे सम्मुख खिंच जाते हैं।

वास्तव में यात्राओं के बीच इस प्राकृतिक दृष्टि का बड़ा महत्व है। प्रकृति मानव की आदिम सहचरी है। आदिकाल के प्रथम पुरुष ने जब इस पृथ्वी पर अपने नेत्र खोले तो उसको सर्वप्रथम प्रकृति का ही साहचर्य एवं सहयोग प्राप्त हुआ। आदिकाल के मानव ने जब चेतना उपलब्ध की तो उसने स्वयं को हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वतश्रेणियों से परिवृत पाया। तब भला अकृत्रिम पर्वतीय प्रदेश की यात्रा करनेवाला यात्री लेखक इस प्राकृतिक दृष्टि से क्यों वंचित रह सकता है ? आधुनिक यात्रा-साहित्य के लेखकों को भी पर्वत के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करने का अवकाश मिला और वे अपने चारों ओर प्रकृति की मुग्धकर माधुरी का दर्शन करते हुए उसका यथार्थ और विशद चित्रण करने लगे। अपनी 'कैलाश-यात्रा' में देखे गए एक प्राकृतिक दृश्य का यथार्थ चित्रण अंकित करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा है—

'ऊँटाधुरा की चोटी पर पहुँच गए। अपूर्व नैसर्गिक छटा। श्वेत भवन के पुनीत दर्शन। भगवान भास्कर के चरणों से लिपटी हुई श्वेतांगना बाला पति के पाओं के रज को अपने आँसुओं से धो रही है। वे उसे प्रेम से आलिंगन कर अपना अपराध क्षमा करवा रहे हैं और नीले, पीले, बैंजनी, सुनहले रेशमी वस्त्रों को अपनी प्यारी के अंगों पर डाल उसके सौन्दर्य को बढ़ा रहे हैं।'[1]

सत्यदेवजी का मानवीकरण से पूर्ण यह वर्णन अच्छा बन पड़ा है। 'नन्द-प्रयाग' और 'कर्णप्रयाग' के सुन्दर प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए प्रोफेसर मनोरंजन ने लिखा है—

'थोड़ी दूर आगे चलने पर सुबह की सफेदी आसमान में छा गई और प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश में मैंने आसपास का सुहावना दृश्य देखा। सड़क अच्छी सीधी थी। चारों ओर चीड़ के जंगल थे, जिनके साथ सुथरे सीधे पेड़ों के नीचे सूखे पत्तों का चिकना मखमली फर्श देखकर मन आप-ही-आप उन पर फिसल पड़ता था। पास ही अलकनन्दा अठखेलियाँ करती हुई बह रही थी। उधर वृक्षों पर चिड़ियों की तान

---

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५७

अलग ही प्राणों में मीठी गुदगुदी-सी पैदा कर रही थी । नदी के किनारे हरे-भरे खेत काफी सुहावने प्रतीत होते थे । मैंने एक बार पीछे की ओर मुड़कर देखा दूर, बहुत ही दूर, हिमालय की बर्फीली चोटी दिखाई दे रही थी, जिस पर पड़कर प्रभातकालीन सूर्य-किरणें मुस्करा रही थीं । मुझे मोह मालूम हुआ । जी में हुआ कि आखिर ये सारे दृश्य हमसे छूट रहे हैं । हृदय से-आह निकली—

> **बटोही फिर यह मीठी तान ।**
> **फिर न मिलेगा सुनने को यह मधुर मनोहर गान ।।**
> **हिम की ऊँची चोटी पर उन किरणों का मुसकाना ।**
> **पर्वत के सुन्दर प्रभात में चिड़ियों का यह गाना ।।**
> **धीरे-धीरे हो जाएँगे सारे स्वप्न समान ।**
> **गिरि-सरिता का यह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का ।।**
> **चीड़ विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका ।**
> **पयस्विनी के सुन्दर तट पर ये लहराते धान ।।**[1]

स्वनिर्मित पथ का प्रयोग करके कवि ने अपनी हृदय की आह का भावुक परिचय दिया है । गद्य-पद्यमयी रचना के द्वारा लेखक का कवि-हृदय झलकता है । मानसरोवर की यात्रा करते हुए रामशरण विद्यार्थी प्रकृति के हृदयग्राही और चित्ताकर्षक रूपों को देखकर स्वागत में विभोर होकर कह उठते हैं—

"यहाँ पर सायंकाल को महाप्रशान्त वायुमण्डल में हिमपात एक विचित्र प्रदर्शन था । देखते-देखते सारे काले पर्वत श्वेताम्बरी हो गए । सारा मैदान भी श्वेत वस्त्रधारी हो गया । रात को पुनः हिमपात होता रहा और प्रातः उठते ही सारा स्थान श्वेत-ही-श्वेत दृष्टिगत हुआ । नेत्रों में एक विशेष ज्योति और हृदय में आनन्द की स्फूर्ति-सी थी । पहाड़ी चोटियाँ सूर्य-प्रकाश से रजत के समान चमकती थीं और आकाश-स्थित बादल भी निस्तेज बर्फ के पहाड़ के समान देख पड़ते थे ।"[2]

बदरीनाथ की यात्रा में हिम-शिखरों का जो भव्य दृश्य विष्णु प्रभाकर ने देखा है, उसका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :—

"अंधकार जैसे-जैसे गदराता गया, वैसे-वैसे ही उन शिखरों का रंग पलटता गया । पहले उषा और फिर अवरुद्ध किरणों ने जैसे ही उनका स्पर्श किया, प्रकृति-नटी अँगड़ाई लेकर उठ बैठी । अब तक एक शिखर स्मित हास्य से लगभग जगमग कर उठा, जैसे अप्सरा खिलखिला उठी हों और उनकी इन्द्रधनुषी साड़ी हवा में उड़ने लगी हो । बुरांस के फूल झूम-झूमकर नाचने लगे । पक्षी संगीत सजाने लगे । गंगोत्री, जमनोत्री, केदारनाथ, बदरीनाथ, चौखम्बा सभी रजत-शिखर सूर्य के प्रकाश में चमक रहे थे ।"[3]

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २२२-२३
२. कैलाश पथ पर—रामशरण विद्यार्थी, पृ० ७६
३. मेरी बदरीनाथ यात्रा—विष्णु प्रभाकर—विशाल भारत, अप्रैल १९५६

श्री गोपाल नेवटिया ने काश्मीर के पर्वतीय सौन्दर्य का भावात्मक वर्णन किस प्रकार किया है, देखिए—

"नील उदधि के उस छोर से निकलते हुए भगवान अंशुमाली को पर्वत के उच्च शिखर पर से झाँकते हुए सूर्य को भी कई बार देख चुका था।......उस सौन्दर्य-दर्शन में कितनी आत्म-विस्मृति थी। मेरे मनोगत भावों को वाणी ने इस प्रकार प्रकट किया था—

मरुस्थली की शोभा को चमकाकर रूप रतन से।
नभ दुकूल से आच्छादित, नित बिरहित हरित वसन से।
स्वर्ण-कान्ति सम शोभामय इस अतिशय कोमल तन को।
प्रकृति सुन्दरी दिखा रही है अपने प्रेमी जन को॥
आते-जाते क्षितिज प्रान्त पर देख स्थान निर्जन-सा।
कर पसार, आलिंगन आतुर होकर विह्वल मन-सा॥
चूम रहा है प्रकृति रूप में मुग्ध भानु धरती को।
विस्मृत कर दूँ इस क्रीड़ा में तापतप्त जगती को॥

काश्मीर के शैल-शिखरों पर लोटती हुई चारु चन्द्रिका को, मैं कल्पना की झाड़ियों में से आते हुए प्रकाश की भाँति देख रहा था कि सहसा मेरे नेत्र द्वय के सम्मुख चन्द्रिकासिक्त हिमगिरि देख रही थी और मेरी असली आँखें सिकता-समूह। इन दोनों की क्या तुलना करूँ? वहाँ चाँदी-पर-चाँदी बरस रही है, यहाँ सोने पर चाँदी।"[1]

श्रीनगर की रम्य स्थली में गगनचुम्बी पर्वतमालाएँ उसकी छटा को किस प्रकार अद्वितीय बनाए हुए हैं, इसका वर्णन करते हुए पृथ्वीपालसिंह ने 'श्रीनगर की सैर' में लिखा है—

"श्रीनगर के चारों ओर गगनस्पर्शी पर्वतों की पंक्तियाँ प्रकृति का गौरव-गान कर रही हैं। श्रीनगर के हृदय-पटल पर मंदगति से झेलम नदी प्रवाहित हो रही है।...श्रीनगर का सारा सौन्दर्य झेलम के वक्ष.स्थल और लोल तरंगों पर तैरा करता है। श्रीनगर में सरिता की शांत गोद में पर्वतशिलाएँ और विशाल लट्ठे नहीं खेलते, उनके स्थान पर सुन्दर काठ के बने हुए हाउस-बोट, डोंगे और शिकारे क्रीड़ा करते हैं......रात्रि के समय जब निर्मल आकाश में चाँद अपनी सोलहों कला से निकलता है उस समय श्रीनगर की छटा अद्वितीय होती है। नगर के चारों ओर पर्वतमाला और शुभ्र चाँदनी में चमकता हुआ रजत मुकुट-सा हिमागार, झेलम के कंचन-से नीर में जगमगाता हुआ चाँद का प्रतिबिम्ब, हाउस-बोटों और तट पर बसे

१—काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ६०-६१

हुए मकानों की प्रतिच्छाया, सरिता की स्निग्ध तरंगों का स्वर्गीय गान हृदय को पागल बना देता है।"[1]

स्वदेश की काव्यमयी यात्रा में नगाधिराज हिमालय के गगनभेदी शिखरों की दृश्यावली को देखकर 'तिब्बत की यात्रा' में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने लिखा है—

"कुछ ही क्षण में नगाधिराज हिमालय के प्रत्यक्ष दर्शन होने लगे। नीलवर्ण, विशाल शरीर, उत्तुंग गगनभेदी शिखर जिससे कालिदास की कविता मूर्तिमती होकर आगे आ गई—

अस्तुत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयोनाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोय निधी वगाह्य स्थितः पृथिव्यामिव मानदण्डः ॥[2]

इसी प्रकार पर्वतीय स्वर्ग-मन्दिर के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए ठाकुर गदाधरसिंह अपनी काव्यमयी शैली में लिखते हैं—

स्वर्ग-मन्दिर के इस स्वर्ग-स्थान में किसी समय सचमुच स्वर्गीय सुख प्राप्त होते होंगे। प्रकृति देवी की सर्वांग सौन्दर्यपूरित मूर्ति अनेक प्रकार के वन-पुष्पलता पत्रादि आभरणधारिता जब दृष्टपथगामिनी होती होगी तब दर्शक निःसन्देह तन्मय हो ही जाता होगा।

नीरद सुखद समीरयुत बरसत कंचन नीर।
मोसिर छत्र दरिद्र को बूँद न लगत शरीर ॥

···जो स्थान, जो सौन्दर्य, जो मनमोहन प्रकृति-मूर्ति और जो सुगन्धसनी वायु राजाधिराज चीन देशाधिपति का मनमोहन करती थी, वही सब सौन्दर्यमयी रचना आज एक साधारण विदेशी सिपाही को मर्मान्त दुख से अधीर बनाय रुदन करा रही है।"[3]

ईश्वरचन्द्र शर्मा ने पहलगाँव की पर्वतीय यात्रा में आए हुए सभी प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन किया था। अपनी इसी यात्रा के एक सुन्दर वर्णन में उन्होंने लिखा है—

"सूर्यास्त के समय पर्वत के शिखरों पर गिरती हुई सूर्य की म्लान और पीली किरणें एक अपूर्व कान्ति धारण कर लेती हैं। सूर्य-किरणों की चमक नष्ट हो जाने के बाद भी उन गिरि-शिखरों पर से आँखें नहीं हटतीं। उसके बाद रात्रि धीरे-धीरे संसार पर अंधकार की काली चादर फैला देती है। तारों के प्रकाशित होते ही सारा पर्वत-प्रदेश उनके झिलमिल प्रकाश से चमक उठता है। लिदर की चंचल चपल तरंगों में पड़कर चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्सना चाँदी की तरह चमचमा उठती है।

---

१. श्रीनगर की सैर—पृथ्वीपालसिंह, सुधा—१९२९, वर्ष ३, खंड १, सं० १, पृ० १०-११
२. तिब्बत में २३ दिन—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० ८
३. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० १८७

वृक्ष के पत्तों के हिलने से चन्द्रमा की चितकबरी किरणें धरती पर टहलने लगती हैं। नदी और पर्वत दोनों एक-दूसरे को देखकर मुस्करा पड़ते हैं।"[१]

सोलन के पहाड़ों के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन कर शिवनारायण टंडन लिखते हैं—

"पेड़ों की पत्तियाँ और फुनगियाँ कोमलता और हरियाली का खजाना छिटका रही हैं। तरह-तरह के फूल अपनी लाल, नीली, पीली और गुलाबी अदा किता से प्राकृतिक सौन्दर्य को वैसे ही लुभाकर वना रहे हैं जैसे कि रंग-विरंगी साड़ियाँ पहने हुए सौन्दर्य की प्रतिमाएँ सभा और सोसाइटियों की रंगत को बढ़ाया करती हैं। कलियाँ चटख-चटखकर खिल रही हैं, पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदें शबनम के मोतियों की तरह झलक रही हैं। मधु-मक्खियों और प्यासे भौंरों की पंक्तियों-की-पंक्तियाँ उनका रस लेने में रुँधी-बिधी पड़ी हैं।······पशु-पक्षियों का कलरव उनकी एक-एक तान, प्रभाती गाना-सा आनन्द दे रही है। शुक-सारिकाओं के समूह जिस आनन्द से बैठे हुए पीयूष-वर्षा कर रहे हैं उनमें बड़ा रस है। चकोर आनन्द मना रहे हैं। खंजन शरद् ऋतु का आगमन जानकर पहाड़ों पर आ गए हैं। यहाँ इतने तरह के—इतने रंगों के और इतने आकार-प्रकार के छोटे, मँझोले और बड़े पक्षी हैं और हम उनका प्रत्येक का कैसा वखान करें, हाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में सभी रत हैं, सभी तल्लीन हैं।"[२]

टंडनजी का प्रकृति-अवलोकन बड़ा ही आनन्द-मूलक वन सका है। इसी प्रकार के प्रकृतिमूलक दृश्य का वर्णन करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने 'अल्मोड़ा शिखर की यात्रा' में लिखा है—

"सामने नन्दादेवी के दर्शन हुए। वर्फ से ढकी हुई चोटियाँ सूर्य की रश्मियों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। क्या ही अनुपम छटा थी! भारतवर्ष का वही श्वेतांग द्वारपाल है। नंदादेवी इसीकी पुत्री है। अपने पिता की गोद में आकाश से बात करती हुई किसी अभिमान से देवी चारों ओर निहार रही है, परन्तु बोलती नहीं है।"[३]

विदेश की प्राकृतिक शोभा के आँकलन में हमें विदेशी प्राच्य-प्रकृति के उदाहरण भी मिलते हैं। इसमें भी पार्वत्य-वर्णनों की प्रधानता है। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने पेकिंग के पर्वतीय प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"दृश्य जैसे फैला जाता है। लम्बे-चौड़े आँगन और बड़े-बड़े हाल एक के बाद एक हमारे सामने खुलते जाते हैं, हमारी नजर बिखर-बिखर उन पर छा जाती है। जो कुछ प्रकृति का उदार हृदय दे सकता है, जो कुछ मनुष्य की कला और कौशल मूर्त कर सकता है, वह सारा इस स्थल पर एकत्र हो गया है। बगीचे और फूल,

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा—चांद, १९३०, वर्ष ८, खंड २, सं० १, पृ० २४
२. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१३
३. ज्ञान के उद्यान में—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ३२६

निकुञ्ज और झुरमुटें, पहाड़ियाँ और झीलें, द्वीप और पुल, मंदिर और पगोड़े अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक और मानव-कलित वैभव के साथ एकत्र उठ गए हैं—पहाड़ियों में सदियों का ऐश्वर्य भरा पड़ा है। उनमें वह सब कुछ है जो चीन का वैभव और कला दे सकी है—ध्वजा-चित्रण, पोर्स्लेन और वैदूर्य के अन्ततः वर्तन, हाथीदाँत और कीमती पत्थर जड़े काम।"[1]

विदेशी प्राच्य प्रकृति के साथ ही हमें विदेशी पार्वत्य प्रकृति के भी उदाहरण यात्रा-साहित्य में मिलते हैं। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी जर्मन यात्रा में जर्मनी के प्राकृतिक दृश्यों एवं वहाँ की एक प्रसिद्ध पर्वतीय नदी राइन का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"पहाड़ी चट्टानों की तंग घाटी में प्रवेश कर राइन नदी एक लज्जावती रमणी की तरह बड़े संकोच से आगे बढ़ती है। यह मार्ग इतना संकीर्ण है कि इसके किनारे पर कई स्थानों में रेल और सड़क के लिए बड़ी मुश्किल से जगह मिली है। नदी का सारी जीवन-यात्रा का यह सबसे अधिक सुखद और रम्य भाग है। यहाँ प्राचीन गाड़ियों के खंडहर, विचित्र पर्वत-शृंग, खिलखिलाती अंगूरों की वेलें और अद्भुत कंदराएँ इतनी हैं कि जिनके कारण राइन नदी प्रकृति के पुजारियों और नैसर्गिक सौन्दर्य के उपासकों की अत्यन्त प्यारी हो गई है।"[2]

स्विटज़रलैण्ड की यात्रा करके वहाँ के पर्वतीय प्राकृतिक दृश्यों को देखकर उसका मनोरंजक वर्णन करते हुए श्रीमती विमला कपूर ने लिखा है—

"बाल-रवि की हलकी सुनहली रश्मियाँ इन हिमाच्छादित चोटियों का आलिंगन कर एक अनुपम दृश्य की रचना कर रही हैं। कुछ पहाड़ियाँ मटमैले रंग की और कुछ हरित परिधान में लिपटी हुई दिखाई दे रही हैं। लो, यह तो बूँदा-बाँदी शुरू हो गई। आकाश में छिटके हुए बादलों के एक छोटे-से टुकड़े ने सूर्य को अपने आँचल में लपेट लिया और चारों ओर बदली-सी छा गई···थोड़ी-सी देर में बूँदी भी बन्द हो गई और फिर वही हलकी सुनहली रश्मियाँ चोटियों पर बिखरे हिमकणों से क्रीड़ा करने लगीं। प्रकृति का यह क्षण-क्षण परिवर्तित होता हुआ रूप इस समय बहुत ही रमणीय प्रतीत हो रहा था। जिस स्विटज़रलैण्ड की सौम्य वसुन्धरा अब तक हमारे लिए कल्पनालोक का विषय बनी हुई थी, उसीकी गोद में आज अपने को देख हृदय नव-नूतन भावनाओं से बना हुआ आलोडित हो उठा है।"[3]

पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने अपनी यात्रा में आस्ट्रिया के प्राकृतिक पर्वतीय दृश्यों का जो अवलोकन किया है वह बड़ा मनोरम बन पड़ा है। वहाँ की पर्वतीय माला का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"अब हरीतिमा की अपेक्षा निरन्तर ध्वनित होनेवाले झरने का संगीत ही

---

१. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ९०-९१

२. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५५

३. अजाने देशों में—विमला कपूर, पृ० ७५

क्षण-क्षण पर श्रवणपुट को स्पर्श करता जाता था। हिमाच्छादित शैल-शिखर सहस्र रश्मि की किरणावली में स्नान कर इन्द्र-धनुष की तरह रंग-बिरंगे वस्त्र परिधान कर रहे थे। कभी पर्वत की चोटी पर खेलता हुआ, कभी झरनों के सीकर में रंग भरता हुआ और कभी दो भागों वाले गिरिशृंग के बीच से अपनी सुनहली छवि दिखलाता हुआ दिनमणि प्रवास को रसमय बना ताजा कर रहा था।[1] व्यासजी अपने ग्रन्थ 'सागर-प्रवास' में आगे लुगानो स्विटज़रलैण्ड के पर्वतीय दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"जिस समय कुहरा छा जाता है समस्त पर्वतों पर एक हलकी-सी शुभ्र चादर फैल जाती है, तब इन रंग-बिरंगे भवनों की पर्वतों की ओर झील की छवि देखते ही बनती है। इस समय प्रायः प्रकाश के लिए बिजली भी खोल दी जाती है। कुहरे की इस झीनी चादर में प्रकृति रानी 'आँचल में दीप छिपाए, शशि-मुख पर घूँघट डाले' मानो अपने प्रिय की खोज करने निकली हो, ऐसा मालूम होता है। सुरपुर की सुषमा-वाली यह नवेली प्रकृति-बाला लुगानों के लावण्य में चार चाँद लगा देती है। आस-पास के ऊँचे-नीचे शिखरवाले अन्य पर्वत भी सुन्दर मालूम होते हैं, मानों सौध-रमणी अपनी हमजोली सहेलियों के साथ जो सभी सफेद चादर ओढ़े घूँघट काढ़े खड़ी हैं, प्रकृति-वधू का शृंगार निरखने आई हैं, या शोभा बढ़ाने को सजी हुई लजीली रूप-रंभाएँ खड़ी हुई हैं।"[2] इसी प्रकार के पर्वतीय दृश्य का वर्णन करते हुए यशपालजी लिखते हैं—

"कुछ समय पश्चात् पहाड़ों पर बरफ जमी दिखाई दी और फिर खूब बरफ। बरफ के मैदान और बरफ से लदी चोटियाँ। सौभाग्य से सूर्य चमक उठा। बाईं ओर गहरे नीले आकाश में निरावलम्ब विराट हिमशृंग खड़े थे, अद्भुत गुलाबी ज्योत्सना लिए। नीचे बरफ के मैदान। बरफ में से कहीं-कहीं कोई बड़ी काली चट्टान दिखाई दे जाती तो भली लगती।"[3] श्वेतांग हिमराशि वह भी गुलाबी ज्योत्सना से पूर्ण, क्या ही अनोखा पर्वतीय दृश्य था वह, जिसका यशपालजी की सफल लेखनी ने वर्णन किया है।

भू-स्वर्ग स्विटज़रलैण्ड के सौन्दर्यपूर्ण प्राकृतिक दृश्य में वहाँ के भवन, उद्यान, सड़कों, फुटपाथों, लता-मंडपों का व्यासजी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

"कई हजार फीट ऊँचाईवाले इस नयन रम्य गिरि-शिखर पर अनेक रम्य निवास-भवन, उद्यान और बिजली की चकाचौंध में आइने की तरह चमकनेवाली विस्तृत सड़कें, फुटपाथ पर लता-मंडप और विविध सुमनों से अलंकृत वृक्षों की सुन्दर कतारें, रंग-बिरंगे पुष्पों की कलामय क्यारियाँ और हजारों अलग-अलग रंगों और

---

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० ८२

२. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १५२

३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १०८

किरणों की विजली की वत्तियाँ रात में भी दिन का भुलावा दे रही थीं। वृक्ष-लताओं के वर्षा और विद्युत-प्रकाश से सद्य:स्नात पत्र-पुष्प नयनों का रंजन कर रहे थे। लक्षावधि विजलियाँ, सुन्दर घनी हरियाली और विविध रंग के बड़े-छोटे भवन बने हुए थे। यह हिममंडित मुकुटधारिणी आल्प्स पर्वत-मालिका हरित वनराजि में ऊपर से नीचे तक सहस्रशः वन्स भवनों को अपने हृदय-प्रदेश में नगीनों की तरह जड़े हुए हैं।"[1]

इन पार्वत्य-प्रधान वर्णनों के अतिरिक्त सरिताओं, झीलों और प्रपातों का भी सफल चित्रण यात्रा-साहित्य के लेखकों ने किया है। ऊपर हम सत्यदेवजी की जर्मन-यात्रा में राइन नदी का दृश्य देख ही चुके हैं। अपनी स्विटज़रलैण्ड की यात्रा में 'ठुन की झील' को पर्वतीय श्रेणियों से घिरी देखकर वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन करते हुए बेनीपुरीजी ने लिखा है—

"गाड़ी से उतरकर ज्योंही हम कुछ आगे बढ़े कि 'ठुन की झील' दिखाई पड़ी और इस झील को देखते ही जैसे रोम-रोम पुलकित हो उठे और मानो वे चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हों—अद्भुत, परम् अद्भुत! हम एक बगीचे में खड़े थे, हमारे चारों ओर फूल-ही-फूल थे। जब पैर के नीचे ध्यान गया तो पाया, वहाँ भी छोटे-छोटे रंग-विरंगे फूल घास की जगह पर बिछे हुए हैं। हमारी बाईं ओर से नदी आकर इसी झील में गिर रही है और झील नीले पानी का एक ऐसा विस्तृत अंचल जिसका कहीं ओर न छोर हो। हवा जोरों से बह रही थी, हमारे ओवर-कोट को जैसे हमारी देह से उतारकर फेंक देना चाहती हो। इस तेज हवा के चलते झील में बड़ी-बड़ी तरंगें उठ रही हैं और टूट रही हैं। ऐसा लगता है कि नीली सरजमीन पर अनेकानेक हंस-कुमार बन रहे और बिगड रहे हों। जब हम किनारे पर खड़े थे, हवा के झोंके के साथ कुछ बूँदें आकर जमीन पर गिरतीं। ऐसा भावावेश था कि इच्छा होती कि झील में अब भी कूद पड़ा जाय। झील के चारों ओर पहाड़ों की ऊँची-नीची, उजली-उजली चोटियाँ, जिन पर बादलों के दल तरह-तरह के खिलवाड़ कर रहे हों। यों चारों ओर से घिरी यह झील स्वप्नपुरी-सी लगती थी।"[2] इन चित्रों में प्रकृति का यथार्थ और विशद चित्रण मिल जाता है। विदेश की प्राकृतिक शोभा के वर्णन में नियागरा प्रपात के सुन्दर दृश्य का वर्णन करते हुए बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा है—

"विशाल जल-राशि के इतने ऊपर से गिरने से जो कलरव हो रहा था उससे एक विचित्र मनोमुग्धकारी ध्वनि निकलती थी। यह ऐसी मनोहारी प्राकृतिक तान थी जिसके सुनने से कान नहीं भरे। अहा! इसी जलराशि के प्रपात से जो धूम-सदृश झीनी-झीनी जल-बिन्दु राशि उठती थी, उस पर सूर्य की रश्मि के पड़ने से पूर्ण इन्द्रधनुष बन जाता था। जल के अथाह निबिड़ समूह पर हिम से सुसज्जित प्रकृति-

१. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३०-१३१
२. पैरों में पंख बांधकर—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० २२६

देवी की जीवित मूर्ति पर अनुवृत्ताकार (पैराबोलिकल) इन्द्रधनुष कैसा शोभायमान विचित्र मुकुट-सा भासता था, मानों यह दृश्य दर्शकों को यहाँ से हटने न देगा। ...पास के सारे वृक्ष व झाड़ियाँ बर्फ से लदी थीं। वृक्षों की पतली-पतली शाखाओं के चारों ओर वर्फ जमी हुई थी जिससे जान पड़ता था कि ये काँच के वृक्ष हैं, यह द्वीप-का-द्वीप एक भाँति से शीशे के बगीचे-सा मालूम होता था।"[1]

डॉ० धनीराम ने अपने यूरोप-भ्रमण में वहाँ के पार्क, झील, फव्वारों, बगीचों की रम्यता का वर्णन करते हुए लिखा है—

"वैरसाई में हरियाली तो चारों ओर दिखाई देती है। किले के चारों ओर पार्क लगे हुए हैं जिनमें सुन्दर झीलें, फव्वारे, पुतले, स्मारक और महल बने हुए हैं। किला बहुत ऊँचे पर है और वहाँ के चारों ओर का जो दृश्य दिखाई देता है वह देखते ही बनता है।"[2] धनीरामजी ने अन्य प्राकृतिक दृश्यों के साथ-साथ मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति की शोभा का भी वर्णन किया है। मध्यपूर्व पाश्चात्य वर्णनों में काहिरा की लौटती यात्रा का वर्णन करते हुए शिवप्रसाद गुप्त ने मिस्र की घाटी के सौन्दर्य का भी निरूपण किया है। वे लिखते हैं—

"हमारे दक्षिण ओर अरब की, और बाईं ओर लूबिया की पहाड़ियाँ थीं। संध्या हो गई थी किन्तु लूबिया पहाड़ी के पीछे की मरुभूमि को भी हम नहीं देख सकते थे किन्तु सूर्य की किरणों के पड़ने से जो आभा सुन्दर सुनहली बालू से टक्कर खा पश्चिम के आकाश को प्रकाशित कर रही थी, वह अकथनीय थी। रेलगाड़ी का बेतहाशा दौड़ते चले जाना, सामने सुन्दर हरे-भरे खेतों का दिखना, उसके बाद झाऊ के पेड़. खेल के पहले नील के श्वेत जल की रेखा, झाऊ के पेड़ों के उपरान्त ऊँचे-ऊँचे खजूर के पेड़, उनके पीछे पहाड़, पहाड़ के इस ओर कमबेशी अंधकार किन्तु पहाड़ों के पीछे गगनमण्डल सुनहले रंग में रँगा हुआ—यह दृश्य ऐसी शोभा दे रहा था कि चित्र खीचे लेता था।"[3] सागर की तटभूमि और वहाँ की हरियाली, चमकती वर्फ के दृश्यों का अवलोकन कर बेनीपुरीजी ने लिखा है—

"यह तटभूमि। कितनी सुन्दर, मोहक! पथरीली जमीन। तट तक उतरने के लिए जगह-जगह रास्ते। रास्ते की बगल में हरियाली-ही-हरियाली। सामने वह वर्फ से आच्छादित पहाड़ी। शिव के ललाट पर त्रिपुंड नहीं—सिर पर श्वेत जटाजूट। पहाड़ के ऊपर पहाड़। बीच में यह पतली धारा—या दो घाटियों के बीच का रास्ता? रास्ता इतना टेढ़ा-मेढ़ा! नहीं, नदी का कटाव सही। पहाड़-पर-पहाड़ और फिर उस पर चमकती वर्फ—यहाँ-वहाँ, इधर-उधर। कितनी मोहक!"[4] बेनीपुरीजी ने सागरीय तट का वर्णन बड़े ही मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है।

---

१. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ८४
२. मेरी यूरोप यात्रा—डा० धनीराम—चांद, जनवरी १९३२, पृ० ५००
३. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ३०
४. पैरों में पंख बाँधकर—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० ४१

विदेश की प्रकृतिक शोभा में हमें कुछ ऋतु-वर्णन भी मिलते हैं। अपनी 'तिब्बत यात्रा' में ल्हासा से उत्तर की ओर जाते हुए राहुल सांकृत्यायन ने वर्षा-ऋतु में वहाँ की पर्वतीय श्रेणियों का दर्शन कर उनका सुन्दर वर्णन लिखा है—

"आजकल वर्षा ऋतु है। भूले-भटके कितने ही बादल हिमालय के इस पार भी आ पहुँचते हैं। और मैदान और पहाड़ जिधर देखो उधर ही हरी मखमली छोटी-छोटी घास बिछी हुई है। भोंट देशीयों का इस स्पङ् (हरियाली) पर नाज़ करना वजा है। तीन मास के लिए तो यहाँ की पर्वतमालाएं अद्भुत सौन्दर्य धारण कर लेती हैं। हरी घासों के अतिरिक्त कहीं-कहीं पीले-नीले फूल भी फूले दिखाई पड़ते हैं।"[1] अपनी साम्यवादी देश की यात्रा में नित्यनारायण बनर्जी ने जो शीतकालीन प्राकृतिक दृश्य देखे हैं उनमें एक पर्वतीय दृश्य का वर्णन वे लिखते हैं—

"जनवरी का महीना था। सफेद-सफेद परों-जैसी बर्फ अविराम गति से गिर रही थी। सरदी ने धरती-तल से हरियाली का नाम मिटाकर रक्तहीन-सा कर दिया था और उस पर सफेद बर्फ की चादर ओढ़ा दी थी। मैदान और खेत सफेद थे, मकानों और झोंपड़ों की छतें सफेद थीं और सदा ही हरे रहनेवाले पेड़ सफेद और बर्फ के बोझ से झुके हुए थे।"[2] ये ऋतु-वर्णन बहुत ही सुन्दर हैं जिनसे विदेश के बर्फीले मौसम के प्राकृतिक चित्रों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

अपनी एडिनबरा की मैदानी-यात्रा में देखते हुए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए राजवल्लभ ओझाजी ने लिखा है—

"हरी घास में भरे लम्बे चरागाहों में भेड़ों के झुण्डों को देखकर इस क्षेत्र के प्राकृतिक सौन्दर्य की पहली झलक मिली। भूरे रंग की मोटी गायें भी चरागाहों में दिखाई पड़ीं। दूर-दूर तक हरित भूमि-खण्ड देखकर आँखें जुड़ा गईं। ट्रेन में बैठे-बैठे इन हरे-हरे विस्तृत चरागाहों, बर्फ से ढकी पहाड़ियों और कहीं-कहीं उछलते-कूदते लाल मुर्गों को देखकर मैं इस पर्वतीय प्रदेश के रूमानी-सौन्दर्य पर रीझ उठा। दुनियाँ के धुर उत्तरी भाग की ओर हम जा रहे थे, इसलिए गर्मी में भी हमें काफी जाड़ा मालूम हो रहा था। ब्रिटिश ट्रेनों में रेलिंग पकड़कर गलियारे से बाहर के दृश्यों को देखने की सुविधा प्राप्त है, इसलिए मैं वहीं से खड़े-खड़े ट्रेन के चतुर्दिक बिखरे हरित सौन्दर्य को निहारने में तल्लीन था। जिस समय उत्तरी सागर के किनारे से हमारी ट्रेन गुजरने लगी, तो बहुत ही लुभावना दृश्य दिखाई पड़ा। एक ओर सागर की उत्तुंग तरंगें और दूसरी ओर हरित पृथ्वी पर हवा के झोंके थे, साथ मस्ती में झूलने वाली तृण-उर्मियाँ। पृष्ठ-भाग में धवल पर्वत-शिखर, नीचे वन-प्रदेश और ऊपर आकाश में पक्षियों का स्वच्छन्द विचरण। प्रकृति की ऐसी अनूठी कलाकृति का अनुकरण कर न जाने कितने शिल्पी कलाकार बन जाते हैं। और आज मैं उन्हीं मनोहर दृश्यों को

१. मेरी तिब्बत यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५
२. साम्यवादी देश में—नित्यनारायण बनर्जी—विशाल भारत, जनवरी १९३४

जी भर देखता जा रहा हूं।"[1] ओझाजी ने प्राकृतिक दृश्यों में चरागाहों से लेकर बर्फीली पहाड़ियों, गलियारों तक का सुन्दर वर्णन किया है। अपनी मास्को यात्रा के प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन कर ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—

"स्थान रूस। दृश्य, मास्को की उपनगरी का एक प्रासाद भवन। जंगल में देख रहा हूँ—दिगन्त तक फैली हुई अरण्य भूमि, सब्ज़ रंग की लहरें उठ रही हैं, कहीं स्याह सब्ज़, कहीं फीका बेंगनी-मिलमा सब्ज़, कहीं पीलिया सब्ज़ हिलोरें-सी नज़र आ रही हैं। वन की सीमा पर बहुत दूर गाँव की झोंपड़ियाँ चमक रही हैं। दिन के करीब दस बजे हैं, आकाश में बादल-पर-बादल धीमी चाल चले जा रहे हैं, बिना वर्षा का समारोह है, हवा से सीधे खड़े पापलर वृक्षों की चोटियाँ नशे में झूम-सी रही हैं।"[2]

मास्को की राह का सुन्दर दृश्य चित्र खींचते हुए यशपालजी ने लिखा है—

"साढ़े ग्यारह बजे के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आंचल अंगूरों की खेतियों, दो मंजिलों, बस्तियों और छोटे-मोटे कारखानों से घिरा है। गाँव अधिक दिखाई नहीं दिये। जान पड़ता था कि युद्ध के कारण उजड़ गई बस्तियाँ अभी फिर से बस नहीं पाईं। खेती की भूमि प्रायः बरफ के टुकड़ों और कोहरे से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमन्त और बरफ के कारण झड़े हुए थे। सूर्य की किरणें कोहरे को बेधने का प्रयत्न कर रही थीं परन्तु बादल आड़ बन जाते थे।"[3] चीन के युद्ध-क्षेत्र में भ्रमण करने पर वहाँ के जो सुन्दर चित्र गदाधरसिंह ने देखे उनमें से एक प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"धरती के दुग्धफेन निभ वसनों की कालिमा पत्र-पत्रविहीन वृक्षावली है। जिस समय तुषाररूपी शुभ्र वसनों से पृथ्वी पर पड़े हुए सभी पदार्थ कूड़ा-करकट, ईंट पत्थर, कोयला-राख, गडडा-खंदक ढँक कर श्वेत वर्ण हो जाते हैं और सूर्यनारायण अपनी स्वर्णोपम किरण द्वारा मीठी मंद मुसक्यान से दृष्टि डालते हैं तब चकाचौंध से नेत्र स्थिर नहीं रह सकते। पृथ्वी मृदु हास हँसने लग जाती है। सूर्य भगवान को लजाना पड़ जाता है। उनके नेत्र झँप जाते हैं, तेजी न जाने कहाँ विलीन-सी हो जाती है।"[4] ठाकुर साहब का हिमपात-वर्णन बड़ा ही अनूठा बन पड़ा है। अपनी रेल-यात्रा में प्रकृति के नाना बदलते रूपों में दृश्यों का चित्र अंकित करते हुए गदाधर जी आगे लिखते हैं—

"साउथाम्पटन से हैम्पटन कोर्ट तक पहुँचने के इन कई घंटों के थोड़े-से समय में ही प्रकृति ने कितने रूप बदले, कैसे दृश्य दिखलाये। रेल से सवार हुए तब थोड़ी-थोड़ी बूँदें पड़ती थीं, कुछ घण्टों बाद धूप खिल निकली। मानो सूर्य भगवान हमें

१. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० १३०
२. रूस की चिट्ठी—रवीन्द्रनाथ टैगोर—अनु० धन्यकुमार जैन, पृ० ७
३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १०८
४. चीन में तेरह मास—ठाकुर गदाधरसिंह, पृ० १७२

राह दिखाने के वास्ते आगे-आगे प्रकाश ले कर चलने लगे। तनिक ही देर हुई थी कि मानों इनका कार्य शेष हुआ और नाट्यशाला में पटाक्षेप हो गया। दूसरा दृश्य घनघोर घटा का था। खूब उमड़-घुमड़कर धवले घूमते बादल घिर आए और वृष्टि होने लगी। चलती हुई रेल से उपवनों की सुन्दर सजीली हरियाली पर धीमी-धीमी वर्षा के बिन्दु पड़ते हुए देखने में अपूर्व शोभायमान थे।"[1]

बदलते-दृश्यों में श्री राजवल्लभ ओझा ने अपनी वायुयान यात्रा में अन्तरिक्ष से देखे गये प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया है। पर्वतमालाओं एवं दिलकश नज़ारों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सागर के बीच चतुर्दिक पर्वतों से घिरे इस ऐतिहासिक द्वीप को देखते रहने की लालसा इतनी प्रबल थी कि कोई भी खिड़की से आँख हटाने को तैयार न था। उधर देखिए पर्वतमालाओं की अनुपम शोभा, वे हरित वृक्षों की पाँतें, जैसे मेघ के टुकड़े प्रकृति का शृंगार करने पहुँच गए हैं। पहाड़ों की बर्फीली चोटियाँ ऊपर उठकर क्रीट के दिलकश नज़ारे की जिस अल्हड़पन से अभिव्यक्ति कर रही थीं, उस पर कौन न मुग्ध होता! भूमध्यसागर में यह टापू ऐसा देख पड़ रहा था, जैसे वह पर्वतों का एक आकर्षक मेहराब हो।"[2] इसी प्रकार जलयान से प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन कर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है—

"और देखता चला जाता हूँ प्रकृति की अनुपम छवि जहाज के इस दाहिने झरोखे से। पहाड़ और जंगल, खेत और मैदान, नदी और झील नीचे बिखरे पड़े हैं। फैले मैदानों में हरी घास और ऊँचे पौधों के बीच पानी की धारा चाँदी-सी चमक रही है। लगता है, प्रकृति नहा-धोकर बाल बिखेरे चमकती माँग काढ़े पड़ी है। उसकी अभिराम साड़ी दूर तक फैली पहाड़ों और जंगलों पर अपने आँचल का साया डालती चली गई है। जगह-जगह हटे घूँघट के बीच से जैसे चीन के गाँव जब-तब झाँक लेते हैं और उनकी सादगी और ताज़गी हमारी स्मृतियों के पश्चिमी विशाल नगरों के बासीपन पर उमड़ पड़ती है।"[3] प्रकृति के इस दृश्य को उपाध्यायजी ने विभिन्न दृष्टियों से देखा है।

प्रकृति के कुछ सुन्दर दृश्यों का वायुयान की खिड़की से अवलोकन कर उनका वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददासजी ने लिखा है—

"जब मैंने खिड़की से बाहर की ओर देखा तो एक अद्भुत दृश्य था। ऊपर बादल का एक भी टुकड़ा नहीं था। भगवान सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे, परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक वृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमें एक भी सिकुड़न, एक भी शल, कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता था। शामयाने के रूप

---

१. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ३९
२. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० १२-१३
३. कलकत्ता से पेकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १४५

में पृथ्वी पर तने हुए इन बादलों की एक ही सतह थी, कहीं ऊँची-नीची नहीं, इस सतह से बाहर बादल का एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी तो इधर-उधर कहीं भी नज़र नहीं पड़ रहा था। हवाई जहाज को बादलों पर से उड़ते तो मैं कई बार देख चुका था, परन्तु ऊपर सर्वथा निर्मल नीलाकाश में भगवान भास्कर का पूर्णालोक तथा नीचे ऐसे बादलों की सतह इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी थी।"[1] अपने अतृप्त नयनों द्वारा देखे गए बादलों के भूरे, चमकीले, श्वेत, सुनहले आदि विभिन्न दृश्यों का वर्णन करते हुए बेनीपुरी जी कहते हैं—

"अब क्षितिज की छवि अद्भुत हो गई है। बादलों के पहाड़ के पीछे से वह सूरज-देवता ने झाँका, फिर मुस्कुरा पड़े। भूरे बादलों की किनारी अब सुनहली चमकीली है। नीचे के बादल अब सपाट मैदान से लग रहे हैं। ज्यों-ज्यों उजाला बढ़ता जाता है, उनका भूरा रंग दूर होता जाता है—देखिये, वे अब मक्खन से लग रहे हैं, श्वेत, स्निग्ध। भूखे नयन उन्हें देखकर अघा नहीं रहे।"[2] वायुयान द्वारा की गई विदेश यात्रा में बेनीपुरीजी ने इसी प्रकार के बादलों के दृश्य को देखकर एक स्थल पर और लिखा है—

"नीचे कालीन-ही-कालीन। मखमली लहरदार। मरुभूमि देखने के बाद आँखें तृप्त हो रही हैं। किन्तु यह क्या? चारों ओर धुन्ध। अरे, अब तो हम बादलों के बीच हैं? बीच? नहीं, अब ऊपर आ गए। कराची के पहले भूरे बादल, काले बादल। यहाँ सुफेद चमचमाते बादल। बादलों में भला रंग कहाँ? भगवान सूर्यदेव ने जिस प्रकार चमका दिया। सन्ध्या में वैसे चमकाया था, आज दुपहरिया में ऐसे चमका रहे हैं।"[3]

बेनीपुरीजी ने बादलों के विभिन्न दृश्यों के वर्णन में अपनी प्रश्नोत्तर-शैली का पुट दिया है। दृश्य-वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

निष्कर्षतः उक्त उद्धरणों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि स्वदेश की प्राकृतिक छटा में पार्वत्य दृश्यों के वर्णनों का प्राधान्य रहा है। इन पार्वत्य-प्रधान वर्णनों में भी हिमालय एवं काश्मीर के वर्णन अधिक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त पर्वती तीर्थस्थानों में बदरीनारायण ही प्रधान रहा है। इन स्थलों की यात्राएँ मूल रूप से पैदल या मोटर के द्वारा ही की गई हैं। इनमें पर्वतशृंगों, सरिताओं तथा झीलों (कश्मीर) एवं मैदान के चित्रों का सफल वर्णन किया गया है।

विदेश की प्राकृतिक शोभा के वर्णन में भी पार्वत्य दृश्यों का ही प्राधान्य हमें मिलता है। इसमें भी विशेष रूप से स्विटज़रलैण्ड का वर्णन अधिक है। अन्य देशों में यूरोप में जर्मनी, अमेरिका में नियागरा प्रपात के दृश्यों का भी वर्णन किया गया

---

१. सुदूर दक्षिण-पूर्व—सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१
२. उड़ते चलो, उड़ते चलो—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पृ० ११
३ [illegible]ों में पंख बाधकर—वही, पृ० २४

है। रूस, इटली आदि अन्य देशों के दृश्यों का भी वर्णन किया गया है। विदेश की प्राकृतिक शोभा के आँकलन में हमे प्रकृति के दो रूप मिलते हैं—

(१) मुक्त प्रकृति

(२) मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति।

मुक्त प्रकृति में हमें पर्वत-शृंगों, सरिताओं, झीलों और प्रपातों के दृश्य मिलते हैं और मानव द्वारा अलंकृत प्रकृति में बन्दरगाहों के निकट के स्थान, पार्क, झीलें, सरिताएँ और बगीचों के दृश्यों के वर्णन मिलते हैं।

इस प्रकार स्वदेश-विदेश की प्राकृतिक छटा के दृश्यों में हमें कौतूहलपूर्णता, कलात्मकता, दार्शनिकता आदि वैयक्तिक प्रभाव भी लक्षित होता है।

दार्शनिक दृष्टि

अब हम यात्रियों के दार्शनिक दृष्टिकोण पर दृष्टिपात करते हैं। दार्शनिक (रहस्यवादी) प्रकृति में परम-तत्त्व के दर्शन करता है और इस प्रकार प्रकृति, विश्वात्मा के दर्शन का माध्यम बन जाती है। अपनी पर्वतीय यात्राओं में वह प्राकृतिक दृश्यों पर ही अपनी दार्शनिकता का आरोप करता है। इस भावना का आधार सर्ववाद है। सर्ववाद के दो रूप हैं, आत्मा और परमतत्त्व की एकता और जगत और ब्रह्म की एकता। आत्मा और परमात्मा की एकता आत्मा और परमतत्त्व के बीच अद्वैत भावना का अनुभव करता है, जीवात्मा में ही वह सर्वनियन्ता के दर्शन करता है, उसके समस्त कार्य उसी परम शक्ति की प्रेरणा से होते हैं, उसका सुख-दुःख, आनन्दविलास, हर्ष-विषाद आदि उसीसे सम्बद्ध होता है। इस सर्ववाद की भावना से प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ चेतन है और मनुष्य ने इसी दृष्टि से प्रकृति में उसी परमात्मत्व के दर्शन किए हैं। प्रकृति के रुद्ररूप में उसने सर्वशक्तिमान की भ्रू-भंगिमा और पूर्ण प्रफुल्लित पुष्प में परम-तत्त्व की मृदु मुस्कान का अनुभव किया है। प्रथम मानव के हृदय में प्रकृति को देखकर यह जिज्ञासा हुई, वह सूर्य की गति, ऋतुओं के परिवर्तन और पर्वतीय दृश्यों के आश्चर्यपूर्ण परिवर्तन को देखता रहा, उसने विचार किया, प्रश्न उठे—

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्स्यन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥[1]

अर्थात् विपरीत रूप वाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ये सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से चली जा रही हैं उस परम आश्रम को बताओ, वह कौन है?

पर्वतीय यात्राओं में हमें प्रायः ऐसे लेखक मिले हैं जिन्होंने अपने यात्रा-वर्णनों में कहीं-कहीं दार्शनिक दृष्टिकोण को भी अपनाया है। यद्यपि अधिकतर

१. अथर्ववेद—१० : ७ : ६

ऐसे ही लेखक हैं जिन्होंने वर्णनात्मक या प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही अधिक बल दिया है, परन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से देखी प्रकृति के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं:—

दार्शनिक दृष्टिकोण वाले विचार और सुन्दर चित्र हमें स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की कैलाश-पर्वत यात्रा में भी मिलते हैं। उन्होंने कैलाश-पर्वत का वर्णन करते हुए लिखा है—

"सामने बीस-तीस मील के घेरे में प्रकृति के सौन्दर्य की अवर्णनीय शोभा दृष्टिगोचर होती है। पूर्व-दक्षिण और पश्चिम किसी ओर नज़र दौड़ाइए, ईश्वर की उत्कृष्ट विभूति का अद्वितीय चित्र दीख पड़ता है। क्या इस पृथ्वी तल पर ऐसा मनोहर, ऐसा उज्ज्वल, ऐसा अप्रतिम, ऐसा रमणीक स्थल कहीं और होगा? क्या विश्वकर्ता से बातें करने के लिए ऐसा स्थान कहीं और है? जिन आर्य-वीरों ने हिमालय की प्रशंसा में सैकड़ों ग्रन्थ बना डाले वे प्रभु की रचना-शक्ति के रहस्य से अवश्य कुछ-न-कुछ परिचित थे। हिम से ढकी हुई चोटियाँ एक-दो नहीं बीस-तीस, चालीस-पचास, साठ-सत्तर—इस छोटे-से भूमि के टुकडे में हीरे के नगों की मानिन्द जड़ी हुई हैं। प्रभात के भानु की रश्मियाँ जिस समय इन पर्वतों पर पड़ती हैं, उस समय की अलौकिक छटा क्या कोई लेखनी से चित्रित कर सकता है? उस निर्दोष चित्रकार के कौशल की लावण्यता का वर्णन करने की शक्ति मनुष्य में कहाँ, यहाँ तो—'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा' वाली बात है।"[1]

पर्वतों के दृश्यों को देखकर यात्री का मन मचल उठता है। वह उस सत्ता की व्यापकता पर विचार करता है। इसी प्रकार की भावना से पूर्ण हो, काश्मीर की मनोरम घाटी के सुरम्य दृश्यों को देखकर श्रीपालसिंहजी लिखते हैं:—

"काश्मीर की गोद में दूध की नदियाँ बहती हैं, चाँदी के झरने झरते हैं, अमृत के सोते हँसते हुए प्रवाहित हो रहे हैं। उस स्वर्ग के हरे-भरे आँचल में रजत मुकुट धारण किये हुए हैं। कितने ही शिखर नीले आकाश को चुम्बन करते हैं तथा उनके हिमाच्छादित अधरों पर सूर्य की सुनहली किरणें थिरक-थिरक किस कौतुक से विलुप्त हो जाती हैं।"[2]

इस प्रकार जगन्नाथपुरी के दर्शन कर कृष्णकुमार माण्डके ने लिखा है[3] :—

"इस बाह्य क्षेत्र दर्शन के योग से हमारे हृदय में निवास करनेवाले विश्व-ब्रह्माण्ड पुरस्थित पुरुषोत्तम के दर्शन होना दुर्लभ हैं। भागवतगीता में इस देश को नवद्वार पुर कहते हैं। श्रुति में भी देह के लिए पुर की संज्ञा है। परमात्मा का इस

१. मेरी कैलाश यात्रा : स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ६१
२. मेरी शैल यात्रा : श्रीपालसिंह—सुधा, नवम्बर १९३२, पृ० ४७९
३. जगन्नाथपुरी दर्शन : कृष्णकुमार माण्डके—चित्रमयजगत, दिसम्बर १९१८, पृ० ३३०

देह से अधिष्ठान होने के कारण उसे पुरिशय पुरुष कहते हैं। भागवत में पुरंजय की कथा में रूप को देहपुर और देह पुरस्थित आत्मा का तत्व कहा है। भगवान् इस देह को क्षेत्र कहते हैं :—

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भागवतगीता, अध्याय १३, श्लोक १-२)

यह देह नवद्वार युक्त है। इसमें बाहर निकलने पर हमारा ज्ञान और चैतन्य बहिर्मुखी होता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दो मार्ग से चित्त बाहर जाकर बाह्य विषय ग्रहण करता है। इसे यदि पुनः अंतर्निविष्ट न किया जाय तो अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नहीं हो सकती, और देह पुरस्थित परमात्मा के दर्शन भी दुर्लभ ही समझना चाहिए, श्रुति में कहा है —

परांचि खानिवत् यतृणत् स्वयंभू।
तस्मात्परां पश्यति नान्तरारमन्।
कश्चद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष।
दावृत्तचक्षुर मृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद्, ४-१)

रामशरण विद्यार्थीजी ने भी प्रकृति में एक रहस्यात्मक (दर्शन) रूप को देखकर लिखा है—

"रात में पुनः हिमपात होता रहा और प्रातःकाल हमारी दृष्टि ने एक विचित्र ही सृष्टि का अवलोकन किया। नेत्र के सम्मुख सारा ही दृश्य एक परम आश्चर्यमय वस्तु था। वास्तव में यह बड़ा गोप्यहिम रहस्य था। वहाँ की सारी सृष्टि हिमालय बनी हुई थी। प्रत्येक पदार्थ हिमाच्छादित था। इस गूढ़ हिम-रहस्य को कोई भी समझ न पाता था। अपने बिछौने से उठते ही देखा तो सारा ही दृश्य हिममय था। हमारी रजाई तक भी हिममय हो गई थी। हम इस रहस्य को देखकर अपने डेरों से बाहर देवी नाट्यकार के हिम-रहस्य पर चित्रलिखे से खड़े हो गए। शनैः-शनैः सूर्यदेव अपनी तेजस्वी किरणों से प्रकाशित होने लगे। सूर्य के प्रकाश से हिम पर एक विचित्र लालिमायुक्त आभा चमकने लगी। नेत्र इस विचित्र दृश्य के सन्मुख चकाचौंध हो गए। धूप लगने से संसार की क्षणभंगुरता के समान सारा हिम पिघल गया। पुनः हरे-भरे पौधे और पाषाण दिखाई पड़ने लगे। यह सारा कौतुहल स्वप्नवत् रह गया। एक ही रात्रि में कृष्णवर्ण को श्वेत हिमाच्छादित होते देखा और प्रातः उसको फिर उसी रूप में आते देखा। यही ईश्वर की लीला और महारोचक हिम रहस्य है।"[1] विद्यार्थीजी प्रकृति को सर्वत्र रहस्यमयता से पूर्ण

1. कैलाश पथ पर : रामशरण विद्यार्थी, पृ० ८६-८७

देखते हैं और आश्चर्यचकित से रह जाते हैं। पौराणिकता की भावना से पूर्ण एक दार्शनिक दृश्य का चित्र अंकित करते हुए कृपानाथ मिश्र ने लिखा है—

"सन्ध्या के समय कासिका नामक द्वीप का करुण चित्र हृदय को पुनीत भावों से पूर्ण कर रहा था। यह द्वीप आग्नेय उपत्यकाओं से पूर्ण है। कभी-कभी इसमें पर्वत-शृंग वज्र गंभीर निनाद से टूट पड़ते हैं। यहाँ प्रकृति आजीवन कुमारी की तरह एक कठोर व्रत की उपासना कर रही है। इसका सौन्दर्य वाष्प तथा अस्पष्ट रेखाओं के चीरते हुए हमारे सम्मुख शंकर का रुद्र रूप उपस्थित कर रहा था। कभी कभी तो ज्ञात होता था कि सुदूर-स्थित गिरिमालाओं केशृंग पर, कासिका नामक अपरिचित द्वीप में शंकर का उज्ज्वल रूप चमक रहा है। वहाँ के लता-गुल्म आदि दूर से रुद्राक्ष-माला की भाँति शोभायमान थे। कासिका का सौन्दर्य कठोर व्रतावलम्बी किशोरी की भाँति करुण तथा गंभीर है।"[१] प्रकृति की सुन्दरता में शंकर के रहस्यात्मक रूप का मिश्रजी ने सुन्दर वर्णन किया है।

मानसरोवर की नैसर्गिक दृश्यावली को देखकर उसमें लीलाबिहारी सृष्टिकर्त्ता के दर्शन कर रामशरण विद्यार्थी लिखते हैं—

"सूर्यास्त का समय निकट होने से वायु की गति भी मंद-सी हो चली और ललित सलिल में लहरें भी श्रान्त-सी हो विश्राम के लिए लालायित जान पड़ने लगीं। ऐसे सुहावने समय में इसके पश्चिमी तट पर जहाँ अनेकों रंग-बिरंगे सुन्दर पत्थर सुशोभित हैं, कुछ समय शान्ति से बैठते ही हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। मन्द-मन्द जीवनदायिनी वायु के स्पर्श से जहाँ शरीर में नवशक्ति का संचार होता है, वहाँ मन में विचित्र ही लहरें हिलोरे लेने लगती हैं और क्षणमात्र में बड़े स्पष्ट स्वरूप में ईश्वर का उसकी लीलामय सृष्टि द्वारा, साक्षात् दर्शन होता है। चहुँ ओर के, परम प्रकाशित, हिमाच्छादित पर्वतों की ज्योति से ईश्वर की विभूति सरोवर के जल से प्रतिच्छाया के रूप में झलकती है। प्रत्येक लहर उस विश्व-रचयिता की महत्ता को विस्तृत रूप में प्रकट करती है। मानव-हृदय उसे स्वीकार किये बिना नहीं रहता। इधर बहुरंगे नन्हें-नन्हें पत्थर ईश्वर का गुणानुवाद पुनः-पुनः गायन करते हैं।"[२]

जी० डी० जोशी अपनी साइकिल से यात्रा करते हुए विभिन्न स्थानों को देखते जाते हैं। अपने इस भ्रमण में वे प्रातः और सन्ध्या-काल दोनों के दृश्य देखते चलते हैं। मिर्जापुर से निकट के भ्रमण में वे सन्ध्याकालीन दृश्य को किस मनोरंजक ढंग से देखते हैं, जिसमें दार्शनिकता का संस्पर्श पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होता है, देखिए—

"सूर्य भगवान् अपनी दोपहर की उष्णता छोड़कर शान्ति से थके-माँदे बटोही की तरह पश्चिम की ओर जा रहे हैं। उनकी दोपहर की जवानी का रोष अब

१. विदेश की बात : कृपानाथ मिश्र, पृ० ३०
२. कैलाश पथ पर : रामशरण विद्यार्थी, पृ० ९०

सायंकाल के, बुढ़ापे में परिवर्तित हो गया है। वे शिथिल हैं उनकी किरणें अब संतप्त नहीं। किन्तु फिर भी प्रकाशवान् हैं।"[1]

दार्शनिक यात्राओं के अतिरिक्त हमें तीर्थ-यात्राओं के वर्णन भी प्राप्त होते हैं जिनका आँकलन हम यहाँ करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ये उदाहरण बहुत-कुछ लेखक की दार्शनिक दृष्टि को प्रतिफलित करनेवाले हैं, अतएव इनको दार्शनिकता के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

कृष्णकुमार माण्डके जगन्नाथपुरी का दर्शन कर लिखते हैं :—

"मंदिर के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे कोट होकर उनमें चार प्रवेश-द्वार हैं। किसी भी द्वार से प्रवेश करने पर दूसरा कोट आता ही है। उसमें फिर चार प्रवेश-द्वार हैं। हमने सिंह-द्वार से मंदिर में प्रवेश किया। इसके बाद २०-२२ सिड्ढियाँ चढ़ जाने पर हम भीतरी कोट के प्रवेश-द्वार के पास पहुँचे, तदनन्तर मंदिर के विस्तीर्ण पटांगण में पहुँचे। पटांगण को रत्नवेदी कहते हैं। उसके मध्यभाग में विशाल नयनाभिराम गगनचुम्बी और आर्यों के कला-कौशल की यशोदुन्दभी बजानेवाला तथा भक्तों के सारे प्रयत्न को सफल कर देनेवाला मनोरम देवालय है।"[2] माण्डके ने इसमें वहाँ के देवालयों एवं सिंहद्वारों का सुन्दर चित्र अंकित किया है। इसी प्रकार स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी कैलाश तीर्थ-यात्रा का मनोरम वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"रास्ते में दोनों ओर जल-प्रपात देखे। कैलाश की चोटी मेरे दाहिने हाथ थी और बाएँ हाथ दूसरी पहाड़ियाँ, दोनों ओर से हिम ढल-ढलकर आ रही थी। आगे बढ़े सामने कैलाशजी के भव्य दर्शन हुए। क्या ही आलौकिक दृश्य था! यह अनुपम छटा! श्री कैलाशजी का पर्वत सचमुच ईश्वरीय विभूति का अनोखा चमत्कार है। मैंने मंदिर—शिवालय बहुत-से देखे हैं, पर ऐसा प्राकृतिक शिवालय इस भूमण्डल पर कहीं नहीं है। जिस कुशल शिल्पी ने प्रथम शिवालय की रचना-विधि का नक्शा तैयार किया होगा, उसके हृदय-पटल पर तिब्बत-स्थित इस नैसर्गिक शिवालय की प्रतिकृति अवश्य रही होगी, इसके बिना वह कदापि शिवालय बना नहीं सकता था।"[3] परिव्राजकजी का शिवालय-वर्णन बड़ा चमत्कारपूर्ण बन सका है।

अपनी मथुरा-यात्रा में वहाँ के सान्ध्यकालीन वातावरण का वर्णन करते हुए लक्ष्मीनारायण टंडनजी ने लिखा है—

"सायंकाल के समय विश्राम घाट की आरती के दर्शन किए। आरती के समय बड़ी भीड़ घाट पर होती है, और घाट की शोभा बहुत बढ़ जाती है। एक

---

१. साइकिल यात्रा : जी० डी० जोशी, पृ० ७३
२. जगन्नाथपुरी दर्शन—कृष्णकुमार माण्डके—चित्रमयजगत्—दिसम्बर, १९१८
३. मेरी कैलाश यात्रा—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ९७-९८

ऊँचे, पक्के, छोटे चबूतरे पर एक पंडा बहुत बड़ी आरती लेकर जमुनाजी की आरती करता है। दर्शक घाट या नाव पर से आरती करते हैं। गायों को भोजन कराते हैं। कछुओं को चने खिलाते हैं। यमुनाजी में दिए जलाकर या फूल के दौने बहाते हैं। स्थान-स्थान पर कथा होती है। लोग घाटों पर बैठे यमुनाजी का आनन्द लेते या उस पार जाकर घूमते हैं। मथुरा की शोभा यमुनाजी और उनके घाटों से है। मथुरा की ठीक शोभा देखनी हो तो प्रातःकाल और सायंकाल यमुना के पुल से देखें।"[१] टंडनजी ने इसमें घाट के सभी दृश्यों के साथ-साथ मथुरा की शोभा का भी मनोरम चित्र अंकित कर दिया है। चन्द्रकुँवर वर्तवाल ने अपनी केदारनाथ तीर्थ-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है—

"नील देवदार का जंगल जिसको चीरते हुए हाथी के दाँतों की तरह उजले-पतले झरने, वन पर फिरता हुआ हिमालय के उच्छ्वास-सा निर्मल झीना-झीना-सा कुहासा, कोमल-कोमल दूर्वा से सिक्त मार्ग और सारे वन में अकेली रोती हुई एक चिड़िया जिसकी वाणी सुनकर 'अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' ऐसे सुन्दर पथ पर अपने प्राणों के प्राण को लेकर जाना कितना मधुर होगा! हमारे आगे-आगे कुछ स्वस्थ प्रभात की किरणों की तरह निर्मल और उज्ज्वल पर्वतीय बालाएँ नदियों की तरह उन्मुक्त गति से चल रही थीं, उनके पैरों में नूपुर नहीं थे, लेकिन उनके चरणों के पृथ्वी पर पड़ते ही प्राणों से एक सुमधुर झंकार गूँज उठती थी, भ्रू-विन्यास से अनभिज्ञ होने पर भी उनकी आँखों में मायाविनी शक्ति थी और विलासिनी होने पर भी उनके मुखों पर एक पवित्रता थी जैसी हिमालय के हिम-हास में होती है।"[२] वर्तवाल द्वारा किए गए केदारनाथ के चित्रण से एक बार पाठक का हृदय भी झंकृत हो उठता है।

गंगोत्री की यात्रा के मनोरम दृश्यों का वर्णन पं० श्रीराम शर्मा ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। वे लिखते हैं—

"हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों की वायु शरीर से अठखेलियाँ खेलती थी। कई स्थानों पर वर्फ अब भी पड़ी थी और गल-गलकर नालों में गिर रही थी। यहाँ से गंगोत्री, केदार और बदरी के पहाड़ मेघमण्डल के आँचल से उलझकर अपना श्वेत मुख दिखा रहे थे। प्रकृति ने यहाँ गजब ही कर दिया। पग-पग पर घास के हज़ारों रंग थे।"[३] शर्माजी का प्रकृति-चित्रण अनोखा-सा बन पड़ा है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने अपनी हरिद्वार तीर्थ-यात्रा में गंगाजी की नहर का सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है—

"यहाँ सबसे आश्चर्य श्री गंगाजी की नहर है, पुल के ऊपर से तो नहर बहती है और नीचे से नदी बहती है। यह एक बड़े आश्चर्य का स्थान है। इसके देखने से

१. संयुक्त प्रान्त के तीर्थस्थान—लक्ष्मीनारायण टंडन, पृ० १२३
२. केदारनाथ की यात्रा—चन्द्रकुँवर वर्तवाल—तरुण, मई १९४३, पृ० १०७
३. गंगोत्री यात्रा-वर्णन—श्रीराम शर्मा—प्रभा, अगस्त १९२४

शिल्पविद्या का बल और अंग्रेजी का चातुर्य और द्रव्य का व्यय प्रकट होता है। न जाने वह पुल कितना दृढ़ बना है कि उसपर से अनवरत कई लाख मन वरन् करोड़ मन जल बहा करता है और तनिक नहीं हिलता। स्थल में जल कर रखा है और स्थानों में पुल के नीचे से नाव चलती हैं। यहाँ पुल के ऊपर नाव चलती है और उसके दोनों ओर गाड़ी जाने का मार्ग है और उसके परले सिरे पर चूने के सिंह बहुत ही बड़े बने हैं।"[1] श्री यशपाल जैनजी अपनी कैलाश तीर्थ-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"गुफा से निकलकर बाहर आए और थोड़ी देर रुककर गुफा को बाहर से देखने लगे। देखते-देखते हम लोगों की दृष्टि दूर, बहुत दूर बाईं ओर के एक पर्वत पर गई, जिसके ऊपर बर्फ-ही-बर्फ जमी थी और कई बादल के टुकड़े चक्कर लगा रहे थे। सूर्य की सुनहली किरणों के मेल से वह दृश्य इतना सुन्दर लग रहा था कि हम लोगों की निगाह बरबस वहाँ टिक गई। हमें बताया गया कि वह कैलास है। भारत के महानतम तीर्थों में कैलास की गिनती होती है और बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी कम ही लोग वहाँ पहुँच पाते हैं। उसके इतने भव्य रूप में दर्शन करके हृदय को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। हम लोग एक तीर्थ के दर्शन करने आए थे, दो के हो गए।"[2] जैनजी ने इस वर्णन में प्रकृति का कितना मनोरम दृश्य अंकित किया है यह स्वतः सिद्ध है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि यात्रा-लेखकों ने अपने व्यक्तित्व के अनुसार समय-समय पर भारतीय दर्शन के दृष्टिकोण को अपनी रचनाओं में प्रतिफलित किया है। उनकी दार्शनिकता किसी दर्शन शास्त्री की जीवात्म-व्याख्या नहीं है किन्तु भारतीय जीवन के साथ मूलबद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण ही उनकी कृतियों में झलकता है। जिस प्रकार भारत का साधारण मनुष्य वेदान्त-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों से परिचित होता है, उसी प्रकार हमारे लेखक भी उक्त दृष्टिकोण को पूर्णतया अपनाए हुए हैं। अन्तर इतना ही है कि हमारे रचनाकार विद्वान् तथा परिष्कृत रुचि के हैं। अतः उनका दृष्टिकोण स्पष्ट तथा सुलझा हुआ है। वास्तव में यह दार्शनिकता उनकी सामयिक मानसिक स्थिति की अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सहायक होती है।

मनोरंजन-मूलक दृष्टि

जीवन की संघर्षमयी परिस्थितियों और अतिव्यस्तता के बीच मनुष्य को अपना मन हलका करने के लिए मनोरंजन अनिवार्य होता है। इस मनोरंजन के अनेक रूप होते हैं, यात्री भी उन्हीं रूपों में से एक महत्वपूर्ण रूप है। यद्यपि यात्रा मात्र के बीच मनोरंजन का अंश विद्यमान रहता है तथापि कहीं-कहीं अन्य उद्देश्यों से की गई यात्राओं के अतिरिक्त केवल मनोरंजन मात्र के लिए यात्राएँ की जाती रही हैं। इन

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली (भाग ३), सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृ० ६६०-६१
२. जय अमरनाथ—यशपाल जैन, पृ० ८३

यात्राओं में लेखकों की मनोरंजन वृत्ति, प्राकृतिक दृश्यों में तन्मयता, स्वच्छन्दता, अनिश्चिन्तता आदि के दर्शन होते हैं। लेखकगण यद्यपि मनोरंजन-यात्राओं पर निकले हैं, तथापि उनका कोई-न-कोई उद्देश्य तो रहा ही है। कहीं पुरातत्व-दर्शन, कहीं साहित्यिक यात्रा, कहीं तीर्थ-यात्रा और कहीं-कहीं केवल भ्रमणेच्छा की प्रेरणा से यात्राएँ की गई हैं। ये यात्राएं भी पैदल से लेकर वायुयान तक की गई हैं। हम यहाँ इस प्रकार की यात्राओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

राजवल्लभ ओझाजी ने प्रकृति-वर्णन की प्रधानता से पूर्ण अपनी यात्रा के एक मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

"जब खिड़की से बाहर मेरी आँखें ऊपर या सामने उठतीं तो ऐसा प्रतीत होता, जैसे विमान के साथ हम बादलों की दुनियाँ में अब अन्तर्धान हो जानेवाले हैं। कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि बादलों के टुकड़ों के दल तैरते हुए वैसे ही खूबसूरत प्रतीत होते जैसे जलाशय में राजहंस।"[1] साहित्यिक तथा पुरात्व-सम्बन्धी यात्राओं से भी कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवालजी ने अपनी साहित्य-सदन की यात्रा में पुरातत्व का अवलोकन भी किया है, साथ ही साहित्यिक दृष्टि से यात्रा का महत्व भी वर्णित किया है। यथा—

"चिरगाँव का साहित्य-सदन मेरे-जैसे नई पीढ़ी के हिन्दी पाठकों के लिए एक तीर्थ है। स्कूल के शिक्षाभ्यास के समय जब काव्य से आनन्द ग्रहण करने का नया उन्मेष हो रहा था, मेरे साहित्यिक मानस को श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'जयद्रथ वध' और 'भारत-भारती' से रस का अपूर्व अनुभव प्राप्त हुआ था। कालान्तर में परिस्थिति ने उस आकर्षण को एक गाढ़ा रूप दे डाला और मुझे गुप्तजी को अपने अति सन्निकट बन्धु और घनिष्ठ मित्र के रूप में प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साहित्य-सदन को देखने की इच्छा बनी हुई थी। अक्तूबर १९४३ के अन्त में गुप्तजी के भतीजे श्री वैदेहीशरणजी के आमंत्रण पर कुछ शिलालेख देखने के लिए चिरगाँव की यात्रा का सुयोग मिला।"[2] इस प्रकार अग्रवालजी ने अपनी यात्रा के मनोरंजक दृश्यों को शिलालेखों द्वारा पूर्ण किया। भुमरा के प्रस्तर-खण्डों की मैदानी-यात्रा का मनोरंजक वर्णन करते हुए लक्ष्मीकान्त पाठक लिखते हैं—

"मनोहारिणो वन्य-छटा का आनन्द लेते हुए हम लोग मन्दिर के निकट पहुँचे। शिवजी के उस मन्दिर के ध्वंसावशेष को प्रकृति-परी ने अपने आँचल में शरण दे रक्खा है। सुन्दर आम्र हरीतिकी तथा आमलक वृक्ष अब भी उसकी अतीत गौरव-गाथा कह रहे हैं। इनकी मनोहारिणी छाया में विश्राम करके पुनः हम लोग पर्याप्त सामग्री के साथ अन्वेषण में संलग्न हुए। एक बाहर निकले हुए अर्धवृत्त के नीचे श्री शिवजी की अत्यन्त सुन्दर वक्षस्थल-पर्यन्त मूर्ति बनी हुई है। मूर्ति की

१. बदलते दृश्य—राजवल्लभ ओझा, पृ० २
२. साहित्य सदन की यात्रा—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—मधुकर, फरवरी १९४५

मुखाकृति कालचक्र की रगड़ से कुछ अस्पष्ट हो गई है, किन्तु ललाट के मध्य में प्रलयंकर तृतीय नेत्र स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है और तृतीया के चन्द्र सिर पर बँधे हुए जटाजूट के ऊपर दिखाई देते हैं। एक रत्नजटित मुकुट उनके मस्तक पर बँधा हुआ है, जिनके नीचे से जटाजूट बाहर से निकले हुए हैं। कुछ जटाएँ दोनों कन्धों पर भी पड़ी हुई हैं। शंकरजी मणिजटित कर्णफूल, मोतियों की कंठी तथा कंठहार पहने हुए हैं। इस मूर्ति को देखकर एकाएक मुझे—

शीतांशुशोभित किरीट विराजमानम्।
भाले क्षणानिल विशोभित पंचवाणम्॥
नागाधिपार चितभासुर कर्णपूरम।
वाराणसी पुरपति भज विश्वनाथम्॥

स्मरण हो आया।"[1] पाठकजी का यह पुरातत्व सम्बन्धी वर्णन बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। इसी प्रकार की पुरातत्व सम्बन्धी शिल्पकला की पद्धति का वर्णन बाबा साहब पंत ने अपनी दक्षिण भारत यात्रा में किया है। वे लिखते हैं—

"दक्षिण भारत में खासकर देखने योग्य स्थान वहाँ के देवालय हैं। दक्षिण के देवालय प्राय: ब्राह्मणी द्रविड़ शिल्पकला की पद्धति पर निर्माण हुए हैं और हिन्दू राजाओं द्वारा बनवाए हुए होने के कारण स्वभावत: उनमें की खुदाई आदि में रामायण एवं महाभारत के दृश्य अंकित किए गए हैं। विजयनगर में तो खास वहाँ के राजाओं की चाल-ढाल, रीति-रिवाज और अन्यान्य बातों के साथ उनके पहनाव और दरबारी प्रसंगों के चित्र भी देवालय की दीवारों पर बनाए हुए हैं। ब्राह्मण शिल्पकला में खासकर चिदम्बरं, तंजौर, मदुरा, श्रीरंगपट्टन और रामेश्वर तथा विजयनगर के देवालयों की ही गणना हो सकती है और फर्ग्यूसन के मतानुसार उन देवालयों की ही सुन्दरता यूरोप के हर एक देवालयों से बढ़कर है।"[2]

एक साहित्यिक मनोरंजन की यात्रा का दृश्य भी देखिए। अपनी दौलतपुर (रायबरेली) की साहित्यिक यात्रा का बहुत ही मनोरंजक वर्णन करते हुए पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है—

"धूप हलकी थी, कुछ बादल भी थे, रास्ते में सुरखाब, जल-कुक्कुट तथा बन-विहगों के गान और फूलों पर मुग्ध होते हुए हम लोग चले जा रहे थे कि एकाएक एक सँकरे रास्ते में अगली बैलगाड़ी का एक बैल छटककर बाहर हो गया, उसे एक लड़का हाँक रहा था। पिछली गाड़ी पर गुप्तजी आदि थे। उसका सारथी जब उसे ठीक करने के लिए अगली गाड़ी हाँकने लगा, तब हमारे राष्ट्रीय कवि पिछली गाड़ी के सारथी बन बैठे। उनकी पगड़ी, दाढ़ी, और मूछों पर धूल लोट रही थी।

---

१. भुमरा के प्रस्तर-खंडों में—लक्ष्मीकांत पाठक, सरस्वती—अक्टूबर, १९४२, पृ० २४५
२. हमारी दक्षिण भारत की यात्रा—बाबा साहब पंत—चित्रमयजगत, जून १९२०

उन्होंने एक हाथ में पगड़ी ली और दूसरे में अँगी। उस समय कैमरा न होने से सबके हृदय में एक कसक हुई। यदि गुप्तजी के उस चित्र को हम लोग अपने हृदय ही में न रखकर लोगों के सामने या रायसाहब अथवा केडियाजी के संग्रहालय में कहीं टाँगने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते, तो भारती कवि-पुंगव के उस दृश्य से न जाने कितने दिनों तक, समय-समय पर वह मोहक स्मृति जगती रहती।"[१] मिश्रजी का यह वर्णन बहुत विनोदपूर्ण सुन्दर और साहित्यिक है।

गिरीन्द्रनारायण सिंह ने अपनी पूसा-यात्रा का मुक्त मनोरंजनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है—

"गर्मी की छुट्टी हुई। घर आया। उस दिन बदली छायी हुई थी। संयोग से मेरे तीन सम्बन्धी भी हमारे घर आ गए थे। सुहावना समय और सुयोग, दोनों ने घूमने के लिए उत्साहित किया। पूसा हमारे पड़ोस में है ही। कुल तीन कोस की दूरी पर, फिर आज तक कभी वहाँ गए न थे। हमने उस पर ज़ोर दिया, औरों ने सम्मति दे दी। चार साइकिलों पर चढ़कर दिन के प्रायः दस बजे हम लोग पूसा के लिए चल पड़े। बड़ी मज़दार ट्रिप रही। कभी स्लो साइकिलिंग, तो कभी वन, टू, थ्री करके जोरों की साइकिल रेस करते हुए हम लोग एक ही घण्टे में पूसा पहुँच गए। घूमते-घूमते चार-पाँच घण्टे हो गए, अतएव चलने की तैयारी करनी ही पड़ी। लहलहाते हुए खेत और दूब से भरे मैदानों में चरती हुई विशालकाय गउओं के सुन्दर दृश्य, खेतों में चलते हुए लोहे के हल-बैल और सुन्दर-सुन्दर इमारतों की श्रेणीबद्ध कतारों से बिदा लेनी ही पड़ी।"[२] गिरीन्द्र नारायण जी ने पूसा-यात्रा में साइकिल रेस का मजेदार वर्णन दिया है। जी० डी० जोशी द्वारा की गई साइकिल यात्रा में जोशीजी ने अनेकों मैदानों का वर्णन किया है। जब वे लखनऊ के दृश्य देखते हैं तो कहते हैं—

"प्रकृति के उद्यानों की सैर के निमित्त मनुष्य अकेला होते हुए भी भ्रमण करके ज्ञानोपार्जन तथा आनन्द का अनुभव कर सकता है परन्तु मनुष्य-कृत स्थानों की सैर के निमित्त उसे पथ-प्रदर्शक की ज़रूरत पड़ती है। मानवीय कृति से दूर जंगलों में प्रकृति देवी की क्रीड़ा को देखकर अथवा समुद्र व पर्वतों के अवलोकन से प्रकृति की गहनता का जो ज्ञान होता है वह ऊँची-ऊँची इमारतें व विशाल राज-प्रासादों से नहीं हो सकता।"[३]

अपनी मधुवन यात्रा में पंडित विग्नू मिश्र उपनाम वेणीमाधव कवि ने वहाँ के मनोरंजक बनों को देखकर लिखा है—

अब मधुबन के चरित नाम अस्थान गनाये।
जहँ गोचारनकरी स्याम अति ही सुख पाये।।

१. दौलतपुर की यात्रा—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—सुधा, दिसम्बर १९३८, पृ० ४६४
२. हमारी पूसा यात्रा—गिरीन्द्रनारायण सिंह—माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितम्बर १९२८
३. साइकिल यात्रा—जी० डी० जोशी, पृ० ४६

तहाँ अहै मधुकुण्ड झुण्ड पापिन के तरते ।
ता पच्छिम है कदम वृक्ष देखत मन हरते ।।
कवि माधव वाही वृक्ष तर कृष्ण बैठकी जानिये ।
प्रभु तहँ मार्‌यौ मधु दैत्य को ताको सुजस बखानिये ।।[१]

देहरादून यात्रा में लक्ष्मीनारायण टण्डन ने हरिद्वार स्टेशन एवं गंगाजी की हरि की पैड़ी के दृश्यों का बड़ा मनोरंजक वर्णन दिया है । यथा—

"सायंकाल और रात्रि के समय प्लेटफार्म, सम्पूर्ण घाट और हरि की पैड़ी का दृश्य देखने ही वाला होता है । हजारों की संख्या में लोग आते और अपनी-अपनी चटाइयाँ और दरियाँ बिछाकर प्लेटफार्म पर बैठ जाते हैं । उस समय गंगाजी की शोभा अपूर्व होती है । फूलों के दौनों में आरती रखकर या फुलझड़ियाँ लगाकर सहस्रों की संख्या में लोग गंगाजी में प्रवाहित करते हैं, वे कहते हुए अद्‌भुत सौन्दर्य का सृजन करते हैं । कलकलनादिनी भागीरथी अपने वक्षःस्थल पर श्रद्धालु भक्तों की भेंटों को लिए हुए आनन्दपूर्वक बहती रहती है ।"[२] टण्डनजी का गंगा की शोभा के साथ ही दीपदान का दृश्य बड़ा ही मनोरंजक बना है । चक्रधर 'हंस' ने अपने बनारस और सारनाथ के भ्रमण में वहाँ के मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखा है—

"बनारस नगर के समीप गंगा के ऊपर विशाल पुल है । यहाँ से बनारस का दृश्य बड़ा सुहावना प्रतीत होता है । यहाँ से नगर के गगनचुम्बी मन्दिरों के शिखरों और आकाशव्यापी विशाल घरों की अट्टालिकाएँ बिना विशेष प्रयत्न के दृष्टिगोचर होती हैं । गंगा के ऊपर चलनेवाली बड़ी-बड़ी और छोटी-छोटी नौकाएँ इस पुल से आँखों को अधिक प्रिय लगती हैं । ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों के शिखरों की फहराती हुई पताकाएँ इतनी आकर्षक प्रतीत होती हैं कि दर्शकों के लोचन उनकी सुन्दरता का पानकर वहाँ से हटते ही नहीं, वहीं गड़ जाते हैं ।"[३] इनमें 'हंस'जी ने गंगा के पुल से देखे गए बनारस नगर के दृश्य को अंकित किया है ।

कूच-बिहार से सिलीगुड़ी के मैदानी यात्रा-मार्ग का आनन्ददायक एवं मनोरंजक दृश्य-वर्णन अज्ञेयजी ने किया है—

"चाय के बगानों की इस प्रदेश में भरमार है । ज्यों-ज्यों पथ पश्चिम को दार्जिलिंग पर्वत की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों चाय के नये छंटे, बने-सँवरे पौधों के पीछे हिमालय की नई-नई हिमाच्छादित चोटियों का भव्यतर रूप सामने आता जाता है । उस दृश्य के अनिर्वचनीय सौन्दर्य को वही जान सकता है, जो बार-बार उसकी

---

१. ब्रजयात्रा—वेणीमाधव कवि कृत, पृ० ३
२. मेरी देहरादून यात्रा—लक्ष्मीनारायण टण्डन—सुधा, मई १९४१, पृ० ४२८
३. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर हंस, पृ० ४२

अलंकार-निरपेक्ष भव्यता का अकस्मात् थप्पड़-सा खाकर लड़खड़ाया हो और फिर सम्भला हो—और जिसने वैसे थप्पड़ नहीं खाए, वह उस कवि-हृदय में पैठकर उसके सत्य को अपना भी नहीं सकता जिसकी अनुभूति ने वाणी पाकर कहा होगा—

हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथ्वी द्यामुतो मा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[1]

अज्ञेयजी ने अपनी मोटर द्वारा की गई मैदानी-यात्रा का एक बहुत ही मनोरंजक दृश्य इस प्रकार वर्णित किया है—

"फौरन ही मंडी जानेवाली मोटर में बैठकर मैं 'देवताओं के अंचल' कुल्लू की ओर बढ़ चला। पालमपुर से आगे खेतों की हरियाली और आकाश की नीलिमा देखकर लाहौर का अवसाद धीरे-धीरे मिटने लगा था। जोगेन्द्रनगर से कुछ पहले चीड़ के वृक्ष देखकर तबीयत एकाएक फड़क उठी थी—पृथ्वी-माता के आकाश की ओर उठे हुए इन अभयद हाथों के तले रहने का सौभाग्य जिसने पाया है, वही जानता है कि चीड़ वृक्षों को देखकर ही हृदय में कैसे अनिर्वचनीय रस का संचार हो जाता है—लारी में बैठा, तब चित्त प्रसन्न था—यहाँ तक कि लारी जब सड़क के उतार-चढ़ाव के कारण डोलने लगी और कभी-कभी सड़क पर से बहकर जानेवाले पहाड़ी झरनों के पानी में छप-छप करके स्वयं उछलने और कीचड़ उछालने लगी, तब मैं उस यात्रा का वर्णन करने के लिए तुकबन्दी की कड़ी-पर-कड़ी जोड़ने लगा। लारी के प्रत्येक दचके के साथ एक कड़ी और जुड़ जाती, तब में पूरी तुकबन्दी दुहरा लेता कि याद हो जाय और पड़ाव पर पहुँचकर लिख सकूँ।"[2] अपनी रेल-यात्रा के मनोरंजक दृश्य में गोआ के लोहे की खान का वर्णन करते हुए मोहन राकेशजी ने लिखा है—

"काले से, जहाँ गोआ की लोहे की खाने हैं, हमारे डिब्बे में आठ-दस युवा जोड़े आ गए। वे बाहर से ही चहकते हुए आए थे और अन्दर आकर भी उसी तरह चीखते-चहकते रहे। क्रिसमस सप्ताह चल रहा था और नया साल आनेवाला था। उन्हें इस समय जीवन में किसी तरह का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं था। उन्होंने खिड़कियाँ बन्द करके डिब्बे में बीस-पच्चीस गुब्बारे छोड़े दिए और उनसे खेलने लगे। उनमें से अधिकांश ने—लड़कियों ने ही नहीं लड़कों ने भी बहुत-सा सोना पहन रखा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था जैसे वहाँ लोहे की खानों में से लोहा नहीं, सोना निकलता है। गाड़ी के अन्दर रंग-बिरंगे गुब्बारे उड़ रहे थे और बाहर नारियलों के घने-घने झुंड निकलते जा रहे थे। जिधर मैं बैठा था, उधर नीचे एक घाटी चल रही थी, जिसमें घने नारियल उगे हुए थे। इन नारियलों के शिखर उस ऊँचाई तक आते थे जिस ऊँचाई पर गाड़ी चल रही थी, जिससे लगता था कि वे शिखर जमीन की सतह का ही एक भाग हैं। जहाँ घाटी कम गहरी होती, वहाँ शिखर जमीन

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० २६
२. वही, पृ० १४०-४१

से ज़रा-ज़रा उठे हुए दिखाई देते और फिर ऊँची जमीन आ जाने पर वे शिखर आकाश में चले जाते । दोनों ओर से घने नारियलों से ढँकी हुई एक नहर निकल गई जिसमें एक नाव चल रही थी । इस तरह घने नारियलों की छाया में नाव की वह यात्रा गाड़ी से देखने पर बहुत रोमांटक लगी—जैसे चित्रपट पर वह सुन्दर दृश्य क्षणभर के लिए आया और हट गया । गाड़ी कितनी आगे निकल आई थी—परन्तु नाव अभी शायद गाड़ी के पुल तक भी नहीं पहुँची थी ।"[1] लखनऊ की यात्रा का वर्णन भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी लिखते हैं—

"हुसैनाबाद के फाटक के बाहर एक षटकोण तालाब सुन्दर बना है और एक बारहदरी भी उसके ऊपर है और हुसैनाबाद के फाटक के भीतर एक नहर बनी है और बाईं ओर ताजगंज का-सा एक कमरा बना हुआ है । वह मकान जिसमें बादशाह गड़े हैं, देखने योग्य है । बड़े-बड़े कई सुन्दर झाड़ रक्खे हुए हैं और इस हुसैनाबाद के दीवारों में लोहे के गिलास लगाने के इतने अँकुड़े लगे हैं कि दीवार काली हो रही है । कैसरबाग भी देखने योग्य है । सुनहरे शिखर धूप में चमकते हैं । बीच में एक बारादरी रमणीक बनी है और चारों ओर अनेक सुन्दर-सुन्दर बँगले बने हैं । जिसका नाम लंका है उसमें कचहरी होती है । जहाँ मोती लुटते थे वहाँ धूल उड़ती है । यहाँ एक पीपल का पेड़ श्वेत रग का देखने योग्य है ।"[2] कलकत्ता के भ्रमण में चक्रधर हंसजी ने बिहार-प्रदेश का रेल-यात्रा द्वारा जो निरीक्षण किया है वह बहुत ही सुन्दर और मनोरंजक है । उस प्रदेश के दृश्यों को देखकर आपने लिखा है—

"बिहार प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य सराहनीय था । गाड़ी की लाइन के दोनों ओर भरे धान के खेत ऐसे प्रतीत होते थे, मानों प्रकृति देवी ने पृथ्वी के ऊपर सुन्दर हरित गलीचा बिछा दिया हो । इस सुरम्य हरियाली के अतिरिक्त मार्ग में कुछ दूर तक ऊँची-नीची पर्वतश्रेणियाँ अपने सुहावने नैसर्गिक सौन्दर्य से दर्शकों के नेत्रों को मुग्ध कर रही थीं । इस बिहारभूमि में प्रकृति की समस्त सुन्दरता देखने को मिलती है । कदाचित इसी निराली प्राकृत शोभा के प्रेम से प्लावित होकर प्रकृति-प्रेमी बुद्धदेव ने इस प्रान्त को अपना निवास-केन्द्र बनाया हो । प्रातःकाल की मन्द-मन्द चलती हुई शीतल हवा हमें अत्यन्त आनन्दित कर रही थी । प्रकृति की सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए हमने सोन नदी के पुल को पार किया ।"[3] कलकत्ता के अजायबघर की यात्रा में 'हंस'जी ने वहाँ की चित्रकला से अपने भ्रमण का सारा आनन्द-सारा मनोरंजन कुछ ही समय में प्राप्त किया और वे अपने इन मनोरंजक आनन्द को अपने में न पचाकर लिख ही बैठे । वे वहाँ की चित्रकारी के मनोरंजक दृश्यों को देखकर लिखते हैं—

---

१. आखिरी चट्टान तक—मोहन राकेश, पृ० ३६-३७
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग ३, सम्पादक ब्रजरत्नदास, पृ० ९४६-४७
३. कलकत्ते का भ्रमण—चक्रधर हंस, सरस्वती, जनवरी १९३२, पृ० १८

"चित्रों की चित्रकारी प्रशंसनीय है। ये चित्र, चित्र से नहीं लगते, किन्तु साक्षात् जीवित मूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। इन चित्रों का समय निर्णय करना साधारण बात नहीं है, तो भी ये चित्र दस-बारह सदी पूर्व के पुराने अवश्य हैं। इस चित्रशाला में बहुत अधिक संख्या में ऐसे चित्र हैं जो श्लोकों के भाव के अनुसार बने हुए हैं, जैसे—

नीलाम्बुजश्यामल कोमलांगं सीता समारोपित वामभागम्।
पाणौ महासायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥[1]

मुनिकांत सागरजी अपनी 'नालन्दा यात्रा' में वहाँ की चित्रकारी पर ही विशेष बल देते हैं और उनसे ही अपनी यात्रा का मनोरंजन प्राप्त करते हैं। एक खेत के मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए वे चित्र के निकट तक आ जाते हैं और उसकी सुन्दर कला का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"आहार करके सोच रहा था कि कुछ लेटकर खण्डहर और खेतों में इतस्ततः बिखरे अवशेषों से भेंट कर उनकी मूक कहानी सुनूँ, तब तक सूर्य-ताप की प्रखरता भी कम हो जायगी। उन दिनों प्रकृति भी हमारा साथ दे रही थी। ठीक एक बजे आकाश में हल्के काले मेघ उमड़ आए। मैंने अपनी दुरबीन सम्हाली और कैमरा लेकर चल पड़ा। मेरे आवास से नालन्दा के खण्डहर लगे हुए ही थे। ज्योंही धर्मशाला के पिछले द्वार से निकला, मेरी दृष्टि खेत के एक अवशेष पर पड़ी। यह बौद्ध-तन्त्र से सम्बन्धित एक देवी की मूर्ति थी। कई हाथ विविध आयुधों से सुसज्जित थे। मुख पर जो भाव कलाकार ने व्यक्त किये थे, उनसे स्पष्ट पता लग रहा था कि देवी कितनी क्रूर रही होगी। मूर्ति का अंग-अंग विचित्र होते हुए भी आकर्षक था। वह विभिन्न आभूषणों से अलंकृत थी। ये आभूषण ही सूचित कर रहे थे कि प्रतिमा निस्सन्देह पाल-कालीन थी, क्योंकि इस काल की अन्यत्र प्राप्त स्त्री-मूर्तियों में जिन आभूषणों की उपलब्धि होती है, वे यहाँ भी थे। नारी की मूर्ति, तान्त्रिक होते हुए भी मर्यादित थी। इस प्रतिमा को कुछ समय तक एकटक देखता रहा। मन में कई प्रकार की कल्पनाएँ उठती थीं। ऐसा लग रहा था मानों कलाकार ने जड़ प्रस्तर पर कठोर छैनी से हृदय की सुकुमार भावनाओं को ही मूर्त नहीं किया, अपितु उस समय की एक ऐसी नारी को रच दिया जो तत्कालीन नारी का प्रतिनिधित्व करती है।"[2]

साधुचरणप्रसादजी ने नागपुर-भ्रमण में वहाँ का वर्णन करते हुए लिखा है—

"रेलवे स्टेशन से दो मील दूर नागपुर की दीवानी कचहरियाँ हैं। शहर के पड़ोस में महाराष्ट्र राजाओं का बनवाया हुआ अम्बाझीरी और तेलिंगखेरी उत्तम तालाब है। अम्बाझीरी से जल-कल द्वारा शहर और स्टेशन में पानी आता है। इसके अलावा नागपुर के आस-पास कई छोटे तालाब हैं। शहर और शहरतलियों में बहुत बाग अर्थात् उद्यान हैं, जिनमें से सीतावर्डी का महाराजबाग, शहर के भीतर

१. कलकत्ते का अजायबघर—चक्रधर हंस—सरस्वती, फरवरी १९३२, पृ० २२६
२. खोज की पगडंडियाँ—मुनिकान्ति सागर, पृ० १७४-७५

का तुलसीबाग, शहरअलियों में सकरदरा, पाल्डी, सोनगाँव और तेलिंगखेरी बाग प्रधान हैं; इनमें से महाराज बाग सब बागों से उत्तम है। इसमें स्थान-स्थान पर फूल और पत्तों की बेल के गमले सजे हैं। एक स्थान पर छोटे हौज में जीवित हाथी के समान पत्थर का बड़ा हाथी खड़ा है। उसके सूँड से कल का पानी सर्वदा गिरा करता है, जो हौज से नाली द्वारा निकलकर फूल की क्यारियों को सींचता है। इस बाग में एक छोटा चिड़ियाखाना (जन्तुशाला) है, जिसमें अनेक बाघ, भालू, बन्दर, हरिन, भेड़िया, नीलगाय और भाँति-भाँति के चिड़िये पाले जाते हैं।"[1]

अपनी दक्षिण भारत की यात्रा का वर्णन करते हुए पं० रामनरेश त्रिपाठीजी लिखते हैं—

"आज २६ वर्षों से मैं यात्रा कर रहा हूँ, मानों मैं यात्रा के ही लिए पृथ्वी पर आया हूँ। मेरे दाहिने हाथ की रेखाओं में भी यात्रा-ही-यात्रा लिखी है। बीस वर्ष की आयु में मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई, पर समाप्त कब होगी, यह मैं नहीं जानता। सम्भवतः यात्रा को मैं एक जीवन से नाप नहीं सकूँगा। अपनी यह दक्षिण यात्रा मेरे लिए चिरस्मरणीय रहेगी। कुर्ग के प्राकृतिक सौन्दर्य की जो छटा मेरे नेत्रों तथा मस्तिष्क-पटल पर अंकित हो गई है, वह मेरे जीवन-पर्यन्त अदृश्य न होगी—

"प्रकृति महारानी का मंजुल महल कुर्ग है
पद्मा का सुख-शान्ति-सदन आनन्द दुर्ग है,
जैसा बाहर यहाँ प्रकृति का तन सुन्दर है,
उससे भी कुर्गीय जनों का मन सुन्दर है।
शिमला नैनीताल नीलगिरि और मसूरी
है इसके समक्ष सब की छविराशि अधूरी।
क्योंकि वहाँ पर कृत्रिमता क्षम से दक्षित है,
किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक सौन्दर्य उचित है।
भारत में सर्वोच्च सुयश पद के अभिलाषी
हैं उद्यमी सुसभ्य, सच्चरित कुर्ग निवासी,
हे प्रभु! इनका भवन सभी विभवों से भर दो,
भारत का उद्धार इन्हीं के कर से कर दो॥[2]

पं० मंगलदेव शर्मा ने अपने जयपुर-भ्रमण में वहाँ की एक सुन्दर घाटी 'गलता' का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इस घाटी की मनोरंजक यात्रा के विषय में वे लिखते हैं—

"गलता घाटी जयपुर का सबसे सुन्दर दर्शनीय स्थान है। जयपुर नगर से पूर्व की ओर तीन मील दूर गलता एक अत्यन्त मनोरम पहाड़ी घाटी है जहाँ पहाड़ में से एक स्वच्छ जलधारा नीचे बने हुए एक कुण्ड में गिरती है। प्रतिदिन प्रातःकाल

---

१. मेरी दक्षिण यात्रा—पं० रामनरेश त्रिपाठी—विशाल भारत, फरवरी १९३४
२. वहीं।

सैकड़ों स्त्री-पुरुष गलता स्नान करने जाते हैं। जिस कुण्ड में जलधारा गिरती है, उसमें कोमल पुरुष स्नान करते हैं। मार्ग में ही सूर्य भगवान का मंदिर है। जलधारा मंदिर से आगे एक सुन्दर घाटी में नीचे उतरकर आती है। बड़ा ही मनोरम दृश्य है और प्रातःकाल तो जब सूर्यदेव अपनी सुकोमल सुनहरी किरणों का प्रसार करते हुए घाटी के नीचे से दर्शन देते हैं तो समस्त पर्वत-प्रदेश, जलधारा और दोनों जल-कुण्ड स्वर्णाभ हो उठते हैं। ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर नागफनी और विशाल प्रस्तर-खण्डों के बीच कलोलें करते हुए लंगूर बड़े भले दिखाई देते हैं।"[1] श्रीगणेश पाण्डेयजी ने अपने 'छतरपुर भ्रमण' में वहाँ की प्रकृति पर ही विशेष दृष्टि रखी है। वे वहाँ का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"सारा राज्य जंगलों और विंध्य-पर्वत की श्रेणियों से घिरा हुआ है। उपजाऊ तथा खेती योग्य जमीन का बहुत अभाव है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य इतना मनमोहक एवं आकर्षक है कि वह यात्रियों को चकित कर देता है। पहाड़ियों की चोटियाँ कहीं भी अधिक ऊँची नहीं हैं। ये पेड़ों और पौधों से आच्छादित रहती हैं। किसी ऊँची चोटी पर चढ़कर दूर तक दृष्टि डालने पर वृक्षों और वनस्पतियों की हरियाली बहुत सुन्दर जान पड़ती है। उधर से निगाह हटाने को जी नहीं चाहता। वर्षा ऋतु में तो यह दृश्य और भी मनोरम हो जाता होगा, इसमें सन्देह नहीं।"[2] अपने मेवाड़-दर्शन में केदारनाथ चटर्जी ने वहाँ के भ्रमण में दृष्टिगोचर होनेवाले प्राकृतिक दृश्यों, सवारियों और अनुभवों को भी अंकित किया है। उदयपुर की प्राकृतिक छटा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"उदयपुर की यह सौन्दर्य-छटा कल्पना के भी बाहर है। कलकत्ता की तरह वहाँ ट्राम, बस आदि का सुभीता न था, रहने का भी आराम न था, परन्तु फिर भी धूसर पर्वतों से परिवेष्टित—हरी-भरी उपत्यका के गले में स्वच्छ नील ह्रदों की माला, उनके तट के तोरणों, गुमटियों और छतरियों से सुशोभित संगमरमर के विशाल प्रासाद और वक्षःस्थल पर रत्नों की तरह उज्ज्वल जग-विलास आदि मंदिर, प्रतिक्षण में धूप और छाया के परिवर्तन में उनका नवीन रूप—इन सब दृश्यों को देखते ही समस्त कष्ट सार्थक मालूम होते हैं। दिल्ली के दीवानए-खास की तरह उदयपुर के लिए भी कहा जा सकता है—

अगर फिरदौस बर रूए जमीनस्त।
हमीनस्त-ओ हमीनस्त-ओ हमीनस्त॥

अर्थात्—

अगर दुनियाँ में है जन्नत कहीं पर।
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर॥[3]

---

१. जयपूर—पं० मंगलदेव शर्मा—चांद, जून १९३४
२. मेरी छतरपुर यात्रा—श्रीगणेश पाण्डेय—विशाल भारत—दिसम्बर, १९३१
३. मेवाड़-दर्शन—केदारनाथ चटर्जी—विशाल भारत, अगस्त, १९३०

पं० श्रीराम शर्माजी ने पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की ओर की हुई अपनी लाहौर की यात्रा में वहाँ के भ्रमण का बहुत ही सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रातःकालीन दृश्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"सूर्योदय हो चुका था। प्रातःकाल के कुहासे में छिपी, नज़र से ओझल दून घाटी घूँघट काढ़े, सिमटी-सिकुड़ी खड़ी थी। जैसे ही सूर्य-ताप बढ़ा और लारी सहारनपुर-चकरौता सड़क पर घड़घड़ाई कि दून घाटी और शिवालिक के अंचल दृष्टिगोचर हो गए। सहारनपुर से टिमली केवल ३५ मील है और दून घाटी में प्रवेश करते ही मनोहर दृश्य सामने आता है। पेट की अंतड़ियों की भाँति पहाड़ी सड़क टेढ़ी-मेढ़ी कहीं बल खाती हुई और कहीं समतल चकरौता की ओर बढ़ती है।"[1] शर्माजी की शिकारी वृत्ति ने अपनी प्रतिभा की बन्दूक दाग कर सड़क की अंतड़ियाँ प्रकृति की पेट से निकाल ली हैं। अपने काश्मीर-भ्रमण में ईश्वरचन्द्र शर्मा ने वहाँ के काश्मीरियों की शोभा का बड़ा ही सुन्दर वर्णन लिखा है—

"ऐश्वर्य के उस प्रभातकाल में काश्मीरियों की प्रतिभा खूब चमकती थी। उनके शरीर पर चाँदी से धवल कोमल ऊनी वस्त्र शोभा देते थे, और उनके मुँह से शास्त्र-चर्चा की वासन्ती शोभा नए-नए रूप में प्रगट होती थी। एक ओर उनके निर्मल घर सूर्य के प्रकाश में हँसते रहते थे, दूसरी ओर चाँदी और सोने की मूर्त्तियाँ कान्ति-प्रवाह में मंदिरों को तैरता हुआ प्रकाशित करती थीं। एक ललितादित्य ने ही ऐसे हजारों मंदिरों की प्रतिष्ठा कराई थी। इसके अतिरिक्त भी न जाने कितने नृपतियों और धन-कुबेरों ने देव-मंदिरों के निर्माण में अपरिमित धन व्यय किया था। कल्हण ने लिखा है, काश्मीर का तिलभर भी भाग तीर्थों से रहित नहीं है—

चक्रभृद्विज येशार्दिकेश वेशानभूषिते।
तिलांशोऽपिन यत्रास्ति पृथव्यास्तीर्थे बहिष्कृतः॥"[2]

श्री नर्मदा प्रसाद खरे ने अपनी 'मेड़ाघाट की गोद' नामक लेख में अपनी यात्रा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वहाँ के सुहावने कक्ष का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"प्रकृति के इस सुहावने कक्ष में पहुँचते ही हमें प्रकृति माता के अनन्त वैभव का कुछ दिग्दर्शन होता है, हमारी आँखें खुलती हैं और हमें विदित होता है कि प्रकृति का कोश इस प्रकार के अगणित स्थान रत्नों से भरा हुआ है। सुजला-सुफला शस्य-श्यामला भारत-भूमि धन्य है जहाँ ऐसे अनूठे स्थानों का प्रादुर्भाव हुआ है कि जिन्हें देखकर रोता हुआ मनुष्य भी हँस पड़े।

विदेशी यात्री यहाँ की अनोखी छटा देखकर भारत में डाह करने लगते हैं। एक अंग्रेज ने लिखा है—

---

१. लाहौर की यात्रा—पं० श्रीराम शर्मा—सुधा, जनवरी, १९३४, पृ० १४६

२. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा; चांद, मई १९३०, पृ० ३३

"वह कौन मनुष्य होगा जो मेड़ाघाट के श्वेत शैल-शृंगों के दर्शन कर अपने जीवन में उसकी प्रतिभा भूल जाय ?"···आँखें यहाँ थकती नहीं। शरद् काल की चन्द्र-ज्योत्सनामयी रजनी थी। इसकी रम्यता और भव्यता और भी निखर पड़ी थी। प्रपात का कल-कल निनाद वशीकरण का काम कर रहा था। काली चट्टानों के मध्य में नर्मदा का शुभ्र सलिल ऐसा दृष्टिगोचर होता था जैसे काले घुँघराले केशों के बीच किसी तरुणी का चन्द्रानन। कलकल ध्वनिमय प्रकृति-संगीत विरही की वीणा के-से गान सुना रहा था।"[1] प्राकृतिक मनोरंजक वातावरण में खरे महोदय की तन्मयता उक्त उद्धरण से बहुत कुछ स्पष्ट होती है।

डॉ० भगवतशरण उपाध्याय अपनी पेकिंग-यात्रा में देखे गए पर्वतों के प्राकृतिक एवं मनोरंजक दृश्यों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वहाँ की हरियाली देखने ही योग्य है जो बरबस ही मानव के मन को आकृष्ट कर लेती है। उनके कथनानुसार—

"उन्चासों हवाएँ अस्तब्ध हैं, बादलों के समूह दूर नीचे विचरते हुए दीख रहे हैं। कुछ सरसर उड़ रहे हैं, कुछ धवल गायों की तरह जैसे नीचे की हरियाली देख मचल पड़ते हैं और उनको भेद जब कभी नजर उस हरियाली तक पहुँच पाती है, जो जमीन पर बिछी हुई है; जो पहाड़ों की चोटियों तक मढ़ी हुई-सी चढ़ती चली गई है, तो अहसास होता है कि प्रकृति के जादूगर ने मोटे, गुदगुदे कालीन बिछा दिए हैं। और जहाँ-तहाँ तो हरे खेतों का ऐसा प्रसार है कि लाल हरी रौनक खड़ी हो गई है, जैसे वीर-बहूटियों के अनन्त मैदान रच गए हों। और देखता चला जाता हूँ प्रकृति की अनुपम छवि जहाज के इस दाहिने झरोखे से। पहाड़ और जंगल, खेत और मैदान, नदी और झील नीचे बिखरे पड़े हैं। फैले मैदानों में हरी घास और ऊँचे पौधों के बीच पानी की धारा चाँदी-सी चमक रही है। लगता है प्रकृति नहा-धोकर बाल बिखेरे चमकती माँग काढ़े पड़ी है। उसकी अभिराम साड़ी दूर तक फैली पहाड़ों और जंगलों पर अपने अंचल का साया डालती चली गई है।"[2] स्विटज़रलैण्ड की यात्रा का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददास ने वहाँ के मनोरंजक दृश्यों की तुलना काश्मीर के दृश्यों से की है और लिखा है—

"काश्मीर की तरह स्विटज़रलैण्ड भी भूलोक का स्वर्ग है। काव्यमय प्रवृत्ति के लोगों ने उसकी तुलना मृग-मरीचिका से की है। ऊँची-ऊँची पर्वतश्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती, खिलखिलाती झीलें, पुष्पों और हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जंगल और नये-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटज़रलैण्ड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि वह एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[3] डॉ० धनीराम ने स्विटज़रलैण्ड की यात्रा में वहाँ के मनोरंजक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

१. मेड़ाघाट की गोद में—नर्मदाप्रसाद खरे—सरस्वती, सितम्बर १९३२, पृ० ३२३
२. कलकत्ते से पेकिंग—डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १४५
३. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोविन्ददास, पृ० ९०

"ग्लेशियर का दृश्य भी बड़ा अद्भुत है। दिन में जब सूर्य की किरणें इस पर पड़ती हैं, तो यह चाँदी का चमकता हुआ पर्वत प्रतीत होता है। संध्या को ऐसा मालूम होता था, मानो कोई बड़ा राक्षस सफेद चद्दर ओढ़े पर्वत की चोटी पर बैठा है। कभी-कभी ग्लेशियर का कुछ भाग एकाएक बड़ा शब्द करते हुए नीचे फिसल पड़ता है और अनेक प्राणियों को दबाकर मार डालता है।"[1] अपनी वायुयान की यात्रा में सत्यदेवजी ने लिखा है—

"आखिर एक बजकर पाँच मिनट पर हमारे पक्षी महाशय ने पंख मारकर उड़ना शुरू किया। पहले धीरे-धीरे जैसे कोई ढलान पर चढ़ता है, उड़ान प्रारम्भ हुई। घास का वृहत् मैदान इसीलिए है ताकि पक्षी खूब सुचित होकर उड़ सके। उड़ान पहले आहिस्ते-आहिस्ते हुई। आठसौ फीट ऊपर पहुँचकर पक्षी वेग के साथ रास्ता काटने लगा। मैं खिड़की के शीशे द्वारा नीचे के दृश्य देख रहा था। उड़न-खटोला कभी सातसौ फीट पर हो जाता, कभी फिर ऊपर आ जाता। नीचे गाँव-के-गाँव, खेतों-के-खेत तथा कस्बे गुजर रहे थे। सड़कें साँपों की तरह बल खाती हुई सफेद सूत की तरह जान पड़ती थीं। बड़े-बड़े जंगल, मीलों लम्बे, ऊपर से कितने छोटे दिखलाई पड़ते थे।"[2] इसी प्रकार यशपालजी ने सूर्यास्त होने के समय का मनोरजक दृश्य अंकित किया है—

"सूर्य लगभग क्षितिज पर पहुँचकर छिपा ही चाहता था कि विमान ने चाल पकड़नी आरम्भ की। कुछ ही मिनट में हम भारत की पृथ्वी पीछे छोड़ अरब सागर पर उड़ने लगे। सूर्य उत्तर-पश्चिम में अस्त हो रहा था और हमारा विमान भी अपनी पूरी शक्ति स उसी ओर उड़ा जा रहा था। सूर्य भारत से जितना ही दूर जाता विमान पश्चिम की ओर बढ़ उसे झाँकने का यत्न कर रहा था। दक्षिण की ओर अंधेरा हो चुका था परन्तु उत्तर की ओर लाल प्रकाश बना था और बहुत देर तक बना ही रहा। विमान रुठकर छिपने के लिए पश्चिम की ओर भागती संध्या का पीछा कर रहा था।"[3] रामशरण विद्यार्थी ने 'काश्मीर के पथ पर' यात्रा में एक मनोरंजक वर्णन करते हुए लिखा है—

देखते-देखते नील वर्ण आकाश धवल रूप में परिणत हो गया और बड़े ही शांत भाव से हिम-वर्षा होने लगी। सारी भूमि पर श्वेत हिम की चादर-सी बिछ गई। हरी-भरी घाटी श्वेत वस्त्र धारण कर सर्व प्रकार श्वेत-ही-श्वेत दृष्टिगत होने लगी। सारे मैदान के झाड़ और पौधे हिममय दीख पड़ने लगे। भेड़, बकरी, गाय आदि सब ही इस श्वेत बर्फ के वस्त्रों से आच्छादित हो गईं। थोड़ी देर में तनिक प्रकाश-सा प्रकट हुआ और हम सबने अनुभव किया कि अब हिम-वर्षा समाप्त

---

१. मेरा यूरोप भ्रमण—डा० धर्नाराम—चाद, मई १९३२, पृ० ८६
२. यूरोप की सुखद स्मृतियां—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ९३-९४
३. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १५

हो गई। हृदय में नवस्फूर्ति और शरीर में रुधिर की तीव्रगति-सी होने लगी। मन मग्न हो आनन्द से उछलने लगा। इसी नवशक्ति से संचारित शरीर और हृदय के साथ हम लोग अपने डेरों से बाहर आए। बाहर का दृश्य देख चंचल मन मचल पड़ा और बालकों के समान क्रीड़ा करने को मन मचलने लगा। हम सब लोग उतावले तथा बावले-से इस विशाल बर्फ की चादर पर दौड़ने का प्रयत्न करने लगे।"[1] मनोरंजन की दृष्टि से की गई पर्वत की पैदल यात्रा का वर्णन करते हुए परिव्राजकजी ने लिखा है—

"आनन्द में मस्त जा रहा था। जहाँ प्यास लगती, झरनों का ठण्डा स्वच्छ जल पी लेता। पर्वतेश्वर हिमालय के सुरम्य दृश्यों को देख-देख मन मुदित हो रहा था। देवदारु उन्नत मुख किए सुमधुर स्वर से सर-सर नाद कर मेरे चित्त को आह्लादित करते थे। जंगलों की अनोखी छटा का मजा लेता हुआ आगे बढ़ा। सड़क कहीं-कहीं घने वृक्षों से आच्छादित है, पादपों की शाखाएँ एक-दूसरे के गले में बाँह डाले प्रेमपाश में बँधी हैं। कहीं-कहीं पत्तों पर से वर्षा के बिन्दु टप-टप गिर रहे थे।"[2] अपनी पर्वतीय यात्रा में मनोरंजन एवं भ्रमण के आनन्द को वर्णित करते हुए देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' ने लिखा है—

"सुमरोल पार करते ही देवदारु की मंजरियों की सुगंध चारों तरफ फैल जाने से भृंग-वृन्दों का मधुर गुंजन श्रवण-सुख उत्पन्न करने लगता है। वृक्षों के सुन्दर नवीन कोमल पत्ते फूटकर चारु-चामर की भाँति झूम-झूमकर काश्मीरगामी अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। पार्श्व भाग के नीचे ही, कलकलनिनादिनी द्रुतगति से बहती हुई गंभीर नदियाँ, कलघोष करती हुई सैकड़ों फीट ऊँचाई तक अपने सुधासम निर्मल नीर को उछालकर प्रवासी काश्मीर यात्रियों का मार्जन कर रही थीं। शाखा-प्रशाखाओं पर बैठे हुए पक्षीगण मधुर कलरव से मंजुल गान कर रहे थे। चारों दिशाओं में उत्तुंग पहाड़ियाँ यात्रियों को घेरे हुए उनकी अभिभावक बन रही थीं। पद्मपराग नूतन किसलय की सुरभि तथा निर्झरणी के जलप्रपात, क्लान्त और परिश्रान्त यात्रियों को आह्लादित कर रहे थे। वनश्री का दृश्य कल्पना के सम्मुख आते ही मैं उसे पद्माकर की कवित्त कसौटी में मन-ही-मन इस प्रकार कसने लगा—

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलिन-कलिन किलकंत है।
कहै 'पद्माकर' परागन में पौन हू में,
पानन में पिक में पलासन पतंग हैं।
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में.
देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत है।

१. कैलाश पथ पर—रामशरण विद्यार्थी, पृ० ८४-८५
२. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १२७

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरो बसंत है।"[1]

अपने जीवन में कुछ भ्रमण का आनन्द एवं यात्रा का मनोरंजन करने के लिए तिब्बत की यात्रा में गया हुआ लेखक कैलास पर्वत के दर्शन कर लिख उठता है—

"यहाँ से आगे उत्तर की ओर दूर कैलाश शिखर देख पड़ा। अहा! प्रकृति के वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं। यही प्रकृति-निर्मित शिवाला है। प्रायः बनारसी शिवालों का आदर्श यही शिखर है। कालिदास की प्रतिभा का यही सौभाग्य है—

"गत्वा चोर्ध्वं दश-मुख भुजोच्छ्वासित प्रस्थ-सन्धेः,
कैलासस्य त्रिदश-वनिता-दर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृंगोच्छ्रायैः कुमुद-विशदैर यो वतत्य स्थितं रवं,
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥
(५८, पूर्वमेघ)

अर्थात् ऊपर उठकर उस कैलाश के अतिथि होना जिसकी पठारियों की जोड़ें दशानन की भुजाओं द्वारा ढीली कर दी गई हैं, जो देव-बन्धुओं के अर्थ सीसे का काम कर रहा है, जो कुमुदनी की भाँति शुभ्र ऊँचे शिखरों को आकाश में फैलाकर इस प्रकार खड़ा है मानों प्रत्येक दिवस का इकट्ठा हुआ शंकरजी का ठहाके का हास्य है।"[2] अपनी सोलन की पहाड़ी यात्रा एवं वहाँ के मनोरंजक रमणीय दृश्यों को देखकर शिवनारायण टंडनजी लिखते हैं—

"पटियाला महाराज का बाग भी देखा जो सचमुच स्वर्गीय कानन के समान रमणीय और शोभायमान था। उस बाग ने तो काश्मीर के शालीमार और निशात की याद दिला दी, जिसमें सुरभिमय स्मृति वर्षों से कारू के खजाने की तरह संचित थी। चारों ओर फव्वारे उड़ रहे थे, फूल फूल रहे थे, कलियाँ चटख रही थीं, पक्षी मधुर-मधुर तानों से प्रभाती गान कर रहे थे, पेड़ और पौधे खूब हरे-भरे और घने थे। बाग की बारहदरी बेरौनक, निष्प्राण-सी पड़ी थी; क्योंकि महाराजा दूर-सुदूर चाइल के ठंडे पार्वत्य प्रदेश में रंगरेलियाँ मना रहे थे।"[3] अपनी कैलाश-यात्रा में स्वामी सत्यदेवजी को भी बड़े मनोरंजक दृश्य दिखाई देते हैं। यात्रा करते हुए जाने का वर्णन वे लिखते हैं :—

"सरयू के किनारे-किनारे प्रकृति माता के दृश्यों का आनन्द लेता हुआ मैं चला। कपकोट से तीन मील तक सरयू घाटी का दृश्य बड़ा ही मनोहर है। सरस वन पहाड़ियों पर गाय-बकरी चर रहे थे। किनारे-किनारे जहाँ घाटी चौड़ी हो गई है, भूमि मखमली घास से लदी हुई बड़ी सुहावनी दीख पड़ती है। दोनों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ सरयूजी की शोभा बढ़ाती हैं। नदी का पाट चौड़ा है, पर जल

१. मेरी काश्मीर यात्रा—देवदत्त शास्त्री 'विरक्त' पृ० ३७
२. तिब्बत में २३ दिन—कृष्णवंश सिंह बावेल, पृ० ६०-६१
३. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१०

कम है, क्योंकि अभी वर्षा आरम्भ नहीं हुई थी।"[१] अपनी काश्मीर यात्रा में वहाँ के मनोरंजक दृश्यों को देखकर 'विरक्तजी' की लेखनी थिरक उठती है—

"काश्मीर के सदृश ही सुहावने प्राकृतिक दृश्य, कवि-प्रतिभा और सौष्ठव को निखार देते हैं। सरस रसों की सुधा-धारा यदि मंजुल काव्य-सरोवर में बहाना हो तो काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करें, जहाँ बारह मास वसन्तश्री का साम्राज्य रहता है। विशद कल्पना के कुंज काश्मीर में, सहृदय कवि के लिए कमी किस बात की। उपमा, पद-लालित्य और अर्थ-गौरव आदि विशिष्ट गुण सहज ही आ जाते हैं। लेखनी जबरदस्ती सौन्दर्य लिखने के लिए उत्सुक होकर थिरकने लगती है।"[२] काश्मीर और सीमा प्रान्त में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने वहाँ का प्रभातकालीन मनोरंजक सौन्दर्यवाला दृश्य अंकित किया है—

"प्रभातकालीन दृश्य स्वर्णमय था। पहलगाँव के चारों ओर के हिमाच्छादित शिखर भगवान् भुवन-भास्कर की किरणों से सुनहला वेष धारण कर रहे थे। पत्थरों को बहाती, तीव्रगामिनी 'लम्बोदरी' नदी के दर्पणवत् स्वच्छ सलिल पर सूर्य-रश्मियाँ खेल रही थीं। वही प्रखर कर्म के सूर्य यहाँ कोमल किरणों से काम ले रहे थे। वह धूल और दुर्गन्धि आदि से रहित पवित्र पवन, वह हरे-भरे वृक्ष, सम्पूर्ण संसार सुनहली रश्मियों से चमाचम हो रहा था।"[३] काश्मीर के पर्वतीय दृश्यों से आनन्द, मनोरंजन का एक साथ ही प्राप्त होना नेवटियाजी ने किस प्रकार वर्णित किया है—

"बादलों से आच्छादित पर्वतों की एक अर्द्ध गोलाकार श्रेणी, थोड़े-से वृक्ष और एक-दो जीर्ण-शीर्ण दीवालें जिनका रंग और वह शाही शान काल के गाल में विलीन हो चुके थे। उन हरे-भरे वृक्षों में कितनी कोमलता थी, झील को वेष्टित करनेवाली उन पहाड़ियों की बाह्य रेखाओं में कितना सौन्दर्य था, उन बादलों और स्फटिकोज्ज्वल जल में कितनी चमक थी, इन सारे दृश्यों को पूर्ण करने के लिए लाला रुख के सदियों पुराने बगीचे की भग्नप्राय दीवालें वह कारुणीक आभा प्रदान कर रही थीं जिससे प्रकृति का वह सौंदर्य सजीव और मन को एक प्रकार का उत्साह प्रदान करने में समर्थ हो गया था।"...इसी मानसबल ने जिसमें हमें कोई विशेष आकर्षण मालूम नहीं होता था, श्री यंगहसबेंड को ये पंक्तियाँ लिखने के लिए प्रेरित किया था—

"The Manasbal Lake set like a jewel deep and clear among the mountains, with clumps and avenues of these some red and purple foliaged trees upon its edge, and reflecting in its surface the white snowy range of the distant Pir Panjal, seemed like the supreme gem of all Kashmir."[४]

१. मेरी कैलास यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १६
२. मेरी काश्मीर यात्रा—देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १२६
३. काश्मीर और सीमा प्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १४
४. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ४५

हिमालय के पर्वतीय दृश्यों से श्रीधर पाठकजी इतना अधिक प्रभावित हुए कि मनोरंजन के साथ-ही-साथ वे हिमालय पर कविता भी लिखने लगे—

"रूरे-रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत ।
रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत ।।
अगनित पर्वत-खंड चहूँ दिसि देति दिखाई ।
सिर परसत आकाश, चरन पाताल छुआई ।।
सोहत सुन्दर खेत-पाँति तर ऊपर छाई ।
मानहु विधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई ।।
गहरे-गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई ।
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई ।।
तहाँ निपट निश्शंक वन्य-पशु सुख सों बिचरत ।
करत केलि कल्लोल मुदित आनन्दित विहरत ।।
कहुँ ईंधन को ढेर सिद्ध-आवास जनावत ।
कहुँ समाधि-स्थित जोसी की गुहा सुहावत ।।
विविध विलच्छन दृस्य, सृष्टि-सुखमा-सुख-मंडल ।
नन्दन-बन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल ।।
प्रकृति परम चातुर्य अनूपम अचरज आलय ।
श्रीधर दृग छकि रहत, 'अटल छवि' निरख हिमालय ।।"[1]

सूर्यनारायण व्यासजी तो मसूरी शैल की सैर अपनी तबियत को राहत देने के लिए—मनोरंजन करने के लिए ही गए थे । उन्होंने वहाँ के मनोरंजक दृश्यों को देखकर लिखा है—

"जिस दिन कुहरा न हो, आसमान स्वच्छ निरभ्र हो, उस दिन की शोभा रात के समय देखते ही बनती है, मानो सारे आकाश में नक्षत्रगण प्रकाशित हो रहे हैं । बिजलियों की कतारें इतनी सुन्दर, इतनी आकर्षक मालूम होती हैं कि घण्टों देखते रहने को जी चाहता है । जितनी ही ऊँचाई पर आप होंगे, आपके स्थान से पर्वतमालिका, विद्युल्लता-परिवेष्ठित दीप्तिमान् मालूम देगी । पर यह शोभा प्रायः कुहरे से टिकने नहीं पाती । बादल की रिमझिम, इतस्ततः क्रीड़ा बनी ही रहती है । निकट से भागते हुए एक-दूसरे से होड़ लगाते हुए, ये निर्जीव धूम्र-पटल ऐसे उड़ते जाते हैं कि वाह ! ज़रा ही रस-फुहियाँ बरस गईं कि फिर कुहरा छाने लगते हैं ।"[2]
छुट्टी के दिनों को बिताने एवं मनोरंजन की दृष्टि से की गई अल्मोड़ा की सैर का वर्णन करते हुए श्री चक्रधर 'हंस' लिखते हैं—

"यहाँ काले-काले पत्थर नज़र आते हैं । विशाल बर्फ की चट्टानों के पीछे एक

---

१. हिमालय—श्रीधर पाठक—विशाल भारत, मई, १९३४, पृ० ६०८
२. मसूरी शैल की सैर—पं. सूर्यनारायण व्यास, सुधा, जुलाई १९३६, पृ० ५४३

चार मील लम्बा सफेद ढालू मैदान नज़र आता है। यही मैदान पिण्डारी ग्लेशियर है और पिण्डारी नदी का उद्गम स्थान भी है। इस ओर कस्तूरी मृग, चकोर आदि पक्षी और रीछ दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ बैठने के लिए बर्फ की शिलाएँ हैं। प्रकृति-सौन्दर्य विशेष आकर्षक है। यहीं से वापस अलमोड़ा लौटना पड़ता है। जीवन-पर्यन्त पिण्डारी ग्लेशियर की नैसर्गिक छटा नहीं भूल सकती।[1] हंसजी का पिण्डारी ग्लेशियर वर्णन सुन्दर बन सका है। इसी प्रकार की मनोरंजक यात्रा का वर्णन करते हुए प्रो० मनोरंजन ने अपनी पुस्तक में लिखा है—

"बाहर सुन्दर चाँदनी खिली हुई थी। उसके प्रकाश में पास के पहाड़ों पर जमी बर्फ चमचमा रही थी। उधर अलकनन्दा बह रही थी अपनी अनवरत गति से। सामने छोटी-छोटी पहाड़ियाँ थीं और दूसरी ओर बड़े-बड़े दिग्गज से पहाड़।"[2] चाँदनी के प्रकाश में श्वेत हिम की छटा का वर्णन प्रो० मनोरंजन की यात्रा को और भी मनोरंजक बना देता है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि मनोरंजन-वृत्ति को लेकर की गई यात्राओं में एक हलकापन, मन का उल्लास, क्रीड़ा-वृत्ति आदि भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। उन्हें पूर्णतया निरुद्देश्य तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु उनका उद्देश्य बहुत कुछ गौण हो जाता है। इस प्रकार के वर्णन साहित्यिक दृष्टि से शुद्ध साहित्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

वर्णन-शैली का बाह्य रूप

शैली से हमारा तात्पर्य लेखक के भाव प्रकट करने के ढंग से है। शैली साहित्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भागवत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में भी सहायक होती है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर भी निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य विकसित नहीं हो पाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली का अपना विशिष्ट महत्त्व निर्मित होता है। पाश्चात्य साहित्य में शैली के वाह्य रूप का उल्लेख साधारणतया तीन अर्थों में होता हैं। मरे[3] ने 'दि प्राबलम आफ स्टाइल' में इन तीनों अर्थों पर विस्तार से विचार किया है। हम यहाँ उसके मुख्य शीर्षकों को ही ले रहे हैं—

१. भारत के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर हंस, पृ० ४१

२. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो. मनोरंजन, पृ० १७३

३. The problem of style—
 (i) The person idiosyucrasy of expression by which we recognise a writer.
 (ii) The technique of expression.
 (iii) Style is the lightest achievements of literature.

(*J. M. Murry, Page 8*)

१. अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ (जिनसे किसी लेखक-विशेष को सरलता से पहचाना जा सके)

२. अभिव्यंजना के विधान

३. साहित्य की उच्चतम निधि

श्रेष्ठ वर्णन-शैली में उपर्युक्त तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य के साहित्यिक मूल्यांकन में हमें वर्णन-शैली का बाह्य रूप विभिन्न रूपों में मिलता है। आगे इन रूपों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

वर्णन-शैली के बाह्य रूप

१. पद्य-शैली

२. वर्णनात्मक निबन्ध-शैली

३. पत्र-शैली

४. डायरी-शैली

१. पद्य-शैली—हिन्दी का यात्रा-साहित्य पद्य-रूप में हमें बहुत कम मिलता है। जो साहित्य हमें इस रूप में मिलता भी है वह अधिकतर प्राचीन ढंग का ही है। नवीन काव्य-शैली में इस प्रकार का साहित्य नहीं के बराबर है। इस प्रकार के नवीन साहित्य की आज के युग में कोई भी प्रणाली नहीं है। फिर भी हमें पद्य-रूप में दो प्रकार का यात्रा-साहित्य प्राप्त होता है—

१. पद्यात्मक

२. गद्य-पद्य-युक्त, वर्णनात्मक निबन्धों के साथ

उपर्युक्त दोनों रूपों का हम अलग-अलग मूल्यांकन करेंगे।

१. पद्यात्मक शैली—हिन्दी काव्य में यात्रा-परम्परा महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। यह यात्राएँ पद्यात्मक शैली में ही विरचित हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में पृथ्वीराज तथा जयचन्द आदि की अनेक युद्ध-यात्राओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार जायसी के पद्मावत में 'सिंहल द्वीप यात्रा' मिलती है। यही परम्परा कहीं-कहीं रीतिकाल में भी उपलब्ध हुई है और वहाँ से होती हुई आधुनिक काल में आई जिस पर विशेष रूप से काव्य लिखे गए। इस प्रकार पूर्ण पद्यात्मक शैली में लिखा गया यात्रा-साहित्य हिन्दी में अधिक अवश्य नहीं है, फिर भी थोड़ा-बहुत मिलता है। इस प्रकार के प्राप्त साहित्य को देखकर हम कह सकते हैं कि इस युग में ऐसे साहित्य के प्रस्तुतकर्ताओं में पं० श्रीधर पाठक, हरिहरशरण मिश्र, वेणीमाधवजी का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों में से पं० श्रीधर पाठक के काव्य में हमें सबसे अधिक प्रबन्ध-सौष्ठव दिखाई पड़ता है। इनका मार्मिक स्थलों का चयन और शब्द-मनोरंजन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। अपनी देहरादून यात्रा का वर्णन उन्होंने बड़े ही मधुर तथा हृदयग्राही शब्दों में किया है—

पहुँचेउ सहर बहिरवा तुरतहि धाय
सुन्दर सदर देहरवा जहाँ रह्यौ छाय
सोभा सुघर सरसवा अस दरसाय
प्रफुलित पुलक हरसवा हिय न समाय
बड़ि-बड़ि सड़क सुरहवा दरस रसाल
सरसत सुथर चौरहवा चारु बिसाल
बंगलन विसद अहतवा सुघर सजाव
बिलसत मंजु महतवा रुचिर बनाव
जित-जित जात सुदृगवा चंचल ढीठ
तित-तित परत सुरगवा सोभा ढीठ
बरनन करन लेखनिया लखि बउरात
बिलमत बहुरि पेखनिया बलि बलि जात
लता कुंज द्रुम पथवा सुलख सुढंग
सुमन जाति तरु जुथवा सुघर सुरंग ॥[1]

पाठकजी के बरवा छन्द में पूर्वीय शब्दों का प्राधान्य है, यही उसकी परम्परा भी है। प्रवाह, सन्तुलन एवं कल्पना इस काव्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। इस श्रेणी के अन्य कवियों में ऐसी भावुकता तथा प्रबन्धात्मकता नहीं प्राप्त होती है। प्रबन्ध-सौष्टव के सारे गुण इनमें हमें मिलते हैं।

काव्य-रूप में वर्णित यात्राओं के कवियों में प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति अधिक प्रेम है। अनेक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न पक्षों पर बड़ी रोचक कविताएँ की हैं। प्रकृति इस समय की कविता का प्रधान वर्ण्य-विषय है। श्रीधर पाठक ऐसे ही कवि हैं जिनकी यात्रा की मधुर स्मृति प्रकृति-प्रेम में लिपटी हुई है। हिमालय की अप्रतिम शोभा पर वे मुग्ध हैं। इनमें प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम है और ये तन्मय होकर प्राकृतिक शोभा का अपूर्व वर्णन करते हैं। काश्मीर और देहरादून की यात्रा का इन्होंने बड़ा रमणीय वर्णन किया है। पाठकजी के लिए इस प्रदेश का एक-एक अणु शोभा से मंडित है। काश्मीर कवि के लिए देवताओं का निवास-स्थान है, स्वर्ग है—

"धन्य यहाँ की धूल धन्य नीरद नभ तारे।
धन्य धवल हिम-शृंग तुंग दुर्गम दृग प्यारे॥
धन्य सुथर गिरिचरन सरित निर्भर-रव-पूरित।
लघु दीरघ तरु विहंग बोल कोकिल कल कूजित॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर।
यही अमरन कौ ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥[2]

---

१. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० १४-१५, पद्मकोट, इलाहाबाद, १९१५
(लेखक को यह पुस्तक पं० श्रीधर पाठक के पौत्र श्री पद्मधर पाठक से प्राप्त हो सकी थी।)

२. काश्मीर-सुषमा—श्रीधर पाठक, पृ० १

कवि के लिए काश्मीर प्रकृति देवी का शृंगार-गृह है, यहाँ पर प्रकृति अपना रूप सँवारती है—

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति ।
पल-पल पलटति भेष छनिक छवि छिन-छिन धारति ॥
बिहरत विविध विलास भरी जोबन के मद सनि ।
ललकति किलकति पुलकति निरखति थिरकति बन ठनि ॥[1]

काश्मीर यात्रा के इस संवेदनात्मक चित्रण के विपरीत पाठकजी का 'देहरादून' चित्रात्मक वर्णन का निदर्शन है। इसमें कवि ने प्रकृति का चित्र ज्यों-का-त्यों सामने रख दिया है। देहरादून के निकट के जंगलों का चित्रण निम्नलिखित पंक्तियों में हुआ है—

अगम घोर घन बनवा जंगल जार,
गहवर गर्त कठिनवा कुवट कुढ़ार।
भिरत जहाँ तरवरवा बिरवा बाँस,
भरत बतास अधिकता दीरघ साँस
तिम दुर्गम दलदलवा नरवा नार,
सुठि जलपात सुथलवा विषम कगार ॥[2]

निम्नलिखित पंक्तियों में पहाड़ की तरेटी से मसूरी का वर्णन बड़ा रोचक बन पड़ा है—

तहँ सन सहर मसुरिया भवन दिखात,
जदपि बसत बहु दुरिया नियर जनात।
सिखर-श्रेनि बन बिचवा सो सित भात,
चित सुन्दर उचनिचवा निपट सुहात।
तहँ जब धुँअर बदरवा पट लपटात,
सुन्दर झीन चदरवा सम दरसात।
छिन दरसात दरसवा छिन दुरि जात,
छिन-छिन जुरत बदरवा छिन छितरात।
पुनि जब स्याम सघनवाँ घन घुमड़ात,
गिरि बन सिखर भवनवाँ सबहि दुरात।[3]

कवि को प्राकृतिक वस्तुओं से सच्चा प्रेम है। इसी कारण कवि अपने देहरादून के बँगले में लगे हुए फूलों को नहीं भूल सका है। कवि उस चिड़िया को भी नही भूल सका जो आम की डाल पर बैठकर चहचहाती थी—

---

१. काश्मीर-सुषमा—श्रीधर पाठक, पृ० ५
२. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० २२
३. वहीं, पृ० २४

रह्यो नीक निज डेरवा बृहत अहात,
विविध फूल-फल पेड़वा ललित लखात।
खिल रहि कुसुम कि अँरियाँ बिछरहिं दूब,
घमलन भवन दुअरिया सजि रहिं खूब।
चमकत बिहग चपलवा रंग-बिरंग,
क्रीड़त करत कलोलवा बहु-बहु रंग।

× × ×

तिन महँ एक खगबरवा अतिहि मलूक,
बैठि सुचित तरवरवा करत हो कूक।
सोइ मम भवन अहतवा आमन डार,
ह्वैथित नित अविरतवा करत गुहार।
तिहि सुर सुनत दुसरवा ऊतर देत,
फिर-फिर बोल मधुरवा उरहरि लेत।
सो सुर अँजत पियरवा बिसरत नाहिं,
गुंजत मंजु हियरवा कुंजन माहिं ॥१॥[1]

पाठकजी ने 'देहरादून-शिमला यात्रा' मे भी यथेष्ट मात्रा में प्रकृति का चित्रण किया है। कवि को प्रकृति के प्रति सहज प्रेम और आकर्षण है। देहरादून में एक नदी की कछार का प्रकृति-चित्रण करते हुए पाठकजी लिखते हैं—

तहँ संग कौन इसनवा निजल निनार
परेउ सरित रिसयनवा केरि कछार
छुट बड़ सुथर पथरवा विविध प्रकार
गोल तिकोन चकरवा चारु अकार
कोसन सरित गरमवा अमित प्रमान
बिछि रहे अरब खरबवा रतन समान
सो सुठि सैल चरनवा साजत साज
सेत असेत बरनवा उपल समाज
बिच-बिच रेत बजरिया सेत सुहात
निरखत निपुन नजरिया रुकि-रुकि जात।[2]

कवि ने नदी के कछार में पड़े हुए विभिन्न प्रकार के पत्थरों का कैसा सुन्दर चित्रण किया है। वे पत्थर मानों रत्न के समान हैं। बीच-बीच में नदी की रेत ऐसी चमक उठती है कि नज़र उस पर रुक-रुक जाती है। कवि ने इस प्रकृति-चित्रण में मनोवेगों को उद्दीप्त कर दिया है; पर वह उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के फेर में अधिक नहीं पड़ा है। समस्त प्रकृति निश्चल है।

१. देहरादून—पं० श्रीधर पाठक, पृ० २७
२. वहीं, पृष्ठ २३-२४

हिमालय की प्राकृतिक दृश्यावली की सुन्दरता को देखकर पं० श्रीधर पाठकजी लिखते हैं—

रूरे-रूरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत
रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत
अगनित पर्वत-खंड चहूँ दिसि देत दिखाई
सिर परसत आकाश चरन पाताल छुआई
सोहत सुन्दर खेत पाँति तर ऊपर छाई
मानहु विधि पर हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई
गहरे-गहरे गर्त खड्ड दीरघ गहराई
शब्द करत ही घोर प्रतिध्वनि देत सुनाई
तहाँ निपट निश्शंक, वन्य-पशु सुख सों विचरत
करति केलि कल्लोल, मुदित आनन्दित विरहत
कहुँ ईंधन कौ ढेर सिद्ध आवास जनावत
विविध विलच्छन हस्य सृष्टि सुखमा सुखमंडल
नन्दन वन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल
प्रकृति परम चातुर्य अनूपम अचरज आलय
श्रीधर दृग छकि रहत, अटल छवि निरख हिमालय ॥[१]

रोला छन्द में लिखा हुआ उपर्युक्त वर्णन नन्ददास की शैली का स्मरण दिला देता है। आगे चलकर कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा रत्नाकर ने भी प्रबन्ध-रचना के लिए इस शैली को अपनाया। खड़ी बोली कविता में मधुर शब्द-संचयन की पटुता उक्त उद्धरण में स्पष्ट है।

लोचनप्रसाद पाण्डे के 'धुआँधार' में भी चित्रात्मक वर्णन मिलता है। धुआँधार जल-प्रपात की शोभा अंकित करनेवाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

रव झर्झर सुखकर सुभव धारा दुग्ध समान।
प्रखर प्रताप प्रवाहयुत नीर पतन उत्थान ॥
नीर पतन उत्थान शैल सुषमा से शोभित।
उत्थित धूमाकार जहाँ है जलकण अगणित ॥
करते रविकर इन्द्रधनुषमय जिसका अवयव।
धुआँधार का दृश्य नर्मदा तांडव भैरव ॥[२]

श्री हरिहरशरण मिश्र प्राचीन परिपाटी से चली आई कृष्ण की मथुरा-यात्रा का मधुर भाषा में अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। छप्पय छन्द में आलंकारिक भाषा-शैली में कवि ने मार्मिक वर्णन किया है—

---

१. हिमालय—प० श्रीधर पाठक—विशाल भारत, मई १९३४, पृ० ६०८
२. धुआंधार—लोचनप्रसाद पाण्डे, सरस्वती, खंड १०, सं० ५, १९१८

प्रेम नेम यह अटल कोउ प्रतिदिन न जानहिं,
जदपि हीय में बास, तऊ नैनन नहिं राख्यौ,
तातें मोहित सबै गोपि तुम यह अभिलाख्यो ।।
यों बहुविधि सखिन सुझाइ हरि विदा भए उततैं तुरत,
तजि सुभ्र कातिकी निसा ज्यों अस्ताचल में रवि दुरत ।।[1]

विगू मिश्र उपनाम वेणीमाधव कवि ने ब्रजभापा में ब्रज-यात्रा का वर्णन लिखा है, जो ब्रजभापा के माधुर्य से अनूठा है। इसमें प्रबन्ध-सौष्ठव अधिक नहीं है, पर दृश्य-चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। देखिए—

अब मधुवन के चरित नाम अस्थान गनाये।
जहँ गोचारन करी स्याम अति ही सुख पाये ।।
तहाँ अहे मधुकुंड भुंड पापिन के तरते।
ता पच्छिम है कदम वृक्ष देखत मन हरते ।।
कवि माधव वाही वृक्ष तर कृष्ण बैठकी जानिये।
प्रभु तहँ मार्यो मधु दैत्य को ताको सुजस बखानिये ।।[2]

जीवन-दृष्टि की भाँति प्रत्येक कवि की प्रकृति विपयक चेतना भी उसकी अपनी ही होती है। प्रकृति का भिन्न-भिन्न रूपों में सिंहावलोकन और चित्रण करने के लिए प्रत्येक कवि स्वतन्त्र होता है। यात्रा-सम्बन्धी काव्य का अध्ययन करने पर विदित होता है कि एक ही काल में एक ही वर्ग के कवियों का प्रकृति के प्रति भिन्न दृष्टिकोण रहा है। प्रकृति का निरीक्षण करके कवि उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों के प्रति आकर्षित होता। है प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का पृथक् परिगणन न कराकर वह सबको एकत्रित करके संश्लिष्ट वर्णन भी करता है। उसका मन प्रकृति-दर्शन में रम जाता है, वह आत्म-विभोर हो उठता है और अपनी तल्लीनता में हृदय की मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। उसके प्रकृति-दर्शन की यह विशेपता होती है कि वह पाठक को उसके प्रत्यक्ष दर्शन का-सा आनन्द देता है।

लाला कल्याणचन्द्र ने अपनी केदार-यात्रा का वर्णन करते हुए जैकरी छन्द में लिखा है—

आगे धारी चट्टी सोय। सिरोबगढ़ चट्टी पुनि जोय ।।
आगे रुद्रप्रयाग सुहावन। मंदाकिनी दरस अति पावन।
मिली अलकनन्दा मन्दाकिनि। बड़े भाग अस्नान कियो जिनि ।।
जहँ नारद को विद्या गान। कियो उपदेश शंभु भगवान ।।
करि असनान पूजि शिव आदर। मंदाकिनी कूल चलि सादर ।।
लसि तरंगिनी गंगा आई। संगम रवि प्रयाग कहि गाई ।।

---

१. कृष्ण की मथुरा-यात्रा—हरिहरशरण मिश्र, माधुरी, अगस्त-सितम्बर १९२८, ० १८३
२. ब्रजयात्रा—पं० विगू मिश्र, पृ० ३, बिहारबन्धु, बांकीपुर, १८९४

करि मज्जन चलि आगे जैये। मुनि अगस्ति के दरसन पैये ॥
आगे चन्द्रपुरी है पावन। जहँ लछिमीनारायण भावन ॥[1]

इन कवियों ने प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरण नहीं किया, यही कारण है ये प्रकृति में मानव-हृदय का-सा स्पन्दन नहीं पा सके। इन्होंने अपने परिभ्रमण में प्रकृति-वर्णन के स्थान में अधिकतर वर्णनात्मक रूप को ही प्रमुखता दी। उस समय इन यात्रा-वर्णनों को लोग स्वान्तः सुखाय ही लिखते थे परन्तु उनमें प्रकृति को उद्दीपन रूप में वर्णन करने की प्रवृत्ति अधिक सहज न थी। उस समय उन्हें प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में अनेक भावों को भरने का आकर्षण न था वरन् वे अधिकतर ऐसे काव्य लिखते थे जिससे यात्रा का पथ-प्रदर्शन हो सके। रचना-कौशल और प्रतिभा का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता था तभी तो ऐसे उदाहरण दृष्टव्य हैं जिनसे केवल सूचना-भर ही मिलती है; पर हैं वे छन्दों में बद्ध। छन्दों में बद्ध करके यात्रा का सारा वृत्तान्त लिखा गया था। चौपाई में बदरीनाथ यात्रा के एक दृश्य का वर्णन करते हुए कल्याणचन्द्रजी लिखते हैं—

अब सुनु मंदिर भीतर सो हैं। नर नारायण प्रतिमा दो हैं ॥
बदरीनारायण के बायें। अरु समीप नारद बैठाये ॥
दाहिनि दिसि ऊधो कुबेर हैं। यहि विधि मूरति सबने रहैं ॥
करि दरसन पुनि बाहर आये। श्री लक्ष्मी के दरसन पाये ॥
करि पूजन बहु विनय सुनाई। परिकरमा कीजै मनलाई ॥
चरणामृत दे सीस नवाये। फिरि श्री गरुड़ के दरसन पाये ॥
करि मंदिर परिकरमा फेरी। दरसन लहो पुरी के हेरी ॥[2]

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने काश्मीर और दक्षिण भारत की यात्रा करके हिन्दी के काव्य-साहित्य को समृद्ध किया है। त्रिपाठीजी ने अपने खण्ड-काव्यों में प्रकृति के नाना दृश्यों का कल्पना से पूर्ण रोचक वर्णन किया है। 'पथिक और स्वप्न' अपने प्राकृतिक चित्रों के लिए विख्यात हैं। पथिक में दक्षिण भारत तथा रामेश्वर के सागर-तट का वर्णन है और स्वप्न में काश्मीर की सुषमा अंकित की गई है। खंड-काव्यों की कथा भ्रमण में देखे गए प्रकृति के बीच चलती है। कवि ने संवेदनात्मक और चित्रात्मक दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। स्वप्न के प्राकृतिक दृश्य जिसमें काश्मीर यात्रा की सुषमा अंकित है, बड़े रोचक एवं सजीव हैं। वेगवती पर्वतीय सरिता के चित्र को देखिए :—

पर्वत-शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे-बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर ॥

---

१. बदरी-केदार यात्रा—ला० कल्याणचन्द्र, पृ० ५-८, सन् १८५६ ई० में लिखित एवं सन् १८६० ई० में ब्रजभूषणलाल गुप्त, कानपुर, द्वारा प्रकाशित।
२. बदरी-केदार यात्रा—लाला कल्याणचन्द्र, पृ० १४

गिरता-उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर-हर ।।
वीर-वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निसवासर ।।[१]

निम्न पंक्तियों में काश्मीर के चिनार वृक्षों की सायंकालीन शोभा चित्रित हुई है—

इस विशाल तरुवर चिनार की अति शीतल छाया सुखदायक ।
चरण चूमने को आतुर-सी पहुँची है गिरि की काया तक ।।
हिम शृंगों को छोड़ रही हैं दिनकर की किरणें क्षण-क्षण पर ।
तिरती हैं वे घन-नौका पर नभ-सागर में विविध रूप धर ।।[२]

सागर-तट की यात्रा के बाद लिखी गई निम्न पंक्तियों में सागर की उमड़ती लहरों का वर्णन है—

रेणु स्वर्ण कण सदृश देखकर तट पर ललचाती हैं ।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मौज भरी आती हैं ।।
चूम-चूम निज देश चरण यह नाच-नाच गाती हैं ।
यह शोभा यह हर्ष कहाँ आँखें जग में पाती हैं ।।[३]

'पर्वत-स्मृति' में प्रो० मनोरंजन बदरीनाथ धाम के आसपास के दृश्य का चित्रण करते हैं—

गिरि सरिता का यह अल्हड़पन, खेल चपल लहरों का ।
चीड़ विपिन की सुरभि लिए सुन्दर समीर का झोंका ।।
पयस्विनी के सुन्दर तट पर ये लहराते धान ।
बटोही फिर वह मीठी तान ।
सन्ध्या की वह म्लान माधुरी शीतल सुन्दर छाया ।
अंधकार की चादर ओढ़े ऊँचे गिरि की काया ।।
धीरे-धीरे हाय हो गए सारे स्वप्न समान ।
बटोही फिर वह मीठी तान ।।[४]

इसमें चित्रात्मक वर्णन के साथ-साथ संवेदनात्मक प्रणाली का भी उपयोग हुआ है। इसमें प्रकृति-वर्णन के साथ प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म तथा आवश्यक संकेत भी मिलते हैं। संवेदनात्मक वर्णन में कवि की भावना प्रकृति के रूपों को अपने रँग में रंग देती है और भावावेश में कवि की प्रकृति के रूप में अपनी प्रतिकृति दिखाई पड़ती है। यही प्रकृति रीतिकाल में कवियों के लिए अनुराग का विषय न होकर नायक और नायिका के अनेक भावों को उद्दीप्त करने का साधन मात्र थी। इसी कारण इस काल के कवियों ने प्रकृति-वर्णन में अधिकांशतः वियोग में बारहमासा और संयोग में षट्ऋतु का उल्लेख किया है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के प्राप्त काव्य में प्रकृति को

१. स्वप्न—पंडित रामनरेश त्रिपाठी, पृ० २६
२. वही
३. पथिक—पं० रामनरेश त्रिपाठी, पृ० १५
४. रुनझुन—प्रो० मनोरंजन, पृ० ५३

उद्दीपन रूप में नहीं किया गया है। प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप करके कहीं-कहीं उसका मानवीकरण भी किया गया है। अधिकतर कवियों ने व्यवहारिक भाषा का प्रयोग किया है। पंडित श्रीधर पाठकजी ने अपनी शिमला-देहरादून यात्रा का वर्णन 'बरवा' छन्द में ही लिपिबद्ध किया है, क्योंकि यह छन्द उन्हें बहुत प्रिय था। इस बरवा में पूर्वीय प्रयोगों का प्राधान्य है और वा प्रत्यय का अप्रतिरुद्ध व्यवहार किया गया है। यह विशेषकर पाद-पूर्ति वा विनोद-वृद्धि की दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। 'वा' के प्रयोग के कुछ उदाहरण विनोदार्थ दिए जाते हैं— असबबवा, सहिववा, रिसपनवा, बहिरवा, देहरवा आदि।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दी यात्रा-साहित्य की वर्णन-शैली के वाह्य रूप में पाया जानेवाला काव्य-साहित्य प्रवन्ध-सौष्ठव, कलात्मकता, प्रकृति चित्रण, वस्तु-वर्णन, दृश्य-चित्रण, कल्पनात्मकता, आलंकारिकता एवं भाषा-शैली और छन्द की दृष्टि से पूर्ण साहित्यिक है।

गद्य-पद्ययुक्त शैली—हिन्दी यात्रा-साहित्य में इस प्रकार की रचनाएँ भी बहुत अधिक नहीं हैं। इस प्रकार का यात्रा-साहित्य केवल वे ही लेखक दे सकते हैं जो कवि भी हों और घुमक्कड़ भी अर्थात् कवि और घुमक्कड़ साथ-साथ। इस प्रकार के साहित्य-लेखकों में प्रमुख रूप से प्रो० मनोरंजन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार एवं ग्रामीणजी हैं।

गद्य-पद्य-मिश्रित साहित्य लिखने की परम्परा नवीन नहीं है। संस्कृत-साहित्य में इसका रूप चम्पू-काव्य में मिलता है। इस प्रकार की रचना-शैली में प्रवन्ध-सौष्ठव का पुट भले ही हमें मिल जाय परन्तु उसकी सारी विशेषताएँ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार की साहित्यिक यात्राओं में स्थल-चयन एवं प्रवाह भले ही हमें प्राप्त होता है, पर ऐसी कविताओं का साहित्यिक मूल्यांकन करने पर उनमें प्रवन्ध-पटुता, आलंकारिकता, दार्शनिकता आदि गुणों की कमी रहती है। इतना अवश्य है कि यात्रा-वर्णन को नीरसता से बचाने के लिए ऐसा गद्य-पद्य-मिश्रित साहित्य बहुत ही सुन्दर प्रमाणित होता है। एक विशेषता और है कि इन कविताओं के छन्दों में मात्राओं अथवा वर्णों का संख्या और उनका दीर्घ लघु क्रम भी उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि प्रसंगानुकूल आया हुआ अन्त्यानुप्रासक्रम।

उपर्युक्त लेखकों में से प्रो० मनोरंजन की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में हमें काव्य-सौष्ठव के गुण प्राप्त होते हैं। एक दिन दुपहरिया के समय गंगा के एक सुहावने दृश्य को देखकर अपनी यात्रा के मार्ग में एक स्थान पर विश्राम लेता हुआ कवि लिखता है :—

पत्थर पर उछल-उछलकर, चट्टानों से टकराती।
मतवाली यह सरिता यों, किस ओर वेग से जाती ?

निर्मम अत्याचारी के, दुर्गम कारागारों को।
क्या तोड़ चला विद्रोही, पत्थर की दीवारों को ?[1]

सरिता के सुहावने दृश्य का वर्णन साधारण रूप में किया गया है। इसी प्रकार यमुना का दर्शन कर नदी पर ही बैठकर ग्रामीणजी उसका वर्णन करने लगते हैं, जिसमें उनके आत्म-चिंतन के भाव भी भरे हुए हैं :—

धनि माता वसुन्धरा तेरी छटा लखि,
भारत पूत अघात नहीं।
कहुँ सुन्दर दिव्य गिरी बन हैं,
जहँ नेकहु दुःख लखात नहीं॥
झरगत झराझर है झरना,
सुनिके तनहूँ अलसात नहीं।
करि आतम चिन्तन बैठि रह्यो,
तहँ माया की बात सुहात नहीं॥[2]

इस प्रकार कवि ने प्रकृति के अभ्यांतरिक चित्रण का सुन्दरतम रूप तो देने का प्रयत्न किया है परन्तु प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर वह अधिक सफल नहीं हुआ है। इस चित्रण में कल्पना एवं सजीवता का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

इसीके ठीक विपरीत श्री गोपाल नेवटियाजी ने अपने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति का ज्ञान स्वतः निरीक्षण द्वारा प्राप्त किया है, ऐसा प्रतीत होता है। अपने प्रकृति-चित्रण में उन्होंने प्रकृति का केवल वास्तविक चित्रण ही नहीं किया है वरन् निर्मल पर्वत-श्रेणियों एवं शीतल समीर का वर्णन कर दिया है। प्रकृति उनके लिए केवल नेत्रानन्द का विषय नहीं रही है वरन् उनकी आत्मा के अनुरंजन का साधन बन गई है। उस सौन्दर्य-दर्शन में कितनी आत्म-विस्मृति थी जैसा कुछ कवि के मनोगत भावों में आया उसकी वाणी ने इस प्रकार प्रकट किया। अपनी काश्मीर-यात्रा के बीच किए गए प्रकृति-दर्शन का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

मरुस्थली की शोभा को चमकाकर रूप-रतन से।
नभ दुकूल से आच्छादित, नित-विरहित हरित वसन से॥
स्वर्ण कान्ति-सम शोभामय इस अतिशय कोमल तन को।
प्रकृति सुन्दरी दिखा रही है अपने प्रेमी जन को॥
आते-जाते क्षितिज प्रांत पर देख स्थान निर्जन-सा।
कर पसार, आलिंगन-आतुर होकर विह्वल मन-सा॥

---

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ५
२. यमुना-दर्शन—ग्रामीणजी—मर्यादा, जुलाई, १९१६, पृ० १८

चूम रहा है प्रकृति रूप में मुग्ध भानु धरती को।
विस्मृत कर दूँ इस क्रीड़ा में ताप-तप्त जगती को॥[1]

उपर्युक्त वर्णन में न तो भावों को अधिक उद्दीप्त करने का प्रयत्न है और न अलंकार अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द-योजना का विशेष प्रदर्शन। कवि का भावुक हृदय दर्शन में रम गया है और वह इस प्रकृति-क्रीड़ा में जगती के ताप को विस्मृत करना चाहता है। प्रकृति सहयोग उसे आनन्द प्रदान करता है और उसका आन्तरिक उल्लास उसे अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है।

इसी भाँति पं० रामनरेश त्रिपाठी भी प्रकृति-दर्शन में रम गए हैं। अपनी अद्भुत विचार-शैली में उन्होंने कुर्ग के प्राकृतिक सौन्दर्य की जो छटा मस्तिष्क-पटल पर अंकित की है वह कभी भी अदृश्य होनेवाली नहीं है। इसमें उन्होंने अपनी कल्पना चमत्कारिता को ऐसा ढाला है कि दृश्य-विधान में सर्वत्र सजीवता ही दृष्टिगोचर होती है। वे लिखते हैं—

प्रकृति महारानी का मंजुल महल कुर्ग है,
पद्मा का सुख-शांति-सदन आनन्द दुर्ग है,
जैसा बाहर यहाँ प्रकृति का तन सुन्दर है,
उससे भी कुर्गीय जनों का मन सुन्दर है।
शिमला नैनीताल नीलगिरि और मसूरी,
है इसके समक्ष सबकी छवि-राशि अधूरी।
क्योंकि वहाँ पर कृत्रिमता श्रम से रक्षित है,
किन्तु यहाँ पर नैसर्गिक सौन्दर्य उदित है।
भारत में सर्वोच्च सुयश पद के अभिलाषी,
हैं उद्यमी, सुसभ्य, सच्चरित कुर्ग-निवासी॥[2]

दृश्य-चित्रण जितना हमें श्री गोपाल नेवटिया में मिलता है, उतना इस श्रेणी में आए किसी भी लेखक में नहीं। पूर्णिमा के दिनों में बालू के टीले पर बैठकर कवि घण्टों उस हँसते हुए चाँद को देखता रहता है। चाँद की हँसी उसे घण्टों हँसाती रहती है और उसका रोम-रोम मुकुलित हो जाता है। चाँदनी से आलोकित क्षितिज प्रान्त पर सिकता-समूह और नील-नभ को गाढ़ालिंगन में निमग्न देखकर कवि के हृदय-सिन्धु में हास्योर्मियाँ आन्दोलित होती हैं और उस शांति और सौन्दर्य में उसकी सजीवता और माधुर्य भरी वाणी नभ-मंडल में छा जाती है। वह लिखता है—

चारु चन्द्र की मुदित चन्द्रिका नभ-पथ में जब आती।
कंचन सम सिकता-समूह पर रजत-राशि बरसाती।

---

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० २

२. मेरी दक्षिण यात्रा—पं० रामनरेश त्रिपाठी—विशाल भारत, फरवरी १९३४

सुन्दर तर रमणीय वेश में प्रकृति रमा इठलाती ।
मेरे मन को मुग्ध बनाकर रूप-सुधा भर जाती ॥
रव विहीन यह परम शांति की सुखकर भूमि दिखाती ।
आदि नाद की तान प्रणव होकर मन में छिड़ जाती ॥
कभी कभी केका मयूर की बैठ धायु के रथ में ।
आती है इस परम शांतिमय-निर्जन-नीरव पथ में ॥
सुन-सुनकर इस मधुर तान को नव-जीवन भरता हूँ ।
ईश तुम्हारा रूप मनोहर मैं देखा करता हूँ ॥[१]

इस प्रकार नेवटियाजी के चित्रणों में जो सजीवता, नाटकीयता एवं दार्शनिकता हमें देखने को मिलती है वैसी अन्य लेखकों में नहीं । इस श्रेणी के अन्य लेखकों के प्रवन्ध-सौष्ठव में न वैसा स्थल-चयन है, न प्रवाह और संयोजन ही । माधुर्य और प्रसाद से पूर्ण भाषा इनकी अपनी विशेषता है ।

प्रो० मनोरंजनजी ने भी एक स्थान पर पर्वतीय दृश्य का वर्णन किया है । सामने मन्दाकिनी की निर्मल धारा वेगपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर प्रवाहित हो रही है, चन्दापुरी की सुषमा का अनोखा दृश्य दृष्टव्य है—

उधर से मन्दाकिनी है निर्मल, इधर से चन्द्रा चमक रही है ।
वहार लहरों की है निराली, गरज रही है, तमक रही है ॥
खड़े हुए आसपास गिरिवर, तरंग का रंग देखते हैं ।
हवा है वृक्षों से खेल करती, ठुमक रही है, ठमक रही है ॥
उधर है केदार का नज़ारा, निराला है रंग हिम-शिखर का ।
जिसे आ सूरज की दिव्य किरणें, सुनहली चादर से ढँक रही हैं ॥
बरफ की लहरें उधर से आकर, लुटा रही कोष मोतियों का ।
नदी ये निर्मल परम मनोहर, चमक रही है, झमक रही हैं ॥[२]

मनोरंजनजी का उपर्युक्त वर्णन दृश्य-चित्रण की दृष्टि से अच्छा बन पड़ा है, पर इसमें व्यवहारिक भाषा होने पर भी अधिक माधुर्य नहीं आ सका है, वरन् यह गज़ल की शैली में गाया हुआ गीत ही रह गया है ।

श्रीनिधि सिद्धान्तालंकारजी ने शिवालिक की घाटियों के यात्रा-संस्मरणों को बहुत ही सुन्दर और कलात्मक रूप दिया है । यद्यपि इनके इन चित्रों में अधिक सजीवता, स्वाभाविकता नहीं मिलती है; पर वास्तव में इनके ये चित्र साहित्यिक अवश्य हैं । वे लिखते हैं—

---

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ४
२. उत्तराखंड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ८६

कैसे विस्मृत हो सकते हैं,
वे, प्रशांत-सरिता-तट-शायी—
विस्तीर्ण सैकत पुलिन,
जिन पर ज्योत्सनामयी रजनियाँ
कराया करती थीं निद्रामग्न हरिण यूथों को
निर्मल चन्द्रिकाओं के अजल-स्नान ।

हैं आ रहे याद मुझे
वे झिल्ली-झंकार पूर्ण, निस्तब्ध जलाशय,
जिनके आर्द्र-सैकत तटों पर अंकित
निशीथ-जल पानार्थी-सिंहों के अभिनव पद-चिह्न
बना दिया करते थे,
पार्श्व भूमिओं को दिन में भी आतंक-पूर्ण ।

क्या, भूल सकूँगा कभी,
उस, शोभांजन-द्रुम-वासिनी,
वन पुजारिणी, माधवी लता को,
जो घाटी के वार्षिक कुसुमोत्सवों पर
किया करती थी स्तुति गायक-भ्रमरों को,
अपने अभिनव पुष्प पात्रों में
मकरन्द चरणामृत वितीर्ण ॥[१]

पं० श्रीधर पाठकजी ने एक पर्वतीय दृश्य की रमणीयता का जो सुन्दर वर्णन किया है उसमें उनकी कल्पनात्मकता दृश्यचित्रण के साथ ही बड़ी प्रवाहपूर्ण बन पड़ी है। इसमें वे एक ऊँचे पर्वत पर खड़े होकर दृश्यों का अवलोकन करते हैं जहाँ से उन्हें सभी पर्वतों के भव्य दृश्य दिखाई देते हैं एवं हरे-हरे पहाड़, सुन्दर सीढ़ियोंवाले खेत, पतले-पतले झरने और चाँदी के समान चमकीली नदियाँ । दूर-दूर तक पहाड़-ही-पहाड़ थे, जिनकी चोटियों पर मेघमाला विश्राम कर रही थी । क्षितिज के दर्शन कर वे लिखते हैं—

अगनित पर्वत-खंड चहुँ दिसि देत दिखाई ।
सिर परसत आकास चरन पाताल छुआई ॥
सोहत सुन्दर खेत पाँति-तरु ऊपर छाई ।
मानहु विधि पट हरित स्वर्ग-सोपान बिछाई ॥[२]

---

१. शिवालिक की घाटियों में—श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार, पृ० २-३
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५३

२. हिमालय—पं० श्रीधर पाठक, 'विशाल भारत' मई १९३४, पृ० ६०८

पर्वत-शिखरों पर के जल-प्रवाह का एक सुन्दर चित्र नेवटियाजी ने इन पंक्तियों में चित्रित किया है—

पर्वत-शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर।
छोटे-बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर॥
गिरता-उठता फेन बहाता करता अति कोलाहल हर-हर।
वीर-वाहिनी की गति से वह बहती रहता है निशि वासर॥
मानों जलदों के शिशुगण दल बाँध खेलते हुए परस्पर।
अति उतावलेपन से चलकर गोल पत्थरों पर गिर-गिरकर॥
उठते फूल फेंकते-हंसते तथा मानते हुए महोत्सव।
सागर में मिलते जाते हैं पथ में करते हुए महारव॥
इनका बाल-विनोद देखते हुए किसी तीरस्थ शिला पर।
सतत सुगंधित देवदारु की छाया में सानन्द बैठकर॥
सिर धर हरि के पद-पद्मों पर करके जीवन-सुमन समर्पण।
बना नहीं सकता क्या कोई अपने को आनन्द-निकेतन॥[1]

पर्वत-शिखरों के सौन्दर्य के बीच उस सौन्दर्य के निर्माता को याद करके उसके पद-पद्मों पर जीवन-सुमन समर्पण करने की कल्पना की कोमलता काश्मीर में पद-पद पर अनुभूत होती है। प्रवाह और कौतूहल से पूर्ण 'श्रीनगर' में हमें सबसे अधिक काव्य-सौष्ठव मिलता है।

उच्चतम शिखर-शृंग पर चमकती हुई सूर्य-किरणों का अनूठा नैसर्गिक दृश्य प्रो० मनोरंजन के शब्दों में सुन्दर बन पड़ा है—

ऊँची हिम की चोटी पर
थी अंधकार की छाया।
काली-सी दीख रही थी
उसकी वह उज्ज्वल काया॥
तम का घूँघट सरकाकर
मुसकाती ऊषा आई।
तन पुलक उठा हिमगिरि का
मुख पर नव लाली छाई॥
हँसती-हँसती फिर आई
रवि की किरणें मस्तानी।
चाँदी के ऊपर मानों
फेरा सोने का पानी॥

१. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ७७

हिम के उज्ज्वल दर्पण में
रवि ने अपना मुख देखा।
खिच गई उधर शिखरों पर
हँसती किरणों की रेखा॥
यों हुआ दृश्य-परिवर्तन
जगमग उज्ज्वलता छाई।
प्रकृति दुलहिन ने अपनी
सुन्दर शोभा दिखलाई॥[1]

श्री गोपाल नेवटियाजी ने यात्रा-उपासक होने के कारण प्रकृति के विराट, विकराल, भव्य एवं सरस सभी रूपों के दर्शन किये। प्रकृति में उन्हें इतनी अधिक संवेदन-शीलता का आभास मिला है कि वह इनके 'काश्मीर' ग्रन्थ का एक प्रधान अंग-सी बन गई है। प्रकृति के प्रेमपाश में बँधकर भी वे मानों सौन्दर्य से विमुक्त नहीं हो सके हैं। अपनी ओज और माधुर्यपूर्ण भाषा में नाटकीयता एवं सजीवता से पूर्ण उनके सभी दृश्य चित्रण हैं। कल्पना और दार्शनिकता तो उनकी कलात्मकता की विशेपता ही है। यात्रा के पूर्व उन्होंने वहाँ के स्त्री-सौन्दर्य की बीसों चटपटी बातें सुनी थीं, पर उनका समर्थन करने के लिए उनके नेत्र बड़े उत्सुक थे। पर कान और आँख का विवाद बहुत दिनों तक बना ही रहा। महाकवि देव की ये पंक्तियाँ यहाँ उन्हें काश्मीर में अगोचर ही थीं—

जोवन के रंग भरी, इंगुर के अंगन पै,
ऐंड़िन लौं आंगी छाजै छबिन की भीर की।
उचके उचौहैं कुच झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की॥
गुल गुले गोरे गोल कोमल कपोल,
सुधा बिन्दु बोल, इन्द्रमुखी नासिका ज्यों कीर की।
'देव' दुति लहराति छूटे छहरात केस,
बोरी जिमि केसरि किसोरी कसमीर की॥

काश्मीर यात्रा में पं० रामनरेश त्रिपाठीजी ने वहाँ की सुन्दरता एवं दृश्यावली को देखने के अतिरिक्त वहाँ के अन्य दृश्यों का भी अवलोकन किया। उन्होंने अपनी यात्रा में वहाँ के सुन्दर और असुन्दर सभी दृश्यों को देखा है और निजी अनुभव के आधार पर लिखा है—

१. स्वर्ग से बड़ी है काश्मीर की बड़ाई जहाँ
वास करती है बहु वेष धर के रमा।

---

१. उत्तराखंड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० ९१-९२

सरिता, पहाड़, झील, झरनों बनों में जहाँ
छाई सब ओर है अकथनीय सुषमा।
घास छीलती हैं जहाँ अप्सरा अनेक खड़ी
धान कूटती हैं परी किन्नरी मनोरमा,
सड़कें बुहारती घृताची रति रंभा जहाँ,
गोबर बटोरती हैं मेनका तिलोत्तमा ॥

× × ×

२. मूत भरी गलियाँ पुरीष भरे घर द्वार
गंदी हवा, बादी जल, देश उजबक है।
लोग बड़े झूँठे, महा मलिन लुगाइयाँ हैं
व्याप रहा जिनमें सुजाक आतिशक है॥
खाने को करम मांस मछली पनीर भात
कांगड़ी का कंठहार आठ मास तक है॥
काश्मीर देखा, सब बूझ लिया लेखा
यदि स्वर्ग है यहीं तो फिर कौन सा नरक है॥

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि इन कवियों ने जहाँ काश्मीर के अत्यन्त रमणीक दृश्यों का अवलोकन किया वहाँ दूसरी ओर वहाँ की वास्तविक स्थिति का वर्णन भी अपने यात्रा-ग्रन्थों में किया है। इस प्रकार उनकी यात्रा एकांगी न रहकर सर्वांगी हो गई है। उनके काव्य में प्रवन्ध-सौष्ठव के सभी लक्षण पूर्ण रूप से अवश्य नहीं मिलते हैं, पर जो लक्षण हैं वे यथेष्ट हैं जिनमें कलात्मकता, प्रकृति चित्रण एवं दृश्यविधान सभी-कुछ है।

गद्य-पद्यात्मक शैली में लेखकों की कृतियाँ अत्यन्त मनोरम बन पड़ी हैं। कविता के उद्धरणों ने उन्हें विशेष रोचक बना दिया है। इस प्रकार की शैली आगे चलकर प्रायः समाप्त हो गई, इस पर चलते रहना हिन्दी यात्रा-साहित्य की लोकप्रियता का कारण बन सकता, इसमें सन्देह नहीं।

★

: ८ :

निबन्ध

यदि हम यह कहें कि गद्य-काव्य का पूर्ण और वास्तविक रूप निबन्ध में ही प्राप्त होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि गद्य-काव्य के अन्य विभिन्न रूप वैयक्तिक शैली के प्रयोगों के इतने अधिक निकट नहीं जितना कि निबन्ध, और न ही वे शुद्ध गद्य के रूप को प्रकट कर सकते हैं। यथा, कहानी और उपन्यासों में गद्य की भाषा माध्यम के रूप में ही प्रयुक्त की जाती है। वस्तुतः निबन्ध के सम्बन्ध में इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है—

"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।"[१]

शुक्लजी के उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में ही चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है, इसी-लिए भाषा एवं शैली की दृष्टि से भी निबन्ध गद्य-साहित्य का सबसे अधिक परिपक्व और उच्चतम रूप बन जाता है।

फिर हमारे यहाँ प्राचीन काल से ही बौद्धिक, तार्किक तथा वर्णनात्मक विषयों की विवेचना के लिए निबन्ध का ही आश्रय लिया जाता रहा है। शनैः शनैः इसका अर्थ एक ऐसा लेख जिसमें कि अनेक विचारों, मतों या व्याख्याओं का सम्मिश्रण या ग्रंथन हो, बन गया। आज हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता है जिस अर्थ में 'ऐसे'[२] शब्द का अंग्रेजी में। सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक मौनटेन ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया। उसके अनुसार, "निबन्ध स्मृति, छायाओं, उद्धरणों और कथात्मक इतिवृत्तों का पंचामृत होता है।"[३] अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ० जानसन का कथन है कि "निबन्ध मन की ऐसी विशृंखल विचार-तरंग है, जो अनियमित और अपच है।"[४] इसी प्रकार की विचारधारा वर्सफोल्ड की भी है, वह लिखता है—"निबंन्ध का परिचय उसके वाह्य रूप के लघुत्व में मिलता है और उसमें

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ५०५, संस्करण सं० २०१२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२. Essay.

३. "An essay is a medley of reflection, quotations and Anecdotes."
—Montaigue.

४. An essay is a loose sally of the mind, and irregular, undigested piece not a regular and orderly composition or performance.
—Dr. Johnson.

लेखक का आत्माभिव्यंजन वर्तमान रहता है।"[१] जे० टी० शिपले अपने कोष में इसका अर्थ साधारण रूप में देते हुए कहता है—

"सामान्य रूप से निबन्ध किसी निश्चित विषय पर अपेक्षित विस्तार में लिखी गई गद्यमय रचना है।"[२] इनसाइक्लोपेडिया अमेरिकाना के अनुसार—"मूल रूप से निबन्ध शब्द का तात्पर्य नाटक, उपन्यास और काव्य के समान किसी निश्चित विषय पर व्यक्तिगत और सीमित निरीक्षण पर आधारित विश्लेषणात्मक अथवा तर्कयुक्त गद्यखण्ड से है, यह साहित्य की प्रमुख विधा है।"[३] इसी प्रकार का भाव हमें इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका में भी मिलता है।[४] शुक्लजी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य विद्वानों की भी निबन्ध के प्रति यही धारणा दिखाई देती है।

बाबू गुलाबराय के अनुसार—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[५] डॉ० जगन्नाथ शर्मा की धारणा कुछ और ही है। वे लिखते हैं—"निबन्ध में तर्क और पूर्णता के प्रति उदासीनता, किसी विषय अथवा उसके वंश का लघु विस्तार स्वच्छन्द तथा आत्मीयतापूर्ण शैली के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना प्रधान होती है।"[६]

उपर्युक्त हिन्दी और अंग्रेजी के समीक्षकों के निबन्ध की रूपरेखा का

---

१. The essay is distinguished by the brevity of its external form and by the presence of the element of reflection.

—Worsfold.

२. "In general, it is a composition, usually in prose, of moderate length and on a restricted topic.

—Dictionary of World Literary Terms.—J. T. Shipley, page 145.

३. The word has come to mean primarily an analytical or interpretative piece of prose literature, based on observation, dealing with its subject from a limited or personal view with the drama, the novel and poetry, it is a main division of Literature.

—The Encyclopaedia Americana—Vol. 30, page 508 (1947 Edition) New York.

४. Essay is a form of Literature, the essay is a composition of moderate length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject and in strictness, with that subject only as it affects the writer.

—Encyclopaedia Britanica, page 716, Vol. 8 (1946 Edition)

—University of Chicago.

५. काव्य के रूप—बाबू गुलाबराय, पृ० २३६, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, १९५०

६. आदर्श निबन्ध—डा० जगन्नाथ शर्मा, पृ० ६, बनारस, सं० २००८

विश्लेषण करके एक व्यापक और समुचित परिभाषा निम्न प्रकार से दी जा सकती है—

"तर्क और पूर्णता का अधिक विचार न रखनेवाला गद्य-रचना का वह प्रकार निबन्ध कहलाता है, जिसमें किसी विषय अथवा विषयांश का लघु विस्तार में स्वच्छंदता एवं आत्मीयतापूर्ण ढंग से ऐसा कथन हो कि उसमें लेखक का व्यक्तित्व स्वतः झलक उठे।"

निबन्ध का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। उसमें विश्व के संपूर्ण तत्वों, भावनाओं, वस्तुओं और क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन हो सकता है। हमें यहाँ पर विशेषकर वर्णनात्मक निबन्धों की ही विवेचना करनी है।

वर्णनात्मक निबन्ध—यद्यपि आजकल हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न वर्णनात्मक लेखों में से बहुत कम ऐसे होते हैं जिन्हें शुद्ध यात्रा-सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्ध माना जा सके, क्योंकि उनमें न लेखक की शैली का पूर्ण रूप से प्रकाशन ही हो पाता है और न लेखक का व्यक्तित्व ही उभर पाता है।

फिर भी, वर्णनात्मक निबन्धों में प्राकृतिक उपकरणों तथा भौतिक पदार्थों को देखकर ही वर्णन किया जाता है। इसमें किसी प्राकृतिक वस्तु जड़ अथवा चेतन, कोई स्थान, प्रान्त अथवा और किसी मनोहर तथा आह्लादकारी दृश्य का एवं शिकार पर्वतारोहण, दुर्गम प्रदेशों की यात्रा, साहसपूर्ण कृत्यों, ऐतिहासिक घटनाओं आदि का ही वर्णन रहता है। इस प्रकार के यात्रा सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्ध हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में इस प्रकार के वर्णनात्मक निबन्ध विशेषकर दो रूपों में ही मिलते हैं। प्रथम तो पुस्तक रूप में; दूसरे मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों में लेखों के रूप में। इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देश एवं संसार से रहता है। ये लेख लगभग सभी शैलियों में लिखे जाते हैं, पर मुख्यतः इनकी वर्णन-शैली व्यास-शैली कहलाती है जिसमें वर्ण्य-विषय की लम्बी-चौड़ी विवेचना की जाती है। उसमें पाठक के मस्तिष्क में संपूर्ण वस्तुस्थिति को समझाकर बिठा देने की प्रवृत्ति लक्षित की जा सकती है। इन्साइक्लोपेडिया अमेरिकना के अनुसार वर्णनात्मक निबन्ध वह है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व किसी रंगीन चित्र को आँक सके।[1] इसके साथ ही मेरे विचार से वर्णनात्मक निबन्धों में नाटकों के संभाषणों का-सा आनन्द एवं उपदेशकों की शैली के सभी गुण भी होने चाहिए। साथ-ही-साथ साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक रोचक एवं सजीव वर्णन का होना भी आवश्यक है।

वर्णनात्मक निबन्ध भाव, विचार एवं साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—

---

1. The Descriptive essay is that which gives a picture coloured by the personality of the writer.
   —Encyclopaedia Americana, page 508, Vol. 30

१—इतिवृत्तात्मक, जिनमें दृश्यों को यथा रूप वर्णित कर दिया जाय। इसमें लेखक की स्थिति बिलकुल निर्लिप्त रहती है। वह केवल वर्णनकर्त्ता मात्र दिखलाई देता है।

२—भावात्मक एवं आलंकारिक, जिनमें रस और भावों की व्यंजना हो और भाव विचारों से अधिक प्रधान हों। वातावरण-प्रधान अथवा व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध भी इसीके अन्तर्गत लिए जा सकते हैं।

३—दार्शनिकता-प्रधान निबन्धों में दार्शनिक भावों की प्रधानता होना अनिवार्य है। यद्यपि ये निबन्ध बहुत-कुछ वैयक्तिकता-प्रधान होते हैं तथापि दार्शनिक दृष्टि की विशेषता इन्हें अन्य वैयक्तिकता-प्रधान निबन्धों से अलग करती है।

१—इतिवृत्तात्मक—इतिवृत्तात्मक वर्णन हिन्दी यात्रा-साहित्य में यथेष्ट मिलते हैं। निराडम्बर शैली में विभिन्न दृश्यों का सामान्य वर्णन इस प्रकार के निबन्धों की विशेषता है। गोविन्दहरि फड़के ने अपनी तीर्थयात्रा में इस प्रकार का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ देखिए—

"वहाँ गौरी कुंड है, उसके चारों ओर की भूमि चारसौ हाथ ऊँची है। इस पाषाणमय पहाड़ को फोड़कर ही भागीरथ का प्रवाह गौमुख से नीचे उतरा है। यहीं भागीरथी का स्वर्ग से अवतरण है, इसी स्थान को गौरी कुंड कहते हैं। कुण्ड के ठीक मध्य भाग में मनोहर शिव-लिंग है। यहां भागीरथी का प्रवाह पच्चीस हाथ की ऊँचाई से गौमुख से सदा शिव-लिंग पर गिरता रहता है। यह चमत्कार देखने योग्य है। यहीं गंगा को शिव की जटा में रखने का दृश्य है। भागीरथी के असंख्य जलबिन्दु शिलाखण्ड से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके तुषारों से इन्द्रधनुष की भाँति विविध छटाएं दीख पड़ती हैं। वे तुषार फिर शिव-लिंग पर आकर गिरते हैं। इस प्रकार वहाँ कई अपूर्व छटाएँ दीख पड़ती हैं।"[1] लेखक के वर्णन में केवल उतना ही सौन्दर्य चित्रण किया गया है जितना पाठक के हृदय को स्पर्श करने के लिए पर्याप्त हो; अन्यथा सरल शैली है।

अपनी कैलाश-यात्रा का वर्णन करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने लिखा है—

"वर्षा हो रही थी। छतरियाँ तानकर चल पड़े। तेजम के पास जो नदी रामगंगा से मिलती है, उसको जाकुला कहते हैं। इसका कठिन पुल पारकर, इसके किनारे-किनारे, ऊपर पहाड़ पर चढ़े। मखमल-जैसी हरियाली से लदे हुए दो पहाड़ों के बीच यह जाकुला नदी बहती है। घाटी का रास्ता तंग है, इसलिए पहाड़ी दृश्यों का स्वरूप बड़ा वन्य है। स्थान-स्थान पर ऊँची-चौड़ी पहाड़ी भूमि पर भोटिओं की झोपड़ियाँ बनी हैं। बादल घाटी में बड़ी मौज से क्रीड़ा कर रहे थे, जिधर का मौका पाते, उधर ही उलट पड़ते थे। सामने जल-प्रपात दिखाई दिया। श्वेत सूत के तागे

---

१. मेरी तीर्थयात्रा—गोविन्दहरि फड़के, चित्रमयजगत्, जून १९१८, पृ० २४०

की तरह जल की धारा पहाड़ पर से वक्रगति से नीचे आ रही थी। क्या ही नैसर्गिक दृश्य था![1] इसमें सत्यदेवजी कैलाशपर्वत का एक साधारण-सा चित्र प्रस्तुत करते हैं। रामगोपाल मूना अपनी 'धुआँधार की यात्रा' का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से करते हुए लिखते हैं—

"हम लोग मोटर से उतरकर सबसे पहले सीधे धुआँधार नामक जल-प्रपात की ओर चल दिए, जो यहाँ से दो मील के लगभग है। धुआँधार का दृश्य अति नेत्ररंजक है। यहाँ नर्मदा नदी संगमरमर की ऊँची-नीची चट्टानों से बहती हुई आकर एकदम ३० फीट नीचे जोर से गिरती है। नीचे पानी गिरने के कारण जलकण इतने अधिक उड़ते हैं कि धुएँ की भाँति दिखलाई पड़ते हैं। इसीलिए इस प्रपात का नाम धुआँधार पड़ गया है। डूबते हुए सूर्य की रोशनी इन जल-कणों पर अलौकिक दृश्य दिखला रही थी। इसके आगे जहाँ तक निगाह जाती थी, संगमरमर की चट्टानें दिखाई पड़ती थीं। चट्टानों के बाद नदी के दोनों किनारों की ओर जंगली पौदों के दृश्य थे।"[2] मूनाजी ने इसमें धुआँधार का अलौकिक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न मात्र ही किया है।

श्री मोशियो आर० तूर्त ने अपनी ईरान यात्रा में वहां के शहरी निर्माण का वर्णन करते हुए लिखा है—

"पुराने शहर में अनेकों सुन्दर और बड़ी-बड़ी मसजिदें हैं, जिनके मीने के काम के हरे और नीले गुम्बद सूर्य की रोशनी में पन्ने और नीलम के बड़े-बड़े ढोकों के समान दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त सभी सड़कों पर छोटे-छोटे छप्पर और फव्वारे दिखाई देते है। चारों ओर सब्जी-ही-सब्जी है। इस्फहान का शहर बाग और फल-फूल के बगीचों के बीच में बसा है। इन बगीचों में अनेकों तालाब और पुष्करिणी हैं, जिनसे चारों ओर शान्तिदायिनी शीतलता छाई रहती है। फिर ये बाग-बगीचे और सारा शहर चारों ओर पहाड़ियों से घिरा है, जिनका कोमल वर्ण और उग्र बाह्य रेखाएं दूर से दिखाई पड़ती हैं।"[3] इसके अतिरिक्त काश्मीर-यात्रा में देखी गई पर्वतीय नदी का बड़े सरल ढंग से वर्णन करते हुए ईश्वरचन्द्र शर्माजी लिखते हैं—

"यह स्थान एक लम्बे-चौड़े मैदान में है, जिसे चारों ओर से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ घेरे हुए हैं। पास ही लिदर नाम की नदी बहती है। वह कहीं शिलाओं से टकराकर उछलती और कहीं वेग से गिरती हुई किसी अतल तल में जाकर गिरती वज्र गंभीर ध्वनि करती है। पहाड़ों के शरीर देवदारु के लम्बे-लम्बे वृक्षों से घिरे हुए हैं।

---

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ३०
२. धुआंधार की ओर—रामगोपाल मूना, सुधा, अगस्त १६३७, पृ० २४
३. मेरी ईरान यात्रा—मोशियो आर० तूर्त, चित्रमयजगत्, अप्रैल १६३१

लिदर की शीतलता से सनी हुई मृदु मन्द वायु देवदारु के वृक्षों को धीरे-धीरे झुलाती है।"[१]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि इतिवृत्तात्मक निबन्धों के रचयिता अपने अनुभवों को सरल, स्पष्ट भाषा-शैली में पाठकों के हृदय तक पहुँचाना चाहते हैं। उनमें आलंकारिकता का पूर्णतया अभाव नहीं है; फिर भी वे व्यर्थ के आडम्बर से दूर हैं, उनके कथन, चित्रण सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। इस दृष्टि से यात्रा-साहित्य के लिए यह शैली बहुत उपयोगी तथा उपयुक्त प्रमाणित होती है।

२. **भावात्मक एवं आलंकारिक**—भावात्मक एवं आलंकारिक वर्णन करने वाले यात्रा-साहित्य के अनेक लेखक हैं जिनमें वे अपने विचार बहुत सीधे-सादे और स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं। भावात्मक निबन्धों में लेखकों ने अपने उस भावोद्रेक को व्यक्त किया है जिसमें वे विभिन्न दृश्यों को देखकर आत्म-विस्मृत हो जाते हैं। इन भावात्मक निबन्धों में भावात्मकता पर अधिक बल होता है, विचारों का स्थान गौण हो जाता है। इस प्रकार इन निबन्धों में काव्यात्मकता बढ़ जाती है। इसी काव्यात्मकता को व्यक्त करने के लिए आलंकारिकता की भी आवश्यकता पड़ने लगती है। यहाँ पर क्रमशः भाव-प्रधान सरल शैली एवं अलंकार-प्रधान कलात्मक शैली के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

भावात्मक शैली में हमें भक्तिभावना, दार्शनिकता एवं कवित्वमयता के दर्शन होते हैं। कृपानाथ मिश्र ने अपनी 'विदेश की बात' नामक पुस्तक में इसी प्रकार का दृश्य उपस्थित किया है—

"जिस समय हम लोगों का जहाज लाल सागर की ललित तरंगों पर नृत्य करता हुआ आगे जा रहा था, उस समय हम सभी आनन्द से भरपूर थे। ज्योत्सना तथा समुद्र का अपूर्व आलिंगन हमें एक अपार्थिव सौन्दर्य का सन्देश सुना रहा था। शांत तथा सुप्त शिशु के विश्वास की तरह तरंगों का मधुर उच्छ्वास चित्त में चंचलता उत्पन्न कर रहा था।"[२] वेणी शुक्लजी ने 'लंदन पेरिस की सैर' में प्रयाग से बम्बई तक की गई यात्रा का वर्णन करते हुए भावुकता के साथ अपनी भक्ति-भावना का भी परिचय दिया है—

"कुछ देर में सीटी देकर गाड़ी खुली और पुल पर पहुँची। पुल पर से मैंने बड़े प्रेम और भक्ति के साथ अपने जन्म-स्थान पुनीत प्रयाग, दक्षिण से घूमकर आई हुई नील-वसना यमुना और उत्तर से आती हुई श्वेत-सलिला भगवती भागीरथी को गद्गद होकर प्रणाम किया। प्रयाग से दो स्टेशन बाद शंकरगढ़ लाइन के दोनों ओर विन्ध्याचल की मनोरम कैमूर की श्रेणी आरम्भ हो जाती है, जिसके चित्रकूट आदि मनोरम स्थानों को भगवान रघुकुल-कमल दिवाकर ने वनवास के समय अपनी चरण-

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा, चाँद, मई १९३०

२. विदेश की बात—कृपानाथ मिश्र, पृ० २५

रज से पवित्र कर और भी रमणीक बना दिया है ।"[1] अपनी अमरनाथ यात्रा का वर्णन करते हुए राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह ने लिखा है—

"प्रातःकाल उन्हीं शैल-शिखरों पर उषःकाल की अनुपम ज्योति देखकर शेक्सपियर की इन पंक्तियों का स्मरण हो आया—

Nights Candles are burnt out, and jocund day,
Stands tip toe on the misty mountain tops.

हिमालय की चोटियों पर ही कहते हैं, परमात्मा की महिमा दिखाई पड़ती है । अमरनाथ में हम उस ईश्वरीय महिमा की एक झलक अवश्य पाते हैं । रास्ते की कठिनाइयाँ बहुत हैं। मार्ग दुर्गम है, गौरीशंकर शृंग की चढ़ाई से कम नहीं, पर इन सारी कठिनाइयों का पारितोषिक हमें मनोमुग्धकारी प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में मिलता है । कहीं बड़े-बड़े पहाड़, कहीं बड़ी-बड़ी घाटियाँ, कहीं मीलों तक फैली हुई फर्श और कहीं बड़े और कहीं छोटे जल-प्रपातों का समूह, पर्वत-सरिताओं की उद्वेलित तरंगें, वन्य-कुसुमों का सौरभ, कैलाश से आई हुई हवा, पर्वतों पर छाई हुई मेघमालाएँ, हृदय में तरह-तरह के भावों का संचार करती हैं, एक दूसरी ही दुनिया को पहुँचा देती है । कहीं तो हम प्रशान्त चेष्ट, मन्त्रमुग्ध-से हो जाते हैं और कहीं आनन्द से उछलने लगते हैं, अपने क भूल-सा जाते हैं । अंतरात्मा प्रकृति से जा मिलती है । मार्ग की सारी कठिनाइयाँ प्रकृति के इन दृश्यों में विलीन-सी हो जाती हैं ।"[2] राजेश्वरप्रसादजी ने ईश्वरीय महिमा की छटा का इसमें अच्छा दिग्दर्शन किया है । इसमें उनकी भक्त्यात्मक भावना ही प्रधान रही है। चक्रधर 'हंस' बदरी-केदार की यात्रा का वर्णन करते हुए रास्ते की पर्वत-शृंखलाओं का दृश्यविधान भी प्रस्तुत करते हैं । इनके पर्वतीय दृश्य-विधान में भी भक्ति-भावना का प्राधान्य है। देखिए—

"इस जनसागर की जय-ध्वनि से अनन्त आकाश गूंज रहा था । पहाड़ों से टकराती हुई ध्वनि गुफा, कन्दराओं में प्रतिध्वनित हो रही थी । आबाल-वृद्ध, अमीर-गरीब सभी एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे थे । एक ही भाव से प्रभावित थे । कितना रमणीक दृश्य था वह ! सघन वृक्षों से आच्छादित पर्वत-शृंखलाएँ दूर तक चली गई थीं, नीचे पतित पावनी भगवती अलकनन्दा कलरव के साथ चट्टानों से उछलती-कूदती किसी अनजान के साथ भेंट करने के लिए चली आ रही थी । दोनों ओर तटों पर स्वर्ण-कणों के साथ चमकती हुई सुन्दर सिकता मन को लुभा रही थी, मानों किसीने उज्ज्वल मोती का चूर्ण बिखेर दिया हो ।"[3]

अलंकार-प्रधान कलात्मक शैली में हमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की प्रधानता मिलती है । इस शैली के कुछ उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किए जाते हैं ।

---

१. लन्दन पेरिस की सैर—वेणी शुक्ल, पृ० ४

२. मेरी अमरनाथ की यात्रा—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, सुधा, अक्तूबर १९२२, पृ० ३२७-२८

३. भारतवर्ष के कुछ दर्शनीय स्थान—चक्रधर 'हंस', पृ० १०

सोलन के पहाड़ों की यात्रा का भावात्मक आलंकारिक वर्णन करते हुए शिवनारायण टंडनजी ने लिखा है—

"पेड़ों की पत्तियाँ और फुनगियाँ कोमलता और हरियाली का खजाना छिटका रही हैं। तरह-तरह के फूल अपनी लाल, नीली, पीली और गुलाबी अदा किता से प्रकृति सौन्दर्य को वैसे ही लुभावना बना रहे हैं जैसे कि रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने हुए सौन्दर्य की प्रतिमाएँ सभा और सोसाइटियों की रंगत को बढ़ाया करती हैं। कलियाँ चटख-चटखकर खिल रही हैं, पानी की नन्हीं-नन्हीं बूंदें शबनम के मोतियों की तरह झलक रही हैं। मधु-मक्खियों और प्यासे भौरों की पंक्तियों-की-पंक्तियाँ उनका रस लेने में रुंधी-बिधी पड़ी हैं।"[१] उपर्युक्त उद्धरण में लेखक की दृष्टि अलंकारविधान पर अधिक टिकती दिखलाई देती है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपनी कैलाश-यात्रा में विशेष भावुकता का परिचय देते हैं। उनके मन का उल्लास, तन्मयता, विभोरता इस उद्धरण में दृष्टव्य है—

"घोर-घार वृक्ष, हरियाली से लदी हुई पहाड़ियाँ, स्थान-स्थान पर जल की कलकल ध्वनि, पशु-पक्षी सब प्रसन्न, वर्षा का अन्त—सचमुच मनुष्य को खुशी के मारे नशा-सा चढ़ जाता है। भला मैदान के रहनेवाले इस सुख को क्या जानें। लू में मरनेवाले, धूल फांकनेवाले, पसीने की बदबू में बसनेवाले इस मजे को अनुभव नहीं कर सकते। यह मज़ा सचमुच सबसे निराला है।"[२] कभी-कभी प्राकृतिक दृश्यावली का बहुत ही उदात्त रूप वर्णित करने के प्रयत्न में लेखक की शैली अत्यधिक आलंकारिक हो जाती है। देखिए, अपनी काश्मीर-यात्रा का वर्णन करते हुए पंडित देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'जी लिखते हैं—

"अपनी सरस सुषमा और देदीप्यमान आभा से विपिन मही को बहुगुणमयी बनानेवाली निराले फूलों की विविध दलवाली जड़ी-बूटियाँ शोभायमान हो रही थीं। कहीं-कहीं अचानक समतल जमीन सामने दृष्टिगोचर हो जाती। वह भी कमनीयता से निर्लिप्त न रहती बल्कि सघन तरु-पुंजों से युक्त रहती थी। प्रान्तर भाग में सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल महीरुहों से आक्रान्त हो अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही हैं।"[३] इस प्रकार की काव्यावली में कुछ कृत्रिमता की झलक दिखाई पड़ने लगती है। कृष्णवंशसिंह बाघेल ने अपने वर्णनों में एक मध्यम मार्ग ग्रहण किया है। स्वल्प आलंकारिकता के साथ सरल शैली में उनके वर्णन अत्यन्त रोचक लगते हैं—

"वसुन्धरा देवी चारों ओर लहलहाते धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर (किनारे) का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थीं। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रही थी।

---

१. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३१३
२. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १४२
३. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ४८

जहाँ पर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदी-सा पानी। माल भूमि के गाँवों का दृश्य भी चित्ताकर्षक था।"[1] पंडित सूर्यनारायण व्यास अपनी विदेश की कृत्रिम साधनों द्वारा की गई यात्रा में आस्ट्रेलिया के भावात्मक दृश्य को देखकर लिखते हैं—

"रात के बाद यूरोप का दूसरा स्वर्ण-विहान हुआ। अरुण की रक्तिमा नभ-मण्डल पर फैलने लगी। तारागण झिलमिल हो एक-एक कर विलीन होता जा रहा था। धीरे-धीरे प्रकाश फैला, रजत राका को विदा मिली। सुनहरे प्रातःकाल के दर्शन से मन के अरमानों का पुनः जागरण हुआ। अब रेल अपनी निरन्तर गति से भू-भाग को तय करती हुई प्रगति पथ पर अग्रसर होती जा रही थी। आस-पास के वृक्ष, लताओं की दौड़-धूप जारी थी। वे एक-दूसरे से होड़ लगा रहे थे। दोनों ओर खेतों की हरियाली, अंगूर की लताएँ, मनहर पर्वत-मालिकाएँ, वनराजी मन को बहुत आकर्षित कर रही थीं। अतृप्त नयनों से इस शोभा को निहारता हुआ रात की चिन्ता को भुलाता जा रहा था। ग्रामों के भवन रंग-बिरंगे किन्तु साथ ही अपनी अभिनवता लिये, सहज दृष्टि को आकर्षित किए बिना नहीं रहते थे। द्वारों पर, खेतों पर, भवनों की गैलरियाँ या वायु-वाहिनियों पर विविध रंगों के कुसुमों की लताएँ, गमले आदि योरोपीय ग्रामीणों की सुरुचि और कला-प्रवीणता का प्रदर्शन करते हुए हृदय पर एक हल्की-सी मोहक मुद्रा अंकित करते हैं, जाते थे।"[2] इसी प्रकार ठाकुर गदाधरसिंहजी राजतिलक संवाद का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"नवल वसंत के आगमन से जिस भाँति समस्त वृक्षावली नये-नये पत्र-पल्लवादि से हास्यमयी हो जाती है, नन्हीं-नन्हीं बेला, चमेली, नवेली आदि अपनी तनिक-तनिक-सी कलिकाओं को प्रातःकालीन मंद समीर के स्पर्श से जिस भाँति विकसित कर देती हैं, और कोकिल आदि पक्षियों को प्रलोभित करके तन्मय बना देती हैं, ठीक उसी भाँति विलायत में राजतिलकोत्सव के शुभ संवाद ने हम भारतवासियों को विकसित और प्रफुल्लित कर दिया।"[3] पं० मंगलदेव शर्मा ने अपनी जयपुर की यात्रा में पर्वत-प्रदेश के जल-कुण्डों की स्वर्णिम आभा प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। इस यात्रा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"मार्ग में ही सूर्य भगवान का मंदिर है। जलधारा मंदिर से आगे एक सुन्दर घाटी में नीचे उतरकर आती है। बड़ा ही मनोरम दृश्य है और प्रातःकाल तो जब सूर्यदेव अपनी सुकोमल सुनहली किरणों का प्रसार करते हुए घाटी के नीचे से दर्शन देते हैं तो समस्त पर्वत-प्रदेश, जलधारा और दोनों जलकुण्ड स्वर्णाभ हो उठते हैं। ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर नागफनी और विशाल प्रस्तर-खण्डों के बीच कलोलें करते हुए

---

१. काश्मीर और सीमा प्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाबेल, पृ० ३७
२. सागर-प्रवास—पंडित सूर्यनारायण व्यास, पृ० ६७
३. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ०२

लंगूर बड़े भले दिखाई देते है।"[1] केदारनाथ चट्टोपाध्याय ने 'कवीन्द्र' के साथ ईरान की यात्रा में एक भावात्मक एवं सुन्दर चित्र का दिग्दर्शन कराया है—

"बाग में चिनारों की छटी हुई डालों पर हरे-हरे नये पत्ते लहलहा रहे थे। नरगिस, गुले मुहम्मदी, वनफशा, अनारकली वगैरह के फूलों से क्यारियाँ और रविशें जगमगा रही थीं। हवा खूब ठण्डी थी, मगर सर्दी की अधिकता की तीक्ष्णता उसमें नहीं थी। बुलबुलों ने गज़लें अलापना शुरू कर दिया था। शहर के बाहर चारों तरफ पीले रंग के घास-पात से खाली नगे पहाड़ों की दीवारों से घिरे हुए सख्त खेत हैं, और दूरी पर पर्वत-दुहिता, दुख्तर जाम की सफेद चोटी हीरे-जैसे तुषार का किरीट पहने हुए धूप में चमचमा रही थी।"

० •

जो शीराज बुलबुल और गुलाब की लीलाभूमि था, जो शीराज साकी के प्यालों से ढुलकी हुई 'शीराजी' से सिंचा रहता था, जो शीराज गुलाब की सुगन्ध से सुरभित तथा सुरम्य महलों, मस्जिदों और कारवाँ सरायों से सज्जित था, जो शीराज सोने चाँदी, कालीन और लकड़ी की कारीगरी की भूमि था……।"[2] चट्टोपाध्यायजी इस यात्रा वर्णन में विदेशी काव्य द्वारा अधिक प्रभावित हैं, जिसकी छाप स्पष्ट ही है।

मसूरी शैल की सैर में वहाँ की नागिन-सी चक्करदार सड़कों एवं पर्वतमालाओं की हरित परिधानमयी लावण्यता का वर्णन करते हुए व्यासजी ने लिखा है—

"अब मसूरी के लिए हमारे मन में अनेक कल्पनाएँ उठ रही थीं। रास्ते की शोभा, पर्वत-पंक्तियों और नागिन की तरह बलखाती हुई मोटर रोड बड़ी मनमोहक मालूम हो रही थी। पाताललोक में हमारी कार ऊपर आसमान से स्पर्श करके बलखाती हुई चली जा रही थी। ज्यों-ज्यों ऊपर उठ रही थी, ऊपर की पर्वत-पंक्ति अपनी हरित परिधानमयी सुन्दरता से मन अनुरंजित कर रही थी। नीचे का दृश्य भी बड़ा सुहावना था।"[3] पर्वतीय दृश्यों को देखकर भावात्मक लेखक की तबियत मचल उठती है। इसी प्रकार का उदाहरण 'सुधांशु'जी की यात्रा में भी दृष्टव्य है। वाराह क्षेत्र की यात्रा में देखी गई सरिताओं का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"यहाँ की प्रातःकालीन शोभा बड़ी मनमोहक है। जहाँ तक दृष्टि पहुँच सकती है, सारी पहाड़ियाँ हरिद्वर्ण ही देख पड़ती हैं। कहीं-कहीं झरने पहाड़ के ऊपर से नीचे की ओर गिरते देख पड़ते हैं, और उस पर बाल-रवि की अरुण मंजुल किरणें सुन्दरता की पराकाष्ठा कर देती हैं। पहाड़ के नीचे की ओर प्रखर स्रोत-स्विनी कौशिका घोर गर्जन करती हुई उत्ताल तरंगों के साथ बहती है। समीप ही

---

१. जयपुर—पं० मंगलदेव शर्मा—चाद, जून १९३४

२. कवीन्द्र के साथ ईरान को—केदारनाथ चट्टोपाध्याय, विशाल भारत, सितम्बर १९३२, पृ० ५९९

३. मसूरी शैल की सैर—पं० सूर्यनारायण व्यास, सुधा, जुलाई १९३६, पृ० ५४१

कोका नदी की क्षुद्र, पर बलवती धारा चट्टानों से लड़ती-झगड़ती कौशिका का आलिंगन करती हैं। कौशिका भी उसका आलिंगन स्वीकार कर उसे सहर्ष हृदय से लगा लेती है।"[1] गिरीन्द्रनारायण सिंह ने शिमला के अंचल की यात्रा में वहाँ की प्राकृतिक छवि का अलंकारपूर्ण, भावात्मक वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णित किया है। इनके इस वर्णन में हमें कहीं-कहीं दार्शनिकता का पुट भी प्राप्त होता है। देखिए—

"इस प्रदेश का सौन्दर्य यहाँ की स्त्रियों के कपोलों या नेत्रों में रहकर अंचल की ओट में छिपा नहीं है। इस प्रदेश का सौन्दर्य इसकी प्राकृतिक छवि में ही समाहित है। प्रातःकाल ही जब सूर्योदय होता है, भगवान भास्कर की प्रथम किरणें तरु-शाखाओं और शैल-शिखरों पर लोटती हैं, तब उसका प्रथम दर्शन होता है। सन्ध्या समय जब भगवान भानु धीरे-धीरे उतरकर सुदूर पर्वतों के अंचल में अपना मुख छिपा लेते हैं, उस समय जो आकाश सुनहला-रुपहला रूप धारण करता है, दिशाएँ उस विराट सौन्दर्य से पुलकित होती हैं। पीछे से शैल-शिखरों से धूप लड़खड़ाती हुई भागने लगती है, उस समय जो अपूर्व दृश्य उपस्थित होता है, वह सचमुच नेत्रों में चकाचौंध डाल देता है। अंधकारमयी रजनी में, सुनसान विभावरी में जब ऊपर आकाश में असंख्य तारिकाएँ अपनी झिलमिल ज्योति से उसे आलोकित करने का प्रयत्न करती हैं, नीचे दूर-दूर के पहाड़ों पर चारों ओर कुटिया से, या शहरों से दीपशिखाओं की झिलमिल आभा जब प्रतिद्वन्द्विता पर उतारू होती है, उस वक्त वह दृश्य देखने लायक होता है। फिर जब ज्योत्सनामयी यामिनी में निशानाथ ऊपर हँसते हैं और उनकी हँसी नीचे विशाल वृक्षों की डाली-डाली में, पत्ते-पत्ते में, पत्थरों के छोटे-बड़े खण्डों में और झरनों के जलस्रोत में प्रतिध्वनित होती है, अंजलि भर-भर रजत-रश्मि रस चारों ओर बिखेरती है तो मनुष्य वह अकथ सौन्दर्य टकटकी बाँध कर न जाने कब तक देखा करता है। जब निशानाथ अपनी सुदूर यात्रा समाप्त कर मलिन मुख से पहाड़ों में लुकते-छिपते अपने इच्छित लोक की ओर प्रस्थान करते हैं, उस समय जो एक विचित्र सन्नाटा—एक अजब औदास्य चारों ओर फैल जाता है, वह अनुभव भी विचित्र ही होता है। फिर जब शरद ऋतु में शैल-शिखरों के कंठ में तुषारमाला पड़ती है और उसका दृश्य दूर-दूर से देख पड़ने लगता है या जब सारा-का-सारा प्रदेश हिमकण आच्छादित हो जाता है। वृक्ष, जल, थल और कण-कण में उसकी सत्ता विराजने लगती है, उसके विराट् सौन्दर्य का दर्शन होने लगता है, तब तो हृदय जिस अभिनव आनन्द से पुलकित हो उठता है उसका वर्णन भी असम्भव है। गर्मियों में जब वृक्षों के पत्ते झरने लगते हैं, डालियों में नव पुष्प-पल्लवों का कल कूजन होने लगता है, भीनी-भीनी सुगन्ध से दिशाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं, तन-मन में घोर क्रान्ति होने लगती है।"[2] गिरीन्द्रनारायणजी ने प्रकृति को बड़े ही काव्यात्मक

---

१. बाराह क्षेत्र की यात्रा—लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु', सुधा, मई १९२८, पृ० ४०४

२. शिमला के अंचल में—गिरीन्द्रनारायण सिंह, माधुरी, वर्ष ८, खण्ड २, सं० ३, पृ० ४७५

रूप में देखने का प्रयत्न किया है, इसमें वे सफल भी रहे हैं। साथ ही यह यात्रा-वर्णन लेखक की उदार दृष्टि का परिचायक भी है।

भावात्मक अलंकारों से पूर्ण निबन्धों में लेखकगण भावावेश में आकर अपनी भावनाओं का एक तूफान-सा खड़ा कर देते हैं। उनके हृदय में रस की एक धारा-सी उमड़ पड़ती है जो उनकी लेखनी से कागज पर ढल पड़ती है। रामेश्वरदयाल दुबे 'हिमालय के अन्तराल में' अपनी यात्रा का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"लारी हमें बहुत दूर ले जा चुकी थी। वह हरे-भरे खेतों और बेंत के वृक्षों के बीच में, पहाड़ी सड़क पर उछलती-कूदती-सी जा रही थी। आगे सड़क के किनारे हृदयहारिणी हरियाली से ललित-कलित अनार के मनोरम कुंज शीतल समीरण के मन्द-मन्द झोंकों में झूम रहे थे। हरियाली के बीच मौन मुसकान से मुखरित, कोमल कुसुम-कलियाँ किस रूप-राशि के अरुण अधरों को लज्जित न करती थीं! अस्ताचल पर उतरते हुए दिनकर की अन्तिम किरणों से आलोकित इन सजीव सुषमा के हरित कुंजों का दृश्य ही अनोखा और अद्भुत था। चीड़ के वृक्षों के नीचे खड़े होकर मैं जब कभी घाटी की ओर निहारता तो निहाल हो जाता। घाटी की दूसरी तरफ ढालों पर चीड़ का जंगल रिमझिम फुहार में झूम-झूमकर स्नान कर रहा था। बीच में कहीं पर दूध से भी अधिक सफेद झरने झर-झर कर रहे थे और ऊपर बादल की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ शून्याकाश में तैरती हुई, आकर वृक्षों की चोटियाँ चूम रही थीं। सामने विस्तृत काश्मीर घाटी थी, जिसके एक कोने में बादलों की द्वारपटी हटाकर प्रभाकर हँस रहा था, जिसकी सुनहरी दृष्टि का पवित्र प्रसाद पाकर बाईं ओर की हरी-भरी घाटी में प्रकृति नटी ने इन्द्रधनुषी चीर पहन लिया और उसके सरस अधरों पर मधुर मुसकान थिरकने लगी। प्रकृति नटी की इतनी सुन्दर शोभा आज तक न देखी थी और न फिर कभी देखने को ही मिली। दिवाकर की चंचल चपल किरणों ने हरित विटपावली का सोता हुआ सौन्दर्य जगा दिया था, और वारिदों के व्योम से उतरकर उसके पल्लव-दलों के किनारे निर्मल मोती लटकाकर उसे और भी सुन्दर बना दिया था। इस मनोहर दृश्य ने मानस में सदैव के लिए अपना स्थान बना लिया।"[१]

मेवाड़ प्रदेश की यात्रा में उदयपुर की सौन्दर्य-छटा का जो दिग्दर्शन केदार-नाथ चटर्जी ने किया है, वह अनूठा है। देखिए—

"उदयपुर की यह सौन्दर्य-छटा कल्पना के भी बाहर है। कलकत्ता की तरह वहाँ ट्राम, बस आदि सवारियों का सुभीता न था, रहने का भी आराम न था, मगर फिर भी धूसर पर्वतों से परिवेष्ठित हरी-भरी उपत्यकता के गले में स्वच्छ नील ह्रदों की माला, उनके तट के तोरणों, गुमटियों और छतरियों से सुशोभित संगमरमर के विशाल प्रासाद और वक्षःस्थल पर रत्नों की तरह उज्ज्वल जगविलास आदि मन्दिर

---

१. हिमालय के अन्तराल में—रामेश्वरदयाल दुबे, सुधा, अक्तूबर १९४०

प्रतिक्षण में धूप और छाया के परिवर्तन में उनका नवीन रूप, इन सब दृश्यों को देखते ही समस्त कष्ट सार्थक मालूम होते थे। दिल्ली के दीवान-ए-खास की तरह उदयपुर के लिए भी कहा जा सकता है—

अगर फिरदौस बर रूए जमीनस्त।
हमीनस्त-ओ, हमीनस्त-ओ हमीनस्त॥

अर्थात्—

अगर दुनियाँ में है जन्नत कहीं पर।
यहीं पर है, यहीं पर है, यहीं पर॥[1]

रायबहादुर हीरालाल श्रीनगर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"वर्तमान नगर का कलेवर नकशे का-सा जान पड़ता है, जिसमें ऊँचे-ऊँचे चिनार सफेदा के वृक्षों की कतारें, उद्यानों और क्रीड़ास्थलों की हरियाली, डल भील के पानी की भरमार, वितस्ता (झेलम) की सर्प-समान वक्रगति, उसके किनारे-किनारे गाँवों की हर्म्यविली, मन्दिरों की सुनहरी, रूपहरी झलमलाहट, महलों, बंगलों और बस्ती के मकानों की बाहुल्यता तथा चारों ओर बर्फ से ढँके पहाड़ों की मेखला पेक्षक को मुग्ध कर देती हैं। मुँह से केवल यही निकल पड़ता है, 'धन्य श्रीनगर'।" इसी दृश्य को देखकर कविवर श्रीधर पाठक का उद्गार यों निकल भागा—

धन्य नगर श्रीनगर वितस्ता कूलनि सोहै।
पुलिन मौन प्रतिबिम्ब सलिल शोभा मन मोहै॥[2]

पंडित पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा का वर्णन करते हुए पं० श्रीराम शर्माजी कल्पना के भावलोक में पहुँचकर मसूरी का वर्णन करने लगते हैं। उनकी रचना में अलंकारों की झड़ी लग जाती है—

"परेड से मसूरी का दृश्य क्या है मानों कविता-कामिनी काव्य-रचना के लिए प्रोत्साहन कर रही है। बिजली के झिलमिलाते बल्ब दीपावली की शोभा नहीं देते। वे तो मसूरी नगर की प्रेमिका की करधनी में जटित मणियाँ हैं। परेड से मसूरी स्वर्ग की परियों की क्रीड़ाभूमि है, हिमालय की छवि का एक काव्यमय दृश्य अथवा प्रकृति-सुन्दरी के मद-भरे रसीले नयन।"[3] भुमरा के प्रस्तर-खण्डों की यात्रा का वर्णन करते हुए लक्ष्मीकांत पाठक 'कान्त' ने लिखा है—

"मनोहारिणी वन्य-छटा का आनन्द लेते हुए हम लोग मन्दिर के निकट पहुँचे। शिवजी के उस मन्दिर के ध्वंसावशेष को प्रकृति-परी ने अपने अंचल में शरण दे रक्खा है। सुन्दर आम्रहरित तथा आमलक वृक्ष अब भी उसकी अतीत गौरव-गाथा कह रहे हैं।"[4] कान्तजी के इस वर्णन में पुरातत्व का प्राधान्य है।

---

१. मेवाड़-दर्शन—केदारनाथ चटर्जी—विशालभारत, अगस्त १९३०
२. श्रीनगर—रायबहादुर हीरालाल—सुधा, अगस्त १९३१
३. पं० पद्मसिंह शर्मा के गाँव की यात्रा—पं० श्रीराम शर्मा, सुधा, जनवरी १९३४
४. भुमरा के प्रस्तर-खंडों में—लक्ष्मीकान्त पाठक, सरस्वती, अक्तूबर १९४२

सन्तरामजी शिमला-शैल की पैदल-यात्रा का वर्णन करते हुए मीलों बिखरे रेत के मैदान का दृश्य भी उपस्थित करते हैं—

"नीचे भूमि पर पहाड़ी रेत की मीलों तक फैली हुई स्वच्छ चादर और ऊपर काँस के श्वेत फूलों का लहराता हुआ वन, शरद की चाँदनी रात में ऐसा प्रतीत होता है मानों क्षीर-सागर उमड़ रहा हो। गाँव के चारों ओर हरियाली है। धूलि का नाम तक नहीं। पावस में नहाई-धोई पहाड़ियाँ बड़ी सुन्दर दीखती हैं।"[१]

कार्तिकप्रसादजी खत्री अपनी काश्मीर-यात्रा में वहाँ के पर्वतों और सरिताओं का शब्दालंकारयुक्त माधुर्यपूर्ण वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"श्री कामाक्षा तीर्थ और आसाम देश के दुर्गम दुरारोह उत्तुंग भूधर शृंग और गहन वन, सरस, सरसी निर्झर-निर्झरी, विविध कुसुम भरी दरी आदि चित्त चमत्कारी मनोहारी अद्भुत अलौकिक, अकथनीय प्राकृतिक शोभामयी विधाता की कौशलपूर्ण लीलाभूमि को निहार, चकित चित्त उन स्थानों में ऐसा लुब्ध हो गया था कि वहाँ से उतर आने पर भी हृदय-पट पर खचित व चमत्कारिक चित्र आठों पहर मेरे नयनों के आगे झूला ही करता और मन-पखेरू वैसे ही अटवी में विचरने को उत्कंठित रहा करता।"[२] अपनी शिकारी यात्रा का वर्णन करते हुए पं० श्रीराम शर्माजी प्राकृतिक दृश्यावली का भी वर्णन करते हैं—

"एक मील तक हमारा मार्ग नदी के किनारे-किनारे था। भागीरथी की सहायक भिलगना धनुपाकार में उछलती-कूदती, अपने सहवासी शैल-शिखरों, द्रुमदलों और अलि-चुम्बित पुष्पों को अंतिम प्रणाम और कदाचित हमारा तिरस्कार करती हुई अपने प्यारे से मिलने के लिए दौड़ी जा रही थी। यों तो प्राकृतिक दृश्य नयनाभिराम था।"[३] माझुली की यात्रा में वहाँ सौन्दर्यपूर्ण वातावरण को देखकर अज्ञेयजी लिखते हैं—

"नागकेसर के फूल तब पूर्ण विकसित हो चुके थे, पंखुड़ियाँ झरने लगी थीं और केसर की मादक गंध छोटी पहाड़ियों और उपत्यकाओं को लाँघती हुई शून्य में फैल रही थी। तीसरे पहर बड़े-बड़े शुभ्र बादल उठते थे और बच्चों की तरह नाना प्रकार के जन्तुओं का रूप धारने की क्रीड़ा करते हुए आकाश के प्रांगण के पार निकल जाते थे। मंदिर श्रेणी के नीचे बिछे हुए सरोवर का नीला विक्षुब्ध हो उठता था और मानों उसे परचाने के लिए किनारे के अशोक वृक्ष के दो-चार खिले फूल झरकर उस पर आ गिरते थे······।"[४] बिलीसी के सांस्कृतिक स्थान का वर्णन करते हुए यशपालजी ने लिखा है—

---

१. शिमला-शैल की पैदल यात्रा—संतराम—सरस्वती, जुलाई १९४२
२. काश्मीर यात्रा—कार्तिकप्रसाद खत्री—हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह, पृ० ४२
संग्रहकर्ता—चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा, चतुर्थ संस्करण सन् १९१८ ई०
३. शिकार—पं० श्रीराम शर्मा, पृ० ६४
४. अरे यायावर रहेगा याद—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', पृ० १९३

"यों तो प्रकृति ने ही स्थान को रमणीक बनाया है, उस पर मनुष्य के लिए सम्भव सभी उपायों का उपयोग भी हुआ है। खूब प्रशस्त कुंज और क्यारियाँ, सदाबहार पेड़-पौदों से भरी हुई हैं और स्थान-स्थान पर फव्वारे। स्टेशन के सामने स्तालिन की एक विशालकाय मूर्ति भी बनी हुई है। उद्यान के घास के बड़े-बड़े मैदान हैं जहाँ फुटबाल इत्यादि खेला जा सकता है...बाग के समतल ही आस-पास फैली हुई नीलंग्र पहाड़ियों पर जमी हुई बरफ भी ऐसी ही मालूम होती है कि श्वेत स्फटिक के दर्पण बाग की शोभा उभारने के लिए जमा दिए गए हों। बाग, बनस्पति और हिम के मेल से बनाया गया जान पड़ता है। नगर से ढाई हजार फुट ऊँचे उठ जाने की बात भी नहीं भूलती क्योंकि बिलीसी नीचे कालीन की तरह बिछा दिखाई देता रहता है। यही अनुभूति होती है कि स्वर्ग की ओर—अलौकिक स्थान की ओर उठ आए हों, वही अलौकिक स्थान कोहफाक की परियों का देश जिसकी दंतकथाएँ संसार-भर में प्रसिद्ध हैं और जो पच्चीस वर्ष पूर्व मनुष्य के चरणों के लिए दुर्गम और कल्पना से ही प्राप्य था, आज सचमुच बिलीसी के सर्वसाधारण के लिए क्रीड़ा-स्थल बन गया है।"[1] यशपालजी की विदेश यात्रा का यह वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

संक्षेपतः भाव-प्रधान तथा आलंकारिक शैली के लेखकों की कृतियाँ अत्यन्त हृदयस्पर्शी तथा मनोरम हैं। प्रधानतया इन लेखकों में एक तन्मयता, उल्लास, मस्ती का वातावरण दृष्टिगत होता है। इन्होंने प्रकृति को अपनी पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है और उसके नाना रूपों का बहुमुखी अंकन प्रस्तुत किया है। इन चित्रों में लेखकों की सूक्ष्मदर्शिता लक्षित होती है।

आलंकारिकतापूर्ण शैली में यद्यपि कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कृत्रिमता भी दृष्टिगत होती है, तथापि भावोल्लास को व्यक्त करने के लिए आलंकारिकता, कवित्वमयता में सहायक होती है। वास्तव में भावुकता को चरितार्थ करने में ही यह शैली सहायक होती है।

स्वदेश यात्राओं के उदाहरण ऐसे लेखकों ने विशेष सुन्दर तथा मार्मिक चित्रित किए हैं, विदेश यात्रा के दृश्य कुछ कृत्रिम-से लगते हैं।

सामूहिक रूप से देखने पर ऐसा लगता है कि इस शैली के लेखक और उनकी कृतियाँ प्रचुर हैं—इनमें मनोरमता तथा सौन्दर्य-भावना भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती है।

३. **वातावरण-प्रधान**—वातावरण-प्रधान यात्रा-साहित्य के निबन्धों में लेखक अपने यात्रा-वर्णन में भावों एवं विचारों को अधिक महत्व न देकर वातावरण-चित्रण को प्रधानता देता है। इस प्रकार के निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः निकलते हैं। इन निबन्धों की विशेषता यही है कि भावुक लेखक अपने वर्णनों के

---

१. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० २५४

बीच-बीच अनुभूति से विभोर होकर अनेक प्रकार के प्रभावशाली दृश्यों का तन्मयतापूर्ण अंकन करने लगता है। ऋतु-वर्णन, पृष्ठभूमि निर्माण, प्रातः, सायं, गोधूलि, रात्रि आदि दृश्यों के मार्मिक चित्र, करुण, कोमल, शृंगारयुक्त, भयंकर, आतंकपूर्ण वातावरण का निर्माण अधिकतर इन लेखकों द्वारा किया गया है। इन लेखकों की शैली सरल, सुबोध, निराडम्बर ही विशेषतः पाई जाती है, यद्यपि कई लेखकों ने आलंकारिक, रूपकमय चित्र भी उपस्थित किए हैं।

कुछ उदाहरण यहाँ पर उपस्थित किए जाते हैं—बागेश्वर में सरयू नदी के दर्शन करके स्वामी सत्यदेवजी भक्ति-भावना से प्रेरित एक दृश्य की अवतारणा करते हैं—

"अहा! क्या सुन्दर दृश्य है? सरयू के किनारे पश्चिम की ओर पीठ कर खड़े होने से सामने निकट चण्डी पर्वत के दर्शन होते हैं। उसके ऊपर चण्डी महारानी का मन्दिर है। पीछे पश्चिम में नील पर्वत अपनी छटा दिखलाता है। इस पर भगवान् नीलेश्वर विराजमान हैं। पूर्व से भागीरथी की धारा आकर सरयूजी का चरण छूती है। भागीरथी और सरयू मिलकर जहाँ गोमती से भेंट करती हैं वहाँ संगम पर बाघनाथजी का प्राचीन मन्दिर है।"[1]

पंडित देवीदत्त शास्त्री अपनी काश्मीर यात्रा के प्राकृतिक दृश्य के आलंकारिक शैली में अभिव्यक्त वातावरण को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

"पक्षीगण तो तरुवर-शिखरों की ऊँची-से-ऊँची डालियों पर बैठे चहक-चहक कर मधुर गीत सुना रहे थे। बेल और लताएँ अपने चिर प्रेमी तरुवरों पर लिपटी हुई प्रेमालिंगन का स्वर्गीय आनन्द ले रही थीं। लता-विपटों के इस लोल-कल्लोल, हाव-भाव और मूक-हास्य को देखकर नीरस हृदय में भी स्निग्ध, सात्विक स्नेह की अनुभूति का उदय हो जाता था। फल-पुष्प से लदी हुई, उत्तुङ्ग वृक्षों की शाखाएँ निर्घोषयुक्त प्रवहणशीला चिनाब निमग्नणा में झूम-झूमकर उठती और झुकती थीं।"[2]

ठाकुर गदाधरसिंहजी ने अपने ग्रन्थ 'चीन में तेरह मास' में पैकिंग पर चढ़ाई के समय का वातावरण भी इसी प्रकार आलंकारिक शैली में वर्णित किया है। देखिये—

"पीकिन चतुर्वेष्टन से मानो अग्निवृष्टि का मेघमण्डल-सा उमड़ पड़ा। धुआँ के बादलों से सचमुच सूर्य भगवान बिलकुल मन्द पड़ गए। तोपों के गर्जन, रूसी संगीनों की चमकदार बिज्जु-छटा, धूम्रमय घनघोर घटा और अविराम अग्निवर्षा को देखकर इन्द्र महाराज का पावस भी बंगलें झाँकता ही रह गया।[3]

---

१. मेरी कैलाश यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १६
२. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ४०-४१
३. चीन में १३ मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ७५

इसी प्रकार स्वदेश यात्रा में संतरामजी ने काश्मीर के वातावरण-प्रधान वर्णन में लिखा है—

"यदि इसी जन्म में स्वर्ग देखना हो तो काश्मीर जाइये। अपनी मनोहर दृश्यावली और नैसर्गिक विभूति के कारण काश्मीर एक आश्चर्य भूमि है। हिम से सदा ढँके रहनेवाले गिरिश्रृंग, चीड़ और देवदार के घने जंगलों से हरी-भरी पर्वत-मालाएँ, दिगन्तव्यापी श्यामल वनराज, मखमल के समान कोमल लम्बी घास की विस्तीर्ण चरागाहें, नृत्य करते हुए झरने, गाती हुई सरिताए, मीठे जल के सरोवर, साँप के सदृश बलखाते हुए नाले, गगनचुम्बी सफेदे के पेड़ों की पंक्ति-बद्ध सुन्दर सड़कें, स्वादिष्ट फलों और मनोहर पुष्पों की रम्य वाटिकाएँ—इन सब चीजों का अपूर्व संग्रह जैसा काश्मीर में मिलता है, वैसा संसार में किसी भी दूसरी जगह नहीं मिलता।"[1]

प्रभातकालीन वातावरण का वर्णन करते हुए कृष्णवंशसिंह बाघेल ने लिखा है—

प्रभातकालीन दृश्य स्वर्गमय था। पहलगाँव के चारों ओर के हिमाच्छन्न शिखर भगवान भुवन-भास्कर की किरणों से सुनहला वेष धारण कर रहे थे। पत्थरों को बहाती तीव्रगामिनी 'लम्बोदरी' नदी के दर्पणवत् स्वच्छ सलिल पर सूर्य-रश्मियाँ खेल रही थी। वही प्रखर कर्क के सूर्य यहाँ कोमल किरणों से काम ले रहे थे। वह धूल और दुर्गन्ध आदि से रहित पवित्र पवन, वह हरे-भरे वृक्ष, सम्पूर्ण संसार सुनहली रश्मियों से चमाचम हो रहा था।"[2]

"पं० सूर्यनारायण व्यास द्वारा अपनी जलयात्रा में सन्ध्या के एक सुन्दर वातावरण का दृश्य उपस्थित करते हुए, रूपकात्मक आलंकारिक शैली में वातावरण की सृष्टि की गई है—

"शाम हुई, भगवान भुवन-भास्कर अस्त होने चले। सागर की निर्मल लहरों पर एक अजीब दृश्य बन रहा था। कहीं-कहीं से अभ्राच्छादित आकाश में रक्तिम किरणें दूर जल-तल पर चित्रकारी कर रही थीं, तो कहीं से लहर उछल-उछलकर रंग-बिरंगी धाराएँ बनाकर प्रकृति की अपूर्व चित्रकारी बना देती थीं। अब रात का अँधेरा दूर से घुँघराली चादर-तरंगों को ओढ़ता हुआ चला जा रहा था। तारों की शोभा इस रजनी की साड़ी पर अजीब थी। लोल लहरों पर मानों सितारे जड़ी साड़ी हवा से उड़कर बार-बार चमक रही है। सागर ने रत्नमय अम्बर परिधान किया था।"[3]

---

१. स्वदेश-विदेश यात्रा—संतराम, पृ० १
२. काश्मीर और सीमाप्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १४
३. सागर-प्रवास—पं० सूर्यानाराय व्यास, पृ० १३

सांध्यकालीन नवीन वेला के आगमन की अपूर्व शोभा का वर्णन करते हुए ठा० गदाधरसिंहजी ने भी उत्सव-सम्बन्धी वातावरण को सजीवता के साथ अंकित किया है—

"अब संध्या हुई। दीपावलि के चमत्कार ने सूर्यलोक को भी एक बार मात कर दिया। इस समय मकानों, द्वार-दीवारों, जनपथों के वन्दनवारों और महराबों की अपूर्व शोभा थी। दिन में जो वेल-बूटे मणि-माणिक्य के फूल-से लटकते हुए दीख पड़ते थे, रात्रि में वह सब प्रकाशित होकर चारों ओर किरणें विखेरने लगे। ठौर-ठौर पर प्रकाशित शुभ सम्वाद राजा-प्रजा दोनों के लिए कल्याणवाद आदि की शब्दावली दर्शक के हृदय को अलग ही खींचे लेती थी।"[1]

पंजाव-यात्रा में पं० रामशंकर व्यास ने पर्वतीय प्रदेश के प्राकृतिक दृश्य का सुन्दर वातावरण उपस्थित करते हुए लिखा है—

"निशामुख में पर्वत के ऊँचे-ऊँचे शिखरों के बीच से चन्द्रमा का उदय मनोहर था, पूर्णोदय होते-होते कई कलाएँ दिखलाई दीं। उस समय आकाश स्वच्छ था। पर्वत नीलवर्ण हो रहा था। उसमें से चन्द्रमा का नखरे के साथ मुँह निकालना चित्त को लुभाता था। चन्द्रमा के ऊँचे होने पर प्रतिविंवित जल-तरंगें कांचन-द्युति धारण करती थीं। गंगाजी की तीव्र धाराएँ चाँदनी की चादर ओढ़े हुए मन को डिगा रही थीं। ज्यों-ज्यों चाँदनी चढ़ती, त्यों-त्यों गंगाजी की शोभा बढ़ती और पहाड़ की छवि दूनी होती जाती थी।"[2]

अपनी लद्दाख यात्रा में राहुलजी वहाँ के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

"चारों तरफ घेरे हुए पहाड़—जिनके पीछे की ओर हिमाच्छादित शिखरवाले पर्वत हैं—बीच में जगह-जगह लम्बे-लम्बे जलाशय, सर्प की भाँति कुटिल गति की जेहलम, दूर तक, शहर के बाहर भी, सेव, बादाम आदि के वागों में बने हुए छोटे-छोटे सुन्दर बंगले, हरी घासों से ढँके लम्बे-लम्बे क्रीड़ा-क्षेत्र, सुन्दर चिनार वृक्षों की मधुर शीतल छाया के अन्दर हरी घास के मखमली फर्शोंवाली सुभूमियाँ देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती हैं।[3]"

शिमला का वर्णन करते हुए गिरीन्द्रनारायणसिंहजी ने निम्नलिखित वातावरण-चित्रण में अपनी भावना (Mood) को अंकित करने का सफल प्रयास किया है—

"दिनमणि जब सुदूर पर्वतों में लय होने लगते हैं, उस समय जो एक औदास्य का अनुभव होता है, सुनहले-रुपहले वस्त्राभूषणों से आकाश अपना श्रृंगार करता है

---

१. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० २३५
२. पंजाव यात्रा—पं० रामशंकर व्यास, पृ० ७
३. मेरी लद्दाख यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५३

पर्वतों की चोटियों से, किरण लपटती-झपटती भागने लगती है—वह दृश्य, वह छटा, वह छवि गज़ब की होती है। फिर कृष्णपक्ष की अँधेरी रात में जब आकाश में असंख्य तारकपुंज अपना झिलमिल प्रकाश करते हैं और शिमला स्टेशन से शहर भर की अबोध पर्वतमाला के जर्रे-जर्रे से फूटकर निकलती हुई बिजली-वृत्तियों का, उज्ज्वल दीपशिखा का मनोमुग्धकरी दृश्य, उनका उपहास-सा करता हुआ देख पड़ता है—तब तो दर्शक उसकी गज़ब की चकाचौंध को न जाने कब तक प्यासी आँखों से देखता रह जाता है।"[1]

इसी प्रकार सान्ध्य-काल का वर्णन करते हुए राजेश्वरप्रसादजी ने भी विषादमय तथा आतंकपूर्ण वातावरण का चित्र उपस्थित किया है—

हम लोग पंचतरनी उस वक्त लौटे थे, जब सन्ध्या होने जा रही थी—

"धूसर सन्ध्या चली आ रही थी अधिकार जमाने को।
अंधकार अवसाद कालिमा लिए रहा बरसाने को॥

अहा, उस समय की वह प्राकृतिक छटा हमें कभी न भूलेगी, जो कुछ काल बाद पहाड़ की चोटियों पर नज़र आई! नौ बज चुका था। निविड़ अंधकार का साम्राज्य था, पर्वत प्रेतों की तरह खड़े थे, मौन अस्पष्ट; पर उनके शिखर पर अब भी प्रकाश छाया हुआ था, ज्योति विद्यमान थी, मानों किसीने आग जलाई हो।"[2]

गर्मी का वातावरण अंकित करते हुए पृथ्वीपालसिंहजी लिखते हैं—

जून का महीना था। कड़ाके की गर्मी पड़ रही थी। पंखा हाँकनेवाले के हाथ की नसें ढीली पड़ गईं, खस की टट्टी छिड़कनेवाले के सारे करम हो गए, मनों बरफ गल गई, अनेकों शरबत-सोडे की बोतलें ढरक गईं, परन्तु बेकली न मिटी। ऐसी गज़ब की गरमी मेरे होश में तो कभी पड़ी न थी। दिन में भयंकर लू चलती थी। याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं—लू नहीं बहती थी, आग बरसती थी। लोग राह चलते झुलस जाते थे, रेलगाड़ियों में से भुने हुए कबाब की तरह निकाले जाते थे। पानी का एक छींटा भी न पड़ा था। भुवन-भास्कर बड़ी शान से तप रहे थे, यह उन्हीं की सारी कृपा थी, उन्हींकी करतूत थी। मैं तो इस गर्मी से व्याकुल हो उठा। अपनी जान लेकर भाग खड़ा हुआ। मेरे बड़े भाई ने मेरा साथ दिया। हम दोनों मसूरी-यात्रा के लिए निकल पड़े।"[3]

भेड़ाघाट के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर कोई भी भावुक रह भी कैसे सकता है। यही बात नर्मदाप्रसाद खरे के साथ भी घटित हुई और उस घाट के सुन्दर वातावरण का अवलोकन कर उन्हें लिखना ही पड़ा। देखिए—

---

१. शिमला के अंचल में—गिरीन्द्रनारायणसिंह, माधुरी वर्ष ८, खंड २, सं० ४, पृ० ४८५
२. मेरी अमरनाथ की यात्रा—राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, सुधा, अक्तूबर १९३२, पृ० ३२७
३. मेरी शैल यात्रा—पृथ्वीसिंह, बी० ए० एल-एल० बी०, सुधा, नवम्बर १९३२ ई०, पृ० ४६९

"आँखें यहाँ थकती नहीं। शरदकाल की चन्द्रज्योत्सनामयी रजनी थी। इसकी रम्यता और भव्यता और भी निखर पड़ी थी। प्रपात का कलकल निनाद वशीकरण का काम कर रहा था। काली चट्टानों के मध्य में नर्मदा का शुभ्र सलिल ऐसा दृष्टि-गोचर होता था जैसे काले घुँघराले केशों के बीच किसी तरुणी का चन्द्रानन। कल-कल ध्वनिमय प्रकृति संगीत विरही की वीणा के से गान सुना रहा था।"[1]

काश्मीर-यात्रा का वर्णन करते हुए वहाँ के नैसर्गिक दृश्यों से पूर्ण वातावरण का एक दृश्य-विधान श्री गोपाल नेवटियाजी ने अत्यन्त सरल तथा सीधी भाषा में प्रस्तुत किया है, यद्यपि वातावरण सृष्टि में उससे कोई बाधा नहीं पड़ती। वे लिखते हैं—"यह रमणीक उद्यान अपने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों के कारण और भी चित्ताकर्षक हो गया है। उद्यान के पीछे की ओर महादेव गिरि के उच्च शिखर हैं। सामने डल झील के विशाल पाट में उसके उस ओर खड़ी पीर पंजाल श्रेणी की हिम-मंडित गिरिमाल झाँक रही है।...उद्यान की उस बारहदरी में बैठकर उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्प-राशि पर और महादेव गिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमल वन पर, खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनन्द है, कितना आकर्षण है!"[2]

अज्ञेयजी अपनी यात्रा में जंगलों के वातावरण को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"जंगलों के बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिसमें महाकाय सेमल के धवल गात पेड़ मानों आगामिष्यत् रक्त-प्रसूनों की सुलगाती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे, और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट। कुछ ही दिन में इनमें आग खिल जायगी, पहाड़ियों के पार्श्व को चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रुख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जायगी, आर ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ नील गात, मानों वसन्त-श्री के लाल चुम्बनों से मुद्रांकित हो उठेगा।"[3]

उक्त उद्धरणों से भी यह स्पष्ट है कि प्रकृति के मुक्त रूप से प्रभावित हो कर ही यात्रियों ने वातावरण-प्रधान दृश्यों की रचना की है। भारतीय चित्रों में काश्मीर के ऊपर अधिक वर्णन मिलते हैं, यद्यपि अन्य दृश्यों के चित्र थी बड़ी सफलता के साथ उपस्थित किये गए हैं, पर्वतीय प्रदेश, भेड़ाघाट, मसूरी, तिब्बत आदि की निरावृत्त प्रकृति पर लेखकों की दृष्टि रही है।

वातावरण-प्रधान रचनाओं में काव्य-तत्व की प्रधानता है यह स्पष्ट ही है, अतएव ऐसी रचनाओं में वही लेखक अधिक सफल हुए हैं जो कवि-हृदय हों।

---

१. भेड़ाघाट की गोद में—नर्मदाप्रसाद खरे, सरस्वती, सितम्बर १९३२, पृ० ३२३
२. काश्मीर—श्री गोपाल नेवटिया, पृ० ५६
३. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० ११

दार्शनिक निबन्ध

दार्शनिक निबन्धों की हिन्दी यात्रा-साहित्य में प्रचुरता नहीं है। वास्तव में यात्रा-साहित्य की वर्णनात्मक प्रवृत्ति में पूर्णतया दार्शनिक शैली का उपयोग संभव भी नहीं है। यात्रा के वातावरण अथवा व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुसार निवन्धकार अपने निबन्धों में दार्शनिकता का समावेश करता है, यह नियोजन वर्णन-धारा के बीच-बीच में आवश्यकतानुसार होता चलता है। इसके अतिरिक्त लेखक की विद्वत्ता का प्रभाव भी उसकी कृतियों पर पड़ता हुआ दृष्टिगत होता है। दर्शन का विद्वान् लेखक स्वभावतः विशेष गम्भीर दार्शनिक व्याख्याएँ करता चलता है।

'सोलन के पहाड़ों में' यात्रा करते हुए वहाँ के दृश्यविधान के योग से उत्पन्न दार्शनिक भावों का गंभीर वर्णन करते हुए शिवनारायण टंडनजी लिखते हैं—

"इस बाह्य क्षेत्र दर्शन के योग से हमारे हृदय में निवास करनेवाले विश्व-ब्रह्माण्ड पुरस्थित पुरुषोत्तम के दर्शन होना दुर्लभ है। भागवतगीता में इस देह को नवद्वारपुर कहते हैं। श्रुति में भी देह के लिए पुर की संज्ञा है। परमात्मा का इस देह में अधिष्ठान होने के कारण उसे पुरिशय पुरुष कहते हैं। भागवत में पुरंजय की कथा में रूप को देह परस्थित आत्मा का तत्व कहा है। भगवान् इस देह को क्षेत्र कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(भागवतगीता, अध्याय १३, श्लोक १-२)

यह देह नवद्वार मुक्त है। इससे बाहर निकलने पर हमारा ज्ञान और चैतन्य बहिर्मुखी होता है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दो मार्ग से चित्त बाहर जाकर बाह्य विषय ग्रहण करता है। उसे यदि पुनः अन्तर्निविष्ट न किया जाय तो अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त नहीं हो सकती, और देह पुरस्थित परमात्मा के दर्शन भी दुर्लभ ही समझना चाहिए।"[1] स्पष्ट है कि लेखक ने केवल बाह्य दृश्य का सूत्र पकड़कर गीता के आधार पर जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। अपनी काश्मीर यात्रा का साहित्यिक एवं दार्शनिक भावधारा के साथ वर्णन करते हुए 'विरक्त'जी लिखते हैं—

"काश्मीर केशर के साथ-साथ कविता की भी जन्मभूमि है। जिस प्रकार यह व्याकरण और दर्शनशास्त्र का क्रीड़ास्थल है, उसी प्रकार काव्य-कला का भी ललित लीलागार है। विद्वान कवियों ने अपनी प्रिय वसुन्धरा को चित्र-विचित्र रंगों

---

१. सोलन के पहाड़ में—शिवनारायण टंडन—वीणा, फरवरी १९३८, पृ० ३३०

से, सुन्दर नदियों से, फूल-भार से विनम्र अनेक तरुवरों से, सुगन्धमय कुसुमों तथा अन्य रमणीय पदार्थों से जिस प्रकार सुशोभित किया है वैसा कदाचित स्वयं प्रकृति-देवी ने भी किया है। महाकाव्य एक फव्वारा है, जिससे विज्ञान और आनन्द के जल-बिन्दु सदा झरते रहते हैं। काव्य-रस अधिक मधुर है अथवा सुधारस—इसका विवेचन गम्भीर है। सुखी मनुष्यों का जो समय अत्यन्त सुख से बीता है, काव्य उसका एक स्मारक लेख है, अथवा अविद्यामय लोक का आलोक है। वह इस जगत को अजर अमर बना देता है।"[1] लेखक ने उक्त उद्धरण में काव्यमय दार्शनिकर्ता का सहारा लेकर उसे आलंकारिक शैली में रूपक के आधार पर व्यक्त किया है।

श्री गोपाल नेवटिया काश्मीर की प्रकृति में दार्शनिक भावों का रूप देखकर लिखते हैं—

"काश्मीर का कलेवर प्रकृति के निरुपम सौन्दर्य से अलंकृत है। उस अज्ञात विश्व-सृष्टा की कमनीय कृति नदी, नाले, गिरि, शिखर और गहन वन के स्वरूप में वहाँ विद्यमान हैं। वह सौन्दर्य तो अद्‌भुत है, वर्णनातीत है। उस प्रकृति-निर्माता कलाकार ने जहाँ हरे-भरे वन, हिम-मंडित पर्वतमाला और विस्तृत जलराशि से पृथ्वी को अलंकृत किया है, वहीं उसी सौन्दर्य के बीच उपवन का निर्माण करके मनुष्य ने भी अपनी कला का परिचय दिया है।[2] उक्त उद्धरण में लेखक का प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है। उसकी रसात्मक दार्श-निकता के दर्शन भी इसमें होते हैं।

ठाकुर गदाधरसिंहजी अपनी एडवर्डड-तिलक (विलायत) यात्रा का वर्णन दार्शनिक भाव-भंगिमा द्वारा प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं—

"हमने अपने देश में खड्‌गपाणि, दुर्ग-विदारिणी मातेश्वरी दुर्गा का दर्शन करके मन को एक ही समय अनेक रूपों से आप्लावित मानों त्रिवेणी मज्जन कराया है। जब व्यक्ति या जाति की सरल प्रकृति रूपी देवी विराट् पराक्रम रूपी सिंह पर आरोहण हेतु प्रचंड रूप दर्शन देती थी, तब मन में कितने ही रसों का आविर्भाव होता और निस्तेज व्यक्ति भी कर्मवान् हो जाता था। इसी भाँति विद्या और ज्ञान-विज्ञान रूपिणी सरस्वती बुद्धि और विवेक द्वारा नीर-क्षीर विलगकारी हंस पर सवार होकर अपनी सौम्य, शान्त और जनमन मोदकारी रूप का दर्शन देती थी। तब हृदय और मन ज्ञान के प्रकाश से आलोकमय हो जाता और समस्त संसार हाँ, सृष्टि और सृष्टा दोनों ही हस्तामलक हो जाते थे।"[3] भारतीय संस्कृति पर

---

१. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० १२३-२४
२. काश्मीर—श्रीगोपाल नेवटिया, पृ० ५०
३. हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ६५

आधारित भक्त्यात्मक दृष्टि उक्त उद्धरण में स्पष्ट है। अपनी यात्रा से लौटते समय की दार्शनिक भावधारा का वर्णन करते हुए अज्ञेयजी ने लिखा है—

"बड़े-बड़े श्वेत हरित पत्थर वैसे ही दूध और जहरमुहरे के घोल-सा पानी, फेन के आवर्त और वन सरस्वती का अप्रतिहत संगीत। घण्टे-भर बाद जब वहाँ से चलने को उठे, तब मैं बार-बार लौट-लौटकर देखता रहा। स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस में बस गया था, और मैं मानों मुड़-मुड़कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊँगा···वह 'फिर आना' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं, किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। 'फिर आना' वास्तव में कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता। प्रत्येक आना नया होता है, घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं···अनुभूति की आवृत्ति पुनरनुभूति केवल स्मरण में है···।"[१] शून्यवाद की-सी विषादमयी दार्शनिकता का आभास हमें अज्ञेयजी की उक्त वाक्यावली में मिलता है।

प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार की बरमा-यात्रा का एक उद्धरण हम यहाँ देते हैं—

"प्रशान्त सागर पर जहाज ऐसा तैरता है, जैसे तालाब में बत्तख। बिना पंख फड़फड़ाए सरोवर में जिस प्रकार बत्तख आगे चली जाती है, ठीक उसी प्रकार हमारा जहाज समुद्र की छाती पर मानों उड़ता-सा चला जा रहा था। समुद्र को इस प्रकार हारा हुआ देखकर मेरे पास बैठा हुआ एक यात्री चिल्ला उठा—देखो मनुष्य की शक्ति! जहाज क्या जा रहा है मानों मनुष्य प्रकृति को पछाड़ रहा है। मैंने कहा—नहीं प्रकृति चुप बैठी हुई मनुष्य को अपना लाड़ला पुत्र समझकर उसे इस प्रकार चले जाने की इजाजत दे रही है।"[२] लेखक ने प्रकृति में मातृभाव का आरोप करके अपनी सहृदय दार्शनिकता का परिचय दिया है।

संक्षेपतः यह कह सकते हैं दार्शनिक तत्व-प्रधान निबन्धों में भावुकता की ही प्रधानता है। विभिन्न दृश्यों को देखकर सहृदय, गंभीर लेखक अपने भावों का आरोप उन दृश्यों पर करता है। ये आरोप लेखक की वृत्ति के अनुसार परिवर्तनशील होते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों को देखकर उक्त वृत्तियाँ स्पष्ट हो जाएँगी। इस दार्शनिक शैली के प्रयोग से यात्रा-साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में सांस्कृतिक आधार की पुष्टि होती है और उनकी भारतीयता स्पष्ट होती है।

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० १०१

२. बरमा की यात्रा—प्रो० सत्यव्रत विद्यालंकार, माधुरी विशेषांक, अगस्त-सितम्बर १९२८, पृ० २८५

पत्र-शैली

यात्रा-साहित्य में पत्र-शैली का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। पत्र-लेखन भी अन्य शैलियों के समान आत्माभिव्यक्ति का साधन है, किन्तु विवरणात्मकता, कथा-शैली, उपन्यास आदि से पत्र-शैली में विशेषता है—इसमें वैयक्तिकता तथा आत्मीयता का प्रतिफलन विशेष दृष्टिगत होता है। दूसरे, लेखक को थोड़े में अपनी बात कहनी पड़ती है।

साहित्यिक दृष्टि से पत्र-लेखक अपने पत्र को वैयक्तिक बनाकर भी जनरुचि के तत्व से युक्त रखता है। उसकी सफलता इसीमें है कि अपने आत्मीय को प्रत्यक्षवत् दृष्टिगत रखते हुए जनसाधारण के प्रति अपना सम्बन्ध बनाए रखे। अन्य शैलियों में ऐसा नहीं हो पाता। पत्र-साहित्य से भी व्यक्तिगत विशेषताओं के प्रकाशन के अतिरिक्त युग-भावनाएँ, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ भी अभिव्यक्त हो सकती हैं।

पत्रों के प्रकार—प्राय: पत्र दो प्रकार के होते हैं—

१. वैयक्तिक
२. व्यावहारिक

१. **वैयक्तिक पत्र**—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन अधिक और विषय-प्रतिपादन या वर्णन-कथन की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है वह पत्र वैयक्तिक कहलाता है।

२. **व्यावहारिक पत्र**—जिस पत्र में लेखक के हृदय का स्पन्दन कम और विषय-प्रतिपादन या समाचार-कथन एवं व्यवहार की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है वह पत्र व्यवहारिक कहलाते हैं।

वास्तव में पत्र-साहित्य का महत्व उसके वैयक्तिक होने में ही है। व्यावहारिक पत्र केवल सम्बोधन तथा अंत में लेखक का नाम छोड़कर सच्चे पत्र नहीं कहे जा सकते। ये ऐसे ही पत्र हैं जो एक व्यवसायी कम्पनी दूसरी को लिखती है। हमारा उद्देश्य यहाँ पर वैयक्तिक पत्रों से ही है। परन्तु यह भी सत्य है कि यात्रा-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत करने के कारण वैयक्तिक पत्रों में व्यावहारिकता का समावेश भी हो जाता है, अत: शैली में मिश्रण आवश्यक ही है।

यात्रा-साहित्य सम्बन्धी पत्रों के तत्व—सामान्य तत्वों के अतिरिक्त पत्रों के तीन प्रमुख तत्व होते हैं—आत्मीयता, स्वाभाविकता और संक्षिप्त गुण।

१. आत्मीयता—पत्र में लेखक की आत्मीयता अवश्य प्रकट होती है। लेखक केवल वर्ण्य-विषय की दृष्टि से जब कुछ लिखता है तब उसका अपनापन दबा पड़ा रह जाता है। केवल विषय-विवेचन हो जाने से उसके पत्र में आत्माभिव्यक्ति कम

होती जाती है और उसके स्थान पर लोक-व्यवहार की झलक आने लगती है। परन्तु ऐसे पत्रों में आत्मीयता अर्थात् सापेक्ष दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। आत्मीयता का सम्बन्ध लेखक के अपने व्यक्तित्व के साथ भी है और दूरस्थ व्यक्ति के साथ भी। वह दूरस्थ व्यक्ति जो आत्मीय होना चाहिए, उसके साथ लेखक का किसी-न-किसी प्रकार का मानसिक सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए, तभी पत्र का वास्तविक स्वरूप निखर सकता है।

२. **स्वाभाविकता**—लेखक की आत्मीयता, सरल एवं सहज रीति से अभिव्यक्त होनी चाहिए। पत्र की भाषा इस रूप में निर्मित होनी चाहिए कि वह यात्रा-वर्णन के साथ ही पत्र भी समझा जा सके। उसके शब्दों में इतनी शक्ति रहनी चाहिए कि वह भाव-ग्राहक को वशीभूत कर सके, उससे तादात्म्य उपस्थित कर सके। दूसरा उससे मनोरंजन का लाभ उठा सके। अधिक कृत्रिमता के रहते पत्र भावग्राहक पाठक को न तो वश में ही कर सकता है और न उस पर प्रभाव ही डाल सकता है।

३. **संक्षिप्तता**—लेखक के पत्रों में संक्षिप्तता भी होनी चाहिए। संक्षिप्त वर्णन में बड़े भावों की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

उपर्युक्त तीन तत्वों के अतिरिक्त यात्रा-साहित्य के अन्य रूपों के प्रमुख तत्व भी यात्रा-सम्बन्धी पत्र-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें यात्रा-सम्बन्धी वर्णन भी रहता है, और तत्सम्बन्धी विचार भी। लेखक की वर्ण्य-विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया भी उनमें रहती है, तथा उसका आत्म-चरित्र उनमें अंकित रहता है। उद्देश्य की दृष्टि से पत्रों का यात्रा-साहित्य अन्य रूपों से भिन्न रहता है। जब वह केवल अपना ही वृत्तान्त प्रेषित करना चाहता है तब उसमें मानसिक प्रतिक्रियाओं की बहुलता से आत्मीयता बढ़ जाती है। इस स्थिति में लेखक का मूल उद्देश्य भले ही यात्रा का वृत्तान्त देना हो किन्तु वह वर्णन सामान्य मानव-जीवन के लिए न होकर आत्म-जीवन की अभिव्यंजना हो जाती है। शैली और भाषा भी यात्रा-साहित्य सम्बन्धी पत्रों में ऐसी होनी चाहिए कि वह दूर बैठे हुए पाठक को प्रभावित कर ले। हमारे पत्र के शब्द भी पाठक के हृदय का स्पर्श करनेवाले होने चाहिए। थोड़े-से शब्दों में अधिक-से-अधिक भावाभिव्यंजन पत्र की सबसे बड़ी विशेषता है।

हिन्दी यात्रा-साहित्य पत्र-शैली में बहुत अधिक नहीं है। कुछ ही लेखकों के ग्रन्थ पत्रों के रूप में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें यात्रा का वर्णन किया गया है। प्रमुख रूप से इस प्रकार के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन (मेरी तिब्बत यात्रा १९३७ एवं यात्रा के पन्ने १९५२), योगेन्द्रनाथ सिनहा (दुनियाँ की सैर १९४१), डा० धीरेन्द्र वर्मा (यूरोप के पत्र १९४२), डा० भगवतचरण उपाध्याय (कलकत्ता से पीकिंग १९५३), महावीरप्रसाद पोद्दार (हिमालय की गोद में १९५४), श्रीमती विमला कपूर (अजाने देशों में १९५५), डा० जगदीशशरण शर्मा (ज्ञान की खोज में

१९५७), डा० परमेश्वरदीन शुक्ल (दुनियाँ की सैर ८० दिन में १९५७) आदि पुस्तकें पत्रों के रूप में यात्रा-साहित्य के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

राहुल द्वारा आनन्दजी को लिखे गए पत्रों में हमें आत्मीयता के संकेत मिलते हैं। ल्हासा के उत्तर की ओर का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है[1]—

'पया (फेन्-बो)

३०-७-३४

प्रिय आनन्दजी,

आजकल वर्षा ऋतु है। भूले-भटके कितने ही बादल हिमालय के इस पार भी आ पहुँचते हैं। और मैदान और पहाड़ जिधर देखो उधर ही हरी मखमली छोटी-छोटी घास बिछी हुई है। तीन मास के लिए तो यहाँ की पर्वतमालाएँ अद्‌भुत सौन्दर्य धारण कर लेती हैं। हरी घास के अतिरिक्त कहीं-कहीं पीले, नीले फूल भी फूले दिखाई पड़ते हैं।

तुम्हारा
राहुल सांकृत्यायन

इसी प्रकार राहुलजी के कुछ भारत से और कुछ विदेश से भेजे गए पत्र भी 'यात्रा के पन्ने' ग्रन्थ में संगृहीत हैं जिनमें व्यक्तिगत व्यावहारिक सूचनाओं के अतिरिक्त साहित्यिकता का पुट भी मिला हुआ है। ये पत्र भी भदन्त आनन्द कौशल्यायन को ही लिखे गए हैं। कुछ लम्बे पत्रों में यात्रा का वृत्तान्त भी दे दिया गया है। इसी प्रकार के एक पत्र में कुल्लू की यात्रा का वर्णन करते हुए राहुलजी ने लिखा है[2]—

कुल्लू

२-१०-३२

प्रिय आनन्दजी,

अब मैं पहाड़ की ओर देखने लगा। यहाँ पतली बर्फ की तह से ढँके, मृत्तिका-शून्य छोटे बड़े पत्थर हैं। सारा पहाड़ पत्थरों की खिसकाहट से सजीव-सा मालूम होता था—यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। वह दृश्य रोमांचकारी

---

१. मेरी तिब्बत यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५, प्रथम सं०, प्रयाग १९३७

२. यात्रा के पन्ने—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ३०९-१०

था ।'''दूर पहाड़ों पर हरी घास और लाल बूटियाँ दिखाई पड़ रही थीं, तो भी अभी वृक्षों का नाम नहीं था ।

—राहुल सांकृत्यायन

योगेन्द्रनाथ सिनहा ने अपने पत्रों में स्विटज़रलैण्ड की वास्तविक सुन्दरता का वर्णन अपने मित्रों को लिखा है । वे लिखते हैं[1]—

फ्लोरेंस
(इटली)
१७ अप्रैल, १९३७

प्रिय मित्र,

स्विटज़रलैण्ड बड़ा ही सुन्दर स्थान है, पर इसकी सुन्दरता मनचली रमणी की सुन्दरता है । संसार में और कहीं भी प्राकृतिक सौन्दर्य इस संपूर्णता से व्यवसायिक रूप में परिणत नहीं किया गया है । होटलों और रेस्तराँ की संख्या देखकर चक्कर आ जाता है, सब पहाड़ियों पर जहाँ से अच्छा दृश्य मिल सकता है, इन्हें मौजूद पाइएगा । सभी छोटी-बड़ी झीलों और जल-प्रपातों का बनाव-सिंगार किया गया है ।

इसी प्रकार के पत्र डा० धीरेन्द्र वर्माजी के भी हैं जिनमें यात्राओं के वर्णन की ही प्रधानता का एक उदाहरण दृष्टव्य है[2]—

"नीस में भी एक-दो दिन से कुछ-कुछ मौसम बदलता-सा मालूम हो रहा है लेकिन यहाँ पेरिस में तो काफी मौसम बदला हुआ मिला । कुछ-कुछ ठंड शुरू हो गई है । दिवाली का-सा मौसम मालूम देता है । एक हफ्ते से बादल रहने लगे हैं, और जब-तब बूँदा-बाँदी हो जाती है । कुछ-कुछ पतझड़ भी शुरू हो गया है । वैसे अभी पार्क वगैरह खूब हरे और फूलों से भरे हैं । यहाँ अब गरमी का मौसम बिलकुल नहीं मालूम होता । इकहरे गरम कपड़े हम सबने निकाल लिए हैं । नीस में तो कमीज-धोती पहने दिन भर धूप में काटता था ।"

डा० भगवतशरण उपाध्यायजी ने यात्रा-सम्बन्धी पत्र सभी प्रकार के व्यक्तियों को लिखे थे—उनमें अपने परिवार के लोग, मित्र, सम्बन्धी, सरकारी अफसर, कवि, लेखक और उपन्यासकार भी आ जाते हैं । इनके पत्र अधिकतर

---

१. दुनियां की सैर—योगेन्द्रनाथ सिनहा, पृ० ६८
२. यूरोप के पत्र—डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ६५

लम्बे हैं। कान्तोन से लिखे गए पत्र में वे वहाँ की शोभा निहारते हुए लिखते हैं[१]—

कान्तोन -
२१-६-५२

वाबूजी,

···देहात सुन्दर था, छोटी-छोटी बस्तियों से आकर्षक लगता था। गाँव थोड़ी-थोड़ी दूर पर बिखरे पड़े थे। जब तक छोटा कस्बा दृष्टिपथ में आ अटकता और हरे खेतों के प्रसार को मंजिल की भाँति जैसे रोक देता। सामने नीची पहाड़ियाँ दौड़ रही थीं, अधिकतर ऊसर सिवा, ठिगनी झाड़ियों के; पर उनका सिलसिला आँखों को भला लगता था। क्षितिज तक फैला मैदान झीलों और तालावों से भरा था। मैदान जो मालिकों के लिए वरदान सिद्ध होता अगर वे उसे जोतते या जिन्होंने उसे जोता था जमीन अगर उनकी होती। अनेक किसान बाँस की वह हैट पहने जिसका उन्होंने सभ्यता के आरम्भ में आविष्कार किया था, कमर तक नंगे झुके खेत निरा रहे थे। अनेक अकेली भैंस से खेत जोत रहे थे।

आज्ञाकारी
भगवत

सुमेरु दर्शन के मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए महावीरप्रसाद पोद्दार ने लिखा है[२]—

"कहीं-कहीं तो उन्हें अपने पैर टेकने को भी आधार न मिलता था। सुवासित परन्तु कँटीले गुलाव की झाड़ियों को पकड़कर 'चा' नामी पहाड़ी कोमल घास के सहारे अँगूठों को टिकाकर उन्हें अपने शरीर को सँभालना पड़ता था। बीच-बीच में उनमें और मृत्यु में केवल इन्चभर का ही अन्तर रह जाता था। किसीका पैर ज़रा भी फिसलता तो उसके सही तौर से स्वागत के लिए एक गहरा खड्ड यमुना की घाटी में वर्फ की शीतल शय्या बिछाए तैयार ही था। नीचे से यमुना का मन्द-मन्द कलकल निनाद हल्के शोक-गीत की भाँति सुनाई दे रहा था। यों पौन घण्टे के करीब उन्हें मौत के जवड़े में चलना पड़ा। सचमुच वह एक विलक्षण स्थिति ही थी। एक ओर मृत्यु मुँह खोले खड़ी थी, दूसरी ओर प्रफुल्लित और उल्लसित करनेवाला सुगंधित पवन था।

स्वामी राम ने अपने यात्रा-मार्ग का वर्णन करते हुए लिखा है।[३]

---

१. कलकत्ता से पेंकिंग—डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० १६
२. हिमालय की गोद में—महावीरप्रसाद पोद्दार, पृ० ७२-७३
३. वही, पृ० ११४

गोल चाँद का यौवन फूट-फूट कर बाहर निकल रहा है। चारों ओर सुन्दरता बरस रही है। पवन चारों दिशाओं में निर्भय विचर रहा है। जो सामने पड़ता है उसीको चूमता है। चटकीले, चमकीले फूलों को तो बार-बार चुम्बन करता है। इन विराट् पर्वतों की चोटियों पर सुन्दर-सुन्दर खेत कामदार कालीनों की भाँति बिछे हुए हैं।......कल-कल करते हुए नाले और दरारों और करारों पर शोर मचाती हुई नदी, दोनों यहाँ मौजूद हैं। किन्हीं-किन्हीं चोटियों पर तो दृष्टि चारों ओर बेखटके दूर तक जाती है। न उनकी राह में कोई बड़ा पर्वत आड़े आता है न उसकी राह को कोई रुष्ट मेघ ही रोकता है। किसी-किसी गिरि-शिखर को तो गगनभेदी और घनच्छेदी होने का इतना अधिक उत्साह है कि ठहरना भूल ही गया है, मानों आकाश में पहुँचकर ही दम लेगा।

जहाज से विदेश यात्रा करते समय विमला कपूर ने अपने पत्र में डेक का व्यावहारिक वर्णन लिखा है। अपने पत्र में वे लिखती हैं[1]—

५ जुलाई, १९५१

प्रिय प्रभा,

...शाम और सुबह के समय तो अधिकतर हम लोग डेक पर ही रहते हैं, क्योंकि इस समय इसकी शोभा चरमावस्था पर पहुँच जाती है। चारों ओर चहलकदमी करते हुए युवक-युवतियों पर पुते हुए पाउडर, क्रीम और सेंट की सुगन्ध से सारी डेक महकने लगती है। यहाँ से आँख उठाकर जब कभी नीचे की ओर देखते हैं तो लहरें मारता हुआ अथाह सागर और प्रकृति का मनोरम स्वरूप दृष्टिगत होता है। हृदय और मस्तिष्क दोनों ही इस वातावरण में विभोर से हो जाते हैं और प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य का आनन्द उठाने लगते हैं। प्रातःकाल के बालरवि की सुनहरी रश्मियाँ जब सर्वप्रथम हमारे जहाज की छतों का आलिंगन करती हैं तो एक अनुपम दृश्य की सृष्टि होती है। रात्रि में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सागर की लहरों से अठखेलियाँ करता हुआ दिखाई पड़ता है। पूर्णमासी के दिन डेक पर खड़े होकर प्रकृति का यह सौन्दर्य देखते ही बन रहा था। चारों ओर छिटकी चाँदनी और पूरे चाँद को देखकर पूरी शक्ति के साथ उछलती हुई लहरें और लहरों को चीरकर आगे बढ़ता हुआ हमारा जहाज, सबकी शोभा सचमुच अद्वितीय थी।...

तुम्हारी
चाची

अपनी विदेश यात्रा में मिचिगन से भेजे गए आत्मीयतापूर्ण पत्र का उल्लेख करते हुए डॉ० जगदीशशरण शर्मा लिखते हैं[2]—

---

१. अजाने देशों में—विमला कपूर, पृ० २२
२. ज्ञान की खोज में—डा० जगदीशशरण शर्मा, पृ० ९

मिचिगन (यू० एस० ए०).
अप्रैल, २६, १९५३

प्रिय प्रेम,

आज मेरा जन्म-दिन है, हुआ करे। मेरे लिए तो सभी दिन महत्व-पूर्ण हैं। एक-एक क्षण अपनी महत्ता की छाप लगाकर न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं। अगर आज से मैंने तुम्हें अपनी दूसरी विदेश यात्रा के दौरान में पहली विदेश यात्रा की कहानी लिखनी आरंभ की है तो शायद इसका महत्व मेरे लिए सिर्फ मनोरंजन ही नहीं होगा। मैं चाहता हूँ कि जब तक मैं तुमसे दूर, विदेश में हूँ, तुम्हें मेरी जुदाई का ज़रा भी आभास न हो। मैं पूरी कोशिश करता रहूँगा कि सप्ताह में एक बार तो अवश्य ही इस लम्बी कहानी को थोड़ा-थोड़ा लिखकर तुम्हें भेजता रहूँ। इसलिए भेजने में मैं दो लाभ और भी देखता हूँ। प्रथम, मेरा हिन्दी लिखने का अभ्यास होता रहेगा। दूसरे, जब तुम इसे सव्यसाची के सामने पढ़ोगी तो उस पर अच्छा असर पड़ेगा। और, उसे भी मेरी अनुपस्थिति का आभास न होगा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि पत्रों के रूप में हिन्दी यात्रा-साहित्य यद्यपि बहुत कम है और जो है भी उसमें व्यावहारिकता का पुट भी है तथापि रसात्मकता की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त रोचक तथा हृदयस्पर्शी है। थोड़ा होते हुए भी यह अत्यन्त मधुर है।

डायरी-शैली

डायरी (दैनंदिनी) भी आज का एक विकासोन्मुख रूप है। इसे आत्मकथा का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। आत्मकथा के सदृश ही डायरी का लेखक भी सर्व-विदित सर्वप्रिय प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है। डायरी लेखक दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाओं का तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली मानसिक प्रतिक्रियाओं का संक्षिप्त विवरण लिखता जाता है। यह आत्मकथा की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है। जिस समय कोई घटना घटित हो रही हो यदि उस समय की मनःस्थिति का साहि-त्यिक चित्रण तत्काल ही हो जाए तो उसकी वास्तविकता के प्रति संदेह का अवसर कम रह जाता है। आत्मकथा की भाँति ही डायरी में क्रमबद्ध, सुगठित, सुविस्तृत जीवन-वृत्त नहीं रहता, इसमें संक्षिप्तता अधिक रहती है, असम्बद्धता भी रह सकती है। दिन-प्रतिदिन जीवन जिस क्रम में, जिस रूप में व्यतीत होता चलता है, उसी क्रम में और उसी रूप में वह डायरी में लिपिबद्ध होता चलता है। डायरी लेखक को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसमें अनावश्यक बातों का व्यर्थ समावेश न हो और आवश्यक बातों की उपेक्षा न हो। यात्रा-साहित्य सम्बन्धी डायरियों में लेखकों को अपने जीवन के गोपनीय तत्वों का संगुंफन मार्मिक स्थलों, दृश्यों के साथ करना

अधिक उपयुक्त होता है । वैयक्तिकता तथा सामाजिकता का समन्वय प्रस्तुत करने वाली डायरी साहित्य में अधिक सफल हो सकती है ।

आत्मकथा का एक रूप होने के कारण तत्वों की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त समता है । शैली की भिन्नता अवश्य है, परन्तु उसीके कारण इसके स्वतन्त्र अस्तित्व की सम्भावना भी की जा सकती है । अभी यह रूप विकासोन्मुख है । इसके प्रधान तत्व निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :—

व्यक्तित्व-प्रधान, संक्षिप्त गुण, आत्माभिव्यंजन, गोपनीयता एवं सरलता आदि ।

हिन्दी यात्रा-साहित्य डायरी-शैली में पर्याप्त रूप में लिखा गया है । बहुत से विद्वान् लेखकों की ये डायरियाँ पुस्तक-रूप में प्रकाशित भी हो चुकी हैं, जिनमें यात्रा-विवरण की प्रधानता है । इस प्रकार के लेखकों में प्रमुख रूप से बाबू देवीप्रसाद खत्री (रामेश्वर यात्रा, बदरिकाश्रम यात्रा १८९३), ठाकुर गदाधरसिंह १९०२-३ [चीन में १३ मास, हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा], बा० शिवप्रसाद गुप्त, १९१४ (पृथिवी प्रदक्षिणा), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, १९१६ (अमरीका भ्रमण), प्रो० मनोरंजन, १९३६ (उत्तराखण्ड के पथ पर), डॉ० सत्यनारायण, १९३९ (रोमांचक रूस में), पं० कन्हैयालाल मिश्र, १९४० (ईराक की यात्रा, मेरी अबीसीनिया यात्रा), सेठ गोविन्ददास, १९५१ (सुदूर दक्षिण-पूर्व), महेशप्रसाद श्रीवास्तव १९५१ (दिल्ली से मास्को), श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, १९५२-५४ (पैरों में पंख बाँधकर; उड़ते चलो, उड़ते चलो), राहुल सांकृत्यायन १९५२ (रूस में २५ मास), रामआसरे १९५२ (माओ के देश में), कृष्णवंश सिंह बाघेल, १९५३-५४ (काश्मीर और सीमाप्रान्त, तिब्बत में तेइस दिन), राजवल्लभ ओझा, १९५४ (बदलते दृश्य), कर्नल सज्जनसिंह, १९५५ (लद्दाख यात्रा की डायरी), स्वामी सत्यभक्त, १९५५ (मेरी अफ्रीका यात्रा), रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर, १९५७ (हालैंड में २५ दिन), ब्रजकिशोर नारायण, १९५७ (नन्दन से लन्दन), डॉ० जगदीशशरण शर्मा १९५७ (ज्ञान की खोज में) आदि उल्लेखनीय हैं । इन सभी लेखकों ने अपनी यात्रा को डायरी के रूप में लिखकर प्रकाशित कराया है ।

वैयक्तिक डायरियों में लेखक अपने सम्बन्धियों, मित्रों आदि से सम्बन्धित तथ्यों को रूप देता है । इसमें प्रेम, वियोग, रोष, क्षोभ की अभिव्यंजना अधिक होती है । व्यक्तित्व-प्रधान डायरी में लेखक का व्यक्तिगत जीवन, उसकी रुचि, अरुचि तथा उसकी विभिन्न मनःस्थितियाँ अंकित रहती हैं । सत्यदेवजी का एक उदाहरण देखिए—

"धूनी के पास बैठे-बैठे सुबह हो गई । रात को धूनी के पास तीन जने आर तीनों भिन्न-भिन्न महाद्वीपों के—मैं एशिया का, दूसरा यूरोप का और तीसरा अमरीका का । वाह रे हो वो जीवन । तीन महाद्वीपों के तीन आदमी, सड़क पर जीवन व्यतीत

करनेवाले, इकट्ठे धूनी के पासे बैठे रहे, कहाँ-कहाँ के पक्षी और कहाँ बसेरा। दिन चढ़ गया और पक्षी फिर उड़ गए और फिर शायद वे कभी सारी आयु इस प्रकार एकत्रित न होंगे। वाह रे हो वो जीवन।"[१] यात्रा में आए प्राकृतिक दृश्यविधान का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददास ने लिखा है—

"जब मेरी नींद खुली तब पौ ही नहीं फटी थी, पर सूर्योदय हो गया था। बैठे-बैठे कुर्सी पर इतनी लम्बी और गहरी नींद में मैं कभी सोया होऊँ, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। यदि आदमी उनींदा हो तो काँटों पर भी नींद आ जाती है, यह विचार कितना सही है, इसका मुझे आज प्रमाण मिल गया, जब मैंने खिड़की के बाहर की ओर देखा तो एक अद्भुत दृश्य था। ऊपर बादल का एक भी टुकड़ा नहीं था। भगवान सहस्रांशु अपनी समस्त अंशुओं को निर्मल नीलाकाश में फैलाए हुए चमक रहे थे, परन्तु नीचे घने बादल थे। इन बादलों का एक वृहत् शामयाना-सा पृथ्वी पर तना हुआ था और ऐसा शामयाना जिसमें एक भी शल कहीं भी दृष्टिगोचर न होता था। शामयाने के रूप में पृथ्वी पर तने हुए इन बादलों की एकसी सतह थी, कहीं ऊँची-नीची नहीं, इस तरह के बाहर बादल का एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी तो इधर-उधर कहीं भी नजर नहीं पड़ रहा था।···ऊपर सर्वथा निर्मल नीलाकाश में भगवान भास्कर का पूर्णालोक तथा नीचे ऐसे बादलों की सतह इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी थी।"[२] रोम से लंदन की यात्रा में आए हुए सुन्दर दृश्यविधान में बड़ी सरलता से डायरी का उपयोग किया गया है। बेनीपुरीजी की यह सरलता देखने योग्य है।

२३-४-५१
रोम-लंदन

"उड़ान शुरू नहीं हुई कि हम किस लोक में पहुँच गए? नीचे देखता हूँ तो मालूम होता है मानों कालीनों की बरात लगी है। हाँ, खेत नहीं, ये कालीनें हैं हरी-हरी। पतली-पतली नहरें, नहरों के किनारे खेत। नहरों में पाल उड़ाती नावें, खेतों में कहीं हरे, कहीं गंदुमी रंग के दिखाई पड़ते हैं वे किन शस्यों के पौधे हैं। खजूर को तो यहाँ से ही पहचानता हूँ। इस रंग-बिरंगी भूमि में कहीं-कहीं बस्तियाँ। इस एक घर का ले-आउट कितना सुन्दर लगता है यहाँ से। ताश के पत्ते की चिड़िये की-सी शकल।"[३] ठाकुर सज्जनसिंह

---

१. अमरीका भ्रमण—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० १९७-९८, संवत् १९८३
२. सुदूर दक्षिण-पूर्व—सेठ गोविन्ददास, पृ० ४१
३. पैरों में पंख बाँधकर—बेनीपुरी, पृ० २४

लद्दाख यात्रा में कसाले के रास्ते पर पड़े हुए सरोवर का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

गुरुवार २० जुलाई,

तालाब कुछ बड़ा नहीं है, परन्तु जल बहुत साफ है। इसके किनारे घूमकर मछली देखते रहे, परन्तु कहीं भी नज़र नहीं आई। रात को तीन जोड़े चकवों के अवश्य आ गए थे। जल से कहीं-कहीं पर जहाँ समतल भूमि थी, सौ गज तक हरी घास थी और उसमें नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूल थे। फूलों के मारे हरी घास ढँक गई थी। हमने विचार किया कि इन वनस्पति-हीन पहाड़ों में चलता हुआ आदमी जब कभी ऐसी झीलों को देखता है तो सहसा उसके मुँह से 'वाह वाह' निकल पड़ती है।"[1]

ठाकुर साहब ने सरोवर के जल के अतिरिक्त प्रकृति के लावण्य का अवलोकन भी किया है। अपने इस दृश्यचित्रण को उन्होंने बहुत ही सरलता से स्पष्ट किया है। इस उद्धरण में हमें वैयक्तिकता कम दिखाई देती है।

रामआसरेजी की डायरी में हमें संक्षिप्तता एवं सरलता दोनों गुण ही विद्यमान मिलते हैं। कैंटन हैकाऊ ट्रेन पर यात्रा करते हुए वहाँ का वर्णन उन्होंने लिखा है। देखिए—

कैंटन हैकाऊ ट्रेन पर
११ मई

सवेरे बहुत तीखी ठंडी हवा ने नींद खोल दी। आँखें खुलीं तो बड़ा सुहावना दृश्य। ऊँचे-नीचे पहाड़ों की दूर तक, कहीं-कहीं आसमान को चूमनेवाली लम्बी कतार, आकर्षक हरियाली से ढँका हुआ हर हिस्सा। हमारी गाड़ी तेजी से चली जा रही थी। यहाँ भी आसमान कहीं काले गहरे, कहीं हलके बादलों से ढँका हुआ था। कभी फुहार पड़ती और कभी खुल जाती। गाड़ी से पास ही हवा में हिलकोरे भरती, पहाड़ों को चीरती-लाँघती वू नदी बह रही थी। हम क्यांतुंग छोड़कर चेयरमैन माओ के सूबे होनान से गुजर रहे थे। मौसम बदल चुका था।"[2] पैरिस यात्रा के स्वर्णिम प्रभात का अवलोकन कर बेनीपुरीजी लिखते हैं—

(क) प्लेन पर
११-५-५२

...और इतनी ही देर में इधर, यह क्या हो गया? सूरज देवता ने अपनी ज्योति-निर्झरी का जैसे ढक्कन खोल दिया हो। मालूम होता है,

---

१. लद्दाख यात्रा की डायरी—कर्नल सज्जनसिंह, पृ० ७१

२. माओ के देश में—रामआसरे, पृ० १५

असंख्य किरण-धाराएँ एक ही साथ निकलीं। चारों ओर चकमक, झलमल। चारों ओर जैसे सोने का पानी फिर रहा है।

अब क्षितिज की छवि अद्‌भुत हो गई है। बादलों के पहाड़ के पीछे से वह सूरज देवता ने झाँका, फिर मुस्कुरा पड़े। भूरे बादलों की किनारी अब सुनहली, चमकीली है। नीचे के बादल सपाट मैदान से लग रहे हैं। ज्यों-ज्यों उजाला बढ़ता जाता है, उनका भूरा रंग दूर होता जाता है—देखिए, वे अब मक्खन से लग रहे हैं, श्वेत, स्निग्ध। भूखे नयन उन्हें देखकर अघा नहीं रहे।"[1]

इस उदाहरण में हमें आत्माभिव्यंजन की प्रधानता मिलती है। जिनेवा की सुनहरी संध्या में वहाँ की एक झील एवं वातातवरण का वर्णन बेनीपुरीजी ने बड़े ही सरल ढंग से अक्षरबद्ध किया है। आत्माभिव्यंजन का अच्छा उदाहरण है। देखिए—

लंदन से जिनेवा

१०-६-५२

"...झील का पानी कितना साफ। जहाँ हम किनारे पर खड़े हैं, एक राजहंस तैरता हुआ उसके निकट आता और बार-बार अपनी गर्दन ऊँची करने और फिर पानी में डुबोने लगा। क्या हम से कुछ भेंट माँग रहा है? यहाँ लोग इनके खाने की चीजें लाते और पानी में डाल देते हैं। हम कुछ ला नहीं सके थे—देखिए, वह बेचारा हताश लौटा जा रहा है। सन्ध्या गहरी हुई और रोशनी चमचमा उठी। झील के किनारे-किनारे बिजली-बत्तियों की सघन माला। उन बत्तियों का प्रतिबिम्ब पानी में पड़ा और झील भी जगमग कर उठी। लगा जैसे पानी का कण बिजली की बत्ती बन गई हो। किनारे की बत्तियों की इस माला के नीचे-ऊपर मकानों और दुकानों की रंगीन रोशनी। थोड़ी ही देर में सारा दृश्य इन्द्रजाल-सा लगने लगा।"[2] बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' में अमरीका-भ्रमण का वर्णन करते हुए वहाँ के हिमपात का दृश्य खींचते हुए लिखा है—

"प्रातःकाल से ही आकाश से मानों रुई गिरने लगी, बर्फ धुनी हुई रुई के सामान आकाश से गिरती है और चूर किए हुए सेंधालोन की भाँति कई दिनों तक सड़कों पर पड़ी रहती है। वह प्रायः गलती नहीं। देखते-देखते तीन या चार घंटों में सारी जगह श्वेत हो गई। अहा! कैसा सोहावना प्रखर श्वेत रूप था मानों महात्मा ईसा की जन्मगाँठ मनाने के लिए प्रकृति धोए हुए सुन्दर मलमल की सारी पहनकर निकली थी। सड़क, पटरी, मकानों की सीढ़ी व

---

१. उड़ते चलो, उड़ते चलो—बेनीपुरी, पृ० ११
२. वही— पृ० १९५

छत, नीरस पत्रहीन वृक्ष, मैदान, बाग-बगीचे, छोटे ताल तथा तलैया, स्रोत तथा हडसन नदी के भाग भी हिम से भर गए थे। सरोवरों ने तो हिम के भय से अपना कवच बर्फ का ही बना लिया था जिसमें भीतर बसनेवाले चलचरों को हिम से दुःख न सहना पड़े। सायंकाल तीन बजे तक हिमवर्षा बराबर होती रही। जाड़ा इतना बढ़ गया कि भय के मारे सायंकाल को नगर की, हाट-बाट की शोभा देखने के लिए मैं घर से नहीं निकला।"[1]

इसमें लेखक का व्यक्तित्व भी झलकने लगता है। डॉ० जगदीशशरण शर्मा हांगकांग से सानफ्रान्सिसको की यात्रा के वर्णन को डायरी-शैली में लिखते हैं। उनकी इस डायरी में उनका आत्माभिव्यंजन स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगता है। कहीं-कहीं पर उनका व्यक्तित्व भी उसमें झलकने लगता है। उदाहरणार्थ देखिए—

"आज यात्रा में चन्द बातें ऐसी भी रहीं जो कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। जब जहाज चलता हो तो शाम को ऊपर जाकर डूबते सूरज का दृश्य कितना सुन्दर लगता है। सूरज का उदय भी उतना ही मनोहर है। जब सूरज डूबता है तो चारों ओर सुर्खी फैल जाती है और उसकी परछाई पानी पर पड़ती है जो बहुत ही सुन्दर मालूम देती है। चाँदनी रात भी कम सुहावनी दिखाई नहीं देती। जहाज चल रहा है। चाँद की चन्द्रिका खिल रही है जैसे बेले के श्वेत फूल। कोसों तक सफेद लहरें ऐसी लगती हैं जैसे चाँदी की झिलमिलाती लहरिया चादर हो। जीवन में यह मेरा पहला मौका था। जबकि मैंने यह जाना कि कुदरत के इतने सुन्दर नज़ारे हो सकते हैं। जब मैं प्रकृति के विराट सौन्दर्य देखता था तो मुझे ईश्वर याद आता था और मेरा मन कह उठता था कि जिस ईश्वर ने यह सब कुछ बनाया है वह कितना सुन्दर होगा!"[2]

बम्बई से जहाज के खुलने पर देखे गए दृश्य-विधान में उभरी हुई आत्माभिव्यक्ति को अपनी डायरी में व्यक्त करते हुए व्रजकिशोर नारायणजी ने लिखा है—

"मेरी दाहिनी ओर एक मराठी युवक खड़ा है। हिरनी से भी बड़ी-बड़ी आँखोंवाली उसकी सुन्दरी बहन उसे बार-बार देखकर हँसने की कोशिश कर रही है। युवक भी मुस्कुराने की दमतोड़ चेष्टा कर रहा है, मगर जहाज जैसे ही डेक से अपनी दूसरी ओर अन्तिम शृंखला अलग कर लेता है, वैसे ही वह बालिका भी आँखों से रूमाल लगा लेती है। युवक की मुस्कान मन्द पड़ जाती है और धीरे-धीरे जहाज़ की गति के साथ-साथ उसकी आँखें भी अधिक सजल और तरल हो उठती हैं। जहाज अचानक अपनी रफ्तार तेज कर लेता है और थल तथा जल के पुरुष-नारियों की मुद्रा पर एक मर्मान्तिक मौन छा जाता है।

---

१. पृथिवी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ५७
२. ज्ञान की खोज में—डॉ० जगदीशशरण शर्मा, पृ० ४७-४८

अथाह खारे समुद्र और निर्बाध खारे आँसुओं का यह जलीय और थलीय व्यवधान न जाने कब दूर होगा, मगर कर्त्तव्य को भावुकता से क्या गरज। मशीन को मन से क्या मतलब। हजारों आत्माएँ, हृदय और नयन रो रहे हैं, और जहाज अपने जहाजियों के विदा-वाद्यों की मरु ध्वनि के साथ-साथ समुद्र के वक्षस्थल को चीरता हुआ, गहरी नीली जलराशि के पनीले पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

विदा बम्बई! भारतीय भूमि की अन्तिम मिट्टी! विदा! अलविदा!! जीता लौटा तो फिर मातृभूमि की इस मिट्टी को मस्तक पर लगाऊँगा। अभी तो मेरा सादर प्रणाम! वन्दे मातरम्!!"[१] यह उदाहरण वैयक्तिकता-प्रधान है।

नारायणजी साउथम्पटन से लन्दन की यात्रा करते हुए उस वर्णन को बड़े स्वाभाविक ढंग से लिखते हैं—

"जहाज इंग्लिश चैनल में प्रवेश कर चुका है। केबिन की खिड़की से कुहासे और बादल-भरे आसमान को देखकर इंग्लैंड के मौसम की सारी अफवाहें सच साबित हो रही हैं। मैं केबिन से बाहर निकलकर एक कर्मचारी से पूछता हूँ—'साउथम्पटन कितनी दूर है?' वह कहता है—'एक घंटे के अन्दर ही जहाज साउथम्पटन पहुँच जाएगा।' मैं तुरन्त तैयार होकर डेक पर चला जाता हूँ। चैनेल में छोटे-बड़े जहाजों, समुद्री वायुयानों और मोटर-किश्तियों का ताँता लगा हुआ है। धुँधलके और वर्षा की हल्की फुहारों से पुलकित होकर हमारा जहाज मन्दगामी हो रहा है। यात्री गर्म सूट पर बरसाती पहन-पहनकर चहलकदमी करने लगे हैं। इंग्लैंड में चल रही रेलवे हड़ताल की आशंका से सभी यात्रियों की हालत पतली है। साउथम्पटन बन्दरगाह से वाटरलू रेलवे स्टेशन तक कैसे पहुँचा जायगा, यही समस्या सबोंके सामने है। करीब एक घंटे के बाद साउथम्पटन का डौक आता है। दो मंजिले और परम प्रभावशाली सजीले डौक पर जहाज लगते ही यात्रियों पर इंग्लैंड का एबगालिब हो जाता है। भव्यता के साथ कलात्मकता का इतना संतुलित सामंजस्य रास्ते के और किसी डौक पर नहीं मिला था।"[२] तिब्बत के एक पर्वतीय दृश्य का वर्णन करते हुए बाघेलजी ने लिखा है—

"तकलाकोट के चारों ओर कुछ दूर और उधर 'खोंचरनाथ' पर्यन्त बसती है। साथ ही आज आषाढ़-श्रावण में यह भूमि जो मटर-सरसों के

१. नन्दन से लन्दन—ब्रजकिशोर 'नारायण', पृ० ५१-५२
२. नन्दन से लन्दन—ब्रजकिशोर 'नारायण', पृ० १६१

लहलहाते हुए खेतों से हरी-भरी फूली-फूली देखी गई। परन्तु इसके अतिरिक्त जितना मैंने देखा सर्वथा ऊसर तथा कंकड़-पत्थरों से परिपूर्ण और ऊँची-नीची विषम, खेती के अर्थ बहुत ही अनुपयुक्त। घास के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार के पौदे तथा वनस्पतियों से शून्य एवं निर्जन हैं। हिमाच्छादित शिखर रज-रहित निर्मल स्वच्छ पवन, कलरव करती हुई नदियाँ, मुक्ता-सदृश सरोवर सलिल, हिम से हँसती हुई चाँदनी, रत्न से चमकते हुए तारे, हिमानी से खेलती हुई सूर्य-रश्मियाँ और स्वच्छ नीलमणि-सा गहरा नीला आकाश।"[1] 'काश्मीर और सीमाप्रान्त' में कृष्णवंशसिंह बाघेल ने काश्मीरी ऋतु के एक सुन्दर दृश्य को बड़ी ही सरलता से अंकित किया है जो दृष्टव्य है—

"यहाँ पर मकई पकी हुई थी, धान की बालियाँ लहलहा रही थीं और कहीं तिल के पौदे बढ़ रहे थे। हम लोग कूल लाँघकर पर्वत-उपत्यका की ओर बढ़े। ऊपर सानु (पठारी) पर अभी की कटी हुई अलसी के डंठल देख पड़े। हम लोग ऊपर ही चढ़ते गए। आगे कटे और अधकटे जौ के खेत मिले। हमें यह दृश्य महाकवि माघ की प्रतिमा ने दिखलाया था और जिसे हमने कवि की कल्पना मात्र माना था। पर जब हमें स्मरण आया—'कवयः किं न पश्यन्ति' अस्तु, वही दृश्य आज काश्मीर की उपत्यका दिखला रही थी। हम दोनों यही वैचित्र्य देख रहे थे कि सहसा हमारी दृष्टि दूर की भूमि पर पड़ी। वसुन्धरा देवी चारों ओर लहलहाते हुए धान के खेतों की हरी ओढ़नी-सी ओढ़ रही थी, जिसके कोर का काम अरुण वर्ण की पकी हुई धान की बालियाँ कर रही थीं। इधर लम्बोदरी नदी की फैली हुई धारा मन को प्रसन्न कर रही थी। जहाँ पर दृष्टि जाती थी, सब भूमि धान से हरी और बीच-बीच सूर्य-रश्मियों से चमकता हुआ स्वच्छ चाँदनी-सा पानी। मालभूमि के गाँवों का दृश्य भी चित्ताकर्षक था। वेत तथा श्वेता की हरी और छोटी-छोटी झाड़ियाँ, कुल्यातट पर गगनचुम्बी श्वेता की दोनों ओर दूरपर्यन्त लम्बी परम्परा। छोटे-छोटे हरे-भरे खेत इधर-उधर छोटी-छोटी वाटिकाएँ। यही मनोरम दृश्य देखते हुए हम लोग दूर निकल गए।"[2]

बदरिकाश्रम यात्रा में बाबू देवीप्रसाद खत्री ने रुद्रप्रयाग का भी सरल वर्णन किया है। यह वर्णन अपने प्राचीन ढंग का है। उदाहरणार्थ देखिए—

"रुद्रप्रयाग प्रसिद्ध स्थान है, यहाँ अलकनन्दा और मन्दाकिनी का संगम हुआ है, अलकनन्दा पर पक्का पुल है, इसी पुल पर से पार उतरकर लोग संगम पर जाते हैं, संगम-स्नान करने के लिए कई सीढ़ियाँ उतरनी पड़ती हैं,

---

१. तिब्बत में तेइस दिन—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० १०७
२. काश्मीर और सीमाप्रान्त—कृष्णवंशसिंह बाघेल, पृ० ३६-३७

यहाँ रुद्रेश्वर महादेव का मन्दिर है और उसी मन्दिर में ताड़केश्वर, गोपालेश्वर और अन्नपूर्णा की भी मूर्ति है, बद्री माहात्म्य में यह प्रसिद्ध तीर्थ है, यहाँ से पहाड़ के किनारे-किनारे दाहिने हाथ बद्रीनाथजी को और बाएँ हाथ केदारनाथ को सड़क गई है, ये दोनों सड़कें पुल के उस पार से गई हैं, यहाँ से एक और भी सड़क बद्रीनाथ को बन रही है। पहले श्रीनगर से यहाँ आने के लिए गंगा के किनारे-किनारे एक सड़क बनी थी जिससे चढ़ाई की तकलीफ भी घट गई थी।[1]" खत्रीजी ने रामेश्वर यात्रा में भी ओंकारजी का वर्णन बड़ी ही सरलता से किया है। वे लिखते हैं—

"ओंकारजी का स्थान दर्शनीय और अद्वितीय है। यहाँ की शोभा भी अकथनीय है। इसी जगह कपिल मुनि का आश्रम है जहाँ शूलवेद से निकली हुई कपिलधारा ने नीचे-नीचे आकर ओंकारजी की प्रदक्षिणा करती हुई नर्मदाजी से संगम किया है अर्थात् नर्मदा और कपिलधारा दोनों ने ओंकारजी की प्रदक्षिणा कर इसी जगह संगम किया है। दोनों ओर पहाड, मध्य में नर्मदा शोभायमान है। पहाड़ों के किनारे-किनारे चारों तरफ देवताओं के स्थान व दूर-दूर तक सागवान के घने जंगल की कैफियत आबोहवा वह कि शिमले व दार्जिलिंग जानेवाले एक साल यहाँ आवें और कुछ दिन रहें तो कदापि शिमला इत्यादि जाने का इरादा न करें। जल में वह पाचन-शक्ति कि पत्थर को हज़म करे तिस पर हर तरह का आराम।"[2]

उपर्युक्त डायरी-शैली के उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस प्रकार की रचनाएँ विशेष रूप से कलात्मक हैं—इस शैली में रसात्मकता, भावुकता तथा कलात्मकता का समावेश मिलता है। यह शैली साहित्य में विशेष रुचिकर प्रमाणित हुई है और आशा है अधिक सफल होगी।

★

---

१. बद्रिकाश्रम यात्रा—बाबू देवीप्रसाद खत्री, पृ० ७७
२. रामेश्वर यात्रा—वही, पृ० ११

: ६ :

शैली एवं भाषा

शैली—भावों के कलात्मक प्रकाशन के लिए जिस विशिष्ट शाब्दिक माध्यम की आवश्यकता होती है, साहित्य में उसे शैली कहते हैं। अभिव्यक्ति को मोहक और आकर्षक तथा सौन्दर्यपूर्ण बनाने के लिए एक विशिष्ट प्रणाली की आवश्यकता होती है। यह प्रणाली वैयक्तिक गुणों से आविर्भूत होने के कारण व्यक्तिसापेक्ष हो जाती है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में शैली जिस रूप में प्रयुक्त होती है वह बहुत-कुछ पाश्चात्य प्रणाली से मिलती-जुलती है। शैली शब्द का विकास लैटिन के 'स्टीलस' शब्द से माना जाता है। यह एक प्रकार का यंत्र होता था जिससे मोम की पट्टियों पर निशान बनाए जाते थे।[1] इस यंत्र का प्रयोग जो जितने ही सुन्दर ढंग से कर लेता था, वह उतना ही योग्य (स्टाइलिस्ट) समझा जाता था। साहित्यिक विकास के अन्तर्गत कालान्तर में यह मनुष्य की 'लेखन-विधि' या व्यक्तिविशेष की अभिव्यक्ति का माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा और आधुनिक अंग्रेजी भाषा में इसका स्वरूप कुछ सीमित अर्थ अभिव्यक्ति के एक अच्छे माध्यम के रूप में होता है।"[2] शैली का सम्बन्ध लेखक के व्यक्तित्व से होता है, उसे वस्तु और भाव से पृथक नहीं किया जा सकता है। काव्य की आत्मा रस होती है उसका शैली से और भी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, भावों के अनुकूल शैली के बिना रसाभिव्यंजन हो ही नहीं सकता। शैली का सामान्य स्वरूप है किसी ग्रन्थ के सम्पादन में वह कौशल, सौन्दर्य और सौष्ठव जिसके कारण वह कृति लोगों की दृष्टि अपनी ओर खींचे। अभिप्राय यह कि शैली का अति सामान्य धर्म है उसमें वैशिष्ट्य की निहिति। पाश्चात्य विद्वान् शैली के अन्तर्गत व्यक्तित्व को अधिक महत्व देते हैं। आज व्यक्तिवादी भावना को इतना अधिक महत्व दिया जाने लगा

---

१. Style comes from the L. Stilus, an instrument used to write with upon waxed tablets.

—Dictionary of World Literature, by J. T. Shipley, page 397

२. In classical Latin the word 'Stilus' was extended to mean, first, a man's way of writing ; more generally, his way of expressing himself in speech as well as in writting.

"Style"—F. L. Lucas. page 16 —Cambridge, London—1955.

है कि वफन ने शैली की परिभाषा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि "शैली ही स्वयं व्यक्ति है।"[1] परन्तु वास्तव में बिना किसी अनुशासन के व्यक्तित्व का प्रकाशन मात्र ही सुन्दर शैली को जन्म नहीं दे सकता, इसीलिए व्यक्तित्व के साथ ही एक सामूहिक प्रभाव की ओर भी अधिक बल दिया गया, क्योंकि केवल मात्र भावाभिव्यक्ति ही शैली नहीं है। शैली के साथ सुन्दरम् की भावना भी सम्बद्ध रहती है और सफल अभिव्यंजना के लिए साहित्य के सौन्दर्य तत्व की ओर नेत्र बन्द करके बैठा नहीं जा सकता। इसी शैलीगत संपूर्ण प्रभाव की बात पाश्चात्य विद्वानों के सामने भी आई और स्टेन्थल जैसे विद्वान् लेखक ने शैली की परिभाषा करते हुए लिखा कि "किसी विशिष्ट विचार को संपूर्ण रूप से प्रभावी बनाने के लिए जिन विशेष परिस्थितियों की योजना की आवश्यकता होती है वे सभी शैली के अन्तर्गत आते हैं।"[2] स्टेन्थल के इस कथन से इतना तो स्पष्ट है ही कि केवल, व्यक्तित्व का प्रकाशन मात्र ही शैली नहीं होती वरन् उसके लिए बहुत-सी अन्य वस्तुएं भी आवश्यक हैं।

वास्तव में लेखक की जैसी रुचि होगी, जैसी प्रकृति होगी, व्यक्तित्व होगा उसकी शैली भी वैसी ही होगी, यह निश्चित तथ्य है, प्रणेता की उसकी कृतियों पर स्पष्ट छाप रहती है। इसी दृष्टि से साहित्यकारों ने वर्णों में प्रसाद, माधुर्य एवं ओज आदि गुणों की स्थापना करके विषयानुकूल शैली के अस्तित्व की कल्पना की है। वास्व में जब कोई विषय आकर्षक, रमणीय और प्रभावोत्पादक रीति से अभिव्यक्त किया जाता है तब उसे हम साहित्य-जगत् में शैली कहने लगते हैं। पंडित करुणापति त्रिपाठी के शब्दों में शैली को हम निम्न रूप से परिभाषित कर सकते हैं—

"शैली उस साधन का नाम है जो रमणीय, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक रूप से वाक्शक्ति के समस्त सरस तत्वों की अभिव्यक्ति में अभिनव तथा उचित शक्ति का संचार करे।"[3] परन्तु डॉ० श्यामसुन्दरदास के कथनानुसार "किसी कवि या लेखक की शब्दयोजना. वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।"[4] मैथिलीशरण गुप्त भावों की कुशल अभिव्यक्ति

---

१. The style is the man himself Buffon.
Dictionary of World Literature, Edited by. J. T. Shipley
page 398—New York, 1953.

२. Ibid—"Style consists in adding to a given thought are the circumstances to produce the whole effect that the thought ought to produces."

३. शैली—पं० करुणापति त्रिपाठी, पृ० २९, वाराणसी, १९४१ संस्करण

४. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २४९

को ही शैली मानने के पक्ष में हैं। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् चेस्टरफ़ील्ड के मत से शैली विचारों का परिधान है।"[१] कार्लाइल के विचार में "लेखक का परिधान न होकर उसकी रचना है।"[२] वास्तव में यदि देखा जाय तो शैली की विशेपता इसी बात में होती है कि हम अपनी भाषा को अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं में अधिकाधिक प्रभावशाली बना सके। संस्कृत के विद्वान् वामन[३] ने शैली की परिभाषा करते हुए लिखा है—"विशिष्ट पद-रचना रीति : और विशेप का अर्थ गुण-सम्पन्न बतलाया है। डॉ० श्यामसुन्दरदासजी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "शैली की विशेपता इसी बात में होती है कि कवि अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सके।"[४] साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शैली मुख्य रूप से एक वैयक्तिक प्रयोग है। पाश्चात्य विद्वान् रीड और डाब्री ने शैली के लिए लिखा है कि "शैली कोई अलंकार नहीं है, न यह अभ्यास है, न कैपर और न ही यह कोई उलझानेवाली वस्तु है। यह एक आत्मबोध है, आत्माभिव्यक्ति का एक ऐसा ज्ञान जो तथ्य को योग्यतम शब्दों में व्यक्त कर सके।"[५] काक्टीन के शब्दों में, "शैली जटिल चीजों को सरल ढंग से कहने का एक ढंग है।"[६]

वस्तुत: अच्छी शैली वही है जो लोक-प्रयोग से समन्वित हो और जो अपनी, अपने देश की जान पड़े, जिसमें देशी शब्दों की संख्या अन्य शब्दों से अपेक्षाकृत अधिक हो, जिसके द्वारा उचित प्रभाव डाला जा सके और जिसमें उचित तथा शिष्ट शब्दों का प्रयोग हो।

---

१. Style is the dress of thought—Chesterfield.

२. Style is not the coat of writer, but his skin—Carlyle.

३. काव्यालंकार सूत्र—१।२।७—वामन

४. साहित्यालोचन—डॉ० श्यामसुन्दरदास, पृ० २४६

५. 'Style ....is not an ornament, it is not an exercise, not a caper, not complication of any sort. It is the sense of one's self, the knowledge of what one wants to say, and the saying of it in the most fitting words.

—Introduction to—The London Book or English Prose, by Herbert Read and Bonamy Dobree, Eyre and Spottiswood, 1931.

६. 'Style is a very simple way of saying complicated things. "A call to order"—Allen and Unwin. trs. 1933.
Coated in—Modern Prose Style—by B. Dobree, page 218, Oxford, 1944.

वर्णन-शैली का अन्तर्दर्शन—वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन का सम्बन्ध उस साहित्य और साहित्यकार से होता है। आनन्दवर्धन[१] ने महाकवि की वाणी में जिस अनिर्वचनीय सौन्दर्य की अवस्थिति का उल्लेख किया है, उसका कारण आध्यात्मिक ही है। जब किसी भी कला में कलाकार की आत्मा प्रतिष्ठित हो जाती है, तभी उसमें अनिर्वचनीयता, शाश्वता, पवित्रता, सजीवता आदि का समावेश हो जाता है। क्योंकि आत्मा में ये सभी गुण पाए जाते हैं। वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन से कला-रूप में उनकी ही अभिव्यंजना होती है। पाश्चात्य विद्वान विलियम हेनरी हडसन ने लिखा है—

शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्बन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं।[२] वास्तव में लेखक के हृदय की अव्यवस्थित भावनाएँ वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन से ही व्यवस्थित हो अक्षरबद्ध हो जाती हैं। भावनाओं का तीव्र आवेग उन्हें असंयत बना देता है। बुद्धि ही भावों की इस अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करती है। अतः वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन में लेखक बुद्धि की अवहेलना नहीं कर पाता है। बुद्धि द्वारा वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन सम्बन्धी इस व्यापार को पाश्चात्य आंग्ल भाषाविद मरे[3] ने विशेष दृष्टिकोण से स्पष्ट किया है। उसके कथनानुसार, "वर्णन-शैली साहित्य

---

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तुरित वाणीषु महाकवीनां,
एतत्प्रसिद्धा वयनातिरिक्तमाभाति लावण्यमिवांगनासु।

—ध्वन्यालोक

२. "For us, the intellectual emotional, and aesthetic qualities of any man's writing will relate themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character, and thus the technical study of his style will become an aid in our more systematic study of the individuality embodied in his work."

—An Introduction to the Study of Literature, by W.H.Hudson, page, 61—London, 1954.

३. The thought that plays a part in literature is systematized emotion, emotion become habitual till it attains the dignity of conviction. The fundamental brain work of a great play or a great novel is not performed by the reason, pure or practical; to get his emotions on to paper. The most anstere psychological analysis, even on who, like stendhal, really imagined he was exercising la-logique, is only attempting to get some order into his own instructive reactions. In one way or another the whole of literature consists in this communication of emotion.

—The Problem of Style
—J.M.Murry, page 74—London, 1922.

के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को भी विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में भी सहायक होती है। भावसौन्दर्य की सार्थकता शैलीगत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर वर्णन-शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट स्थान रखती है।"

पाश्चात्य विद्वान हडसन[1] ने शैली के अन्तर्गत की तीन विशेषताएँ बताई हैं—

१.	वैयक्तिक पक्ष	(Personal aspect)
२.	कला पक्ष	(Artistic aspect)
३.	ऐतिहासिक पक्ष	(Historical aspect)

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही वैयक्तिक पक्ष के गुणों के महत्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा है—"शैली के अन्तर्दर्शन में अनेक बौद्धिक तत्व होते हैं जैसे 'यथार्थता' जो कि भावानुरूप शब्दों के उचित प्रयोग से आती है, 'स्पष्टता' जो कि वाक्य-विन्यास में उपयुक्त शब्द-योजना से आती है, 'उपयुक्तता' या सुषमा जो काव्य-विषय और उसके विन्यास दोनों के सामंजस्य में निहित रहती है। इसी प्रकार भावों और विचारों की प्रेषणीयता के सम्बन्ध में मरे[2] के शब्द ध्यान देने योग्य हैं। उसके अनुसार, "शैली भाषा की वह विशेषता है जिसके सहारे लेखक भावों और विचारों का यथार्थ प्रेषण करने में समर्थ हो सके।" इस प्रकार स्पष्ट है कि शैली में उपयुक्त प्रेषणविधान भी आवश्यक गुण है। इनके उदाहरण हम अपनी सामग्री से यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

भावात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थता को मरे ने भी सबसे अधिक महत्व दिया है। इस सम्बन्ध में वह लिखता है कि "यथार्थता शैली का अनिवार्य गुण है, पर

---

१. "There are the intellectual elements the precision which arises from the right use of the right words ; the lucidity which results from the proper disposition of such proper words in the fromation of sentences ; propriety or the phrasing of it."

—An Introduction to the study of Literature—

W.H.Hudson, page 60.

२. "Style is a quality of language which communicate precisely emotions or thoughts, or a system of emotions or thoughts, peculiar to the author."

—The Problem of Style— J.M.Murry, page, 71.

यह परिभाषागत या बुद्धिगत नहीं वरन् भावगत होनी चाहिए।[१] वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन में आयोजित बुद्धितत्व, भावतत्व और सौन्दर्यतत्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से होता है। लेखक की वैयक्तिक विशेषताओं के अनुरूप ही इन तत्वों का रूपविधान होता है। मरे ने इसलिए शैली को स्पष्ट करते हुए कहा है : "शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यंजना है।"[२] परन्तु आगे के विद्वानों ने व्यक्तित्व की अभिव्यंजना को ही अधिक बल दिया, पर उसके साथ स्पष्टता तथा सरलता पर जो अरस्तू के युग से अच्छी शैली के आवश्यक अंग चले जा रहे थे वह आगे भी माने गए। प्रकाशित भावों पर एक अनुशासन की आवश्यकता भी बनी रही यद्यपि इस अनुशासन में उन्होंने आत्माभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता पर अधिक बल दिया है। जैसा कि वाल्टर रेले महोदय ने लिखा है—"मस्तिष्क और आत्मा को इंगित करनेवाली अभिव्यंजना ही शैली है।"[3] श्रेष्ठ शैली में व्यक्तित्व-हीनता और व्यक्तित्व-प्रधानता दोनों को ही महत्व दिया गया है। वास्तव में दोनों में सामंजस्य द्वारा उत्तम शैली का निर्माण किया जा सकता है। मरे[४] ने व्यक्तित्वहीनता और व्यक्तित्व के सम्बन्ध भी लिखा है—"शैली की पराकाष्ठा

---

१. The essential quality of style was precision; that this precision was not intellectual, not a precision of definition but of emotional suggestion; that there were various methods of achieving it; but that they could all be grouped together under the term Crystallisation." —The Problem of Style—J.M.Murry, page 95.

२. "Style is the direct expression of the individual mode of experience." —Ibid, page 19.

३. "All style is gesture, the gesture of the mind and the soul. Mind we have in common, in as much as the laws of right reason are not different minds. Therefore clearness and arrangement can be taught, sheer incompetence in the art of expression can be partly remedied. But who shall impose laws upon the soul"?
Style—Walter Raleigh, page 127—Edward Arnold.
London, 1918.

४. 'For the highest style is that where in the two current meanings of the word blend; it is a combination of the maximum of personality with the maximum of impersonality; on one hand it is a concentration or peculiar and personal emotion; on the other hand it is a complete projection of the personal emotion, into the created thing.'
—The Problem of Style—J. M. Murry, page 35.

व्यक्तित्व के अतिप्रतिविम्बित और अतिप्रतिबिम्वना के समन्वय में देखी जाती है। उसमें व्यक्तित्व और विचित्र भावों का सम्मिश्रण होता है।" वास्तव में यदि देखा जाय तो शैली में व्यक्तित्व अनुभवों का ही मूर्त रूप दिखाई पड़ता है। मरे महोदय कलाकार के व्यक्तित्व को कृति में इस प्रकार उतारना चाहते हैं कि वह कलाकार का व्यक्तित्व न रहकर स्वयं कृति का व्यक्तित्व बन जाय। शैली कोई एक ठप्पा नहीं है जिसकी ऊपर से छाप लगा दी जाय। कलाकारों के भावों और विचारों के साथ ही उसका विकास होता है और कलाकार के भावों और विचारों में कलाकार के व्यक्तित्व के साथ संसार की गतिविधि की छाप रहती है। शैली में संसार और कलाकार की क्रिया-प्रतिक्रिया की झलक सदैव बनी रहती है।

भारतीय आचार्यों की 'रीति' तथा पाश्चात्य आचार्यों की 'शैली' में बहुत-कुछ साम्य होते हुए भी दोनों में अन्तर है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'शैली' शब्द का प्रयोग किसी भी अलंकार-शास्त्र-ग्रन्थ में नहीं मिलता। शैली शील से व्युत्पन्न है और उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ स्वभाव ही है परन्तु शास्त्र में इसका अर्थ होता है किसी सूत्र के व्याख्यान की पद्धति। साहित्य-शास्त्र ने लिखा भी है—

प्रायेण आचार्याणामियं शैलीयत् सामान्येनाभिधाय विशेषेण विवृणोति।[1]

इससे स्पष्ट है कि शैली स्वभाव की अभिव्यक्ति का एक प्रकार है और अभिव्यक्ति की व्याख्या की दृष्टि से वह अंग्रेजी के शैली (स्टाइल) शब्द के ही निकट पहुँच जाती है। शरीर के बाह्य अवयवों का अनुशासन तो नियमबद्ध किया जा सकता है, पर आत्मा पर तो अनुशासन करना कल्पनातीत है और इसलिए शैलियों के रूपों में व्यक्तित्व के अनुरूप ही विविधता का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि संक्षेप में हम शैली की परिभाषा करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं— "वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योग्यता ही शैली है।"[2] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम वर्णन-शैली के अन्तर्दर्शन को पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लेते हैं।

अन्तर्दर्शन के अन्तर्गत आई हुई विशेषताओं यथा—यथार्थता, स्पष्टता, उपयुक्तता, भावों और विचारों की प्रेपणीयता आदि के आधार पर शैली के मुख्य दो रूपों—रसात्मक और कलात्मक का भी विवेचन हमें कर लेना चाहिए। शैलीगत आए सारे गुणों का समावेश करते हुए साहित्य की विविध शैलियों का हमने इन्हीं दो रूपों के अन्तर्गत विभाजन किया है।

---

१. कल्लूक भट्ट की टीका—मनुस्मृति १।४, भारतीय साहित्य-शास्त्र
—बलदेव उपाध्याय, भाग २, पृ० १६४, सं० २०१२

२. काव्य-दर्पण—रामदहिन मिश्र—शैली, पृ० ३५२, प्र० सं० १६४७

१. रसात्मक रूप के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख विभाग किए जा सकते हैं :—

(१) भावुकता-प्रधान
(२) लाक्षणिक
(३) संवेदनात्मक
(४) दार्शनिक

२. कलात्मक रूप के अन्तर्गत प्रधान रूप निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(१) आलंकारिक
(२) काल्पनिक
(३) चित्रात्मक

१. भावुकता-प्रधान शैली—भावुकता-प्रधान शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें कि लेखक की अभिव्यंजना में उसके व्यक्तिगत भावों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली हृदय की भावना झलकती हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर हो। इस प्रकार की शैली में लेखक के हृदय की भावमय प्रवृत्तियाँ एवं अनुभूतियाँ उसकी रचना के भीतर से झाँकती हुई दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि भावुकता-प्रधान शैली में लेखक को अपनी कल्पना की सहायता भी लेनी पड़ती है, तथापि कल्पना और भावों के पुट से अपनी अभिव्यंजना को रमणीय बनाकर लोक के सम्मुख रखने पर भी उसकी रचना में भावों की मधुर छाया प्रधान रहती है। लेखकों के भावुक मानस की रमणीय भावनाएँ कल्पना का साहाय्य पाकर तीव्रतर हो उठती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो भावुकता-प्रधान शैली की स्वच्छता वहीं देखने में आती है जहाँ लेखक की भावमयी कल्पना उसके हृदय के भावों का विषय के साथ उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करती है। अतः ऐसी शैली के लेखक के लिए कल्पना भी महत्वशालिनी है। लेखक संसार-भ्रमण में जिन नाना दृश्यों का अवलोकन करता है उसकी छाया भावुकता-प्रधान शैली में प्रतिबिम्बित कर देता है। अपने भाव-चित्रों को शब्द-तूलिका में अंकित करने में ही लेखक का कमाल है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक अपने ग्रन्थ 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में लिखते हैं—"धोये-धाये पर्वतों को देखता हुआ, जंगलों के शीतल पवन का आनन्द लेता हुआ और पहाड़ी नालों की गड़गड़ाहट सुनता हुआ मैं अल्मोड़े की विकट चढ़ाई चढ़ रहा था। विद्यार्थी को अपने मित्र प्रेमियों के पास सूचनार्थ भेज दिया। शहर से डेढ़ मील इधर मैं धीरे-धीरे मन की विचार-तरंगों में मग्न चला जा रहा था।"[१]

इसी प्रकार हरिगौरी की मूर्तिवाले चित्र का भावात्मकता एवं धार्मिकता की भावना से पूर्ण वर्णन 'हिमालय परिचय' में हुए राहुलजी ने लिखा है—"मैं, मैंखंडा

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ४६

की खंडित हरिगौरी मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था, किन्तु यहाँ मैंने शोभा और सौन्दर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल वंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था, जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आँखें विश्वास नहीं करती थीं। ललितासनस्थ हर के वामांक में अनुपम सौन्दर्यराशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता बिराजमान हैं।"[1]

२. **लाक्षणिक शैली**—लाक्षणिक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें मुख्य अर्थ को बाँध करके अर्थात् शब्दों के प्रचलित अर्थ के बदले उनके लाक्षणिक या व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होते हैं। यह लाक्षणिक शैली सरल वाक्यों में भी होती है और मिश्र वाक्यों में भी। लाक्षणिक शैली में वाक्य मुख्यतः एक क्रियावाले होते हैं, जिसमें लक्षणा या व्यंजना से अर्थ निकाले जाते हैं। इस शैली में लेखक अपनी लाक्षणिक उक्तियों की सौन्दर्याभिव्यक्ति एवं उसमें चमत्कार का सृजन करने के लिए मुहावरों का प्रयोग भी करता है। लाक्षणिक शैली के प्रयोग से लेखक की भाषा में प्रभावोत्पादकता के साथ-साथ कुछ कुतूहलजनकता भी उत्पन्न हो जाती है। जो बात साधारण रीति से कहे जाने पर अत्यन्त नीरस, रूक्ष और उत्तेजक होती है वही इनका सहारा लेकर कहने पर अत्यन्त रोचक, प्रभावशील और अतिप्रिय हो उठती है।

लाक्षणिकता से पूर्ण शैली का उद्धरण दृष्टव्य होगा। देवदत्त शास्त्री अपनी काश्मीर यात्रा में लिखते हैं—

"हरी हरीतिमा से आच्छन्न गगनचुम्बी शैल-शिखरों पर चढ़ती-उतरती मोटरगाड़ी की अबाधगति का अकथनीय संस्कार मन पर होता था। इतस्ततः चमत्कारमयी प्राकृतिक घटनाएँ मानों भगवती प्रकृति देवी की लीलाएँ हैं। भागती हुई मोटरगाड़ी और हँसती हुई प्राकृतिक छटा को देखकर मन स्तंभित हो गया।··· प्रान्तर भाग में सरसता और सुन्दरता के आलय सरोवर मुकुल मंजुल महीरुहों से आक्रान्त हो अपने कलित अंक में रसभूत लहरों को लिए हुए लहरा रहे थे। दोलायमान लहरों की कमनीयता को देखकर प्रतीत होता था मानों प्रकृति देवी अपने कराम्बुज हिलाकर कलित काश्मीर की कमनीयता लिख रही है।"[2] काश्मीर-यात्रा में ईश्वरचन्द्र शर्मा लिखते हैं—

"ऐश्वर्य के उस प्रभातकाल में काश्मीरियों की प्रतिभा खूब चमकती थीं। उनके शरीर पर चाँदी से धवल कोमल ऊनी वस्त्र शोभा देते थे, और उनके मुँह से शास्त्र-चर्चा, वासन्ती शोभा नए-नए रूप में प्रगट होती थी। एक ओर उनके निर्मल

---

१. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४४१
२. मेरी काश्मीर यात्रा—पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त', पृ० ३५ एवं ४८

घर सूर्य के प्रकाश में हँसते रहते थे, दूसरी ओर चाँदी और सोने की मूर्तियाँ कान्ति-प्रवाह में मंदिरों को तैरता हुआ प्रकाशित करती थीं।"[1] आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका की यात्रा करते हुए गिरिजाकुमार माथुर ने लिखा है—

"मैं देख रहा था कि ऊपर उठने पर किस प्रकार जंगल और पेड़ हरी काई की तरह धरती से चिपटे दिखते हैं, भूमि पर दूर-दूर के खेत, चरागाह, मैदान, ऊसर मिलकर वे किस प्रकार एक होकर केवल बहुत छोटी-छोटी रेखाओं में विभक्त क्यारियाँ बन जाते हैं। भूमि ऐसी मालूम पड़ती थी कि मानों मटमैली टूटी स्लेट जोड़कर रख दी गई हो जिसके बेहतरीन खण्डों पर लखौरी ईंट या खपरैल के टुकड़े रगड़ने से गंदली लाली आ गई हो।"[2]

३. **संवेदनात्मक शैली**—संवेदनात्मक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें लेखक की व्यक्तिगत संवेदनाएँ किसी विशेष रूप से चित्रित की गई हों। यह दो प्रकार की हो सकती है—बाह्य संवेदनाएँ और आन्तरिक संवेदनाएँ। यात्रा-साहित्य में इसके उदाहरण अधिक नहीं प्राप्त होते हैं। यहाँ पर हम इनके उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

आन्तरिक संवेदनात्मक शैली—स्वामी सत्यदेवजी ने अपनी जर्मनी यात्रा में लिखा है—

"इतने बड़े विशाल धन-धान्यपूरित देश की हम सन्तान, वह हमारे पूर्वजों की मिलकियत, उस सुन्दर रत्नगर्भा माता के तेंतीस करोड़ बच्चे और उनकी यह दुर्गति। मैं चोर नहीं हूँ, डाकू नहीं हूँ, ईमानदारी से जीवन व्यतीत करता हूँ। आँखों के इलाज के लिए जर्मनी के डाक्टरों के पास जाना चाहता हूँ। ये लोग कौन होते हैं मेरी इस प्रकार परीक्षा करनेवाले? इनको क्या हक है मेरी इस प्रकार जाँच-पड़ताल करने का?"[3] इसमें परिव्राजकजी ने अपनी सारी हार्दिक संवेदनाएँ बड़े ही सरल रूप से व्यक्त कर दी हैं।

हिमालय परिचय में राहुलजी ने लिखा है—

"मैं आकृष्ट होता था, उस अगर-तगर की धूप-धूमों और फूलों की नाना प्रकार की मधुर सुगंधियों से, जो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले के मन्दिरों में उड़ती थीं। अब भी मुझे मालूम होता था कि वह मेरी नासिका द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर दिमाग को भीनी-भीनी सुगन्ध से भर रही है।"[4]

---

१. काश्मीर में एक मास—ईश्वरचन्द्र शर्मा—चाँद, मई १९३०, पृ० ३०
२. आकाश-मार्ग द्वारा अमरीका—गिरिजाकुमार माथुर—सरस्वती, मार्च १९५६, पृ० १७२
३. मेरी जर्मन यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक
४. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४३०

सत्यदेवजी ने एक स्थान पर लिखा है—

"एक चौड़ी शिला को रास्ते में अपना स्वागत करते देख मैंने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और सुस्ताने बैठ गया।"[1]

बाह्य संवेदनात्मक शैली—अपनी यूरोप यात्रा में राहुल सांकृत्यायनजी ने लिखा है—

"राजकुमार नए पुष्पों तथा बन और पर्वतीय दृश्यों का अवलोकन करते हुए वन के मध्य-भाग में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने रसीलें स्वादपूर्ण नाना प्रकार के फलों को खाकर क्रीड़ा करना प्रारम्भ किया। बन में नाना प्रकार के पक्षी थे, जिनके मधुर स्वर उनका चित्त आकर्षित कर रहे थे। सरोवर और पुष्करिणियाँ पद्मपुष्पों से आच्छादित थीं, पुष्प-निकुंज मन्द-मन्द शीतल वायु के संचार को सुरभित कर रहे थे, पशु-वृन्द जहाँ-तहाँ विचरण कर रहा था, यह सब देख देखकर राजकुमार आनन्द से गीत गा रहा था।"[2] अमरनाथ की यात्रा में यशपाल जैनजी ने प्रकृति के बाह्य संवेदनात्मक रूप को अंकित करते हुए लिखा है—

"प्रकृति का प्रकोप कहिए या कृपा, बारिश निरन्तर जारी रही, पर हम लोग एक क्षण को भी कहीं नहीं रुके। सारा वायुमण्डल जितना गम्भीर था, उतना ही निस्तब्ध। उस निस्तब्धता को भंग करनेवाला 'जयशंभो' का स्वर बड़ा भला मालूम होता था। पूरे जोर से जब हम लोग 'अमरनाथ की जय' बोलते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि भय को हम लोग कील डालेंगे, लेकिन चढ़ाई द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ती ही जा रही थी, और हमारी सारी पार्टी चली जा रही थी, चली जा रही थी।"[3]

४. **दार्शनिक**—दार्शनिक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें भारतीय दृष्टि से जीवन में दार्शनिकता का महत्व आँका गया हो। जीवन में दार्शनिकता का बड़ा महत्त्व है। प्रकृति की सौम्य गम्भीर मूर्ति में हम उसी दार्शनिक की छटा को व्याप्त पाते हैं जो हमें अध्ययनशीलता एवं मानसिक स्थिति आदि से उत्पन्न होकर प्राप्त होती है। यात्रा-साहित्य के लेखकों ने भी प्रकृति में जीवन-दर्शन के विभिन्न चित्रों को आँकने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर एक-दो उदाहरण दृष्टव्य होंगे। अपने सन्तुलित एवं संयमित जीवन-दर्शन को व्यक्त करते हुए स्वामी सत्यदेव परिव्राजकजी ने लिखा है—

"जो लोग मध्य पथ का अवलम्ब नहीं करते, जो आँधी और बगोले की तरह अपने जीवन-चक्र को चलाते हैं, सफलता न मिलने पर उनकी कमर टूट जाती है, वे

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ४६
२. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ६०
३. अमरनाथ की यात्रा—यशपाल जैन, पृ० ६१

थककर बैठ जाते हैं और निराशा-भरी दृष्टि से अपने पिछले बरबादी के कृत्यों का सिंहावलोकन करते हैं, उस समय उनकी छाती फटने लगती है और वे कायर हो जाते हैं। भाग्यवान हैं वे जो अति के वशीभूत होकर किसी काम में सफलता प्राप्त कर लें, या सफलता के संग्राम में बलिदान हो जाएँ, पर वे बड़े अभागे हैं जो सफलता न मिलने पर अपनी की हुई बरबादी के रोमांचकारी दृश्यों के साक्षी बनते हैं।"[1]

इसी प्रकार हिमालय-परिचय में राहुलजी ने अपनी दार्शनिक संवेदनात्मकता एवं समन्वयात्मक प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए लिखा है—

"मैं आकृष्ट होता था, उस अगर-तगर की धूप-धूमों और फूलों की नाना प्रकार की मधुर सुगंधियों से, जो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले के मन्दिरों में उड़ती थीं। अब भी मुझे मालूम होता है, कि वह मेरी नासिका द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर दिमाग को भीनी-भीनी सुगन्ध से भर रही है। उन जगमगाते शिवालयों में सर्वत्र सौन्दर्य, कला और स्वच्छता का अखण्ड राज्य था। सभी वस्तुएँ शिवं सुन्दरं थीं। मुझे यह भी मालूम है कि यह सब वैभव उन दास-दासियों के परिश्रम से पैदा हुआ था, जो सारी जनता की चौथाई थी। शिवं सुन्दरं के लिए यह बड़े कलंक की बात थी, तो भी स्मृति जिस भव्य रूप को सामने चित्रित करती है, उसे देखकर थोड़ी देर के लिए आनन्द और आकर्षण हुए बिना नहीं रह सकता, विशेषकर जब कि मैं जानता हूँ कि वह दासता का युग फिर लौटकर नहीं आ सकता, मनुष्य के पूर्ण स्वतन्त्र होने को कोई नहीं रोक सकता। काली निशा दुनियाँ के बहुत-से भागों से दूर हो चुकी है वह बाकी भागों में भी देर तक नहीं रह सकती।"[2]

१. आलंकारिक शैली—आलंकारिक शैली से हमारा तात्पर्य अलंकारयुक्त शैली से है। भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में अलंकार शब्द का प्रयोग सामान्य और विशेष दो अर्थों में होता था।[3] सामान्य अर्थ के अनुसार गुण, रीति आदि सभी अलंकार माने जाते थे। विशेष अर्थ में जब अलंकार शब्द का प्रयोग होता था तब उससे अनुप्रासादि शब्दालंकार और उपमादि अर्थालंकार का बोध होता था। आज इसका प्रयोग उपमा और अनुप्रास के लिए ही होता है। शैली में ध्वनि की अनुकूल और उपयुक्त योजना से चमत्मकार एवं सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। साथ ही

---

१. मेरी जर्मन यात्रा—सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ११४

२. हिमालय परिचय—भाग १, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४३०

३. तैः शरीरंच काव्यानाम लंकाराश्च दर्शिताः—दण्डी, काव्यादर्श, परि० १, श्लोक १० को सावलंकार इत्याहः—

सौन्दर्यमलंकारः (प्रथम अधि० प्रथम अध्याय २ सू०)

अलंकृतिरलंकारः। करण व्युत्पत्या (अलंक्रियतेऽनेनेति) पुनः अलंकार शब्दोऽयमुपमादिपु वर्त्तते।

—वामन काव्यालंकार (सूत्रवृत्ति)

वाक्यों की विलक्षणता एवं ध्वनियों की चमत्कृत-योजना द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकृष्ट होता है और ध्वन्यात्मक वातावरण की सृष्टि होती है। अनुप्रास एवं यमक आदि अलंकार आलंकारिक शैली के अन्तर्गत आने पर ललित ध्वनिलहरी का सृजन करते हुए उक्ति की प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि करते हैं। शैली में इनसे चमत्कार भी आ जाता है।

आलंकारिक शैली में कृतिकार अलंकार के योग से अपनी अनुभूति मात्र उक्ति को एवं अमूर्त भावना को एक मूर्त आकार देता है, जिसके कारण उसकी उक्ति अधिक प्रभावशील हो उठती है। जब केवल प्रस्तुत वर्णन में किसी वस्तु का रूप, गुण अथवा उसकी क्रिया का बिम्ब ग्रहण कराने में रचनाकार समर्थ नहीं होता तब कभी तो वह लक्षण-शक्ति का आश्रय लेकर और कभी समर्थ विशेषणों की सहायता से, कभी वस्तु के सांगोपांग भव्य वर्णन से और कभी-कभी अप्रस्तुत की योजना से सादृश्यमूलक अथवा असादृश्यमूलक अलंकारों का आश्रय लेकर वह वस्तु के रूप, गुण अथवा क्रिया का तीव्र अनुभव कराता है। इसी भाँति भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए भी रचनाकार को कभी-कभी अप्रस्तुत का आधार लेना पड़ता है। अलंकारों की सहायता से लेखक की शैली अधिक सजीव, गतिशील और प्रभावोत्पादक हो उठती है। परन्तु रचनाओं में अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में न होना चाहिए। उचित अवसर पर अलंकारों के प्रयोग से विवेचनीय अथवा वर्णनीय विषय की रमणीयता वृद्धि होती है सही, पर यदि रचना के आरम्भ से अन्त तक अलंकृत शैली की भरमार होगी तो कृति की रमणीयता तो विशिष्ट हो ही जाएगी, साथ ही पाठकों का जी भी ऊबने लगेगा।

आलंकारिक शैली में विषय-वस्तु के स्पष्टीकरण की अपेक्षा भाषा को अलंकृत या अतिरंजित करने की प्रकृति भारतेन्दुजी में विशेष रूप से मिलती है। इनकी आलंकारिक शैली में कहीं संस्कृत तत्सम पदावली की बहुलता है। कहीं उर्दू शब्द-समूह अपने चलते और अलंकृत दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है। लखनऊ-यात्रा में वे लिखते हैं—

"नगर पुराना तो नष्ट हो गया है जो बचा है वह नई सड़क से इतना नीचा है कि पाताल लोक का नमूना-सा जान पड़ता है, मसजिद बहुत-सी हैं, गलियाँ सँकरी और कीचड़ से भरी हुई बुरी गन्दी दुर्गन्धमय। सड़क के घर सुथरे बने हुए हैं, नई सड़क बहुत चौड़ी और अच्छी है, जहाँ पहले जौहरी बाजार और मीना बाजार था वहाँ गदहे चरते है और सब इमामबाड़ों में किसी में डाकघर, कहीं अस्पताल, कहीं छापाखाना हो रहा है। रूमी दर्वाजा नवाब आसिफुद्दौला की मसजिद और मच्छी भवन का सरकारी किला बना है। बेदमुश्क के हौजों में गोरे मूतते हैं।"[1]

---

१. कविवचन सुधा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भाग २, सं० २२, श्रावण कृष्ण ३०, सं० १९२८, पृ० १७३

हरिद्वार के निम्नलिखित वर्णन में आलंकारिक शैली का संस्कृत-समन्वित पद-विन्यास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में देखते ही बनता है। वे लिखते हैं—

"यह भूमि तीन ओर सुन्दर हो हरे-भरे पर्वतों से घिरी है। जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की बल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानों एक पैर से खड़े तपस्या करते हैं और साधुओं की भाँति, घास, ओस और वर्षा अपने ऊपर सहते हैं। अहा! इनके जन्म भी धन्य हैं जिनसे अर्थी विमुख जाते ही नहीं। फल-फूल, गंध, छाया, पत्ते, छाल, बीज, लकड़ी और जड़ यहाँ तक कि जले पर भी कोयले और राख से लोगों का मनोरथ पूर्ण करते हैं। सज्जन ऐसे कि पत्थर मारने से फल देते हैं। इन वृक्षों पर अनेक रंग के पक्षी चहचहाते हैं और नगर के दुष्ट वधिकों से निडर होकर कलोल करते हैं। वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती थी, मानों हरे गलीचा की यात्रियों के विश्राम के हेतु बिछायत बिछी थी। एक ओर त्रिभुवनपावनी श्री गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता-सी दिखाई देती है।"[1] अपनी विदेश यात्रा में लूजान का वर्णन करते हुए पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने लिखा है—

"लूजान द्राक्षालता मण्डपों से आवृत्त हैं। झील के आस-पास के हरित भू-भाग पर द्राक्षा की हरित लताएँ अंगूर के सुभग झूमर लटकाए प्रकृति सुन्दरी के स्वागत के लिए बन्दनवार की तरह मालूम होती हैं। लूजान के मनोरम उद्यान और हरित वनराजी में द्राक्षालता की छटा अनुपमेय है।...वहाँ की उद्यानमयी झील का तट और आल्प्स की पर्वतमाला हिमाच्छादित शृंग को लिए रविरश्मि में रजत-परिधान किए विलक्षण मालूम होती है, और रात में रजत चन्द्रिका छिटकने पर अपनी अपूर्व आभा फैला देती है।"[2]

२. **कल्पनात्मक शैली**—कल्पना क्लप धातु व्यन्त से 'युच' अन प्रत्यय करने पर बनता है।[3] क्लप का अर्थ होता है समर्थ और इस प्रकार कल्पना का अर्थ-सामर्थ्य हो जाता है। कल्पना बुद्धिजनित शक्ति होती है जिसके सहारे लेखक बहुत-सी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का भी निर्माण कर लेता है। पाश्चात्य साहित्य के विद्वानों ने कल्पना के लिए 'इमेजिनेशन' शब्द का प्रयोग किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने पहले इमेजिनेशन का अर्थ केवल बिंब, इमेज बनाने की शक्ति को ही माना; पर कालान्तर में उसके भेद किए। प्रथम को मनोवैज्ञानिकों ने रिप्रोडक्टिव इमेजिनेशन

---

१. भारतेन्दु के निबन्ध—संपादक डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ७०, सरस्वती मंदिर, बनारस, सं० २००८

२. सागर-प्रवास—पं० सूर्यनारायण व्यास पृ० १५६-५७

३. काव्य-विमर्श—पं० रामदहिन मिश्र, पृ० ३१४, प्र० सं० १९५१, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना

और द्वितीय को प्रोडक्टिव इमेजिनेशन कहा।[1] निष्क्रिय कल्पना के अन्तर्गत विम्ब, घटनाओं का अनुगमन करता चलता है परन्तु सृजनात्मक कल्पना की शक्ति न केवल पुराने विम्बों को स्मृति के सहारे एक विशिष्ट दिशा में आगे बढ़ती है, वरन् उनको एक विशिष्ट अवस्था तक पहुँचाने में समर्थ भी होती है। इस स्थान पर पहुँचकर पुरातन बिम्ब नया रूप धारण करता है।[2] संस्कृताचार्यों ने कल्पनात्मक शैली को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है। रुद्रट इसे प्रतिभा की संज्ञा देते हैं।[3] आचार्य मम्मट कल्पना को शक्ति का बीजरूप तथा संस्कार-विशेष मानते हैं।[4] शिवनारायण टंडन सोलन के पर्वतों की यात्रा में प्राकृतिक वातावरण से विभोर हो लिखते हैं—

"पशु-पक्षियों का कलरव, उनकी एक-एक तान, प्रभाती गान-सा आनन्द दे रही है। शुक-सारिकाओं के समूह जिस आनन्द से बैठे हुए पीयूषवर्षा कर रहे हैं, उसमें बड़ा रस है। चकोर आनन्द मना रहे हैं। खंजन शरद ऋतु का आगमन जानकर पहाड़ों पर आ गए हैं। यहाँ इतने तरह के, इतने रंगों के और आकार-प्रकार के छोटे, मझोले और बड़े पक्षी हैं और हम उनका, प्रत्येक का कैसे वखान करें, हाँ, प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना में सभी रत हैं, सभी तल्लीन हैं।"[5] खातीपिनुरी की यात्रा में फक्कड़ भी लिखते हैं —

"जिन्होंने कभी हिमालय के दर्शन नहीं किए उनके लिए, शिमला, नैनीताल इत्यादि अनेक हिल स्टेशनों पर जाकर अपनी इस अभिलाषा को पूरी करना सम्भवतः यथेष्ट हो किन्तु जिन्होंने अनेक बार ये स्थान देखे हैं, उन्हें हिमालय के गर्भ में जाकर वहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्य देखने की अदम्य इच्छा हो आती है। प्रकृति के एकान्त उपासकों को, हिमाच्छादित गगनचुम्वित पवित्र शिखर, झर-झरकर वहते हुए निर्मल झरने और शिलाओं से क्रीड़ा करती हुई पार्वती नदियों के कल-कल शव्द द्वारा निनादित सघन वन से परिपूर्ण उपत्यिकाएँ प्रवल रूप से आकर्षित करती हैं।"[6]

३. **चित्रात्मक शैली**—चित्रात्मक शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें कि लेखक की अभिव्यंजना में कुछ चित्रों का स्पष्ट चित्रण हो। अर्थात् उसकी शैली से ही हम कुछ चित्रों का दर्शन कर सकें। शव्द-चित्रांकन के लिए सबसे अधिक

---

१. In constructive imagination, on the other hand the successive ideas not only have a directions, but they also drive forward to an end, namely the creation

—Encyclopaedia Americana. Vol. XIV, page 707.

२. Ibid, page 707-708.

३. प्रतिमेत्यपरेरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति—रुद्रट

४. शक्ति कवित्व बीजरूपः संस्कार विशेषः। यां विना काव्यं न प्रसरेत।

—काव्य प्रकाश—मम्मट, प्रथम उल्लास, सूत्र ३ की व्याख्या

५. सोलन के पहाड़ों में—शिवनारायण टंडन, वीणा—फरवरी, १९३८, पृ० ३१३

६. खातीपिनुरी की यात्रा—श्रीयुत फक्कड़—विशालभारत, जनवरी १९३४, पृ० ८५

उपयोगी और उपादेय शैली यही है। इस शैली का मुख्य उपयोग किसी वस्तु या भाव के चित्र-वर्णन में तथा किसी स्थान, दृश्य आदि के विशेष चित्रों का दिग्दर्शन कराने में होता है।

पर्वती दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण करते हुए 'किन्नर देश' में राहुलजी ने लिखा है—

"ऊपर की ओर से पानी के श्वेत झरने झर रहे थे। पर्वतों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से रजत की भाँति हिम चमक रहा था, जिन्हें देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता था। शौलबो के मोटे-मोटे नंगे वृक्ष मंदिर के चारों ओर खड़े थे। उनकी पत्तियाँ जाड़े में ही हिमपात से गिर गई थीं। शौलबो वृक्ष की पत्तियाँ पीपल की पत्तियों के समान होती हैं। यही वृक्ष यहाँ के लोगों का प्रधान काष्ठ-वृक्ष है।"[1] इन पंक्तियों में राहुलजी ने पर्वतीय दृश्य का सुन्दर चित्र बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत कर दिया है। गिरि-मालाओं पर एक ओर झरने गिर रहे हैं, दूसरी ओर हिम का सूर्य के प्रकाश से चमकना आदि कितने सुन्दर चित्र हैं जो स्पष्ट रूप से समक्ष ही मालूम होते हैं।

सेठ गोविन्ददास अपने ग्रंथ 'पृथ्वी-परिक्रमा' में इसी भाँति काश्मीर और स्विटज़रलैंड के चित्रों की तुलनात्मक समालोचना प्रस्तुत करते हुए चित्रात्मक और कल्पनात्मक शैली में लिखते हैं—

"काश्मीर की तरह स्विटज़रलैंड भी भूलोक का स्वर्ग है। काव्यमय प्रवृत्ति के लोगों ने उसकी तुलना मृग से की है। ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियों के हिमाच्छादित शिखर, मुस्कराती-खिलखिलाती झीलें, पुष्पों और हरियाली से लहलहाते चरागाह, घने छायादार जंगल और नये-पुराने गाँव व शहर सचमुच ही स्विटज़रलैंड को इतना सुन्दर और आकर्षक बना देते हैं कि एक मृग-मरीचिका बनकर पर्यटक की स्मृति में सदा ही उलझा रहता है।"[2] सेठजी का यह आलंकारिक चित्रण बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है।

'यूरोप की सुखद स्मृतियों' में इसी भाँति स्वामी सत्यदेवजी ने वायुयान द्वारा की गई यात्रा में देखे गए भावात्मक चित्र का चित्रण किया है—

"मैं खिड़की के शीशे द्वारा नीचे के दृश्य देख रहा था। उड़नखटोला कभी सात सौ फीट पर हो जाता कभी फिर ऊपर आ जाता। नीचे गाँव-के-गाँव, खेतों-के-खेत तथा कस्बे गुजर रहे थे। ईश्वर की कृपा से आज दिन हमारे मन के लायक था। खिली हुई धूप—बादल का नाम नहीं—सब-कुछ साफ दिखलाई देता था। सड़कें साँपों की तरह बलखाती हुई सफेद सूत की तरह जान पड़ती थीं। बड़े-बड़े

---

१. मेरी यूरोप यात्रा—राहुल सांकृत्यायन, पृ० २२१
२. पृथ्वी-परिक्रमा—सेठ गोविन्ददास, पृ० ६४

जंगल मीलों लम्बे, ऊपर से कितने छोटे दिखलाई पड़ते थे। सचमुच मुझे मज़ा आ गया।[1] गोविन्दहरि फडके ने अपनी तीर्थयात्रा में पर्वतीय दृश्य का चित्र बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है—

"भागीरथी के असंख्य जलबिन्दु शिलाखण्ड से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके तुषारों से इन्द्रधनुष की भाँति विविध छटाएँ दीख पड़ती हैं। वे तुषार फिर शिवलिंग पर आकर गिरते हैं। इस प्रकार वहाँ कई अपूर्व छटाएँ दीख पड़ती हैं। स्वर्ग से गंगा उतरी इस कारण उसे निम्नगा अर्थात् नीचे उतरनेवाली कहते हैं।··· सुमेरु पूर्व की ओर होने से उसके हिमाच्छादित भाग पर सूर्य-किरणों का परावर्तन होते समय यह नगराज हीरक खचित वस्त्र धारण किए हुए जान पड़ता है।"[2]

भाषा

भाषा भावाभिव्यक्ति का प्रधान साधन है। काल और परिस्थिति के अनुसार यह विकास को प्राप्त होती है। प्रत्येक साहित्यिक रचना को महत्व प्रदान करनेवाली प्रमुख सहायिका उनकी भाषा है। यही कारण है कि भारतीय विद्वानों ने भाषा को काव्य एवं साहित्य का शरीर मानकर उसे सौष्ठव प्रदान करनेवाले हेतुओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में भाषा के औचित्य पर पद-औचित्य, वाक्य-औचित्य, प्रबन्धार्थ-औचित्य आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी गद्य का अभाव था। पश्चिम में गद्य के विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण गद्य का विकास अधिक तीव्रगति से हो रहा था। उस समय के स्फुट उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि हिन्दी प्रदेश की राजनैतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के गढ़-प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान में ही थे। मुसलमानी शासन-काल में खड़ीबोली का प्रचार बढ़ा और समस्त उत्तर भारत में इसका बोलबाला हुआ। इसने मुसलिम दरबारों में अपना स्थान बना लिया जिसका प्रभाव हिन्दी लेखकों पर पड़ना आवश्यक था ही। परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्यिक तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में खड़ीबोली प्रधानता ग्रहण करती गई और उसके परिणामस्वरूप एक नवीन युग की नवीन प्रेरणा से गद्य में स्थिरता आई। खड़ीबोली गद्य के विकास के साथ आलोच्यकाल में अधिकतर उपयोगी और व्यावहारिक विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ ही निर्मित हुईं। जिन-जिन साधनों द्वारा खड़ीबोली गद्य का विकास हुआ लगभग उन सभी में नवीन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए व्यावहारिक दृष्टि-कोण ही सन्निहित था। इसी गद्य द्वारा हिन्दी यात्रा-साहित्य का भी प्रादुर्भाव हुआ, और यात्रा-सम्बन्धी छुट-पुट लेख लिखे जाने लगे।

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ६४
२. मेरी तीर्थ-यात्रा—गोविन्दहरि फडके—चित्रमयजगत् सितम्बर, १६१८, पृ० २४०

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में गद्य में विशृंखलता आ गई और एक अराजकता-सी फैल गई। लेखकों के लिए कोई आदर्श सामने न था, उन्होंने अपना आदर्श-पथ स्वयं निश्चित किया और प्रत्येक लेखक ने अपनी मनमानी भाषा, भाव, नियम और विधान प्रस्तुत कर लिया। गद्य की निश्चित भाषा, प्रतिष्ठित परम्परा और मर्यादित आदर्श न था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य की भाषा को एक निश्चित दिशा दी जिस पर चलकर बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त ने गद्य-शैली को भी जन्म दिया था। प्रारम्भ में लेखकगण कुछ थोड़े से साहित्यिक दृष्टिकोणवाले एक वर्गविशेष के लिए लिखते थे। इस वर्ग में पाठक और लेखक सभी वही लोग थे। धीरे-धीरे हिन्दी प्रचार का झंडा ऊँचा हुआ और लेखकों, पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई। इधर लेखकों ने मातृभाषा की सेवा का महान आदर्श लेकर सेवा का कार्य आरम्भ कर दिया। लेखकों को जो कुछ रुचा, जो भी समझ में आया उसे उन्होंने अपनी मौलिक भाषा में लिख डाला। फलतः भाषा एकदम विशृंखल हो गई। साथ ही भाषा की अनेक समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं।

पहली समस्या भाषा की अराजकता की थी। ऐसे समय में संस्कृत, उर्दू, बंगला, मराठी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में हिन्दी का प्रचार बढ़ा और असंख्य लेखक निकलने लगे जिनकी भाषा और भाव में अन्य भाषाओं की छाप स्पष्ट होती थी। ऐसा होना अवश्यम्भावी था। हमारे यात्रा-साहित्य के लेखक भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। अपने देश के प्रति विश्वासघात करनेवाले चीनियों को ठाकुर साहब ने खूब खरी-खोटी सुनाई है। वह लिखते हैं—

"सो उस छारखार जले-भुने खाकस्याह जनहीन टीनसिन में भी मुझ को कई कुल-कलंक देशकालिमा चीना मूर्तियाँ रेशमी पोशाकें पहने, लम्बी चोटी लटकाए दीख पड़ी थीं। यद्यपि ये सब हमारे सहायक थे, भेदिए थे, जासूस थे, देश की सब प्रकार की खबरें देते थे, रसद-पानी की भी सहायता करते थे और कटाकट अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाएँ भी बोलते थे, परन्तु सचाई के अनुरोध से अपने गुरुवर्ग अंग्रेजों के मुँह से भी ऐसा ही सुनते रहने के सबब से मैंने इन चीनियों को कुलकलंक और देश की कालिमा कहा है।"[१]

इसी प्रकार के एक उदाहरण में पर्य्यटक महाशय के हृदय में जो विचार उठे उनकी बानगी देखिए—

"गुलामी के पंजे में पड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता की लड़ाई जब प्रारम्भ होती है तब तो वह प्रथम-प्रथम थोड़े ही मनुष्यों के द्वारा हुआ करती है। किन्तु यदि स्वतन्त्रता की विजय हुई तो यही छोटा दल देशभक्तों के नाम से इतिहास के पृष्ठों पर अंकित होता है और आनेवाली जातियाँ इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं,

---

१. चीन में तेरह मास—ठा० गदाधरसिंह, पृ० ३१७

इनका अनुसरण करती हैं और ये युवकों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाते और पूजे जाते हैं। यदि गुलामी का जुआ हटाने की चेष्टा करनेवाले वीरों की हार हुई तो वे ही **बागी** पुकारे जाते हैं और भविष्य जाति **जालियों** के डर के मारे उनके नाम से डरती है। अपने को प्रतिष्ठित समझानेवाले लोग इन्हीं देशभक्तों को दुष्ट, दुरात्मा, पापी कहकर पुकारते हैं और उनसे घृणा करते हैं। हा! काल की विचित्र गति है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरणों में मोटे शब्द उर्दू और फारसी के हैं। एक ओर उस युग के बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी आदि प्रसिद्ध उपन्यासकार सरल उर्दू-मिश्रित हिन्दी अथवा साधारण बोलचाल की हिन्दुस्तानी का प्रयोग कर रहे थे जिसमें चेहला, महराना आदि काशी के बोलचाल के शब्द भी आ जाते थे। दूसरी ओर लज्जाराम मेहता आदि ब्रज की बोलचाल की भाषा-मिश्रित सरल हिन्दी में उपन्यासों का ढेर लगा रहे थे। काशी के लेखकगण एक विशेष भाषा का उपयोग कर रहे थे जिसमें शुद्ध संस्कृत तत्समों का आधिक्य था, जैसे—

"वृन्दारक-वृन्द रंगस्थली हिममय से ले तुरंग-तरंग संकुलित तोयनिधि प्रशस्त भारत सागर तट लों, एवं नीलाचल से आरब्ध उपसागरस्थ श्री द्वारिकापुरी तक ऐसी कौन तीर्थमयी पुण्यस्थली है।"[2]

दूसरी समस्या व्याकरण की थी। यात्रा-साहित्य के लेखक भ्रमण के उत्साह में यह बिलकुल ही भूल गए थे कि व्याकरण भी कोई आवश्यक चीज है। इसी कारण लेखकों में अनेक व्याकरणिक अशुद्धियाँ देखने को मिलती हैं। यहाँ पर उदाहरणार्थ हमने केवल स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (यात्रा साहित्य के एक प्रमुख लेखक) के यात्रा-साहित्य से ही कुछ उद्धरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। देखिए—(क)

	मूल	संशोधित
स्वरगत लेखन त्रुटि—	बिचारे[3]	बेचारे
व्यंजनगत लेखन त्रुटि—	जूँही[4]	ज्योंही
	प्रबध्न[5]	प्रबन्ध

१. पृथ्वी-प्रदक्षिणा—शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ६३
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका—द्वितीय भाग, १८९८, पृ० ६६
(क) ये सभी उद्धरण सत्यदेव परिव्राजकजी के हस्तलिखित लेखों से उद्धृत किए गए हैं। ये हस्तलिखित लेख आज भी काशी नगरी प्रचारिणी सभा के कला भवन में रक्षित हैं। ये सरस्वती में प्रकाशनार्थ आए थे।
३. अमेरिका में विद्यार्थी जीवन—सरस्वती १९०८, पृ० ३
४. वही—पृ० २
५. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती, १९११, पृ० ४

	मूल	संशोधित
संज्ञा सम्बन्धी—	फासला पर[१]	फासले पर
सर्वनाम सम्बन्धी—	कुछ एक ने[२]	कई एक ने
विशेष्य विशेषण सम्बन्धी—	उनके अभियान का चकनाचूर हो गया[३]	उनका अभियान चकनाचूर हो गया
क्रिया सम्बन्धी—	जिस दिन आकाश शुद्ध हो चोटियाँ दीख पड़ती[४]	जिस दिन आकाश साफ रहता है—चोटियाँ दीख पड़ती हैं।
अव्यय सम्बन्धी—	आपको कष्ट ही होगा[५]	आपको व्यर्थ कष्ट होगा
लिंग सम्बन्धी—	धूल नहीं उड़ता[६]	धूल नहीं उड़ती
वचन सम्बन्धी—	कुछ शब्द सुनाई दिया[७]	कुछ शब्द सुनाई दिये
सन्धि सम्बन्धी—	बरम्नामदे में[८]	बरामदे में
कारक सम्बन्धी—	आधी संख्या हमारे देश की मूर्खा स्त्रियों की है[९]	आधी संख्या हमारे देश में मूर्खा स्त्रियों की है।

तीसरी समस्या थी भाषा में शब्दों के अभाव की। हिन्दी साहित्य में शब्द-भंडार इतना अपर्याप्त था कि उसमें सभी भावों की व्यंजना नहीं हो सकती थी और बोलचाल की भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए देखिए—

"सैकड़ों अहरे लगे हुए हैं कोई गाता है कोई बजाता है कोई गप हाँकता है।"[१०]

"अभी एक गँवार भाट आया था बेतरह बका फूहर औरतों की तारीफ में एक बड़ा भारी पचड़ा पढ़ा।"[११]

इसी प्रकार यात्रा-साहित्य के अन्य लेखकों ने भी शब्दों का प्रयोग किया, जैसे मिट्टी पलीद, अलग, भमरा, ठसाठस, झमेला आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

---

१. अमेरिकन स्त्रियाँ—सरस्वती १९०८, पृ० ४
२. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती १९०६, पृ० १०
३. वही—१९११, पृ० ९
४. वही—सरस्वती—१९११, पृ० ११
५. अमेरिका की स्त्रियाँ—सरस्वती १९०८, पृ० १०
६. अमेरिका भ्रमण—वही १९११, पृ० १२
७. अमेरिका के खेतों पर मेरे कुछ दिन—सरस्वती १९०६, पृ० १३
८. अमेरिका भ्रमण—सरस्वती; १९११, पृ० ११
९. शिकागो का रविवार—सरस्वती, १९०७
१०. सरयूपार की यात्रा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका भाग ६, पृ० १२
११. भारतेन्दु के निबन्ध—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ५६

ये बोलचाल के शब्द समस्त हिन्दी प्रदेशों में नहीं समझे जा सकते थे—फिर भी अर्थ-व्यंजना के लिए इनका प्रयोग करना आवश्यक था। शब्द-भण्डार के अभाव का मूलकारण यह था कि हिन्दी में अब तक केवल पद्य ही लिखा जाता था, गद्य का नितान्त अभाव-सा था।

चौथी समस्या हिन्दी का उर्दू के साथ संघर्ष था। यही सबसे जटिल समस्या थी। परिणामस्वरूप खिचड़ी भाषा का प्रयोग होता था। इस प्रकार की भाषा के लिए भारतेन्दुजी की सरयूपार की यात्रा का उद्धरण यथेष्ट होगा। भारतेन्दुजी लिखते हैं—

"कल साँझ को **चिराग** जले रेल पर सवार हुए ० यह गए वह गए ० राह में **स्टेशनों** पर बड़ी भीड़ ० न जाने क्यों ? **और मजा** यह कि पानी कहीं नहीं मिलता था ० यह **कम्पनी मजीद के खानदान** की मालूम होती है कि **ईमानदारों** को पानी तक नहीं देती या **सिप्रस** का टापू **सर्कार** के हाथ आने से और शाम में **सर्कार** का **बन्दोबस्त** होने से यह भी **शामत** का मारा **शामी तरीका अखतियार** किया गया है कि शाम तक किसी को पानी न मिले ० **स्टेशन** के नौकरों से **फर्याद** करो तो कहते हैं ० कि डाक पहुँचावै रोशनी दिखलावै कि पानी दे ० **खैर** जों-तों कर अयोध्या पहुँचे।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में बड़े टाईप के शब्द विभिन्न भाषाओं के हैं।

इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल में गद्य की साहित्यिक भाषा, व्याकरण और शब्द-समूह इत्यादि सभी दृष्टियों से अनिश्चित रूप में विद्यमान थी। मुसलमान राज्यों एवं अंग्रेजों के कारण भाषा में व्यावहारिकता उत्पन्न हो गई और उनमें विभिन्न भाषाओं के शब्दों का मिश्रण हो गया। यह हम जानते हैं कि भाषा की प्रवृत्ति सदैव विकासोन्मुख रही है और जितने ही व्यापक रूप से किसी भी काल की भाषा अपने समाज में प्रचलित शब्दों को आत्मसात करके चलती है भाषा उतनी ही दीर्घजीवी होती है। इस प्रवृत्ति को छोड़ते ही भाषा का विकास रुक जावेगा। संस्कृत भाषा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो भाषा के शब्द-समूह का भी अपना एक विशिष्ट महत्व होता है। किसी भी काल की भाषा क्यों न हो वह उस काल की भाषा के चार रूपों में शब्दों को अपनाती है। तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी। तत्सम शब्द वे होते हैं जिन्हें किसी काल की भाषा अपने पूर्ववर्ती साहित्य में प्रयुक्त शुद्ध रूपों को ज्यों-का-त्यों अपना लेती है। वे संस्कृत से निकलकर अपने विशुद्ध और वास्तविक रूप में हिन्दी साहित्य में व्यवहृत होते हैं। हिन्दी यात्रा-साहित्य में ऐसे शब्दों की संख्या अधिक परिमाण में है। ऐसे शब्दों की संख्या आज दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। क्योंकि

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—हरिश्चन्द्र चन्द्रिका—Vol. 6, No. 8, page, 11, February 1879.

समय और स्थिति के अनुसार हिन्दी को ज्यों-ज्यों नवीन आवश्यकताएँ पड़ती हैं, वह संस्कृत से नए-नए शब्दों को ग्रहण करती जा रही है। उदाहरणार्थ कुछ तत्सम शब्द देखिए—देव, स्वर्ग, पाताल, नाग, मनुष्य, राजा, पिता, नदी आदि।

इसके साथ ही कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो कालान्तर में जनता द्वारा प्रयुक्त होते-होते रूप परिवर्तित कर लेते हैं और अपने इस परिवर्तित रूप में तत्कालीन साहित्य में प्रयुक्त होने लगते हैं, ऐसे शब्द तद्भव होते हैं। ये शब्द संस्कृत से सीधे हिन्दी में न आकर प्राकृत से होते हुए आए हैं। जैसे-साँप, काज, गाय, गोरु, राजपूत आदि।

तीसरे प्रकार के शब्द 'देशज' कहलाते हैं। इन शब्दों का विकास जनता के बीच उनकी बोलियों से होता है और उनका कोई भी पूर्ववर्ती साहित्यिक रूप उपलब्ध नहीं होता। जैसे—टिकाऊ, चालू, पिल्ला, तेंदुआ, खिड़की आदि।

चौथे प्रकार के शब्द विदेशी शब्द कहलाते हैं, जिनका किसी भी काल की भाषा में अपना एक विशिष्ट महत्व होता है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों में हमें अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत मिलता है। यहाँ पर कुछ शब्दों को उदाहरणस्वरूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है—

आबोहवा, मुलाकात, तकलीफ, ताकीद, हिफाज़त, तदारुक, हैसियत, पोशाक, जल्दबाज़ी, दिक्कत, तज़बीज़, खुशनुमा, चन्दरोज़ा, किसमत, शिकायत, हैरानी, पेशराज, नफरत, तिजारत, मुकाबला, मुस्तैद, बरखिलाफ़, जुल्म, नज़ाकत, फुरसत, इतिफ़ाक, मशगूल, जंगीजाकत, जबर्दस्त, मुताबिक, सहूलियत, तकाज़ा, मुनासिब, तसल्ली, हुकूमत, जिहालत, लतीफा, संजीदगी, इश्तहारबाज़, कुदरत, खि़दमतगार, खौफनाक, नज़ारा, मिलकियत, नज़दीक, रिवाज़, दिल्लगी, शौक, मोहलत, कमज़ोरी, बदौलत, मौके, खुशामद, खि़लाफत, हिमाकत, नज़रबन्दी, मुकम्मिल, बाशिन्दे, कमबख्ती, जल्दबाजी, हिदायतें, इज़ाज़त, सख्त, इलाका, तिजारत, नावाकिफ, गुंजाइश, तालीम, मुद्दत, तजुरबे, बरबादी, ताज्जुब, बदकिस्मत, उसूल, हमदर्दी, आलीशान, अलबत्ता, लियाकत, तंगदिली, शिफारिश, वाक़फियत, मुकर्रर, ज्यादती, आमदरफ्त, तफरीह, दरियाफ्त, तरद्दद, बेपर्वाह, फतवा, हिफ़ाज़त, नज़र, मिजाज़पुरशी, खा़के, वेदाग़, गफ़लत, गज़ब, इज़ाफा, शराफत, गुंजायश, खुशमिज़ाजी, मुलाज़िम, सुरूर, कयामत, कैफियत, शिकन, मिलकियत, मुसल्लम, खुराफात, मासूमियत, मज़हबी, बाजाप्ता, तरजीह, लाजिमी, अख्तियार, चहल-क़दमी, दिल्लगी, तज़र्बे, ज़िदादिल, रविश, फरमाया, पर्दानशीनी, शिकस्त, तक़सीम, परहेज़गार, बेशक, आमदरफ्त, खैरियत आदि आदि। इसी प्रकार अंग्रेजी भाषा के—क्रिश्चियन, फैन्सीफेयर, प्लेटफार्म, रेजिमेन्ट, रिफ्रेश्मेन्ट, माइल, ट्रेजिडी, नेशनलिस्ट, सर्टीफिकेट, फिलासफर, चाकलेट, सोडालेमनेड, चुरुट, आइसक्रीम, फिलासफ़ी, गवर्नमेण्ट, पालिसी, फैशन, सदर्नपेसफिक, इन्जेक्शन, प्रोपेगन्डा, ओपरेशन, रिपब्लिक, मैगज़ीन,

फाइल, ग्रामर, थैंक यू, इनवैलिड, सर्जरी, टाइफाइड, क्रिस्टान, फ्रास्ट, अम्यूनीशन, पायनियर, चियर्स इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है ।

भाषा के गुण—भाषा के तीन प्रधान गुण माने गए हैं, माधुर्य, ओज और प्रसाद । इन प्रधान गुणों के अन्तर्गत कुछ अन्य गुण भी लिए जा सकते हैं, जैसे—भावात्मक, रसात्मक, अभिव्यंजनात्मक, प्रवाहमयी, प्रांजल, मुहावरेदार, कहावतों से युक्त, अनुप्रासमयी एवं आलंकारिक भाषा इत्यादि ।

माधुर्य की मुख्य विशेषता हृदय को आह्लादित और द्रवित करना है, इसलिए संयोग शृंगार, करुण एवं शान्त रसों में इसकी विशेष रूप से स्थिति होती है। माधुर्य गुण में टवर्गी वर्णों का सर्वथा अभाव रहता है। क्योंकि टवर्गी वर्ण कर्णकटु होते हैं । अतएव ये कोमल भावनाओं का प्रकाशन सरलता के साथ नहीं कर पाते । 'हिमालय परिचय' में राहुलजी ने हरिगौरी का बड़ा माधुर्यमय चित्र खींचा है—

"मैं, मैंखंडा की खंडित हरिगौरी मूर्ति से ही बहुत प्रभावित था, किन्तु यहाँ मैंने शोभा और सौन्दर्य में अद्वितीय इस हरिगौरी मूर्ति को देखा। इसकी कोमल वंकिम रेखाओं में वही सौन्दर्य भरा था, जो कि अजन्ता के चित्रों में दिखाई पड़ता है, बल्कि पत्थर में ऐसा तन्वंग उत्कीर्ण करना संभव हो सकता है, इस पर आँखें विश्वास नहीं करती थीं। ललितासनस्थ हर के वामांक में अनुपम सौन्दर्यराशि की मूर्ति बनकर भूधरसुता विराजमान है।"[1] माधुर्यपूर्ण भाषा का एक उदाहरण हमें भारतेन्दुजी की 'हरिद्वार यात्रा' में भी मिलता है। देखिए—

"यह भूमि तीन ओर सुन्दर हरे-हरे पर्वतों से घिरी है जिन पर्वतों पर अनेक प्रकार की वल्ली हरी-भरी सज्जनों के शुभ मनोरथों की भाँति फैलकर लहलहा रही हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी ऐसे खड़े हैं मानों एक पैर से खड़े तपस्या करते हैं। और साधुओं की भाँति घास, ओस और वर्षा अपने ऊपर सहते हैं। अहा! इनके जन्म भी धन्य हैं जिनके अर्थी विमुख जाते ही नहीं। फल, फूल, गन्ध, छाया, पत्ते, छाल, बीज, लकड़ी और जड़ यहाँ तक कि जले पर भी कोयले और राख से लोगों का मनोरथ पूर्ण करते हैं । सज्जन ऐसे कि मारने से फल देते है। इन वृक्षों पर अनेक रंग के पक्षी चहचहाते हैं और नगर के दुष्ट वधिकों से निडर होकर कल्लोल करते हैं।"[2]

माधुर्य के बाद भाषा में ओज का महत्व होता है। चित्त में उत्साह के भाव को उद्दीप्त करना ओजगुण का मुख्य ध्येय होता है। इसमें संयुक्ताक्षरों, द्वित्व वर्णों, टवर्गों से युक्त शब्दों की योजना रहती है। यशपाल की उपमाएँ सर्वथा नवीन हैं, और उनके कारण भाषा में और अधिक ओज-शक्ति आ गई है । उपमाओं से

---

१. हिमालय-परिचय—राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४४१

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग ३, सेठ ब्रजरत्नदास—ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ९४३

जो बात लेखक कहना चाहता है वह और अधिक स्पष्ट हो जाती है। देहरादून और मसूरी का एक चित्र देखिए—

"पहाड़ियों से घिरी उस उपत्यका में जा मां की गोद में आँख मूँदकर सो जाने का-सा सुख मिलता है। वृक्षाच्छादित, सूनी और स्वच्छ सड़कें, परेड का विस्तृत मैदान और चारों ओर उमड़ती लहरों-सी हरियाली छाई पहाड़ियाँ। यह सब चित्र के समान जान पड़ता है। रात में मसूरी की पहाड़ी पर छिटकी बिजली की रोशनी मानों सूर्य की रानी दिन में वहाँ क्रीड़ारत हो अपना सतलड़ा हार भूल गई हो, वही रात में पड़ा चमक रहा है वातावरण की वह आर्द्र शीलता कैसी प्राणपोषक जान पड़ती है। संसार की व्यग्रता, उथल-पुथल तथा भयंकर संघर्ष से परे 'देहरा' किसी साधना रत के आश्रम के समान जान पड़ता है। जाने कब से मन में निश्चय कर लिया है मेरी कब्र, अगर बनी तो देहरे के दामन में ही बनेगी।"[1] अनुमानतः लेखक ने देहरादून की कभी यात्रा की होगी और वही विचार कहानी लिखते समय आ गया होगा तभी उसने इसका वर्णन किया है। यशपालजी अपनी रूस-यात्रा का ओजपूर्ण वर्णन करते हुए लिखते है—

"कप्तान के यह कार्ड बार-बार याद दिला देते थे कि विज्ञान द्वारा मनुष्य का सामर्थ्य कितना बढ़ गया है। कैसे वह प्रकृति पर राज्य कर रहा है। दूसरी ओर मनुष्य की आत्म-संहार की प्रवृत्तियाँ ? इसी प्रसंग में तो हमारी यात्रा थी।··· मनुष्य आत्मसंहार को करना नहीं चाहता। मनुष्य अपने विश्वास में आत्मरक्षा और आत्मविकास का ही प्रयत्न करता है लेकिन परिणाम विपरीत हो जाता है, या समाज के विकास के जो ढंग और प्रयत्न बीती हुई परिस्थितियों में उपयोगी थे, अब मनुष्य द्वारा अपनी परिस्थितियाँ बदल लेने पर हानिकारक हो रहे हैं।"[2]

प्रसाद-गुण का प्रयोग रसविशेष की सीमा में आबद्ध नहीं रहता वरन् उसकी स्थिति लगभग सभी रसों में रहती है। इसका मूल कारण यह होता है कि ओज और माधुर्य का भाषा के बाहरी रूप-शब्दों से ही सम्बन्ध रहता है जब कि प्रसाद का अर्थ से अधिक सम्बन्ध होता है। अज्ञेयजी जलप्रपात के दुग्धधवल फेन के आवर्त्त और वन-सरस्वती के अप्रतिहत संगीतमय वातावरण में बड़े बड़े श्वेत हरित पत्थरों को देखकर कह उठते हैं—

"स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस में बस गया था, और मैं मानों मुड़-मुड़कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊँगा, फिर आऊँगा ······ वह 'फिर आऊँगा' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं, किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। फिर आना वास्तव में

---

१. ज्ञानदान संग्रह—एक राज—यशपाल, पृ० २३

२. लोहे की दीवार के दोनों ओर—यशपाल, पृ० १८-१९

कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता"।[1] पं० सूर्यनारायण व्यासजी ने स्विटज़रलैण्ड का वर्णन करते हुए लिखा है—

"प्रकृति रमणी अपने वैभवोन्माद से पूर्ण यौवन का निखरा हुआ लावण्य निर्मल धवल सलिला विस्तृत झील के आइने में निहारा करती है। अपने मोहक रूप और सौन्दर्य की सुषमा देखने के लिए ही प्रकृति रानी ने तटनी के तीर पर अपना सौभाग्य-शृंगार सहित वास्तव्य किया है।"[2]

प्रवाहमयी प्रांजल भाषा में मुहावरों का प्रयोग अधिक होता है। भाषा के अन्तर्गत शब्दों की ध्वन्यात्मक शक्ति के साथ अर्थ की दृष्टि से भी शब्दों की विशिष्ट योजना की जाती है। कुछ क्रिया-व्यापारों का आश्रय लेकर भाषा के अन्तर्गत लाक्षणिक शैली का प्रयोग किया जाता है। शब्द की लक्षणाशक्ति को मुहावरों एवं कहावतों के अन्तर्गत विशेष रूप से प्रयुक्त किया जाता है। भाषा के अन्तर्गत मुहावरे की महत्ता को वर्णित करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है— "मुहावरे एक प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग ही हैं। प्रयोजन को लेकर जो लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, उन्हें चाहे कोई भाषा के घर से हटाकर भाव की संपत्ति कहे, पर रूढ़ प्रयोग तो भाषा का ही वैभव है।"[3] इससे स्पष्ट है कि मुहावरों का निर्माण अनुभवों को लेकर होता है। भाषा के अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने के साथ ही मुहावरे भाषा को भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी सफल बनाते हैं। मुहावरों का प्रयोग भाषा में प्रवाह ला देता है। साथ ही सुगमता से स्पष्टीकरण भी करता है। यात्रा-साहित्य के प्रमुख लेखकों की भाषा में भी मुहावरों का ऐसा ही सजीव प्रयोग किया गया है। लोकोक्तियों, कहावतों एवं सूक्तियों का भी सहज प्रयोग भाषा की विशेषता है। किसी-किसी लेखक ने नित्य जीवन में प्रयुक्त होनेवाली कहावतों का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार के कुछ उदाहरण दृष्टव्य होंगे—

'किन्नर देश की यात्रा' में राहुलजी ने लिखा है—"रोज पाँच मील पैदल चलने का कुछ व्रत कर लिया **'दूध का जला छाछ फूँक-फूँक कर'** आखिर शारीरिक श्रम की अवहेलना करके ही तो डायबेटिस को बुलौआ दिया था। सड़क के ऊपर ऊँचे देवदार दिखलाई पड़ते थे। आगे सड़क रक्षित वन-खंड में घुसी।"[4]

'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में सत्यदेवजी लिखते हैं— "सूर्य देव मेरे कमरे को अपने प्रकाश से ज्योतिपूर्ण कर रहे हैं। सामने बाग में पेड़ों के नवपल्लव, फूलों से लदी हुई टहनियाँ हल्के समीर में झूम रही हैं। कठोर शीत के बाद जर्मनी में बसन्त आरंभ हुआ है, नागरिक सड़क पर मस्त घूम रहे हैं। पर मेरा हृदय अशान्त

---

१. अरे यायावर रहेगा याद—अज्ञेय, पृ० १०१
२. सागर-प्रवास— पं० सूर्यनारायण व्यास, पृ० १३१
३. पद्माकर-पंचामृत— (आमुख से) संपादक—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १०२
४. किन्नर के देश में— राहुल सांकृत्यायन, प० ५१

और व्यथित है। जो बातें मैंने आज तक कभी अपने होठों से बाहर नहीं निकाली थीं, उन्हें बाहर करने से मेरे अन्दर वर्षों की संचित व्यथा का **समुद्र उमड़ पड़ा।**"[१]

"सब जात में बुर्बक जथरिया। मारे लाठी छीनै चदरिया।"[२]

अगर उनकी चलती, तो यह प्रदेश चटियल पड़ गया होता।[3]

शिवप्रसाद गुप्तजी ने भी लिखा है—

"प्रधान वक्ताओं में, जो टेबुलतोड़ व बेंचफोड़ वक्ता कहे जाते हैं, ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक मिलेगी जिनका निज का चरित्र अनुकरणीय नहीं पाया जाएगा। ...रत्नों में लगी हुई गर्द के झाड़ने की आवश्यकता है न कि उनके फेंकने की ...सुधारकों को चाहिए कि समाज की स्थिति में उलटफेर करने के पूर्व भली-भाँति विचार के काम करें। केवल कुछ प्रचलित शब्दों के आधार पर ही न चल दें। जैसे—**हिन्दुओं के चौके ने चौका लगा दिया,**— संग खाने से प्रेम बढ़ता है—**नौ कनौजिए तेरह चूल्हे**—अनमिल विवाह से प्रेम नहीं बढ़ता, छूआछूत बेहूदगी है।"[४]

उपर्युक्त मुहावरों से युक्त वाक्यों के अतिरिक्त भी कुछ मुहावरे दृष्टव्य होंगे। जैसे—दाल-भात में मूसरचन्द, अँगूठा दिखाना, न ऊधो का लेना न माधा का देना, बिल्ली के भाग्य से छींका टूटना, दाल में काला, घर की गंगा गड़ही बरोबर, अग्रसोची सदा सुखी, होनहार बिरवान के होत चीकने पात, मारे के मारे भूत पराये, अब पछताए होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत। घर का भेदिया लंका दाह, धोबी बसिके का करे दीगम्बर के गाँव, बरस दिन के रास्ते जाना, छः महीने के रास्ते नहीं, आरत काह न करै कुकर्मू, आँख ओट पहाड़ ओट, नैया बिच नदिया डूबी जाय, जैसे कारी कामरी चढ़े न दूजौ रंग, जरै नगर अनाथ कर जैसा, धोबी से न बसाने पर गदहे का कान ऐंठना, को न कुसंगति पाय नसाई।

कुछ सूक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं—भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥ हजरते दाग जहाँ बैठ गए बैठ गए, मूँदहु आँख कतहुँ कोउ नाहीं, बाघ और बंदूक बाँधे (बैसवाड़े की कहावत), जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै, बिना बिचारे जो करै सो पाछे पछिताय, जो तो कूँ काँटा बुवै वाको बो तू फूल,

लीक लीक गाड़ी चलै लीकै चलै कपूत,
लीकै छाड़ि के चलत हैं, सायर शूर सपूत।

ये उपयुक्त मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ भाषा की लोकरुचि को और अधिक स्पष्ट कर देती हैं। ये भाषा की शक्ति और सजीवता के परिचायक हैं।

---

१. यूरोप की सुखद स्मृतियाँ—सत्यदेव परिव्राजक—पृ० १४७
२. राहुल यात्रावली—राहुल सांकृत्यायन, पृ० १८०
३. किन्नर देश में— राहुल, पृ० ५१
४. पृथिवी-प्रदक्षिणा— शिवप्रसाद गुप्त, पृ० ८२

भावात्मक अभिव्यंजना से पूर्ण स्विटजरलैंड की रमणीयता का वर्णन करते हुए सेठ गोविन्ददासजी ने लिखा है—

"आकाश के निर्मल न होने के कारण दृश्य को और भी अधिक सुषमा मिल गई थी, क्योंकि बादलों को अस्त होते हुए अरुण की मयूखों ने कहीं अरुण और कहीं सुनहली बना दिया था। इन रंगों का प्रतिबिम्ब बरफ से ढँके हुए श्वेत पर्वतों के शिखरों, हरे तरुओं और झील के नीले नीर पर अनोखा रंग बरसा रहा था। कुछ और अँधेरा होने पर झील के उस पार बसे हुए छोटे-छोटे गाँवों में बिजली का प्रकाश फैला। अब तो हवा के वेग से चलती हुई ट्रेन की चाल के कारण सारा दृश्य एक स्वप्न-भूमि-सा जान पड़ने लगा। हम तब तक इस दृश्य को निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे जब तक अँधेरे की काली चादर ने सारे दृश्य को ढँककर हमारी आँखों से ओझल न कर दिया।"[1]

इसी प्रकार प्रवाहमयी भाषा में रसात्मक सौन्दर्य का दर्शन कराते हुए, भावों के साथ-ही-साथ भाषा के प्रयोग में भी अधिक-से-अधिक सौन्दर्यगत अनुपात रखना आवश्यक हो जाता है। ठाकुर गदाधरसिंह अपने ग्रन्थ में लिखते हैं—

"सायंकाल दिन अस्त होते समय जो बाहर निकलकर अपर डेक (ऊपर की छत) पर जाकर इधर-उधर देखने लगा तो मन में न जाने क्या-क्या भाव उदय होने लगें। अस्ताचल को चलता हुआ सूर्य जो अपनी रक्तिमामय प्रतिच्छाया गंगाजल पर विस्तारित किए था, उससे समस्त जल आलोकमय दीख पड़ा। हिलोरें खाता हुआ जल रह-रहकर बिजली की भाँति अपूर्व चकाचौंध मचा रहा था।"[2]

भारतेन्दुजी की यात्राओं में भाषा का निखार बड़ा शिष्ट सामान्य रूप-कला के साथ प्रगट हुआ है। उनके प्रयुक्त शब्दों को हम नित्य की भाषा में प्रयुक्त करते हैं जो किंचितमात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं, ऐसे शब्दों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से किया गया है। कुछ तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या ग्राम्यत्व भी नहीं आ सका है वरन् इसके विपरीत भाषा और व्यावहारिक तथा भावव्यंजक हो गई है। इनकी भाषा में एक नवीन जीवन की उद्भावना रहती है। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति तथा दीप्ति उत्पन्न करने का ध्यान इन्होंने बराबर रखा है। अनेकानेक मुहावरों का प्रयोग स्थान-स्थान पर बड़ी सफलता से किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा भावाभिव्यंजना में इतनी समर्थ और सजीव दिखाई पड़ती है। इसमें नागरिकता की झलक सर्वत्र मिलती है। इनकी हरिद्वार-यात्रा का थोड़ा-सा अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"वर्षा के कारण सब ओर हरियाली ही दृष्टि पड़ती थी, मानो हरे गलीचे की यात्रियों के विश्राम के हेतु बिछायत बिछी थी। एक ओर त्रिभुवनपावनी श्री

---

१. पृथ्वी-परिक्रमा— सेठ गोविन्ददास— पृ० ७८

२. चीन में १३ मास— ठा० गदाधरसिंह, पृ० २

गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जो राजा भगीरथ के उज्ज्वल कीर्ति की लता-सी दिखाई देती है। जल यहाँ का अत्यन्त शीतल है और मिष्ट भी वैसा ही है मानो चीनी के पने को बरफ में जमाया है, रंग जल का स्वच्छ और श्वेत है और अनेक प्रकार के जल-जन्तु कल्लोल करते हुए। यहाँ गंगाजी अपना नाम नदी सत्य करती हैं। अर्थात् जल के वेग का शब्द बहुत होता है और शीतल वायु नदी के उन पवित्र छोटे-छोटे कनों को लेकर स्पर्श ही से पावन करता हुआ संचार करता है।"[1] रोचकता और आत्मीयता से पूर्ण यह भाषा कितनी व्यावहारिक है जिसमें स्निग्धता एवं रसात्मकता चलताऊपन के साथ दिखाई पड़ती है। वाक्य-रचना सरल एवं गठी हुई है। इसके साथ ही इसमें शब्द-चित्र उपस्थित करने की क्षमता भी प्रकट होती है। हरिद्वार की प्राकृतिक सुषमा और गंगा की विचित्रता का वर्णन प्रधान है। भाषा में माधुर्य है और चलताऊ शब्दों का प्रयोग है जैसे बिछायत, जल के छल के। कहीं-कहीं आत्मक्षोभ, व्यंग्य-विनोद की अभिव्यंजना होने पर भीतर के उद्गार आतुरतापूर्वक बाहर निकलने की चेष्टा करने लगते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उदाहरण से स्पष्ट लग जाता है। अभिप्राय-कथन एवं विषय-प्रतिपादन में स्वच्छता दिखाई पड़ती है। वैद्यनाथ की यात्रा का वर्णन करते हुए हरिश्चन्द्रजी लिखते हैं—

"साँझ होने से बादल छोटे-छोटे लाल-पीले-नीले बड़े ही सुहावने मालूम पड़ते थे। बनारस की रंगीन शीशे की खिड़कियों का-सा सामान था। क्रम से अंधकार होने लगा, ठंडी-ठंडी हवा से निद्रादेवी अलग नेत्रों से लिपटी जाती थी। मैं महाराज के पास से उठकर सोने के वास्ते दूसरी गाड़ी में चला गया। झपकी का आना था कि बौछारों ने छेड़छाड़ शुरू की, पटना पहुँचते-पहुँचते तो घेरघार कर चारों ओर से पानी बरसने ही लगा। बस पृथ्वी-आकाश सब नीर ब्रह्ममय हो गया। इस धूमधाम में भी रेल कृष्णाभिसारिका-सी अपनी धुन में चली ही जाती थी। सच है, सावन की नदी और दृढ़प्रतिज्ञ उद्योगी और जिनके मन प्रीतम के पास हैं वे कहीं रुकते हैं ? राह में बाज पेड़ों में जुगनू लिपटे हुए थे कि पेड़ सचमुच 'सर्वेचिरांगा' बन रहे थे। जहाँ रेल ठहरती थी, स्टेशन-मास्टर और सिपाही बिचारे टुटरूँ टूँ छाता, लालटेन लिए रोजी जगाते भीगते हुए इधर-उधर फिरते दिखलाई पड़ते थे।···निद्रा-वधू का संयोग भाग्य में न लिखा था, न हुआ। एक तो सेकेण्ड क्लास की एक ही गाड़ी, उसमें भी लेडीज़ कम्पार्टमेंट निकल गया, बाकी जो कुछ भी बचा उसमें बारह आदमी। गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी, जैसी हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत।"[2] इस उद्धरण में यात्रा-मार्ग का सुन्दर व्यंग्यपूर्ण वर्णन है जो तत्कालीन रेल-व्यवस्था तथा स्टेशनों का सजीव चित्र उपस्थित करता है। इस निबन्ध की भाषा में भावाभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए अमूर्त उपमाओं का

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली— भाग ३, सं० ब्रजरत्नदास— काशी ना० प्र० सभा, पृ० ६४३

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भाग ३, सं० ब्रजरत्नदास—काशी ना० प्र० सभा, पृ० ६५६

सुन्दर प्रयोग हुआ है जो व्यंजना द्वारा अपनी यथार्थता पर भी व्यंग्य करती है जैसे—"गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत," अर्थात् बुरे दिनों की यथार्थता को भी लेखक व्यंजित कर देता है।

सरल और बोलचाल में साधारणतया प्रयुक्त होनेवाली भाषा को प्रयुक्त करते हुए प्रोफेसर मनोरंजन ने लिखा है—

"थोड़ी ही देर के बाद सुन्दर स्वर्ण प्रभात हुआ—ऐसा दिव्य, ऐसा सुन्दर, जैसा मैंने कभी देखा न था। पहाड़ के पीछे से सूरज की किरणें उठकर एक विचित्र रंग से मेघों को रँग रही थीं। यह शोभा देखते ही बनती थी। उसका वर्णन कोई भी कवि नहीं कर सकता और न कोई चतुर चितेरा उसका चित्र ही खींच सकता है। अफसोस, यह दृश्य फिर देखने को न मिलेगा!"[1]

इस प्रकार हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यात्रा-साहित्य के लेखकों को भाषा-शैली में सभी मुग्धकारी विशेषताएँ मिलती हैं। लेखकों की भाषा बहुत ही सरल, स्पष्ट और व्यंजनापूर्ण है, उनमें हास्य के मधुर छींटे और व्यंग्योक्तियाँ भी मिलती हैं। भावुकता-प्रधान, लाक्षणिक, संवेदनात्मक, दार्शनिक, आलंकारिक, कल्पनात्मक एवं चित्रात्मक शैलियाँ विभिन्न लेखकों में मिलती हैं। व्यंजनापूर्ण एवं भावपूर्ण प्राकृतिक वर्णनों से यात्रा-साहित्य भरा पड़ा है। लेखकों की भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति अपूर्व है। प्रकृति के सुन्दर स्थलों की सूक्ष्मतम बातों का सुन्दर चित्रण भावात्मक एवं कल्पनात्मक शैली में किया गया है।

★

१. उत्तराखण्ड के पथ पर—प्रो० मनोरंजन, पृ० २५६

: १० :

हिन्दी यात्रा-साहित्य : सिंहावलोकन : उपसंहार

मानव जीवन ही हमारे विकास-यात्रा की कहानी है। जीवन और साहित्य एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। साहित्य और जीवन का वही सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा का है। साहित्य में जीवन की अभिव्यक्ति और उसकी वास्तविकता दोनों होती हैं। वह कालविशेष की समस्त परिस्थितियों को हमारे समक्ष रख देता है। किसी भी देश की सभ्यता तथा संस्कृति का परिचय हमें उस देश के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है। विलियम हेनरी हडसन ने अपनी पुस्तक 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी आफ लिटरेचर' की भूमिका में लिखा है—"जीवन साहित्य का उद्गम स्थान है और व्यक्तिगत जीवन में विशेष रूप से साहित्य के गूढ़ तत्त्व ढूँढे जा सकते हैं।"* इसीलिए जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य जीवन साहित्य का मूल स्रोत है और साहित्य जीवन को व्यक्त करने का साधन। जीवन में साहित्य का जो स्थान है वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना जीवन स्वयं। जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं जिसका साहित्य ने उल्लेख न किया हो, जिसे उसने स्पष्ट व्यक्त न किया हो। वह साहित्य जो जीवन के तत्त्वों का निरूपण नहीं करता, कोई महत्त्व का स्थान और आकर्षण नहीं रखता है। साहित्यकार अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है। उसका साहित्य अपने युग की समस्त जटिल समस्याओं को हमारे समक्ष रख देता है, यद्यपि अभिव्यक्ति के रूप में भिन्नता हो सकती है। जीवन को अभिव्यक्त करने का माध्यम कहानी, उपन्यास, निबन्ध, एकांकी, यात्रा-साहित्य कुछ भी हो सकता है।

यात्रा-साहित्य की सहायता से व्यक्ति घर-बैठे यात्राओं का आनन्द लेता है। अलौकिक आश्चर्यजनक यात्राओं के वर्णन से पूर्ण यात्रा-साहित्य में मनुष्य को अत्यधिक मनोरंजन और आनन्द प्राप्त होता है। विभिन्न देशों के जैसे—मिस्र के मीनारों, लुक्सर के भग्नावशेषों, अमेरिका के विश्वविख्यात नियागरा प्रपातों और

---

* 'It is in life itself that we have to seek the Source of Literature—The ultimate secret of its interest must be sought in its essentially personnal character.'

—An Introduction tp the Study of Literature—W. H. Hudson, page 11, 14 (1945)

हवाई द्वीप के अग्नि उगलनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के गह्वरों, गगनचुम्बी प्रासादों के वर्णन पढ़ने से जितना मनोरंजन होता है, उतना सहस्र रजनी चरित्र और कथासरित्सागर-जैसे साहित्यिक ग्रंथों से भी नहीं हो सकता। पर्यटक इस प्रकार के कितने ही अद्भुत दृश्यों, पदार्थों और अद्भुत रीति-रिवाजों से अनभिज्ञ पाठक का मनोरंजन करता है और साथ ही उसे यात्रा-साहित्य की सहायता से ज्ञानवृद्धि में भी सहायक होता है।

भ्रमण ज्ञान का भण्डार है। देश-विदेश का भ्रमण करनेवाले, जिनमें निरीक्षण करने की शक्ति है, विविध प्रकार के स्थलों को देखते हैं, हज़ारों व्यक्तियों से उनका सम्पर्क होता है, विभिन्न ऋतुओं से वे आलिंगन करते हैं और नाना प्रकार के पशु-पक्षियों को वे देखते हैं, इस प्रकार ज्ञान का भण्डार उनके पास एकत्रित हो जाता है, जिसे वे अपनी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध करके अपने समाज को दे जाते हैं। यात्रा-साहित्य द्वारा मनोरंजन, ज्ञानवर्धन के अतिरिक्त नवयुवकों में एक शक्ति, एक प्रोत्साहन बढ़ता है जिसके कारण वे दूसरे देशों की महत्त्वपूर्ण चीजों, जगहों को देखने के लिए लालायित रहते हैं, वे वहाँ की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

'चातुर्य मूलानि भवन्ति पंच' में देशाटन भी है। वास्तव में सांसारिक अनेक अनुभव ऐसे हैं जो बिना देशाटन किए प्राप्त नहीं होते। इसीलिए भ्रमण-वृत्तान्तों के लिखने की प्रणाली है। अनेक देशों की सैर घर बैठे करना भ्रमण-वृत्तान्तों के आधार से होता है, उनके पढ़ने से भ्रमण-कर्त्ता के अनेक अर्जित ज्ञानों का अनुभव भी होता है।"[१] यात्रा-साहित्य के महत्त्व-वर्णन में एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि की यह युक्ति है—

देशे देशे किमपि कुतकाददभुतं लोकमानाः।
स्थाने स्थाने कृतपरिचयाः संघम भूयोप्यवाप्य॥
संयुज्यंते सुचिरविरहोत्कण्ठिताभिः सतीभिः।
सौख्यं धन्याः किमपिदधते सर्वसम्पतसमृद्धाः॥

अर्थात् जो लोग देश-देशान्तरों में जाकर वहाँ के चमत्कार देखते हैं, और स्थान-स्थान के लोगों से परिचय करते हुए लौटकर वियोग से उत्कंठित अपनी भार्य्या, पुत्रादि से मिलते हैं वे लोग धन्य हैं। वे धन, मान, समृद्धि से पूर्ण होकर अकथनीय सुखों का लाभ करते हैं।" कुछ लोग यात्रा को ही सफलता की कुंजी भी कहते हैं। अरबी में एक सुभाषित विचार है—'अस्सफ़रो वसीलतुज्ज़फ़र' अर्थात् यात्रा सफलता की कुंजी है।

---

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के रामदीन रीडरशिप के भाषण से—पृ० ७१८, द्वि० सं० १९६७

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि मानव-जीवन में यात्रा का महत्त्व अत्यन्त गंभीर है। अनादि काल से वह इस मौलिक वृत्ति पर आधारित रहकर अपना विकास करता चला आया है। हम समझते हैं कि यात्रा-वृत्ति ने उसे केवल प्रगति के पथ पर ही अग्रसर नहीं किया है, उसके द्वारा उसे साहस, स्वावलम्ब, दृढ़ता, उदारता और आत्मगौरव-जैसी वृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सांस्कृतिक एकता का एकमात्र सफल माध्यम यात्रा ही है। बिना अन्य राष्ट्रों, देशों, प्रदेशों, प्रान्तों आदि के निकट सम्पर्क में आए हम उनकी रहन-सहन, भाषा, भावुकता आदि की आत्मा को नहीं ग्रहण कर सकते। निकटता के कारण हमारी दृष्टि स्वच्छ, स्पष्ट तथा उदार होती है। हममें सहानुभूति की उत्पत्ति होती है और हम अन्य देश-जाति के लोगों के प्रति आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। सारे भौगोलिक तथा अन्य प्रतिबन्ध टूट जाते हैं और वसुधैव कुटुम्वकम् की भावना प्रवल हो उठती है। अतएव यात्रा का महत्त्व मानव जीवन में अनिवार्य है।

मनोरंजन भी यात्रा का उद्देश्य कहा जा सकता है, किन्तु इस मनोरंजन के मूल में हमारी तीव्र उत्कंठा विद्यमान रहती है। दूसरों को देखने, सुनने और जानने की हमारी अभिलाषा हमें यात्रा की प्रेरणा देती है। उस कौतूहल का शमन करके हमें अत्यन्त शान्ति का अनुभव होता है। ज्ञान-वृद्धि तो होती ही है। हमारे यात्रा द्वारा अर्जित ज्ञान की अभिव्यंजना भी हमारा स्वाभाविक कार्य है। यद्यपि इस अभिव्यंजना के उद्देश्य कई हो सकते हैं। कुछ लेखक केवल आत्मतुष्टि के लिए लिखते हैं, कुछ प्रचार के लिए और कुछ अर्थोपार्जन के लिए। यह निर्विवाद है कि इनमें आत्मतुष्टि के लिए लिखा गया साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया जा सकता है। गीतकाव्य के समान उसमें भी हार्दिक भावनाओं की मुक्त अभिव्यंजना मिलती है। उनमें बौद्धिकता का इतना जोर नहीं होता जितना हृदयपक्ष का। प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य बुद्धिवादी तो होता है, हमारी ज्ञान-पिपासा को तृप्त करता है किन्तु उसमें दृष्टि की एकांगिता भी किसी सीमा तक विद्यमान रहती है, अतः उसमें पूर्वग्रह (prejudice) का होना असम्भव नहीं है। अर्थोपार्जन के लिए लिखा गया साहित्य तो कहीं-कहीं पूर्ववर्ती रचनाओं की कोरी नकल-सा लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पूर्व यात्रियों के ग्रंथों को लेकर लेखक उनके लेखों में थोड़ा-बहुत इधर-उधर परिवर्तन करके अपने नाम से छपाता जाता है। ऐसी कृतियों में आत्मा का अभाव होना स्वाभाविक है। हिन्दी यात्रा-साहित्य के भारतेन्दु-युग में प्रथम प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं। द्विवेदी-युग में प्रथम दो प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं; इधर वर्तमान युग में यह अर्थोपार्जन वाली दृष्टि भी जोर पकड़ रही है।

★

परिशिष्ट

हस्तलिखित यात्रा-ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण

खोज करने पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हमें यात्रा-सम्बन्धी कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ भी देखने को मिलीं, जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ यथेष्ट होगा—

१. **वनयात्रा**—संवत् १६०० की विट्ठलजी की '**वनयात्रा**' का विवरण एक हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होता है। इस यात्रा का प्रारंभ इस प्रकार दिया हुआ है—"अथ बनयात्रा श्री गुसाँईजी महाराज प्रभु किये सो प्रकार लिखते हैं। संवत् १५०० वर्षे भाद्रपदवदि १२ श्रीगोकुल महालीला स्थलते संमर्द्दके संकोच करि शयनात्री पीछे को विजय कीने। रात्रि ही मथुरा को पधारे।[1] नन्द, यशोदा-बलिदाऊ, श्रीकृष्ण को दर्शन करि पाछे ललिताकुण्ड, वजवारी कुण्ड, छछिहारी कुंड होइ, गोपेश्वर होइ अक्रूर उतरे को स्थल देखि। पाछे ईसरा की परिवारि वेदागी की क्यारी जहाँ उद्धव ज्ञानोपदेश की राहें व्रजभक्तन को सो देखि।[2]" ग्रंथ की समाप्ति पर इस प्रकार लिखा है—"भाद्रपसुदि ७ वन २४।। दिन ।। ११ ।। मैं श्री विट्ठले शावन यात्रा करिये। इति श्री वनयात्रा समाप्त।"[3]

२. **वनयात्रा**—दूसरी हस्तलिखित प्रति में यात्रा-वर्णन इस प्रकार वर्णित है—"बनयात्रा[4] नामक पुस्तक, जिसके ग्रन्थकार श्री जीमनजी माँ (बल्लभ सम्प्रदायी) हैं। यह ग्रंथ १५ पृष्ठ का ही है। इसका रचनाकाल इस प्रकार दिया हुआ है—"संवत सोलै सै ना साल रे ।। भादरवाव वदी द्वादसी सार रे ।।"

विषय—इस ग्रंथ में व्रज के वनों की यात्रा का वर्णन है। विषय की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसका प्रारम्भ निम्न प्रकार से है—

"अथ गायवे को ढोल बनयात्रा को लिख्यते।"[5]

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त 'वनयात्रा' हस्तलिखित ग्रन्थ, पृ० १३७ (अप्रकाशित)
२. वही—पृ० १३९
३. वही—पृ० १४०
४. वही—पृ० ६२१ (अप्रकाशित)
५. वही—पृ० ६२१ (अप्रकाशित)

ग्रंथ का अंत इस प्रकार है—

श्री बल्लभ श्री बिठलपुरी आसरे।
राख्या चरन कमल में पास रे ॥
दास मांगे श्री गोकल वास।
चालो वनयात्रा नो सुख जैयेरे ॥[१]

३. वनयात्रा—इसी प्रकार संवत् १६०६ की 'वनयात्रा' का वर्णन और प्राप्त होता है। इस यात्रा-ग्रंथ की लेखिका जीमन महाराज की माँ (गोकुल) निवासी हैं। इसका प्राप्तिस्थान श्री शंकरलाल समाधानी तथा स्थान—श्री गोकुलनाथजी का मंदिर, गोकुल, मथुरा दिया हुआ है।[२]

ग्रन्थ का विषय—इसमें व्रज के विभिन्न स्थानों गोकुल, मथुरा, गोवर्द्धन, कामवन, बरसाना, नन्दग्राम, माट, वृन्दावन आदि की महिमा और पवित्रता का वर्णन है। ग्रन्थ का आदि इस प्रकार है—"श्री कृष्णायनमः श्री गोपीजन बल्लभाय नमः। अथ श्री जीमनजी महाराज के मां जी कृत गायवे की बनयात्रा लिख्यते। प्रथम श्री वल्लभ प्रभुजी ने जाणु रे, श्री गुरु देवना चरण चित्त आणु रे। व्रज मोमिना चरी बखाणु चालौ वनयात्रा नो सुख लीजौ रे।

श्री गुसाँईजी कीधों विचार रे।
बनयात्रा करबी निरधार रे।
छै ब्रज धामनी लीला ऊपार,
श्री बिट्ठल प्रभु परम दयालु रे।
साथे लीधा श्री बल्लभ लाल।
संवत् सोल्है सै नी साल रे ॥
भादवों वदि द्वादशी सार रे।
वालो उतरया श्री यमुना पार रे ॥[३]

ग्रन्थ का अन्त इस प्रकार है—

हाथ जो श्री मथुरा जी मां करिया रे
बहु आनन्द रमा मरिया रे,
हवा कारज सर्वे सरियाँ जे कोई निसा दिन मुख थी गाए रे

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'वनयात्रा' पृ० १५ (अप्रकाशित)

२. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वां त्रैवार्षिक विवरण सन् १६३५, ३७ ई० सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं० पृ० १५३

३. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वां त्रैवार्षिक विवरण सन् १६३५-३७ ई० सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं० पृ० १५३-५४

बनयात्रा नो फल तेने थाये रे
ते श्री महाप्रभुजी ने सुहाये।
सदा मन श्री गोकुल माँ रहिया रे।
श्री महाप्रभुजी ना गुण नित्त गैयेरे
श्री बिट्ठलनाथ चरण चित्त लैये
श्री बल्लभ श्री बिट्ठैल प्रभु पूरी ग्रास रे।
राप्या चरण कमलणें पास रे,
दास माँगे छे श्री गोकुलवास चलौ बनयात्रा नो सुष लीजै रे।

इति श्री जीमन जी महाराज के मां-जी कृत गायवे की बनयात्रा सम्पूर्ण। इसके अंत में विशेष ज्ञातव्य इस प्रकार दिया हुआ है—

"गोकुल के बालकृष्ण मंदिर के गुसाँइयों के वंश में जीमनजी हुए उन्हें मरे लगभग ४० वर्ष हो गए हैं। उनकी माता ने यह 'बनयात्रा' बनाई थी। गोसाइयों के यहाँ स्त्रियाँ प्रायः पढ़ी-लिखी थीं और बुद्धिमती होती हैं। ऐसी ही वह भी थीं।" भाषा में गुजराती की स्पष्ट छाप लगी हुई है।[1]

४. सेठ पद्मसिंह की यात्रा—एक अन्य सेठ पद्मसिंह की यात्रा का ग्रंथ प्राप्त हुआ है। इस ग्रंथ का रचयिता और लिपिकाल दोनों ही अज्ञात हैं। पर अनुमानत यह इसी आरम्भिक युग की १७०५ के बाद की ही रचना ज्ञात होती है, अतः इसका यही वर्णन किया जा रहा है। ग्रंथ का नाम 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' है। इसके रचयिता एवं रचनाकाल का संवत् अज्ञात् है। ग्रंथ इस प्रकार है— 'श्री बीतरागाय-नमः। असद्रावादथ की सेठ पद्मसिंह। यात्रा करणे वास्ते गया तारा तौ बाल संमत १७ स ५ के साल में अहद्राबाद था। अहमदावाद श्राय अहमोदाबाद थीतारानुबोल ४ हयार कोस ।। प्रथम अहमदाबाद थी ३०० सय को० आगरा अगे ३०० स० को० लाहौर अगे १५० स को० मलतान। अग ३०० को० वद्र संहरा अगे ६०० स को० आसापुरी नगरी का बलार कोस १२ काय। आगे आसापुरी थीतारानु बोल २००० सौ कोस रया। तस का वेखा असापुरी थी। ६०० को एक पर्वतण्य पर्त के मुयर श्री गौरम स्वामि का चिरामाय आकाश में वो ही अथ २७ कुषाहन्ट ३० ।। पग के नुगुट्ठे के पुर आद्रौशनिनर रखे ज्ञात है उनकी यात्रा करके आगे बल यातीस थी आगे ६० कोस गया तीयण्गिती लाए वड़ा मोटा श्राय २२ को० कांच के राल्तीस के बीच मंदर अऊतनाथ ऊ का एविडी पर वेहकर यात्रा करने गया चिरत्माड़ी चौड़ी हाथं ६ ऊँचा हाथ १०। यात्रा करके आगे गया कोस पाचस गया तीया तिलकपुरी न गौरी श्राय इतस बीच मंदर २७ ।। तिसके मद भाग बीच बीच मंदर एक श्री वंदा प्रभुजी का यराति समंद रड़ी में प्रम्पराक १०। २७ य।

---

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का १६वाँ त्रैवार्षिक विवरण सन् १९३५-५७ ई०
सम्पादक—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, काशी २०१२ सं०, पृ० १५३-५४

तिसकी यात्रा करके आगे बलाया आगे ७०० को० तिलक घाटी का मुलष आया तियाँ एक लाबापुर पाठ इवतीया था आगे तारानुबोल मोटार्ल मोटाष को ४०० काखिप रायति सनगर कोट लोहकाय । राजा के मिहला का कोट बंदीकाय राजा का नाम धीरऊ महाराज यसिंग की नई राऊ करे यति या विपारी लो क करय हीरा माणक पन्ना मोती सो वारूपाँऊ विहपार करेय सब लोक राजी कोद का नपुलीरापत हैं घर जातय तियक साकी चीत्रल हते नहीं धर्मी लोक तिया को० ६० नगरी एते समे ७०० जिन मंदर एतिया राजा प्रजा सब लोक जिनीव बसेरा जिन श्रुरदेव थी औरों देव को माने नहीं तिया ७० महर बीच एक मोटा मंदर एतिस मंदर के बीच तिरुप्माजी का विवराण ।। ६००० हायार विरप्मा लाल माणका एस...ह० वि० सिवेदवर्ण कीए ।। पद्मपसि० सबऊ रत्त कीरा ४० पि० सामरत्रकीण ।। ११६० वि० के सरवर्ण की यारा । ३४६६ की धीरू की यारा १२ षि० गोय निदर न कीया । प वि० सराहिटी कारा १६ वि० वाया वदण की यारा ४ पि० लाल रत्र का यारा । जंगल परमाण ६ वि० पुप राऊरज की यात्रा ।। १ एक पि० मोती का अगले परमाण । ६ वि० माशकर यात्रा अगल परमाणय ।। ४ ।। वि० हारा का यात्रा अगले परमाण २४७३५ जोड़ एक मंदर की यात्रा । आगे राजाजी के मेल वा चाणक्य, रिषभदेवजी का मंदर मार्ग नुचा को ४।। वाही एक-एक कोस को एक-एक वाही में ७४२ रंग में उनरा मंदरजो का चौक ताबाजी का यात्रा मंदरजी का कोट में था । पौ चादा जी के या । कंगर सोने के यारा पिरत्माजर का तगा सब ही रायो ता प मही जड़ा यारारति सके उन्नेतिन कालका वो वसीयरा वर्णय को स्त्र के कवल के बाल राजा पो । करता ए राजा वोते गुनाए जिव घर्माण साल वानरा सम्यक तीरा ऊसवतारा सर्वगुण करवि राजा भावराति स नगर मध्ये दिन ४२ रया यात्रा के वास्ते । एक महर दिष या तिस के चाच विस्मराक १६४२ सोनका एक १०५ विरत्मा कंटकरज काया ए मंदरजी ने राजा पूजा करता । गावण गीत नावटक होत है । यात्रा का फेर पीछे वरत अहा । लिपि कृ'त, अहमदाबाद लवामीचन्द जी के पासो उत्तरा काया ।[1]

५. **बात दूर देश की**—हस्तलिखित ग्रंथों में एक और ग्रंथ मिला है, 'बात दूर देश की'।[2] यह ग्रंथ पूर्ण है। रूप इसका पुराना है । यह हस्तलिखित ग्रथ डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल, इंडोलौजी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के पास वर्त्तमान है । केवल इसकी सूचना एवं इसका कुछ अंश मात्र हमें काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त हो सका है जो कि इस प्रकार है—

---

१. ना० प्र० सभा, काशी में सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथ 'सेठ पद्मसिंह की यात्रा' सम्पूर्ण (अप्रकाशित)

२. ना० प्र० सभा, काशी की अप्रकाशित हस्तलिखित रिपोर्ट के आधार पर

ग्रंथ का प्रारम्भ—"अथ बात दुरदेस की लिष्यते" ।। स्वस्ति श्री अनेक उपमा जोग्य पानिपंथ सुभ अरथनि श्री भाई तुमसेन योग्य लिखी हैदराबाद ते मजलिस राए अगरवाले पानिपथ या श्री सबद वाचना अत्रथि मैहंर आपकी यै तुमारी सुदाभली चाहिजै जीमन प्रम आनंद होंएं ।।

आगे हम श्री गौमठ सामिजी कै जात्रा को गए थे सौ उठे वरस के बीच जात्रा कौर आए एतना जात्री आए समात्ततीस का ब्वरा श्री गौमठ स्वामी के दर्शन कीए । श्री गौमठ स्वामीजी की प्रतिमा चौडिहाथ ।।१८।। उची हाथ ५४ परवत उपर खडे । योग्य है अहा अद्भुत है । भागनगर तै गौमठ स्वामि कौश है । पटन है दपनि दीशा करनाटक देश मौ है ।

ग्रन्थ का अन्त इस प्रकार है—समुद्र के किनारे अनरगल नगर है, प्रतिमा ३०००० तथा ४०००० है बरतन लिखने मौ आवतानहि इस मुल्क का राजा कनै चौन्याला ताबैका है प्रतिमा १०८ रानयालान धातकी प्रतिमा मानिक पना हिरा की हैं इससै वाए छौटि बड़ी नगर बन वहुतु कै ।

औरवि हमारी भावौज साथ गई थि तिसकौ भि दंशन भया उह जगह वहुत विकट है । उहा के लोग कहने लगे आजुताई कोई हिंदसातानतें आया था नहि तुमको जैन की बड़ि जुरत है । बड़ि अचम्भा मानने लगे यह जगह ।। विदेह छत्र माफिक है संवत् १८२० मौ जात्रा को गए थे मंजिल सराए अगरवले पानिपंथिया के साथ सीमिति चैत्रे सुदी १० संवत् १८२२ मौ जात्रा करके फिरि आए । इस समाचार जानियौ इहि चिठी ईसतर लिखी थी तींस की नकल लिखि ।

इति श्री देस दूर की वात संपुरर्णम सम्वत् १८८६ वार बुधवार मीती कातिग वदी २ ।। श्री श्री श्री—

विशेष ज्ञातव्य—इस प्रकार इस ग्रंथ का विषय "जैन तीर्थस्थान गौमठ का वर्णन है । लिपिकाल सम्वत् १८८६ है । रचयिता ने अपना सब वृत्त तो दिया है, पर नाम का उल्लेख नहीं किया । ये सम्वत् १८२० में हैदराबाद के अन्तर्गत मंजिल सराय से गौमठ की यात्रा पर गए थे । उस यात्रा में इन्हें दो वर्ष लगे और संवत् १८२२ में वापस चले आए । इस यात्रा का इन्होंने मनोरंजन के साथ-साथ बड़ा रोमांचक वर्णन भी किया है । अतः यात्रा-विवरण की दृष्टि से रचना का विशेष महत्त्व है । इसके अतिरिक्त यह खड़ीबोली गद्य में लिखी गई है जिससे इसका महत्त्व और अधिक बढ़ गया है ।

गौमठ स्वामी का मन्दिर दक्षिण करनाटक देश में समुद्र के किनारे एक पर्वत की चोटी पर है । यहाँ का रास्ता बड़ा विकट है । पर्वत के चारों ओर दूर-दूर तक बड़े-बड़े विभावन बन हैं जहाँ हिंसक जीव अधिक रहते हैं । इन्हीं जंगलों में बड़े-बड़े जैन तपस्वी तपस्या करते हैं ।

६. बद्रीयात्रा-कथा—इस हस्तलिखित यात्रा साहित्य के ग्रंथ का नाम 'वद्रीयात्रा कथा' है।[1] इसकी रचयिता अयोध्यानरेश बख्तावरसिंह की पत्नी हैं। '१० गुणन् ५' के आकार में, १५० छन्द के परिमाण का यह अपूर्ण और खंडित ग्रंथ है। कैथी अक्षरों में रचित इस ग्रंथ का निर्माणकाल १८८८ वि० है। श्री ला श्री कंडनाथ सिंह, धेनुगांवाबस्ती, के पास यह ग्रंथ है। ग्रंथ का आरम्भ श्री गणेशायनमः से है। दोहा—

बदरी जात्रा कथा निजकृत लिख्यते।
श्री गनपति पद वांदि जुग पुनि बंदौं गौरीश।
राम पदांबुज वंदि पुनि गुरु पहिनावों सीस ॥१॥
महाराज पद वंदौं जासु धर्म औतार।
धर्म मूर्ति दाता परम जसु गावत संसार ॥२॥
जासु दान देखत सुनत अवनीपति सकुचाहि।
मद्या रूप घन बरषत जाचक भूमि अघाहि ॥३॥
महाराज भूपाल मनि, महिपालन के ईस।
नृप बखतावरसिंह जेहि, नावहि महिपति सीस ॥४॥
तासु रानि 'सुषदानि' जग, जात्रा कीन्ह उदार।
हरद्वार की मगकथा बरनौ हित संसार ॥५॥
फागुन सुक्ल एकादसी चन्द्रवार सुष······।
वसु वसु नाग इन्दु को संवत करहु विचार ॥६॥
गंगाजी की मदत पर, कीन्हों पृथग······।
माश रोज की मंजिल, पाचौं सवन······॥७॥

ग्रन्थ का अन्त—

वास सरसव सुखकर हेता।
मास असार द्वितिया······।
करख दिन पंथहि गत कीन्हा···।
ह्वै दाखिल गौं आ······।
············।

दीप वैदकर कोस भगवदरी पुरी औ सेस।
करि दरस भगवान के कीन्हों भवन प्रवेश।
लोक मास ब्रह्माण्ड दिन लागे आवत जात।
कीन्हो दरशन प्रीति जुत प्रम्पाकि ॥

—अपूर्ण

१. ना० प्र० सभा, काशी से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ, सं० २२४ (अप्रकाशित)

इसी यात्रा-कथा के ग्रंथ पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संपादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने भी अपने कुछ शब्द इस प्रकार उद्धृत किये हैं[1]—"बख्तावरसिंह की स्त्री (सुखदानि) ये अयोध्यानरेश महाराज बख्तावरसिंह की रानी थीं। इन्होंने संवत् १८८८ में बद्रीनाथ की यात्रा की थी जिसमें इन्हें तीन मास और एक दिन लगा था, तथा जिसका इन्होंने 'बद्रीयात्रा-कथा' नामक एक पुस्तक में पद्यबद्ध वर्णन किया है। यात्रा-विवरण की दृष्टि से पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। इसकी प्रस्तुत प्रति खंडित है जिससे लिपि-काल का कोई पता नहीं चलता।

ग्रंथारम्भ में रचयिता का नाम 'निज' लिखा है। यथा, "बदरीयात्रा-कथा' 'निजकृत' लिख्यते। परन्तु यह 'निज' शब्द स्वामित्री ने स्वयं अपने लिए प्रयुक्त किया है, क्योंकि वे स्वयं महाराज (अपने पति) की पद-वंदना करती हैं—

महाराज पद बन्दौं, जासु धर्म औतार।
धर्म-मूर्ति दाता परम जस गावत संसार॥

दूसरा कोई रचयिता अपने आश्रयदाता के पदों की इस प्रकार वंदना नहीं कर सकता। सुखदानि शब्द से भी रानी का नाम विदित होता है।

७. **बनयात्रा परिक्रमा**—'वनयात्रा परिक्रमा' नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ भी हमें सभा में देखने को प्राप्त हुआ। यह कुछ अधिक प्राचीन प्रति है। यह ग्रंथ ४४ पृष्ठों में समाप्त हो गया है। इस ग्रंथ के अन्त में निम्न प्रकार से लिखा है—"संवत् १८९१ मिति कार्तिक शुक्ल १० शुभ मंगलवासरे। लिखित वैश्मश्व रामसहाय दासस्य दास:॥ शुभम् भूपति।[2] पद इसी हस्तलिखित ग्रंथ में एक दूसरा ग्रंथ भी इन्ही का लिखा हुआ लगता है, परतु उसके अन्त में लिखा है—"इति श्री हरिरायजी कृत नित्य स्त्री भावना सम्पूर्णम्[3]॥ इस प्रकार इस ग्रंथ का लेखक अज्ञात है।

८. **ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा**—उपर्युक्त ग्रंथ के आरम्भिक अंश से बिलकुल मिलता-जुलता एक हस्तलिखित ग्रंथ हमें नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में मायाशंकर याज्ञिक के संग्रह में भी मिला है। इस ग्रंथ का नाम 'व्रज चौरासी कोस वनयात्रा' है।[4] यह ग्रंथ गद्य-शैली में लिखा है जिसका लिपिकाल १९०० ज्ञात होता है। इस ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर लिखा है—"अथ व्रज चौरासी कोस बनयात्रा परिक्रमा लिख्यते। प्रथम श्री गोसांईजी की करी सो श्री गोकुलनाथजी अपने सेवकन सौं

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सम्पादक—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्ष ५८, संख्या २०१०, अंक १-२, पृ० ११०-१११

२. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'वनयात्रा परिक्रमा' पृ० ६२०

३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'वनयात्रा परिक्रमा' में संलग्न पुस्तक का, पृ० १०

४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति 'व्रज चौरासी कोस बनयात्रा' ३।४६ (अप्रकाशित)

कहते ।। संवत् ।। १६०० ।। यात्रावर्णन कुछ अपने ढंग का ही है जिससे हमें यात्रा-साहित्य के आरम्भिक युगीन यात्राओं के लिखने का ढंग ज्ञात हो जाता है । उदाहरणार्थ, "तहाँ श्री बलदेवजी को मन्दिर है तहाँ ताके आगे माधुरी कुण्ड है । तहाँ मोरवन है । तहाँ मोर आदिक पक्षी नाना प्रकार के शब्द करते हैं । ताके आगे परासौली ग्राम है । तहाँ चन्द्र सरोवरी है । तहाँ श्री गोकुलनाथजी का मन्दिर है तथा श्री बिट्ठलनाथजी का मन्दिर है तथा श्री मदनमोहनजी का मन्दिर है । ताके आगे रुंड कुंड है ।"[1] इसी प्रकार का वर्णन सम्पूर्ण ग्रंथ में है और ६५ पृष्ठ पर परिक्रमा समाप्त है । इसके आगे ब्रज के लालवन, कमोदवन, कामवन, लोहवन आदि बनों के नाम गिनाए गए हैं और ७० पृष्ठ पर यह पुस्तक समाप्त है । पुस्तक के अन्त में लिखा है—"इति श्री कामवन के कुंडन कीर्ति गति समाप्त ।। मिती आषाढावदिण संवत् १६०० लिषंत मथुराजी रामघाट मध्ये यमुनातटे ।।[2]"

६. **बद्रीनारायण सुगम यात्रा**—उपर्युक्त आठ हस्तलिखित ग्रंथों के अतिरिक्त एक नवाँ ग्रंथ भी हमें 'बद्रीनारायण सुगम यात्रा' नाम से प्राप्त हुआ है । इसके ग्रंथकार पण्डित वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी उपनाम 'चैत' हैं । इस ग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर ही त्रिपाठीजी ने लिखा है—"सब बातों का विवरण एकत्रित कर विचित्र रीति से सवर्ण कराने योग्य अपूर्व मनभावन सुखरूप जावन लेख लिख यही 'श्री बद्रीनारायण यात्रा' बड़ी पुस्तक जिसमें सम्पूर्ण मार्ग का वृत्तान्त, तीर्थों के नाम, कोसों की प्रमाण चट्टियों के निवास तथा जिस स्थान पर जो विचित्रता है, विचारपूर्वक सुगम रीति से भलीभाँति दरसाया है । केवल यह एक ही पुस्तक के पास रखने पर किसी से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं रहती । बस वही श्री (बद्रीनाथजी) के दर्शन-अभिलाषी यात्रियों के सुगमार्थ व सर्वजनों के उपकारार्थ बड़े परिश्रम से बहुत ही उत्तम प्रस्तुत किया है ।"[3] इसी प्रकार की इन्होंने कई और पुस्तकें भी लिखीं, जिसके विषय में आपने स्वयं ही लिखा है—"इसी विधि की नैमिषारण्य, अयोध्या, काशी, गया (विन्ध्यावासिनी) प्रयागराज आदि की भी यात्रा तैयार है ।"[4] लेखक ने ग्रंथ की रचना का काल भी एक श्लोक में वर्णित कर दिया है—

श्री बद्रीनारायणास्या च सुगमांचार्य विस्तृंता ।
यांत्रा प्रवक्तु मुत्सेहे खटत्साकेन्द्र १६६६ वैक्रमे ।।

---

१. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० न० ३।४६ (अप्रकाशित)

२. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० १

३. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० ७०

४. ना० प्र० सभा से प्राप्त हस्तलिलित ग्रन्थ 'ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा' पृ० ७०

पृष्ठ तीन पर उसने आरम्भिक युगीन यात्राओं के वर्णनानुसार यात्रा का वर्णन भी किया है, देखिए—"हरिद्वार पश्चिमोत्तर प्रदेश है। पहाड़ों को छोड़ श्री गंगाजी का यहीं प्रथम दर्शन है। १२ वर्ष पीछे यहीं कुम्भ का मेला होता है। हरिद्वार से आग्नेय कोण में (सूर्य कुण्ड है), २ कोस उत्तर (सप्तधारा) १ कोस पूर्व चण्डिका पहाड़ है, इसकी शिखर पर चण्डीमाता का मन्दिर है।"

इस ग्रंथ के लेखक ने प्राथमिक युगीन यात्राओं की विषम कठिनाइयों को कम करने के लिए लाभ की सारी सामग्री दिसा, कोस, देवमन्दिर का पूर्ण विवरण विभिन्न चार्टों के द्वारा दे दिया है।

सहायक ग्रंथों की सूची

हिन्दी के ग्रंथ

ग्रन्थ का नाम	लेखक	ग्रन्थों का संस्करण, प्रकाशन काल एवं स्थान
अमरीका भ्रमण	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रंथमाला कार्यालय, फरुखाबाद-१९४६
अमरीका दिग्दर्शन	वही	देवनागरी प्रेस, कलकत्ता-१९११
अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी	वही	सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर-१९३७
अफ्रीका यात्रा	स्वामी मंगलानन्दन पुरी 'संन्यासी'	प्रयाग-१९२८
अजाने देशों में	विमला कपूर	साधना प्रकाशन, कानपुर-१९५५
अजाने रास्ते	डॉ० सत्यनारायण	
अरे यायावर रहेगा याद	सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'	सरस्वती प्रेस, वाराणसी-१९३६
अमेरिका में नेहरू	राजकुमार	हिन्दी प्रकाशन, वाराणसी-१९५४
अतीत से वर्तमान	राहुल सांकृत्यायन	विद्यामंदिर प्रेस, वाराणसी-१९५६
आदर्श निबन्ध	सं० डॉ० जगन्नाथप्रसाद मिश्र	वाराणसी सं० २००९
आवारे की यूरोप यात्रा	डॉ० सत्यनारायण	लहेरिया सराय, पटना-१९४०
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी विभाग, प्रयाग वि० वि०
आधुनिक पत्रकार-कला	रा० र० खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी-१९५३
आखिरी चट्टान तक	मोहन राकेश	प्रगति प्रकाशन, दिल्ली-१९५३

आँखोंदेखा गदर	अनु० अमृतलाल नागर	पुस्तक निकुंज, लखनऊ द्वि० सं०-१९५७
आँखोंदेखा रूस	अनु० विष्णुदत्त 'विकल'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-१९५३
आँखोंदेखा यूरोप	भुवनेश्वरीप्रसाद 'भुवन'	सिन्दरी, बिहार-१९५८
आँखोंदेखा रूस	पं० जवाहरलाल नेहरू	
इंग्लैंड यात्रा	रामचन्द्र शर्मा	एजूकेशन पब्लिशिंग हाऊस, काशी-१९४१
इब्नबतूता की भारत यात्रा	अनु० मदनगोपाल	काशी विद्यापीठ, सं०-१९८८
इत्सिग की भारत यात्रा	संतराम	इंडियन प्रेस, प्रयाग-१९२५
इक्कीस कहानियाँ	सं० राय कृष्णदास एवं वाचस्पति पाठक	प्रयाग सं० २००५
ईराक की यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	बाँदा-१९४०
उड़ते चलो, उड़ते चलो	श्रीरामवृक्ष वेनीपुरी	प्रभात प्रेस, पटना-१९५४
उत्तराखंड के पथ पर	प्रो० मनोरंजन	लहेरिया सराय, पटना-१९३६
कलकत्ता से पेकिंग	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	राजपाल एंड संस, दिल्ली-१९५६
काव्य-दर्पण	रामदहिन मिश्र	प्र० सं०-१९४७
काव्य-विमर्श	—वही—	पटना-१९५१
काश्मीर	श्री गोपाल नेवटिया	—
काश्मीर-सुषमा	श्रीधर पाठक	—
काश्मीर और सीमाप्रांत	कृष्णवंशसिंह बाघेल	भरतपुर, रीवाँ-१९४४
काश्मीर की सैर	सत्यवती मल्लिक	दिल्ली-१९५०
काशी विद्यापीठ रजत जयन्ती-अभिनन्दन ग्रंथ	—	—
किन्नर देश में	राहुल सांकृत्यायन	इंडिया पब्लिशर्स, प्रयाग १९४६
कुमाऊँ परिचय	—वही—	—

कैलाश-दर्शन	शिवनन्दन सहाय	लहेरिया सराय, पटना-१९४०
कैलाश-दर्शन	स्वामी रामानन्द ब्रह्मचारी	साधना कार्यालय, बीसलपुर, पीलीभीत-१९४६
कैलाश-मानसरोवर	स्वामी प्रणवानन्द	हिन्दी सा० स०, प्रयाग-१९४३
कैलाश पथ पर	रामशरण विद्यार्थी	शारदा मंदिर, दिल्ली-१९३७
खण्डहरों का वैभव	मुनिकान्ति सागर	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-१९५३
खोज की पगडंडियों में	—वही—	—वही—
गढ़वाल परिचय	राहुल सांकृत्यायन	—
गुरुदेव के साथ यात्रा	महावीरप्रसाद	विज्ञान कार्यालय, प्रयाग-१९१९
ग़दर के फूल	अमृतलाल नागर	सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश-१९५७
घुमक्कड़ शास्त्र	राहुल सांकृत्यायन	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-१९४९
चीन में १३ मास	ठाकुर गदाधरसिंह	ग्रंथागार लखनऊ-१९०२
चीनी यात्री फाह्यान का यात्रा विवरण	अनु० जगन्मोहन वर्मा	नागरी प्रचा० सभा, काशी सं०-१९७७
चीनी यात्री सुंगयुन का यात्रा-विवरण	—वही—	—वही— सं०-१९७६
जय अमरनाथ	यशपाल जैन	सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली-१९५५
जातक	भदन्त आनन्द कौशल्यायन	हिन्दी सा० सम्मेलन, प्रयाग-१९४२-४६
जापान की सैर	रामकृष्ण वजाज	सत्साहित्य, दिल्ली-१९५८
तिब्बत में तेईस दिन	कृष्णवंशसिंह बाघेल	भरतपुर, रीवाँ-१९५३
तिब्बत में सवा बरस	राहुल सांकृत्यायन	शारदा मंदिर, दिल्ली-१९३३
तिब्बत में ३ वर्ष	अनु० गुलजारीलाल चतुर्वेदी	हि० पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता-१९३२
दक्षिण भारत की यात्रा	सत्येन्द्रनारायण	दुर्गाकुण्ड, काशी-१९३५
दुनिया की सैर	योगेन्द्रनाथ सिन्हा	लहेरिया सराय, पटना-१९४१

दुनिया की सैर ८० दिन में	डॉ० परमेश्वरदीन शुक्ल	दिल्ली-१९५७
दार्जिलिंग परिचय	राहुल सांकृत्यायन	आधुनिक पु० भं०, कलकत्ता-१९५०
दिल्ली से मास्को	महेशप्रसाद श्रीवास्तव	इलाहाबाद-१९५१
देहरादून	पं० श्रीधर पाठक	इलाहाबाद-१९१५
देश-विदेश	रामधारी सिंह 'दिनकर'	उदयाचल प्रकाशन, पटना-१९५७
देश-विदेश यात्रा	संतराम	इंडियन प्रेस, प्रयाग-१९४०
द्वारिकानाथ यात्रा	धनपति लाल	ब्राह्मण प्रेस, कानपुर-१९१२
देश-विदेश	नवलकिशोर अग्रवाल	पुस्तक सदन, कलकत्ता-१९५२
नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	—
नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ	—	—
नेहरू की रूस यात्रा	राजकुमार	हिन्दी प्रचारक, काशी-१९५६
नेहरू की अमरीका यात्रा	मदनलाल अग्रवाल	गर्ग एण्ड को० आगरा-१९५०
नन्दन से लन्दन	ब्रजकिशोर 'नारायण'	हिन्दी प्रचारक काशी-१९५७
निबन्ध नवनीत	प्रतापनारायण मिश्र	प्रयाग, प्र० सं०-१९११
पुरातत्व निबन्धावली	राहुल सांकृत्यायन	इलाहाबाद-१९३६
पद्मचन्द्र कोष	गणेशदत्त शास्त्री	द्वि० सं०-१९२५
पद्माकर पंचामृत	पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र	—
पैरों में पंख बाँधकर	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	लोकसेवक प्रकाशन, वाराणसी-१९५२
पृथ्वी-प्रदक्षिणा	शिवप्रसाद गुप्त	ज्ञानमण्डल, काशी-१९१४
पृथ्वी-परिक्रमा	सेठ गोविन्ददास	आदर्श प्रकाशन, जबलपुर-१९५५
पंजाब यात्रा	पं० रामशंकर व्यास	खंगविलास प्रेस, पटना-१९०७

पथिक	पं० रामनरेश त्रिपाठी	—
बौद्धकालीन भारत	पं० जनार्दन भट्ट	—
बद्री-केदार यात्रा	लाला कल्याणचन्द्र	कानपुर, १८९०
बदरिकाश्रम यात्रा	बाबू देवीप्रसाद खत्री	लहरी प्रेस, वाराणसी, १९०२
बदलते रूस में	रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९५८
बदलते दृश्य	राजबल्लभ ओझा	हिन्दी भवन, इलाहाबाद, १९५४
बेनीपुरी ग्रंथावली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	पटना
ब्रज-यात्रा	पं० विगू मिश्र	बाँकीपुर, १८९४
ब्रज-विनोद	बाबू तोताराम वर्मा	भारतबन्धु यंत्रालय, अलीगढ़," १८८८
बदरीनाथ दर्शन	प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	संकीर्तन भवन, झूसी, प्रयाग सं० २०११
विदेश की बात	कृपानाथ मिश्र	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२२
विकट यात्रा	श्री रामचन्द्र वर्मा	—
बर्नियर की भारत यात्रा	गंगाप्रसाद गुप्त	काशी, १९०५
बिहार की साहित्यिक प्रगति (सन् १९३८, १९५१ एवं १९५६ ई०)	—	—
भारत में रेल-पथ	रामनिवास पोद्दार	आदर्श प्रेस, आगरा, सं० १९८१
भारत में बुलगानिन	गोविन्दसिंह	प्रकाश-गृह, काशी, १९५६
भारत-भ्रमण (५ भागों में)	साधुचरण प्रसाद	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९०९
भारतीय संस्कृति और उसका साहित्य	सत्यकेतु विद्यालंकार	सरस्वती सदन, मसूरी १९५६
भारत के कुछ दर्शनीय स्थान	चक्रधर हंस	लाहौर, १९४६

भू-प्रदक्षिणा	अनु० रूपनारायण पाण्डेय	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६२५
भारतेन्दु-ग्रंथावली	सम्पादक ब्रजरत्न दास	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २०१२ वि०
भारती साहित्य-शास्त्र	बलदेव उपाध्याय	—
मानव विज्ञान	ऋषिदेव विद्यालंकार	
मिश्र-बन्धु विनोद	मिश्रबन्धु	गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ
माओ के देश में	रामआसरे	करेन्ट पब्लिशर्स, कानपुर, १६५२
मार्को पोलो का यात्रा-विवरण	अनु० रामनाथ लाल 'सुमन'	लीडर प्रेस, प्रयाग, १६३७
मानस-सरोवर और कैलास	अनु० रामचन्द्र वर्मा	ना० प्र० सभा, काशी, १६३६
महाप्रस्थान के पथ पर	अनु० हरिकृष्ण त्रिवेदी	सरस्वती प्रेस, काशी, १६४६
महारानी इंग्लैण्डेश्वरी क्वीन विक्टोरिया यात्रा	अनु० ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह	मैडिकल हाल, वाराणसी, १८७५
मेरी कैलाश यात्रा	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रंथमाला, काशी, १६१५
मेरी जर्मन यात्रा	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, काशी, १६१५
मेरी पाँचवीं जर्मनी यात्रा	वही	सत्यज्ञान निकेतन, देहरादून, १६५५
मेरी योरूप यात्रा	राहुल सांकृत्यायन	साहित्य सेवक संघ, छपरा, १६३५
मेरी जीवन यात्रा	वही	किताब महल, इलाहाबाद, १६४६
मेरी लद्दाख यात्रा	वही	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६३६
मेरी तिब्बत यात्रा	वही	प्रयाग, १६३७
मेरी काश्मीर यात्रा	पं० देवदत्त शास्त्री 'विरक्त'	चौधरी एण्ड संस, काशी, १६४१
मेरी अफ्रीका यात्रा	स्वामी सत्यभक्त	सत्याश्रम, वर्धा, १६५५

मेरी दक्षिण दिग्यात्रा	पं० दामोदर शास्त्री	खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, १८८६
मेरी पूर्वदिग्यात्रा	वही	वही—१८८५
मेरी जीवन कहानी	गणेशनारायण सोमाणी	हि० सा० मन्दिर, जोधपुर, १९४८
मेरी ईरान यात्रा	महेशप्रसाद मौलवी	आलिम फाज़िल बुकडिपो, वाराणसी
मेरी योरुप यात्रा	गणेशनारायण सोमाणी	वैदिक यंत्रालय, अजमेर
मेरी दक्षिण भारत यात्रा	हरिकृष्ण झाझड़िया	—
मेरी मारीशस आदि देशों की यात्रा	स्वामी स्वतन्त्रतानन्द	वैदिक सा० सदन, दिल्ली, १९५१
मेरी अबीसीनिया यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	काशी, १९३५
ज्ञान के उद्यान में	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, ज्वालापुर, १९३७
ज्ञान की खोज में	डॉ० जगदीशशरण शर्मा	भारती सा० मन्दिर, दिल्ली, १९५७
योरुप की सुखद स्मृतियाँ	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्यज्ञान निकेतन, ज्वालापुर, १९३७
यात्री मित्र	वही	—वही, १९३६
यात्रा के पन्ने	राहुल सांकृत्यायन	साहित्य सदन, देहरादून, १९५२
युद्ध-यात्रा	डॉ० सत्यनारायण	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९४०
योरोप के झकोरे में	वही	हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९३९
योरुप के पत्र	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४४
योरप में सात मास	धर्मचन्द सरावगी	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, १९३६
योरुप यात्रा में छः मास	पं० रामनारायण मिश्र	इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९३२
राष्ट्रपति जवाहर	—	गंगा पुस्तकमाला, १९३०
राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेरुू	पं० मातासेवक पाठक एवं पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा	—

राहुल यात्रावली	राहुल सांकृत्यायन	इंडिया पब्लिशर्स, १९५८
रूस में २५ मास	वही	बीकानेर, १९५२
रामेश्वर यात्रा	बाबू देवीप्रसाद खत्री	लहरी प्रेस, वाराणसी, १९१५
राह बीती	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ, १९५३
रोमांचक रूस में	डा० सत्यनारायण	हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९३९
रूस की सैर	पं० जवाहरलाल नेहरू	हिन्दुस्तान प्रेस, प्रयाग
रूस की चिट्ठी	अनु० धन्यकुमार जैन	विशाल भारत पुस्तकालय, कलकत्ता १९३१
रूस-जापान युद्ध	ठाकुर गदाधरसिंह	पुस्तक प्रचारक, अजमेर, १९०५
लोहे का दीवार के दोनों ओर	यशपाल	विप्लव कार्यालय, लखनऊ, १९५३
लद्दाख यात्रा की डायरी	कर्नल सज्जनसिंह	सत्साहित्य मंडल, दिल्ली, १९५५
लन्दन की यात्रा	भगवानदास वर्मा	हरिप्रकाश यन्त्रालय, १८८४
लंका यात्रा का विवरण	गोपालराम गहमरी	चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी, १९१६
लन्दन-पैरिस की सैर	वेणी शुक्ल	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२६
लन्दन यात्रा	हरदेवी	औरियंटल प्रेस, लाहौर, १९२७
लाल चीन	डा० भगवतशरण उपाध्याय	तीर्थराज प्रेस, इलाहाबाद, १९५३
विश्व यात्री	वही	ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, १९४७
विकट पथ के राही	बालकृष्ण	—
विदेश की बात	कृपानाथ मिश्र	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९३२
विकासवाद	दयानन्द पन्त	—
वो दुनियाँ	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	आलोक प्रकाशन, बीकानेर, १९५२

सेठ गोविन्ददास	डा० रत्नकुमारी	—
सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ	सं० डा० नगेन्द्र	नई दिल्ली, १९५६
संक्षिप्त महाभारत	—	गीता प्रेस, गोरखपुर
सम्मेलन के रत्न	सम्पादक सिंहनाथ दीक्षित 'सन्त'	प्रयाग
संयुक्त प्रान्त की पहाड़ी यात्राएँ	लक्ष्मीनारायण टण्डन	गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९४३
संयुक्त प्रान्त के तीर्थस्थान	वही	वही, १९४५
सार्थवाह	डा० मोतीचन्द्र	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, १९५३
सिद्धान्त और अध्ययन	बाबू गुलाबराय	दिल्ली, १९५१
सागर-प्रवास	पं० सूर्यनारायण व्यास	लहेरिया सराय, पटना, १९४१
सत्यलोक यात्रा	स्वामी सत्यभक्त	सत्याश्रम वर्धा, १९५२
समीक्षा शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी	—
साहित्यालोचन	डा० श्यामसुन्दर दास	—
साहित्य-शास्त्र	डा० रामकुमार वर्मा	—
साइकिल यात्रा	जी० डी० जो ।ी	हिमालय पब्लिशर्स, बम्बई, १९४९
सुलेमान सौदागर का यात्रा-विवरण	अनु० महेशप्रसाद साधु	ना० प्र० सभा, काशी, १९२१
सुयेनच्वांग	अनु० जगमोहन वर्मा	हि० पु० एजेन्सी, कलकत्ता, १९२४
सुदूर दक्षिण-पूर्व	सेठ गोविन्ददास	आदर्श प्र० जबलपुर, १९५१
स्वप्न	पं० रामनरेश त्रिपाठी	—
स्याम देश-यात्रा	महता जैमिनी	—
स्वतन्त्रता की खोज में	स्वामी सत्यदेव परिव्राजक	सत्य ग्रन्थमाला, ज्वालापुर, १९३७

स्वदेश-विदेश यात्रा	सन्तराम	इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९४०
शैली	प० करुणापति त्रिपाठी	वाराणसी, १९४१
शिकार	पं० श्रीराम शर्मा	—
शिवालिक की घाटियों में	श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५३
हमारा प्रधान उपनिवेश	सेठ गोविन्ददास	१९३७
हमारी एडवर्ड-तिलक (विलायत) यात्रा	ठा० गदाधरसिंह	जूही, कानपुर, १९०३
हमारी जापान यात्रा	पं० कन्हैयालाल मिश्र	वाराणसी, १९३१
हमारी विलायत यात्रा	केदाररूपराय एवं शिवजीराम अंगालिया	प्रभाकर प्रेस, जोधपुर, १९२६
हालैंड में २५ दिन	रा० रा० खाडिलकर	ज्ञानमण्डल, वाराणसी, १९५७
हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	ना० प्र० सभा, काशी, संस्करण सं० २०१२
हिन्दी विश्व-कोष	नगेन्द्रनाथ बसु	कलकत्ता, १९२९
हिन्दी के निर्माता	डा० श्यामसुन्दर दास	इण्डियन प्रेस, प्रयाग
हिन्दी भापा और साहित्य का इतिहास	आचार्य चतुरसेन	दि० संस्करण, १९४९ "
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास	पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	द्वि० संस्करण सं० १९९७
हिन्दी गद्य-पद्य संग्रह	संग्रहकर्ता-चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा	चतुर्थ सं०, सन्-१९१८
हिमालय परिचय	राहुल सांकृत्यायन	ला जर्नल प्रेस, प्रयाग, १९५३
हिमालय के कुछ स्थान	कृष्णवंशसिंह बाघेल	रीवाँ, १९५३
हिमालय की गोद में	महावीरप्रसाद पोद्दार	सस्ता सा० मंडल, दिल्ली-१९५४
हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का १६वाँ त्रैवार्षिक विवरण	संपादक डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	

हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थ

१.	बनयात्रा	विट्ठलजी
२.	बनयात्रा	जीमनजी की माँ
३.	बनयात्रा	—
४.	बात दूर देश की	—
५.	बद्री यात्रा-कथा	अयोध्या-नरेश बख्तावरसिंह की पत्नी
६.	बनयात्रा परिक्रमा	रामसहाय दास या हरिराय कृत
७.	ब्रज चौरासी कोस बनयात्रा	—
८.	बद्रीनारायण सुगम यात्रा	वाचस्पति शर्मा त्रिपाठी 'चैत'
९.	सेठ पद्मसिंह की यात्रा	—

हिन्दी के अप्रकाशित ग्रन्थ

१.	सात समुन्दर पार	ब्रजकिशोर 'नारायण'
२.	यूरोप कुछ ऐसे कुछ वैसे	
३.	भारत-भ्रमण	डा० भगवतशरण उपाध्याय
४.	सागर की लहरों पर—(६ भागों में)	

हिन्दी की पत्रिकाएँ

आलोचना	इन्दु
आकाशवाणी प्रसारिका —दिल्ली	कल्याण
कविवचन सुधा	कौमुदी
गृह लक्ष्मी	नया पथ

गुरुकुल काँगड़ी पत्रिका
चाँद —प्रयाग
चित्रमय जगत
तरुण
धर्मयुग
विश्वमित्र
विशाल भारत —कलकत्ता
साप्ताहिक हिन्दुस्तान —दिल्ली
सरस्वती
सुधा

नया समाज
नागरी प्रचारिणी पत्रिका —काशी
बुद्धिप्रकाश
बालक —पटना
मर्यादा
मधुकर —टीकमगढ़
माधुरी —लखनऊ
वीणा —इन्दौर
हिन्दी प्रदीप
हिन्दी विश्व-भारती —लखनऊ

हिन्दी के समाचार-पत्र

आज —काशी
हिन्दोस्थान

राजपूत
नागपुर टाइम्स

संस्कृत के ग्रन्थ

अथर्ववेद
अर्थशास्त्र-कौटिल्य —सं० २००१
अवदान शतक १९०२
अवदान कल्पलता क्षेमेन्द्र-कलकत्ता
अंगुत्तर निकाय
अष्टाध्यायी पाणिनि

कौषीतकि उपनिषद
कथासरितसागर —सोमदेव
काव्यालंकार सूत्र —वामन
कुमारसम्भव —कालिदास
कौटिल्य अर्थशास्त्र
काव्यादर्श —दण्डी

आवश्यक चूर्णि	काव्य-प्रकाश	
तिलक मंजरी	दिव्यावदान	
दशकुमार चरित दण्डी, गणेश जनार्दन, नागेश द्वारा संपादित		
ईशागुरुदेव पद्धति	ईशान शिव गुरुदेव मिश्र	संस्कृत सीरीज (त्रिवेन्द्रम)
एतदु आसियातीक	—	पारी-१९२५
ऐतरेय ब्राह्मण	अनन्तकृष्ण शास्त्री संपादित	भास्कर प्रेस, त्रिवेन्द्रम-१९४३
कुट्टनीमतम	श्री तनसुख राय द्वारा संपादित	बम्बई-१८७५ ई०
ध्वन्यालोक	—	—
नारद महापुराण	खेमराज श्रीकृष्णदास	वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई-१९३२
वृहत् कल्पसूत्र भाष्य		
पाणिनि सूत्र		
बौधम्यन धर्मसूत्र		
ब्रह्मवैवर्त पुराण		
वाल्मीकि रामायण		
भागवत्		
मनुस्मृति	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित	पुस्तक मंदिर, मथुरा-१९५२
वृहत् कथा श्लोक संग्रह मार्कण्डेयपुराण	—	भास्कर प्रेस, त्रिवेन्द्रम-१९४२
महाभारत	रामचन्द्र शास्त्री	चित्रशाला प्रेस, पूना, शाके-१८५२
मिलिन्द प्रश्न	—	—
महावस्तु		
रत्नावली	हर्ष	

महाविद्देस	एल० द० ला बाले पूसाँ एव ई० जै० टाम्स द्वारा सपादित	
ऋग्वेद	वैदिक यत्रालय, अजमेर	वैदिक यत्रालये अजमेर-१९४१
रघुवश	कालिदास, सुवमा मिश्री सम्पादित	विद्या विलास प्रेस, वाराणसी-१९३१
राज तरगिणी	कल्हण	—
श्रीमदभागवत् पुराण	अनु० मुन्नीलाल	गीता प्रेस, गोरखपुर
विक्रमाक देवचरित	जी० वुहलर द्वारा सपादित	बम्बई-१८७५
बाराह पुराण	—	त्रिवेन्द्रम-१९४२
वामन पुराण	—	वही-१९४२
वासुदेव हिन्डी	डा० बी० एल० साडेसरा का गुजराती अनुवाद	१९४६
सुभापित रत्न भाडागार	श्रीनाथ सिंह	—
सस्कृत शब्दाथ कौस्तुभ	सग्रहकर्ता-चंतुर्वेदी द्वारिकाप्रसद शर्मा	१९२८
समराइच्चकहा	—	बम्बई-१९३८
शतपथ ब्राह्मण	—	अच्चयुत ग्रथमाला, काशी १९३७, वैंकटेश्वर प्रेस, बॅम्बई
शिशुपाल वध	माघ	१९४०
शिलप्पादिकारम	बी० आर० रामचन्द्र दीक्षित अनूदित	आक्सफोड प्रेस, १९३९
हितोपदश	—	—

अग्रेजी के ग्रथ

Asoka	Dr D R Bhandarkar	
Aina Akbari	Francis Gladurin	Calcutta, 1885
Awadan Satak	J S Spair	Saint Petersburg
A Practical Sanskrit Dictionary	Arthur Anthony Macdonell	Oxford, 1924
A hundred years of War	Cyril Falls	London, 1953
Ashoka the Buddhist Emperor of India	V A Smith	
Ancient India and Civilization	Masson Oursel	
A Bhakti Culture in Ancient India	Bhagwat Kumar Goswami	
Apolomoius of Tayna	Fylostratos	
Ancient India as described in Classical Literature	Mc Crindle	
Amrawati Sculptures in Madras Museum	Shiv Ram Murti	Madras, 1942
An Introduction to the Study of Literature	W H Hudson	London, 1954
Ancient India described by Magasthenese and Aryan	J W Mc Crindle	London, 1877
A history of Indian Shipping and Meritime Activity from the Earliest Times	Dr R K Mukerjee	London, 1912
Bhawishayata Katha	Harmon Yakovi	Mimikh, 1913
Buddhist India	Reez Davids	
Chao Takua	Fredrick Herth and W W Rock Hill	Saint Petersburg 1911
Cambridge History of India	Prof Washworn Hopkings—	
Civilization and Climate	Elsworth Hutington	1915
Dictionary of World Literary terms	T T Shipley	
Dictionary of Pali proper Names	Dr G P Malalasekera,	London 1938
Early Travels in India	W Faster	London, 1921
Early History of India	V A Smith	
Epocraphica Indica		
Encyclopaedia Indica	Nagendra Nath Vasu	Calcutta, 1929
Encyclopaedia Britanica	University of Chicago	1946 Edition
Fahien	Beal	

Geographical and Economical Studies in Mahabharat	Dr.Moti Chand	
Gilgit Manuscripts		
Heringham	Ajanta	
History of Aryan Rule in India	E.B.Havells	Madras, 1942.
Hiuen Tsangs Accounts	Thomas Watters	
Hindu Tales	Myers	
History of India as told by Its historians	Eliot & Dasan	
India	Sachau	
India of Aurangzeb	Dr. Jadunath Sarkar	Calçutta, 1901
Indian Economics	K.P.Jain	
Introduction to Philosophy	G.T.W.Patrick	
Indian Recreans	William Tenant	Edinbara, 1803
Journey through the Kingdom of Oudh	Major Sliman	
Jain Sutra		
Law Caino Buddhick and China	C.C. Bagchi	
Local Government in Ancient India	Dr. R.K. Mukerjee	
Modern Prose Style	Bonamy Dobree	Oxford, 1944
Magasthenese	Mc Crindle	London, 1928
Narrative of a Journey through The Upper Provinces of India	Reginold Heber	London, 1928
Oriental Memorres	James Forbes	London, 1834
On Yuan Chwang	Thomas Watters	Edited by T.W.R. Davids & S.W. Bushell, 1904
Railwary Transportation	Rape	
Pre Historic India	Stuart Piggott	London, 1950
Rambils and Recollections	Major Sliman	London, 1915
Railway Legislation	Myer	
Sanchi	Sir John Marshall	
Sketches of the Hindus		
Sanskrit-English Distionary	Theodore Benjey	London, 1866
Some Aspects of the Earlier Social life of India	S.C. Sarkar	
Style	F.L. Lucas	London, 1955
Style	Walter Raleigh	London, 1918
Travels of Fahien	James Legay	Oxford, 1925, London

Travels	J.B. Tavernier	London, 1925
The Tatak	E.B. .Cowell	Cambridge, London, 1895
Travels	Giles Version	Do 1923
The British•Railway System	Henry Grote Lewin	London, 1914
Transportation	Dr. Truman C. Bigham & Dr. Merill	2nd Edition
	J. Roberts	London, 1952
The Rail Roads of the Confederacy	Black	
The Northern Rail Roads in the Civil War	Waber	
Types of Philosophy	Hoking	
The Regions of the World	T.H. Holdich	1904
The Commerce between Roman Empire and India	E.H. Waington	Cambridge, 1928
Travels in the Moghal Empire	Francois Bernier Revised by V.A. Smith	2nd Edition Oxford London, 1916
The Greeks in Bactria and India	W.W. Torn	Cambridge, 1938
The Cambridge History of India	Professor A.V. William	Jackson
The Indus Valley Civilization	Dr. Mekey	
Thoughts on the Effects of the British Government of the State of India	William Tenant	Adinbara, 1807
The Periplus of Arithrian Sea	W.H. Shaff	New York, 1912
The Rise and the Growth of Hindi Journalism	Dr.R.R, Bhatnagar	Allahabad, 1948
The Problem of Style	J.M. Murry	
The Encyclopaedia Americana Vol. 30		New York, 1947 Edition
The London Book of English Prose	Herbert Read Bonamy Dobree	1931
Vadic Index	Max Muller	
Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious System	R.G. Bhandarkar	
What happened in History	Garden Childe (Pelican Books).	

अग्रेजी की पत्रिकाएँ

Indian Historical Quarterly	Volume 14	Calcutta
Journal of Bihar and Orissa Research Society		1916 & 1917
Journal of the Uttar Pradesh Historical Society	Volume 14	Lucknow

अग्रेजी के समाचार-पत्र

Advocate	Lucknow	1 May, 1902
The Indian Mirror	Calcutta	22 April, 1902
Hindu	Madras	
Tribune	Bombay	24 February, 1952